* शान्ति पथ प्रदर्शन *

—: मंगलाचरण :—

कार्तिक के पूर्ण चन्द्रमा वत तीन लोक में शान्ति की शीतल ज्योति फैलाने वाले हैं शान्ति चन्द्र वीतराग प्रभु ! जिस प्रकार प्रारम्भ में ही जग के इस अधम कीट को, भाई वन्धुओं की राग रूप कर्दम से बाहर निकाल कर आपने इस पर अनुग्रह किया है, उसी प्रकार आगे भी सदा उसकी सम्भाल करना ।

संस्कारों को ललकार कर उनके साथ अद्वितीय युद्ध ठानने वाले महा पराक्रमी वाहुवली ! जिस प्रकार कर्दम से बाहर निकाले गये इस कीट के सर्व दोषों को क्षमा कर इसका वाह्य मल आपने पूर्व में ही धोया था, उसी प्रकार आगे भी इस निर्बल को वल प्रदान करना । ताकि पुनः मल की ओर इसका गमन न हो ।

महान उपसर्ग विजयी हे नागपति ! जिस प्रकार व्रतों की यह निधि प्रदान कर, इस अधम का आपने उस समय उद्धार किया था, उसी प्रकार आगे भी इसे उस महान निधान से वञ्चित न रखना ।

हे विश्व मातेश्वरी सरस्वती ! कुसंगति में पड़ा मैं आज तक तेरी अवहेलना करता हुआ, अनाथ वना दर दर की ठोकरें खाता रहा । माता की गोद के सुख से वञ्चित रहा । अव मेरे सर्व अपराधों को क्षमा कर । मुझे अपनी गोद में छिपा कर भव के भय से मुक्त करदे ।

हे वैराग्य आदर्श गुरूवर ! मुझको अपनी शरण में स्वीकार किया है, तो अव अत्यन्त शुभ चन्द्र ज्योति प्रदान करके मेरे अज्ञान अन्धकार का विनाश कीजिये ।

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्म विज्ञान से ओत प्रोत है। अध्यात्म विज्ञान अत्यन्त परिष्कृत और कोमल रुचि वाले व्यक्तियों के लिये है। इस विज्ञान के छात्र का मन इतना कोमल होता है कि स्व अथवा पर के तनिक से भो दुख को देख कर उसे निवारण करने के लिए छटपटाने लगता है। उसे केवल शान्ति की आकांक्षा होती है। लौकिक सुख भोग वस्तुत: स्थूल रुचि वाले व्यक्तियों को लुभा सकते हैं, कोमल रुचि वालों को नहीं। लौकिक सुख भोगों के साथ अनिवार्य रूप से लगा रहने वाला तृष्णा जनक दु:ख जब किसी ऐसे सूक्ष्म रुचि वाले व्यक्ति को संसार से उदासीन बना देता है, तब ही वह व्यक्ति अध्यात्म विज्ञान के रहस्य को समझ पाता है, और यह विज्ञान उसी व्यक्ति के लिये कार्यकारी भी हो सकता है। शेष व्यक्तियों में तो इसका पठन पाठन, मात्र भोग है योग नहीं—

"भुक्तये न तु मुक्तये"

किन्तु ऐसे व्यक्ति मन में कोमल होने पर भी अत्यन्त दृढ़ संकल्प शक्ति के होते हैं। जिन विपत्तियों के ध्यान मात्र से हम लौकिक व्यक्तियों का मन काँपने लगता है, उन्हीं विपत्तियों का सामना वह एक शीतल मधुर मुस्कान के साथ किया करते हैं। उनका नारा होता है—"करेंगे या मरेंगे"

"कार्यं वा साधयेयम्, देह वा पातयेयम्।"

यह मार्ग कोमल हृदय-परन्तु वीर-पुरुषों का है।

अध्यात्म विज्ञान जीवन विज्ञान है। इसमें जीवन की कला निहित है। जीवन का सौम्य विकास इसका प्रयोजन है। जिस प्रकार जीवन-स्तर अर्थात् रहन सहन का स्तर ऊंचा उठाने के लिये अर्थ शास्त्र, भौतिक शास्त्र अथवा रसायन शास्त्र पढ़ा जाता है, उसी प्रकार जीवन को ऊंचा उठाने के लिये अध्यात्म विज्ञान पढ़ा जाना चाहिए। इस विज्ञान की प्रयोगशाला जीवन है। मन, शरीर और वाणी इस विज्ञान की प्रयोगशाला के यन्त्र हैं। यह विज्ञान जीवन को मृत्यु से अमरत्व, अन्धकार से ज्योति और असत् से सत् की ओर ले जाता है। भारत के बालक बालक को इस विज्ञान के मूल सिद्धान्त पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होते हैं। वे सिद्धान्त हैं-दया, दान और दमन।

भौतिक विज्ञान ने हमें जो कुछ दिया उसका निषेध या अनुमोदन करना यहां अभिप्रेत नहीं, परन्तु यह आवश्यक है कि हम उसकी सीमायें समझें। जीवन के उपकरणों-धन-ऐश्वर्य और शरीर-का जीवन से तादात्म्य सम्बन्ध मानना समस्त अनर्थ का मूल है। इनमें साधन साध्य सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं। विज्ञान ने हमें नये नये मनोरञ्जन और यातायात के साधन दिये, तदर्थ विज्ञान का स्वागत है-किन्तु विज्ञान की चकाचौंध में पड़ कर अपने को भूल जाने का कोई अधिकार हमें नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक बीसवीं शती के एक साधक वैज्ञानिक हैं। भारत में अध्यात्म विज्ञान जानने वाले पहले बहुत से साधक हुए, परन्तु उनकी परिभाषावली और लेखनशैली हम बीसवीं शती के लोगों के लिये न उतनी सुगम है और न उतनी आकर्षक। वर्तमान समय में अध्यात्म विज्ञान के प्रति अरुचि का यह भी एक कारण है। प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चय ही इस अभाव की पूर्ति करेगा।

रामजस कालेज
२५-११-६०

दयानन्द भार्गव
एम० ए०

प्रकाशकीय वक्तव्य

सर्व साधारण मनुष्य समाज के हितार्थ 'शान्ति पथ प्रदर्शन' ग्रन्थ प्रकाशन करते हुए मुझे बड़ा हर्ष व उल्लास हो रहा है, क्योंकि यह मेरी उन भावनाओं का फल है जो मेरे हृदय में उस समय उठी थीं जब कि मैंने यह सुना कि ब्र० जिनेन्द्र कुमार के अपूर्व प्रवचनों के द्वारा मुजफ्फर नगर की मुमुक्षु समाज में अध्यात्म पिपासा जागृत हुई और उसके प्रति एक अद्वितीय बहुमान भी। तब मैंने सोचा कि यह प्रवचन तो बहुत थोड़े व्यक्तियों को सुनने को मिल सकेंगे और हमारे देश का एक बहुत बड़ा भाग इनके सुनने से वंचित रह जायेगा। मैंने उनसे प्रार्थना की कि यह प्रवचन लिपि बद्ध करदें। मेरी तथा मुजफ्फर नगर समाज की प्रार्थना पर उन्होंने वे सब प्रवचन संकलित कर दिये। फल स्वरूप एक बड़े ग्रन्थ की रचना हो गई, जिसमें जैन दर्शन का सार अत्यन्त सरल व वैज्ञानिक भाषा में जगत के सामने प्रगट हुआ। अन्य स्थानों पर भी यही प्रवचन चले जिनसे वहां की समाज बड़ी प्रभावित हुई और उदार हृदय से उसके प्रकाशनार्थ योग दान दिया। दानी महानुभावों के नाम की सूची आगे दी गई है। मैं इस सहयोग के लिये उनका हृदय से आभारी हूँ।

ब्र० जिनेन्द्र कुमार जी ने विश्व जैन मिशन के धर्म प्रचार कार्य की प्रगति, तथा असाम्प्रदायिक मानव प्रेम को देख कर इस ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय इस संस्था को देने का विचार प्रगट किया, और विश्व जैन मिशन के प्रधान संचालक डा० कामता प्रसाद जी की स्वीकारता से पानीपत केन्द्र द्वारा इसके प्रकाशन की आयोजना की गई।

ब्र० जिनेन्द्र कुमार, जैन जगत तथा वैदिक, बौद्ध व अन्य जैनेतर साहित्य के सुप्रसिद्ध पारंगत विद्वान पानीपत निवासी श्री जय भगवान जी जैन एडवोकेट के सुपुत्र हैं। यही सम्पत्ति पैतृक धन के रूप में हमारे युवक विद्वान को भी मिली। अध्यात्म क्षेत्र में आपका प्रवेश बिना किसी बाहर की प्रेरणा के स्वभाव से ही हो गया। बालापने से ही अपने हृदय में शान्ति प्राप्ति की एक टीस छिपाये वह कुछ विरक्त से रहते थे। फल स्वरूप वैवाहिक बन्धनों से मुक्त रहे। इलैक्ट्रिक व रेडियो विज्ञान का गहन अध्ययन करने के पश्चात् आपने अपनी प्रतिभा बुद्धि का व्यापार क्षेत्र में दस साल तक प्रयोग किया और खूब प्रगति की। परन्तु धन व व्यापार के प्रति उनको कभी आकर्षण न हुआ। अपने दोनों छोटे भाइयों को समर्थ बना देने मात्र के लिये वह अपना एक कर्तव्य पूरा कर रहे थे। इसीलिये कलकत्ता में ठेकेदारी का काम सम्भालने में ज्यों ही वे समर्थ हो गये, आप व्यापार छोड़ कर वापिस पानीपत आ गये और अपनी शान्ति की खोज में सच्चे हृदय से व्यस्त हो गये। शीघ्र ही वह इस रहस्य का कुछ कुछ स्पर्श करने लगे। यह साधना उन्होंने केवल आठ वर्ष में पूरी करली। सन् १९५० में उन्होंने स्वतन्त्र स्वाध्याय प्रारम्भ की, सन् १९५४ व ५५ में सोन गढ़ रह कर उन्होंने उस स्वाध्याय के सार को खूब मांजा। अध्यात्म ज्ञान के साथ साथ अन्तर अनुभव व वैराग्य भी बराबर बढ़ता गया, यहां तक कि सन् १९५७ में आप व्रत धारण करके गृहत्यागी हो गये। सन् १९५८ में आप इसरी गये और पूज्य क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी के सम्पर्क में रह कर आपने रही सही कमी भी पूरी करली।

आपका हृदय अन्तर शान्ति व प्रेम से ओत प्रोत साम्यता व मधुरता का आवास है। सन् १९५९ में प्रथम बार मुज़फ्फरनगर की मुमुक्ष समाज के समक्ष उनको अपने अनुभव का परिचय

देने का अवसर प्राप्त हुआ, और तब से अब तक उनकी लोक प्रियता इतनी बढ़ गई कि सब की मांगें पूरी करना उनके लिये असम्भव हो गया। ज्ञान व अन्तर शान्ति के अतिरिक्त, शारीरिक स्वास्थ्य अत्यन्त प्रतिकूल होते हुए भी उनकी बाह्य चारित्र सम्बन्धी साधना भी अति प्रबल है, जिसकी साक्षी कि उनका परिग्रह प्रमाण व जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी नियन्त्रण दे रहा है। पोष व माघ की सर्दियों में भी वह दो धोतियों व एक पतली सी सूती चादर में संतुष्ट हैं।

रूढ़ि व साम्प्रदायिक बन्धनों से परे वह शान्ति के स्वतन्त्र वैज्ञानिक संसार में वास करते हैं। उनकी भाषा बिल्कुल बालकों सरीखी सरल व मधुर है। इन आठ वर्षों की उनकी गहन स्वाध्याय के फल स्वरूप 'जैनेन्द्र कोष' जैसी महान कृति का निर्माण हुआ है जो जैन वाङ्मय में अपनी जाति की प्रथम कृति है। इसके आठ मोटे मोटे खण्ड हैं। शीघ्र ही प्रकाश में आने वाली हैं। इसके अतिरिक्त भी इनके हृदय से अनेकों ग्रन्थ स्वतः निकलते चले आ रहे हैं, जिनमें से एक यह 'शान्ति पथ प्रदर्शन' भी है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में सम्पादित विषय श्री पूज्यपाद व कुन्दकुन्द आदि महान आचार्यों की देन है, फिर भी श्री जिनेन्द्र कुमार जी ने अपने अध्यात्म बल व सम्यक् आचार विचार की दृढ़ता से जो अनुभव प्राप्त किया है उसका सार इसमें आ जाता है। इन दिनों यद्यपि साहित्य का बहुत बड़ा निर्माण हुआ है तथा शिक्षण संस्थायें व अध्यात्मिक संत भी अध्यात्म प्रचार की दिशा में बहुत कार्य कर रहे हैं, परन्तु विषय की जटिलता व शुष्कता के कारण तथा आगम प्रयुक्त शब्दों का अर्थ सर्व साधारण की समझ में न आने के कारण धर्म सम्बन्धी अविश्वास और सम्यक् आचार की शिथिलता दिनों दिन जोर पकड़ती जा रही है। आज का युवक धर्म स्वीकार करने को तैयार नहीं। मार्ग की इस कठिनाई को दूर करने में यह ग्रन्थ बड़ा प्रभावशाली सिद्ध होगा। पढ़े लिखे युवक इसको पढ़ कर धर्म की सार्थकता को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते। विश्व को सुख व शान्ति का मार्ग दर्शाने के लिये यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। यद्यपि आत्म-कल्याण स्वावलम्बन से होता है, फिर भी अनुभव प्राप्त महानुभावों के मार्ग प्रदर्शन से बहुत कुछ सहायता मिलती है।

प्राचीन काल की भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत अध्यात्म का विषय कठिनता से ग्रहण होने योग्य समझा जाता रहा है। संसार दुःखों से भयभीत तथा शरीर भोगों से विरक्त व्यक्ति ही इसका अधिकारी होता था। सर्व साधारण जन इस विज्ञान से अनभिज्ञ रहते थे। उनके लिये तो केवल पंच पापों का त्याग तथा दान दया भक्ति रूप व्यवहार धर्म करना ही पर्याप्त था। योग्य अधिकारी को ही अध्यात्म शिक्षा दी जाती थी। इसके विपरीत यद्यपि आजकल सर्व साधारण में इस विज्ञान की चर्चा तो बहुत होने लगी है परन्तु आचरण में दिन दिन शिथिलता आती जा रही है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए इस ग्रन्थ में ज्ञान के अनुकूल ही आचरण धारण करने की ओर अधिक ध्यान आकर्षित किया गया है। आप्त मीमांसा में कहा है—

"अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाज्ञानाद्वीत मोहतः।
ज्ञान स्तोकाच्च मोक्षः स्याद् मोहान्मोहितोऽन्यथा।९८।"

मोही (सम्यक् चारित्र विहीन) का अज्ञान बन्ध का कारण है, परन्तु निर्मोही का अज्ञान

(अल्प ज्ञान) बन्ध का कारण नहीं है। अल्प ज्ञान होते हुए भी मुक्ति हो जाती है परन्तु मोही को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। (मोह क्षीण हो जाने पर ज्ञान स्वतः पूर्ण हो जाता है)।

यह ग्रन्थ धार्मिक साम्प्रदायिकता के विष से निर्लिप्त है। इसमें वस्तु स्वरूप दर्शा कर, कुछ अध्यात्म विचारणाओं के द्वारा, जीवन को उन्नत व शान्त बनाने का वैज्ञानिक व स्वाभाविक उपाय बताया गया है। सभी विचारों, सभी जातियों व सभी देशों के व्यक्ति इससे लाभ उठा सकते हैं।

अन्त में मैं ब्र० जिनेन्द्र कुमार जी का हृदय से आभारी हूँ कि जिन्होंने मेरी छोटी सी प्रार्थना पर लोक कल्याण का इतना बड़ा कार्य बड़ा परिश्रम करके पूर्ण किया। पं० दयानन्द जी भार्गव एम० ए० शास्त्री, रामजस कालेज, देहली ने इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में सहयोग दिया है, इसलिये मैं उनका कृतज्ञ हूं। श्री नेमचन्द जी जैन रईस–महावीर हैट कम्पनी, सदर बाजार, देहली ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बड़ी सहायता की है तथा कर रहे हैं। और भी जिन भाइयों ने तन से मन से व धन से इस पुण्य कार्य में सहयोग दिया है मैं विश्व जैन मिशन की ओर से उनको कार्य पूर्ति के लिये धन्यवाद देता हूँ।

रूप चन्द गार्गीय जैन
व्यवस्थापक—विश्व जैन मिशन
(केन्द्र) पानीपत

मंगसिर शुक्ल अष्टमी
वी० नि० सं० २४८७

दातार सूची

जिन दानी महानुभावों ने इस शुभ कार्य में सहायता देकर अपने धन को सुकृत बनाया है, उनका आभार प्रदर्शनार्थ उनके नामों की सूची देता हूँ। इस ग्रन्थ के विक्रिय से उपलब्ध द्रव्य पुनः पुनः वाणी के प्रकाशनार्थ उपयोग में लाया जा सके तथा अपात्रों के हाथ में जाने से ग्रन्थ की जो अविनय होनी सम्भव है उसे रोका जा सके, इसलिये ग्रन्थ को निःशुल्क न दे कर कम मूल्य पर देना ही उचित समझा गया फिर भी किन्हीं असमर्थ जिज्ञासुओं को तथा किन्हीं प्रमुख संस्थाओं व मन्दिरों को यह निःशुल्क ही दिया जायेगा।

रूप चन्द गार्गीय जैन
पानीपत

१	श्रीमान शिवदयाल मल अनूपसिंह जी जैन आड़ती—रोहतक मण्डी	१५००)
२	श्रीमती प्रभावती धर्मपत्नि श्री सुन्दरलाल जी जैन—रोहतक मण्डी	१२१)
३	,, मनोकान्ता देवी धर्मपत्नि श्री फणेन्द्रकुमार जैन—सहारनपुर	५०१)
४	,, फूलवती धर्मपत्नि श्री फणेन्द्रकुमार जैन—सहारनपुर	३०१)
५	,, जयमाला देवी धर्मपत्नि श्री जैनेन्द्र किशोर जैन जौहरी–दरीबा कलां देहली	४०१)
६	,, चन्दाबाई जैन—आनन्द भवन तुको गंज इन्दौर	२५१)
७	,, शुगन देवी धर्मपत्नि सेठ फूलचन्द जी जैन—इन्दौर छावनी	२०१)
८	,, लालकुंवर देवी मेहता पलासिया इन्दौर	१०१)
९	,, दयाबाई—श्राविका आश्रम तुको गंज इन्दौर	५१)
१०	अन्य मुमुक्षु महिला वर्ग—इन्दौर	१११)
११	श्रीमती कृष्णादुलारी धर्मपत्नि श्री शौकीचन्द जैन इञ्जीनियर—पानीपत	१३५)
१२	,, कैलाशवती धर्मपत्नि श्री लालचन्द जी जैन—पानीपत	१०१)
१३	श्रीमान सीमन्दर दास मुनिसुव्रत दास जी जैन—पानीपत	१०१)
१४	रूपचन्द गार्गीय जैन—पानीपत	५१)
१५	श्रीमान प्रेमचन्द जी जैन कसेरे—पानीपत	५१)
१६	श्रीमती चलती देवी धर्मपत्नि पण्डित जीयालाल जी जैन—पानीपत	५१)
१७	अन्य मुमुक्षु महिला वर्ग—पानीपत	४७५)
१८	श्रीमती सुदेश कुमारी धर्मपत्नि श्री अजितकुमार जी जैन—सिन्दरी	१०१)
१९	श्रीमान जिनेश्वर दास जी जैन डालडा एजेन्ट—मुजफ्फर नगर	१०१)
२०	पुस्तकों के मूल्य के प्रति सहारनपुर के ग्राहकों से पेशगी मिले	२००)
		४९०६

दो शब्द

घर पर सर्व सुविधायें उपलब्ध होते हुए भी जीवन शान्तिके लिये व्याकुल था। न
जाने किस प्रकार अन्धकारमें चलते २ मैं सहसा ही गुरुवरके द्वारपर पहुंच गया,
जहां आकर मानों मैं आज ही कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसा प्रतीत हो रहा है।
मैं एक तुच्छ कीट उन गुरुओं का आभार प्रदर्शन करने को शब्द कहां
से लाऊं। उनके द्वारा प्रदत्त रहस्य के प्रकाशनार्थ यह जो भाषा
निकल रही है, वह भी मेरे हृदय में स्थित उन ही से चली आ
रही है। मैं तो उस अमृत का एक तृषातुर मृग मात्र हूँ।
प्रस्तुत ग्रन्थ की कर्ता तो वह वाणी ही है। मैं तो उसका
एक तुच्छ दास हूँ। इसको लिपि बद्ध करके गुरुदेव
के चरणों में अर्पण करते हुए आज मुझे अत्यन्त
हर्ष हो रहा है। रहस्य तो गुरुओं का होने के
कारण ठीक ही है, पर लिपि में इस तुच्छ बुद्धि
की छद्मस्थता के कारण कहीं भी कोई त्रुटि
रह गई हो तो इस बालक को क्षमा कर
देना और विज्ञ जन उसको सुधार कर
पढ़ लेना, पर छल ग्रहण न करना।
आधुनिक युग में वैज्ञानिक व
सरल भाषा के द्वारा वाणी
का प्रसार करना मेरा
और आप सभों का
कर्तव्य है। आओ
हम सब मिलकर
प्रेम – पूर्वक
उसे पूरा
करें।

—ब्र० जिनेन्द्र

सूची पत्र

(५१) सल्लेखना

—(०)—

* शान्ति पथ प्रदर्शन *

—: मंगलाचरण :—

कार्तिक के पूर्ण चन्द्रमा वत तीन लोक में शान्ति की शीतल ज्योति फैलाने वाले हैं शान्ति चन्द्र वीतराग प्रभु ! जिस प्रकार प्रारम्भ में ही जग के इस अधम कीट को, भाई वन्धुओं की राग रूप कर्दम से बाहर निकाल कर आपने इस पर अनुग्रह किया है, उसी प्रकार आगे भी सदा उसकी सम्भाल करना ।

संस्कारों को ललकार कर उनके साथ अद्वितीय युद्ध ठानने वाले महा पराक्रमी वाहुवली ! जिस प्रकार कर्दम से बाहर निकाले गये इस कीट के सर्व दोषों को क्षमा कर इसका वाह्य मल आपने पूर्व में ही धोया था, उसी प्रकार आगे भी इस निर्बल को वल प्रदान करना । ताकि पुनः मल की ओर इसका गमन न हो ।

महान उपसर्ग विजयी हे नागपति ! जिस प्रकार व्रतों की यह निधि प्रदान कर, इस अधम का आपने उस समय उद्धार किया था, उसी प्रकार आगे भी इसे उस महान निधान से वञ्चित न रखना ।

हे विश्व मातेश्वरी सरस्वती ! कुसंगति में पड़ा मैं आज तक तेरी अवहेलना करता हुआ, अनाथ वना दर दर की ठोकरें खाता रहा । माता की गोद के सुख से वञ्चित रहा । अव मेरे सर्व अपराधों को क्षमा कर । मुझे अपनी गोद में छिपा कर भव के भय से मुक्त करदे ।

हे वैराग्य आदर्श गुरूवर ! मुझको अपनी शरण में स्वीकार किया है, तो अव अत्यन्त शुभ चन्द्र ज्योति प्रदान करके मेरे अज्ञान अन्धकार का विनाश कीजिये ।

यही कहना है कि "मैंने खेती वोई"। परन्तु विचार कीजिये कि यदि वैल इस वात को सुन पावे तो बेचारे के हृदय पर क्या वीते ? खून पसीना एक कर डाला पर तनिक भी तो श्रेय न दिया। अहंकार में अन्धा हो गया है यह किसान, किसी दूसरे की मेहनत को मेहनत ही नहीं समझता। और इस प्रकार विचारता हुआ वह वैल रूस जाये तो क्या हो ? विचारिये, किसान का सारा अहंकार पानी वन कर वह जाये, और सुलह करनी पड़े आखिर उस वैल से। अच्छा भाई ! विगड़ मत ! क्षमा कर ! ग़ल्ती हुई, सारे काम में आधा साझा तेरा स्वीकार किया। चल उठ अव। और इसी प्रकार हल से, कुंए से, रहट से, पानी से, मिट्टी से और वीज से अव सुलह करते करते उसे पता चल जाये कि खेती वोने में तूने कितना काम किया है ? केवल सातवां हिस्सा। परन्तु किसान तो चेतन पदार्थ है। शरीर और वह पृथक पृथक हैं। अतः शरीर की मांग रुक न सकी। किसान को स्वीकार हो करना पड़ा कि हां भाई ! तेरा भी हिस्सा सही। हम सव आठों ने मिलकर ही की है खेती। इसलिये सवने आठवाँ आठवां हिस्सा काम किया है। मुझे स्वीकार है। परन्तु वीज वेचारा कैसे संतुष्ट हो। उसके काम में और शेष सात के कामों में तो महान अंतर है। शेष सवने तो कुछ कुछ काम ही किया है, परन्तु रहे अपने रूप में ही। उन्हें स्वयं अपना रूप तो न वदलना पड़ा। पर उस वेचारे ने तो अपना सर्वस्व ही अर्पण कर दिया-अन्न उगाने के लिये, यहां तक कि आज उसका पता भी नहीं कि कहां है वह ? इस प्रकार स्वयं सारे अन्न के साथ घुल मिल ही गया है। अथवा स्वयं ही वह रूप धारण कर लिया है। आठवें हिस्से में कैसे सन्तोष पावे ? स्वीकार करना पड़ेगा कि तेरे काम की जाति ही भिन्न प्रकार की है। घोड़े और गधों का क्या मेल ? तेरे काम का मुकावला हम सातों मिलकर भी नहीं कर सकते। अर्थात कुछ वाह्य मात्र सहायता रूप सम्वन्धी कार्य का सातवां सातवाँ हिस्सा हम सव ने किया, परन्तु अन्न उगाने का काम तो वास्तव में तेरा ही है।

साझे की खेती का यह मिला जुला काम किसी एक का नहीं है, सर्व का ही है। इसलिये इस एक मिले जुले काम का विश्लेषण करके इसे खण्डित करना चाहिये। तभी पता चल सकता है कि आठों में से प्रत्येक ने कौन कौन काम किया है। विचारने से पता चल सकता है कि अन्तः प्रकाश रूप चैतन्य किसान का काम केवल "मैं अन्न उत्पन्न करूं।" इस विकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वह वेचारा अमूर्तीक और कर भी क्या सकता है ? जानने देखने व विकल्प उत्पन्न करने के अतिरिक्त। शरीर का काम है कुछ विशेष प्रकार से हिलना जुलना, और इसी प्रकार वैल आदि सर्व पदार्थों के पृथक पृथक कार्य की कोई सीमा है। जिसको उसने ही किया है और वह ही कर सकता है। न अन्य ने किया है न अन्य कर सकता है।

४ निमित्त की कथञ्चित सत्यता

यद्यपि यह वात सर्वथा मिथ्या भी नहीं है कि आठों के ही कार्यों में परस्पर कोई निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध है। अर्थात किसान के निमित्त से शरीर, और शरीर की प्रेरणा से वैल, वैल के निमित्त से हल व रहट और इस प्रकार अन्य भी अपना अपना कार्य कर सके। यदि ये न होते तो कर न सकते। परन्तु यह दृष्टि तो लौकिक है। विकल्पोत्पादक है। इसके त्यागने के लिये ही तो सब पुरुषार्थ है। अतः हे भव्य ! इस दृष्टि के द्वारा परम कल्याणकारी उस अलौकिक दृष्टि का घात करने का प्रयत्न मत कर। इस दृष्टि को ही ऊपर परतन्त्र शब्द से कहा गया है और उस अलौकिक दृष्टि को स्वतन्त्र शब्द से।

५ निमित्त व उपादान दोनों की कथञ्चित उपादेयता

दोनों ही दृष्टियें अपने अपने स्थान पर सत्य हैं। पर मुझे तो जिस किस प्रकार भी शान्ति का प्रयोजन सिद्ध करना है। जौन सी भी दृष्टि से सिद्ध होता मानूं उसे ही अपना कर्तव्य समझूं दूसरी को नहीं। जानना और बात है अपनाना और। यद्यपि एक वीतरागी को भी जानता हूँ और एक चाण्डाल को भी। पर इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों मेरे उपास्य हैं। उपास्य तो वीतरागी ही है चाण्डाल नहीं। उपास्य न कहने से चाण्डाल का अभाव नहीं हो जायेगा। इसी प्रकार परतन्त्र दृटि को तो पहले से ही जानता था, अब स्वतन्त्र दृष्टि भी जान गया। जानता दोनों को हूँ। पर इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों दृष्टि ही लक्ष्य में रखनी या आश्रय करनी योग्य हैं। शान्ति पथ में केवल एक स्वतन्त्र दृष्टि ही लक्ष्य में रहती है, परतन्त्र दृष्टि नहीं। लक्ष्य में न रहने मात्र से दूसरी दृष्टि के आधार निमित्त की निमित्तता का लोप नहीं हो जाता।

६ संकुचित दृष्टि से निमित्त के विचार का निषेध

यदि दूसरी दृष्टि पर ही लक्ष्य करना है तो निम्न प्रकार क्यों नहीं करता, कि जिससे तेरी दृष्टि में भी बाधा न पड़े और विकल्प भी हट जावें। विशाल दृष्टि करके सम्पूर्ण विश्व को युगपत अनुमान में ले, तो एक वहुत बड़े कारखाने के रूप में दिखाई देता है जिसमें स्व पर सर्व पदार्थ बड़ी व छोटी गरारियों वत परस्पर सम्पर्क में रहते वरावर वदल रहे हैं। और कारखाना काम कर रहा है। यदि कोई एक छोटी सी गरारी भी निकाल ली जाये तो सारी की सारी मशीन बन्द हो जाये या ज़वरदस्ती कोई नई गरारी ठोक दी जाये तो भी सारी मशीन वन्द हो जाये, क्या ऐसा होना सम्भव है ? क्या ऐसा आज तक कभी हुआ है ? सब द्रव्य परस्पर निमित्त नैमित्तिक रूप से बरावर काम कर ही रहे हैं। निमित्त को हटाने वाला या मिलाने वाला तू कौन है ? तुझे यह अधिकार किसने दिया ? तुझमें इतनी शक्ति है भी या नहीं ? समस्त विश्व की अद्वैत क्रिया को दृष्टि में रखकर इन प्रश्नों का उत्तर खोजें तो इस दिशा में अपनी असमर्थता का भान हुये बिना न रहे। निमित्त मिलाने व हटाने के सर्व विकल्प दूर हो जायें। विशाल दृष्टि, ज्ञाता दृष्टा मात्र रह जाये। यही तो अभीष्ट है।

आज के तेरे विकल्पों का मूल कूप मण्डूक वने हुये परतन्त्र दृष्टि का रखना है। और इसी कारण अन्य के कर्तापने का अहंकार होता है। अतः परतन्त्र दृष्टि को संकुचित करने का निषेध किया जा रहा है, सर्वथा निषेध नहीं। यदि विशाल दृष्टि से नहीं देख सकता, तो इस परतन्त्र दृष्टि पर के लक्ष्य को सर्वथा मिटाने का प्रयत्न कर। भ्रम न कर, शंका न कर, दृष्टि मिटाने से पदार्थ न मिटेगा। तुझे अपना कल्याण करना है। निमित्त की रक्षा नहीं। आम खाने हैं पेड़ नहीं गिनने हैं। दोनों दृष्टियों में से स्वतन्त्र दृष्टि इस मार्ग में अत्यन्त उपादेय व हितकर है। और साधारण रूप से परतन्त्र दृष्टि महान अनिष्ट। जैसाकि आगे आगे के प्रकरणों में सिद्ध हो जायेगा।

७ भेद विज्ञान का प्रयोजन ज्ञाता दृष्टा पना

इसी का नाम है स्व पर पदार्थो की पृथकता। ज्ञान का अचिन्त्य माहात्म है। मिले जुले रहते हुये भी, मिश्रित पदार्थो में ज्ञान से भेद देखा जा सकता है। पृथकता देखी जा सकती है। निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध पड़े रहते हुये भी षट कारकी स्वतन्त्रता देखी जाती है। यदि मिले जुले में भेद न देखे तो ज्ञानी काहे का ? पृथक पदार्थो को पृथक तो अन्धा भी कह देगा। उसमें कौन चतुराई है ? जौहरी तो तभी कहला सकता है कि जव खोटे जेवर में स्वर्ण व खोट का सही सही अनुमान करके, उसी अवस्था में उन दोनों को पृथक देखे, और खोट को जानते हुए भी केवल स्वर्ण का मूल्य ही आंके खोट का नहीं। यद्यपि उसे पता है कि कुछ न कुछ मूल्य तो खोट का भी है ही। इसी प्रकार निमित्त नैमित्तिक रूप से षटकारकी सम्वन्ध रहते हुये भी षटकारकी भेद

देखना ही ज्ञान का माहात्म्य है। इन दोनों का प्रत्यक्ष भेद हो जाने पर तो अन्धा भी इनमें कर्ता कर्म आदि भाव न घटायेगा। उनमें स्वतन्त्रता देखना कहां की चतुराई है? ज्ञानी तो तभी कहला सकता है कि जब सम्बन्धित अवस्था में दोनों के कार्य की सीमाओं का पृथक पृथक निर्णय करके, केवल उपादान अर्थात स्व पदार्थ का मूल्य ही आंके, निमित्त या पर पदार्थ का नहीं। यद्यपि उसे पता है कि कुछ न कुछ काम तो निमित्त का है ही।

तू ज्ञानियों की सन्तान है। अन्धों की नहीं। अतः यही योग्य है कि परतंत्र दृष्टि को छोड़ कर स्वतंत्र दृष्टि को अपना। निमित्त को जानते हुये भी उसका मूल्य न गिन। स्व व पर दोनों को पूर्ण स्वतंत्र देख। पट कारकी रूप से स्वतंत्र। अर्थात स्वयं अपने द्वारा, अपने लिये, अपने में ही रहते हुये, अपना काम करते हुये देख। 'सुनार ने जेवर बनाया' ऐसा न विचार कर, 'स्वर्ण ने जेवर बनाया' ऐसा विचार। 'मैंने कुटुम्ब पाला या शरीर के अर्थ धन कमाया' ऐसा न विचार कर "मैंने केवल विकल्प उत्पन्न करके अपना अहित किया", ऐसा विचार। इसका नाम है दो द्रव्यों की पृथकता, शरीर आदि का मुझसे जुदापना। या स्व पर भेद विज्ञान। केवल 'शरीर जुदा और मै जुदा' या 'शरीर मेरा नहीं, कुटुम्ब से मेरा कोई नाता नहीं' इतना कहने से काम न चलेगा। मेरा नहीं का अर्थ, पट कारकी रूप से मेरा नहीं, ऐसा है। अर्थात न मैं इसका कोई काम कर सकता हूं और न यह मेरा। न मैं इसके द्वारा कोई काम कर सकता हूँ, न यह मेरे द्वारा। न मैं इसके लिये कोई भी काम करता हूँ न यह मेरे लिये, न मै इसके स्वभाव में जाकर कोई काम करता हूँ न यह मेरे स्वभाव में आकर; अपने अपने स्वभाव तथा अपनी अपनी सत्ता से भी दोनों पृथक पृथक हैं। अपने अपने प्रदेशों से भी दोनों पृथक पृथक हैं। अपने अपने काल या अवस्थाओं से भी दोनों पृथक पृथक हैं। अर्थात अपनी अपनी अवस्थायें पृथक पृथक रह कर स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न कर रहे हैं। अपने भाव के भी स्वयं स्वामी हैं। इस प्रकार है स्व पर पदार्थों की पृथकता।

इस प्रकार की स्व पर पृथकता की दृष्टि कितनी कार्यकारी है इस मार्ग में। देखिये, आप अजायब घर में जाकर अनेकों हीरे जवाहरात आदि व मूल्यवान व आकर्षक वस्तुओं को खूब रुचि-पूर्वक देखते हो, और प्रसन्न चित्त बाहर चले आते हो, परन्तु वैसी ही वस्तुओं को बाज़ार में रखी देखते हो तो कुछ चिंतित से हो जाते हो। क्या कारण है? केवल यही कि अजायब घर की वस्तुओं में आपको यह विश्वास है कि यह मेरे द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती, इनके ग्रहण करने का मुझको अधिकार नहीं है। और इसी कारण उनको ग्रहण करने का विकल्प नहीं आता। भले उनको ग़ौर से देखो। परन्तु बाज़ार की वस्तुओं के प्रति आपको विश्वास है कि इनको ग्रहण करने या बनाने बिगाड़ने का आपको अधिकार है। इसलिये विकल्प उठ जाते हैं, उनको ग्रहण करने या बनाने बिगाड़ने के। उपरोक्त स्वतन्त्र दृष्टि से इन बनाने बिगाड़ने सम्बन्धी कर्तापने के विश्वास को ही तोड़ने का प्रयत्न किया गया है। जिसके दूर हो जाने पर अजायब घर की वस्तुओं वत आप इस विश्व के समस्त पदार्थों को देखोगे ही, बनाने बिगाड़ने आदि के भाव न करोगे। इसी का नाम है ज्ञाता दृष्टा भाव। बस यही प्रयोजन है स्व पर भेद विज्ञान का, या पट कारकी भेद का। क्योंकि ज्ञाता दृष्टा पना ही वह साम्यता व शान्ति है, जिसकी खोज में कि मैं निकला हूँ।

—:०:—

१३

—: कर्ता कर्म व्यवस्था :—

दिनांक २८ मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० १६

१—कार्य शब्द का अर्थ, २—कर्ता कर्म सम्बन्धी पांच समवायों का निर्देश व स्याद्वाद की आवश्यकता, ३—स्वभाव, ४—संयोग या निमित्त, ५—एक कार्य में अनेकों निमित्त, ६—निमित्त की दो जातियां, ७—पुरुषार्थ, ८—नियति या काल लब्धि, ९—भवितव्य।

अहो दृष्टि की व्यापकता! जिसके प्रगट हो जाने पर सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था का स्वातन्त्रय हस्तामलक वत स्पष्ट दीखने लगता है। जिसके प्रगट हो जाने पर कर्ता बुद्धि स्वत: किनारा कर जाती है और एक ज्ञायक मात्र भाव, साक्षी रहने मात्र का भाव जागृत हो जाता है। साम्यता अवतार लेती है और जीवन शान्त हो जाता है। सुन प्रभो सुन! आज स्वातन्त्रय की जय घोषणा हो रही है। विश्व का कण कण आज हर्ष के हिंडोले में झूल रहा है। क्यों न खुशी मनाये आज मानव की बन्दी से छुटकारा जो मिला है-उसे।

१ कार्य शब्द का अर्थ

अपने जीवन की अशान्ति का मूल खोजने जाऊं तो प्रत्यक्ष ही है। २४ घन्टे की यह करने धरने की, बनाने बिगाड़ने की, मिलाने व हटाने की दौड़ धूप ही तो जीवन की वह अशान्ति है जिसे दूर करना अभीष्ट है। अर्थात मैं हर समय कुछ न कुछ काम करना चाहता हूँ, और कर रहा हूँ, इस बात से बिल्कुल बे खबर कि मैं क्या कर रहा हूँ और क्या करना चाहता हूँ। इस तथ्य की खोज निकालने के लिये पहले मुझे यह निर्णय करना है कि कार्य या काम जिसके पीछे मैं हर समय लगा रहता हूँ वह वास्तव में है क्या बला।

आइये विचार करें। देखो मैं कह रहा हूँ "मुझे आज देहली जाना है"। विचारिये कि क्या करना है। सहारनपुर से उठ कर देहली जाने का या अपना स्थान परिवर्तन कर देने का नाम ही तो देहली जाना है या और कुछ? अर्थात देहली जाने का काम अपना स्थान परिवर्तन कर लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। "पुस्तक उठाकर लाओ"। यह दूसरा वाक्य है। इसमें भी छिपा है एक काम। विचारिये, पुस्तक उठाकर लाना, उसके स्थान परिवर्तन के अतिरिक्त और क्या है? एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर पहुँचा देना ही तो पुस्तक उठा कर लाना है या कुछ और? "मेरे लिये एक मेज बना दो" यह तीसरा वाक्य है। विचार करें तो लकड़ी की हालत बदल कर अन्य हालत विशेष में लाना ही तो मेज बनाना है या कुछ और? अर्थात लकड़ी का रूप परिवर्तन करना ही वास्तव में मेज बनाने का काम है। और इसी प्रकार कोई भी लोक का काम करने का विचार कीजिये वह इन दोनों कोटियों में से कोई न कोई प्रकार का होगा। या तो होगा अपना व किसी का स्थान परिवर्तन करने रूप और या होगा अपना या किसी अन्य का रूप परिवर्तन करने रूप।

बस सिद्धान्त निकल आया। इसे याद रखना। आगे आगे के प्रकरणों में इसे लागू करना होगा। "काम कहते हैं स्व तथा पर किसी भी पदार्थ के स्थान परिवर्तन को या रूप परिवर्तन को।

२ कर्ता कर्म सम्बन्धी पांच समवायों का निर्देश व स्याद्वाद की आवश्यकता

अब देखना है कि वस्तु में यह कार्य करने या किये जाने की व्यवस्था किस प्रकार हो रही है। अर्थात् काम कौन करता है, किसके द्वारा करता है, किसके लिये करता है, किस में से करता है, किसके सहारे करता है। क्योंकि जब तक स्पष्टरीतयः यह बात जान न लूंगा, मेरी पूर्व की धारणाओं में अन्तर आना असम्भव है। जिसके बिना इस करने धरने की व्यग्रता से छुटकारा मिलना असम्भव है। अतः शान्ति के उपासक के लिये वस्तु की कर्ता कर्म या कार्य कारण रूप व्यवस्था का परिचय पाना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि विषय कुछ सिद्धान्तिक रूप धारण करके अवतरित हुआ है, जो मेरी शैली के विरुद्ध है पर क्या करूं इसके बिना काम चलेगा नहीं। अपनी पुरानी धारणाओं को तोड़ने के लिये मुझे वस्तु व्यवस्था पढ़नी ही होगी। विषय सम्भवतः कुछ कठिन लगे परन्तु ध्यान दोगे तो कुछ कठिन न पड़ेगा क्योंकि हर बात अनुभव में आ रही है।

आवश्यकता केवल इस बात की है कि यदि धारणाओं में पहले का कोई पक्ष पड़ा है तो थोड़ी देर के लिये उसे छोड़ दीजिये। अभिप्राय में खेंचातानी न रखिये। क्योंकि वस्तु व्यवस्था बड़ी जटिल व उलझी हुई है। यद्यपि एक ही बार सब कुछ देखने में तो खेंचातानी का काम नहीं है परन्तु शब्दों में वह एक ही बार दर्शाने की शक्ति न होने के कारण क्रम से ही व्याख्या की जानी सम्भव है। अतः कथन क्रम में कभी तो ऐसी बात आयेगी जो कि आप में से कुछ व्यक्ति पहले से ही स्वीकार करते हैं और शेष नहीं। और कुछ बात ऐसी आयेगी जो कि वह शेष व्यक्ति स्वीकार करते हैं पर पहले वाले कुछ नहीं। इसका कारण यही है कि हमने कुछ व्यक्ति विशेषों से सुनकर या किन्हीं शास्त्र विशेषों से पढ़कर वह वह बातें अवधारित करली हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त शेष बातों का या तो निषेध सुनने में आया है या वह सुनने व पढ़ने को ही मिली नहीं। इसलिये उन उन बातों का कुछ पक्ष पड़ा हुआ है। सो सम्भवतः अब भी आपको वस्तु व्यवस्था समझने में कुछ बाधक पड़े। अपने अनुकूल बात सुनकर स्वभावतः ही कुछ प्रसन्नता व प्रतिकूल बात सुनकर कुछ खिचाव सा चित्त में उत्पन्न हुआ करता है जिसमें से अनेकों शंकायें व प्रश्न खेंचातानी का रूप धारण करके निकल पड़ते हैं।

क्योंकि व्यवस्था जटिल है और एक दिन में ही बताई नहीं जा सकती, इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी शंकाओं को तब तक के लिये दबा रखें जबतक कि प्रकरण पूरा न हो जाये, विश्वास दिलाता हूँ कि प्रकरण पूरा हो जाने के पश्चात आपके हृदय में कोई शंका न रह पायेगी। फिर भी यदि रह गई तो अन्त में प्रश्न कर लेना, अभी नहीं। धीरे धीरे आपकी सर्व शंकाओं का समाधान हो जायेगा। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि शब्दों की या व्यक्ति की या आगम की पकड़ को छोड़ कर वस्तु में कुछ पढ़ने का प्रयत्न करें। जो बातें उसमें नित्य अनुभव में आयें, दिखाई दें उन उन सबको सरलता पूर्वक स्वीकार करें।। एक का भी निषेध करने का प्रयत्न न करें। क्योंकि इस प्रकार आपके ज्ञान में वस्तु का तदनरूप प्रतिविम्ब न पड़ने पायेगा। वह लंगड़ा हो जायेगा। और इसलिये वह ज्ञान बजाय साधक होने के आपके मार्ग

का बाधक बन बैठेगा। हानि आपको होगी। मुझे नहीं। क्योंकि मेरी धारणा तो जैसी है वैसी ही रहेगी। अपने हित अहित को सोच कर अब ज्ञान को ढीला करके सुनिये।

वस्तु की कार्य व्यवस्था में हम पांच बातें देखते हैं। १. वस्तु का स्वभाव, २. किसी न किसी अन्य बात का संयोग या निमित्त, ३. वस्तु का पुरुषार्थ, ४. काल या समय की नियतता या काल लब्धि, ५. भवितव्य,। इन पाँचों का क्रम से विश्लेषण किया जाना है। ध्यान से सुनना और ज्ञान कोष में सबको एकत्रित करते रहना। क्योंकि कार्य व्यवस्था में पांचों ही बातें समान रूप से आवश्यक हैं। या यह कहिये कि यह पाँचों ही वस्तु व्यवस्था के आवश्यक अंग हैं। एक अंग के होने पर पांचों अंग होते हैं और एक के ही न होने पर पांचों ही नहीं होते। इन पांचों में आगे पीछे होने का भी भेद नहीं है। परन्तु कथन क्रम में अवश्य आगे पीछे कहे जाने का भेद है। वस्तु व्यवस्था व कथन क्रम में इतना अन्तर है। किसी एक समय में जो कथन किया जाता है उसे वस्तु व्यवस्था का पूर्ण रूप न समझ बैठना। केवल एक अंग मात्र ही समझना। हां ज्ञान में सर्व अंगों को घुट मिट करके जो दिखाई दे वह वस्तु की पूर्ण व्यवस्था अवश्य है। ज्ञान में पूर्ण व्यवस्था देखने की शक्ति है पर वचन में कहने की नहीं। इसीलिये अनेकान्तवाद या स्याद्वाद ने जन्म धारा है। अब सुनिये पाँचों अंगों का क्रम से विवेचन।

३ स्वभाव — पहले सिद्ध कर आये हैं कि वस्तु परिवर्तन शील है (देखो विषय नं० ११ प्रकरण नं० ४) अर्थात प्रति क्षण वह एक रूप को छोड़कर अन्य रूप को तथा एक स्थान को छोड़कर अन्य स्थानों को प्राप्त कर रही है। रूपों व स्थानों में नित्य परिवर्तन करते रहना वस्तु का स्वभाव है। और स्वभाव अहेतुक होता है। उसमें तर्क नहीं चलता। ऐसा परिवर्तन वस्तु में नित्य दिखाई दे रहा है। यदि किसी भी एक पदार्थ में किसी भी एक क्षण में यह परिवर्तन रुका हुआ दिखाई दिया होता तो उसे हम स्वभाव कभी नहीं कहते क्योंकि स्वभाव में कभी बाधा नहीं पड़ा करती कि कभी तो दिखाई दे जाये और कभी नहीं। यदि वस्तु में स्वयं ऐसा परिवर्तन करने का स्वभाव न हुआ होता तो लोक की कोई भी शक्ति उसे परिवर्तन करने में समर्थ न हुई होती। जलने योग्य पदार्थ को ही जलाया जा सकता है अबरक को नहीं। यदि परिवर्तन करना वस्तु का स्वभाव न हुआ होता तो लोक में कोई भी कार्य देखने में न आता, लोक कूटस्थ हो जाता। विश्व में दीखने वाली यह भाग दौड़ कैसे दृष्टि में आती ? और यह तो स्पष्ट देखने में आ रही है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष दीखने वाले का अस्वीकार करना पक्षपात है। अतः निश्चित हुआ कि वस्तु में कार्य अर्थात परिवर्तन उस वस्तु के अपने परिवर्तन-शील स्वभाव के कारण हो रहा है। यह कार्य व्यवस्था का एक अंग हुआ।

४ संयोग या निमित्त — इसके अतिरिक्त हम यह भी देख रहे हैं कि यह परिवर्तन किसी भी योग्य अन्य वस्तु का संयोग प्राप्त करके हो रहा है। संयोग विहीन कोई भी परिवर्तन आज विश्व में दिखाई ही नहीं देता। खेती वाले दृष्टान्त में (देखो विषय नं० १२ प्रकरण नं० ३) यह स्पष्ट दर्शा दिया गया है। यह पुस्तक भी मेरे हाथ के बिना उठ नहीं रही है। इस लकड़ी का यह चौकीवाला रूप भी बिना खाती के बन नहीं पाया है। एक अणु भी दूसरे अणुओं से टकराये बिना गतिमान होता दिखाई नहीं देता। यह खम्बा भी बिना हवा पानी या गर्मी सर्दी के संयोग के जीर्ण नहीं हो रहा है। यदि यथायोग्य संयोग न हो तो परिवर्तन होना असम्भव है। क्योंकि यह भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अतः सरलता पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये। दीखते हुये भी मात्र भ्रम कह कर इसे टाल देना और स्वीकार न करना पक्षपात है। ज्ञान की खैंच है।

ज्ञान को ढीला करके देखें तो स्वीकार न करने का कोई कारण नहीं है। यहाँ भले किसी भी पक्षवश स्वीकार न करें पर जीवन प्रवाह के २४ घन्टों में भी इनकी स्वीकृति न हो तव मानें।

अरे अरे! मुख पर यह उदासी सी क्यों दीखने लगी ? निराशा की रेखायें क्यों खिंचने लगीं ? सम्भल प्रभु सम्भल ! पहले ही सावधान कर दिया था। अव फिर कर रहा हूँ। अन्तरंग की इस खींचातानी को छोड़, तेरे हृदय में उठने वाली इस शंका का मुझे भान है। "वस्तु स्वतन्त्रता के प्रकरण में यह परतन्त्रता कैसी ?" यही है तेरा प्रश्न या कुछ और ? घवरा नहीं। कथन क्रम में यथा स्थान उत्तर आ जायेगा और विषय स्पष्ट कर दिया जायेगा। यहाँ वस्तु को परतन्त्र बनाने का अभिप्राय नहीं है। संयोग होते दिखाई देते हैं या नहीं ? वस इतनी वात है। संयोग हुए विना क्या कोई कार्य होता दिखाई देता है ? यदि नहीं तो क्यों स्वीकार कर नहीं लेता ? वस इतनी ही वात स्वीकार करने को कह रहा हूँ कि संयोग होता है। संयोग ज़बरदस्ती करता या कराता है यह सिद्ध नहीं किया जा रहा है और न ही ऐसा अभिप्राय है। जितनी वात कही जाये उतनी ही वात ग्रहण करें, विना कहे अपनी ओर से उसमें कुछ अन्य वात मिलाने का प्रयत्न न कर। संयोग प्राप्त होने पर कार्य कैसे होता है और कौन करता है यह वात आगे। अतः कार्य व्यवस्था में संयोग या निमित्त का होना भी एक अंग अवश्य है जिसके विना कार्य होना असम्भव है।

यहां निमित्त के सम्वन्ध में और भी वात जान लेनी योग्य है। निमित शब्द ही यह वता रहा है कि कार्य व्यवस्था में कोई न कोई संयोग को अवश्य प्राप्त होता है। निमित्त शब्द 'मिथ' धातु से 'नि' उपसर्ग पूर्वक वना है। 'मिथ' का अर्थ है मैथुन अर्थात संयोग। निश्चित रीति से संयोग को प्राप्त हुई वस्तु को निमित्त कहते हैं। इसको अन्य भी इसी प्रकार के नामों से पुकारा जाता है। जैसे संयोग, सहकारी, सहचारी, सहयोगी सहायक इत्यादि। वास्तव में इन सव शब्दों का भी वही अर्थ है जो कि निमित्त का। संयोग शब्द 'यज' धातु से वना है सं+योग अर्थात योग्य रीति से दो पदार्थों के मिलने को संयोग कहते हैं। सहकारी अर्थात सह+कारी। 'सह' अर्थात साथ साथ 'कारी' कार्य करने वाला। साथ साथ रहकर कुछ कार्य विशेप या परिवर्तन करने वाले को सहकारी कहते हैं। सहचारी अर्थात सह+चारी। 'सह' अर्थात साथ साथ 'चारी' अर्थात प्रवाह क्रम में आगे चलने वाला। साथ साथ आगे चलने वाले अथवा परिवर्तन करने वाले को सहचारी कहते हैं। सहायक अर्थात सह+अयक। 'सह' अर्थात साथ साथ 'अयक' अर्थात गमन करने वाला। साथ साथ गमन करने वाले या परिवर्तन करने वाले को सहायक कहते हैं।

विचारिये तो सही कि यदि यह संयोग, सहायक न होता या भ्रम मात्र होता तो इन संज्ञाओं की क्या आवश्यकता थी। अभावात्मक पदार्थों की कोई संज्ञा सुनने में नहीं आती। दूसरे यह निमित्त केवल उपस्थित मात्र हो ऐसा भी नहीं है। क्योंकि वस्तु में कार्य या परिवर्तन होने के समय उपस्थित तो अनेक पदार्थ हुआ करते हैं पर वह सव निमित्त नहीं हुआ करते। निमित्त तो उन सव उपस्थित पदार्थों में से हम उसी पदार्थ विशेप को कह सकते हैं जो स्वयं भी उस वस्तु के अनुरूप ही कुछ कार्य कर रहा हो या उसके अनुरूप या उसके साथ साथ कार्य व परिवर्तन करने की शक्ती विशेप को धारण करके वहां आया हो। देखो इस पुस्तक के उठते समय यहाँ मेरे हाथ के अतिरिक्त यह चौकी व वेष्टन भी उपस्थित अवश्य है पर इन तीनों में से इस समय इस पुस्तक के उठने में निमित्त मेरा हाथ ही है, यह दोनों नहीं। इसलिये केवल उपस्थित मात्र कह कर स्वीकार करना न करने के वरावर ही है।

जिस किसी भी व्यक्ति विशेष या उल्लेख विशेष से भी आपने यह "उपस्थित मात्र" का शब्द सुना या पढ़ा है उसका भी अभिप्राय वह नहीं है, जो कि आपने पकड़ा है बल्कि वही है जो कि मैंने बताया है। भूल कहने वाले में नहीं है बल्कि ग्रहण करने वाले में है।

इसलिए शब्दों की खेंचातानी को छोड़ कर व्यवहार में नित्य कहे जाने वाले निमित्त के कर्ता पने के वाक्यों पर हंसने की बजाय, उनको यथा योग्य स्वीकार कर लेना ही तेरे ज्ञान की सरलता का द्योतक होगा। यहां पुनः कह देना आवश्यक है कि ऐसी स्वीकृति से वस्तु परतन्त्र न बनेगी, ऐसा विश्वास रख। जैसाकि अगले प्रकरणों में सिद्ध कर दिया जायेगा। यह ध्यान रख कि यहां संयोग की दृष्टि से बात हो रही है, स्वभाव या अन्य अंगों की दृष्टि से नहीं। जब उनका नम्बर आयेगा तब वैसी ही बात होगी। किसी एक बात की सिद्धि के लिये उसमें दूसरी बात को बीच में लाने से एक भी बात समझ में न आ सकेगी।

दिनांक २६ मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० १७

५ एक कार्य में अनेकों निमित्त

यहाँ यह प्रश्न करना भी योग्य नहीं कि किसान, बैल, हल, पानी आदि सब कुछ उसी प्रकार होते हुये भी एक खेत में बीज उगता देखा जाता है और एक खेत में नहीं। 'क्योंकि एक कार्य में अनेक कारण होते हैं।' एक दो मात्र नहीं। भले ही सारे के सारे कहे न गये हों। जैसे कि खेती के दृष्टान्त में कथित सात आठ कारणों के अतिरिक्त, जल, वायु, बरसात, अथवा मिट्टी में पड़ी खाद या मिट्टी में पाये जाने वाले विशेष प्रकार के साल्ट या खाद आदि अनेकों निमित्त और भी हैं जो बीज के अंकुरित होने में कारण पड़ रहे हैं। यह सब के सब निमित्त समान रूप से जुड़ जाने पर कार्य भी अवश्य ही समान ही होता है।

६ निमित्त की दो जातियां

यह निमित्त या संयोग भी एक ही प्रकार के दृष्टि गत होते हों ऐसा नहीं है। पुनः यही प्रे णा है कि वस्तु को पढ़ने का प्रयत्न करना, शब्दों को नहीं। कुछ संयोग तो हम ऐसे देख रहे हैं कि जिनमें अनुकूल कार्य होते रहते भी उसके सम्पर्क में आने वाले उस दूसरे पदार्थ में तदनुरूप कार्य कदाचित होता देखा जाता है और कदाचित नहीं भी। जैसे गुरु शिष्य संयोग। गुरु का शिक्षा देने की अवस्था में रहते हुये भी शिष्य उसे कदाचित ग्रहण कर भी लेता है और कदाचित नहीं भी। अथवा मछली के चलने को जल। जल में रहते हुये भी वह चाहे चले या न चले। इन प्रकार के संयोगों से कार्य की निश्चितता न होने के कारण इन्हें उदासीन निमित्त कहा जाता है।

परन्तु कुछ संयोग ऐसे भी देखने में आते हैं कि उनके यथा योग्य रूप में उपस्थित होने पर उस दूसरे पदार्थ में कार्य अवश्य होता ही है। इस नियम में कभी बाधा नहीं पड़ती। जैसे कि स्वस्थ दशा में व पुस्तक उठाने के प्रति उद्यत इस हाथ के होते हुये इस हाथ के द्वारा उठ जाने योग्य (अर्थात अधिक भारी नहीं है जो, या इस चौकी में नहीं गड़ी हुई है जो) यह पुस्तक न उठे ऐसा होना तीन काल में असम्भव नहीं है। या स्वच्छ दशा में दर्पण सामने होने पर, मेरा या किसी अन्य पदार्थ का, जो उस

समय उसके सामने हो, प्रतिविम्ब न पड़े यह वात असम्भव है। स्वस्थ दशा में और घड़ा वनाने के प्रति उद्यत, कुम्भकार के होने पर घड़ा वनने योग्य उस मिट्टी के पिण्ड में से घड़ा न वने यह वात असम्भव है। और इसी प्रकार अन्य भी अनेकों दृष्टान्तों पर से हम ऐसे अवाधित निमित्तों की सिद्धि सरलता पूर्वक कर सकते हैं। ऐसे निमित्तों को ही आगमकारों ने प्रेरक निमित्त कहा है।

निमित्तों की यह दो जातियां हमारे व्यवहार में नित्य आ रही हैं। फिर भी यदि एक उदासीन मात्र को ही हम स्वीकार करें और प्रेरक को भ्रम मात्र कह दें, तो पक्षपात होगा। जो वात नित्य प्रयोग में आ रही है उसे स्वीकार न करना ज्ञान का कड़ापना है। इसे ढीला छोड़ कर सरल वृत्ति से देखने का प्रयत्न कीजिये तो इन दो जातियों के निमित्तों की सत्ता प्रत्यक्ष हो जायेगी। आपके मन में उत्पन्न हुये संशय को पुनः निवारण करता हूँ। इससे वस्तु परतन्त्र नहीं होगी। क्योंकि अभी तक भी कहीं यह नहीं कहा गया है कि निमित्त उदासीन हो कि प्रेरक, ज़वरदस्ती कोई काम या परिवर्तन विना वस्तु की योग्यता या मर्ज़ी के कराता है। परन्तु अगले तीन अंगों की व्याख्या हो जाने के पश्चात ही यह विषय स्पष्ट हो सकेगा, यहाँ नहीं। यहां तो केवल निमित्तों व उनकी दो जातियों की सत्ता मात्र की स्वीकृति कराना अभीष्ट है। क्योंकि निमित्त या संयोग के विना कोई कार्य नहीं होता। इसलिये यह भी कार्य व्यवस्था का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है।

७ पुरुषार्थ

पुरुषार्थ के विना भी लोक का कोई कार्य होता देखा नहीं जाता। यहाँ 'पुरुषार्थ' शब्द का वह अर्थ न समझना जो कि लोक में प्रयोग किया जाता है। लोक में तो केवल मनुष्य के या अधिक वढ़ें तो चेतन पदार्थ के पुरुषार्थ को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। जड़ तत्व में साधारण जनों को कोई पुरुषार्थ होता दिखाई नहीं देता। और यही कारण है कि वह जड़ पदार्थों को विल्कुल निःशक्त व अपने आधीन मान वैठा है। वास्तव में ऐसा नहीं है पुरुषार्थ का अर्थ है किसी पदार्थ का एक अवस्था को तज कर दूसरी अवस्था को धारण करने के प्रति झुकना। वस्तु के अपने इस झुकाव विशेष का नाम ही उस उस वस्तु का अपना अपना पुरुषार्थ है ? वह वस्तु जड़ हो कि चेतन सव में ऐसा भाव पाया जाता है। जैसे कि अग्नि पर रख देने से जल का धीरे धीरे उष्णता की ओर झुकते हुये देखे जाना। भाप को किसी वर्तन में रोक देने पर उसका वहां से निकलने के प्रति का झुकाव भी अदृष्य नहीं है। जो काम आज लाखों व्यक्ति मिल कर नहीं कर सकते वह काम एक अणु कर सकता है। यह वात अवश्य है कि आपके पुरुषार्थ की जाति किसी अन्य प्रकार की है, उसकी अन्य प्रकार की। आप चेतन पदार्थ है, विचार शील हैं, अतः आपके पुरुषार्थ की जाति भी विचारणाओं रूप है। वह जड़ है, उसके पुरुषार्थ की जाति भी जड़ात्मक है। आपका विकल्प करने रूप पुरुषार्थ या झुकाव इन्द्रिय गोचर नहीं, पर उसका गमनागमन रूप, अग्नि आदि लगाने रूप या अन्य रूप पुरुषार्थ या झुकाव इन्द्रिय गोचर है।

अतः सिद्धान्त निकला यह, कि प्रत्येक पदार्थ में पुरुषार्थ होता है। वह जड़ हो या चेतन। अन्तर केवल इतना ही है कि जड़ का पुरुषार्थ जड़ात्मक है इसलिये उसका कार्य या परिवर्तन भी जड़ात्मक है। और चेतन का पुरुषार्थ चेतनात्मक है। जड़ात्मक हो जाने से उस जड़ पदार्थ में पुरुषार्थ का अभाव नहीं कह सकते। यदि कोई पदार्थ स्वयं अपने अन्दर नवीन अवस्था के प्रति न झुके तो पुरानी अवस्था नष्ट हो जाने पर वह अवस्था शून्य हो जाये। और ऐसा हो जाये तो इस विश्व में कुछ भी दिखाई न दे। सर्व शून्य हो जावे।

इसलिये यह बात अवश्य स्वीकार करने योग्य है, कि वस्तु के अपने अपने पुरुषार्थ या झुकाव विशेष के अभाव में, वस्तु की अवस्थाओं में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होना असम्भव होने के कारण, पुरुषार्थ भी कार्य या परिवर्तन का एक प्रमुख अंग है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुरुषार्थ ही पर्याप्त है। स्वभाव निमित्त तथा अन्य अंग यदि न हों तो पुरुषार्थ अकेला कुछ नहीं कर सकता। वास्तव में वह न हो तो पुरुषार्थ भी न हो या पुरुषार्थ न हो तो वह भी न हो ऐसा कहना उपयुक्त है। परन्तु यहां तो केवल पुरुषार्थ की सिद्धि की जा रही है। इसलिये इस स्थान पर अन्य बातों को बीच में लाना योग्य नहीं। एक एक बात की पृथक पृथक सिद्धि हो जाने के पश्चात इन सब को परस्पर में भिड़ा दिया जाएगा, तभी यथार्थ व्यवस्था समझी जानी शक्य है। अतः अभी उस प्रकार के प्रश्नों को दबा लीजिए।

८ नियति या काल लब्धि

वस्तु की कार्य व्यवस्था में चौथी बात जो विचारने पर वस्तु में दिखाई देती है वह है नियति या काल लब्धि। यद्यपि यह विषय कुछ विवादग्रस्त है, क्योंकि कुछ व्यक्ति या विद्वान इस अंग को आज स्वीकार करते हैं और कुछ नहीं, और इसी प्रकार आप सभों में भी सम्भवतः इन दोनों दृष्टियों वाले व्यक्ति उपस्थित हों। फिर भी यहां मैं जो कुछ कहूँगा वह वही तो कहूँगा जो कि मुझे दिखाई देता है अर्थात अपनी दृष्टि की बात। और वस्तु व्यवस्था को स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए इस अंग को यहां कहना आवश्यक प्रतीत भी होता है। परन्तु कहने से पहले आप सब से ही यह विनीत प्रार्थना अवश्य करूंगा कि यदि किन्हीं मुमुक्ष जनों की दृष्टि इस अंग को स्वीकार नहीं करती है तो वह इसे सुन कर अपने चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ या वितंडा उठाने का प्रयत्न न करें। क्योंकि इसमें स्वयं उन ही का अहित है। उनका क्षोभ उन ही की शान्ति को तो घातेगा मेरी को तो नहीं। मेरी दृष्टि तो जैसी की तैसी ही बनी रहेगी। इस अंग को भी ध्यान से सुन कर समझने का प्रयत्न करें। वस्तु में जाकर इसे खोजने का प्रयत्न करें। वहां यह अंग दिखाई दे तो स्वीकार कर लेना नहीं तो नहीं। यदि स्वीकार न भी हो तो भी समझ लेना कि लोक में भिन्न भिन्न दृष्टियों के लोग हैं। विचार विषमता होती रहे, पर इस का अर्थ यह नहीं कि मनो-विषमता भी हो जाये। प्रेम में बाधा न पड़ने दीजिये। क्योंकि मेरी दृष्टि मेरे पास है और आपकी आपके पास। मेरी दृष्टि से हानि लाभ मेरा है और आपकी दृष्टि से आपका।

आइये अब वस्तु में कुछ और भी पढ़ने का प्रयत्न करें जिससे कि वस्तु में अब तक दीखने वाली कुछ परतन्त्रता स्वतन्त्रता में बदल जाये, जिससे कि अब तक के उठने वाले अनेकों प्रश्नों का समाधान हो जाये। स्वभाव, निमित्त व पुरुषार्थ के अतिरिक्त वस्तु की कार्य व्यवस्था में कुछ और भी देखने में आता है। अर्थात वस्तु में होने वाला वह वह कार्य या परिवर्तन किसी निश्चित समय पर ही हो रहा है। आगे पीछे नहीं। ऐसा सब स्वयं अर्थात स्वभाव से ही हो रहा है। किसी ने वह समय निश्चित किया हो या बैठा हुआ कर रहा हो ऐसा नहीं है। वस्तु में जो बात सहज अर्थात बिना किसी कारण के होती हुई दिखाई दे वह उसका स्वभाव ही होता है। वस्तु का स्वभाव पढ़ने का एक बहुत सरल उपाय यह है कि अपने से प्रश्न करने प्रारम्भ कर दीजिये। उत्तर आने पर पुनः पुनः प्रश्न करिये। आखिर एक स्थिति आ जायेगी जहां प्रश्न होने स्वतः बन्द हो जायेंगे, समझिये कि वह वस्तु का स्वभाव है। क्योंकि स्वभाव में तर्क नहीं चला करता।

दृष्टान्त के रूप में वही पुराना खेती का दृष्टान्त ले लीजिए। और किसान से पूछिये :—

प्रश्न—बीज आज ही क्यों फूटा आगे पीछे क्यों न फूट गया ?
उत्तर—क्योंकि आज से दो दिन पहले ही पृथ्वी में डाला गया था। और पृथ्वी में पड़ने के दो दिन पश्चात अंकुरित होना इसका स्वभाव है।

प्रश्न—दो दिन पहले ही पृथ्वी में क्यों डाला गया था, तीन दिन पहले क्यों नहीं ?
उत्तर—दो दिन पहले ही पृथ्वी वाही जाकर तैयार हुई थी। तीसरे दिन तक यह ठीक ठाक नहीं हुई थी।

प्रश्न—दो दिन पहले ही यह ठीक ठाक क्यों हुई थी, इससे पहले क्यों नहीं।
उत्तर—छः दिन पहले ही हल जोतना प्रारम्भ किया था। इतनी पृथ्वी छः दिन में ही जोती जा सकती थी। इससे कम समय में नहीं।

प्रश्न—छः दिन पहले ही हल क्यों जोता। इससे पहले क्यों नहीं ?
उत्तर—उसी दिन चित्त में जोतने का विकल्प या इच्छा उत्पन्न हुई थी। इससे पहले नहीं।

प्रश्न—इससे पहले विकल्प चित्त में उत्पन्न क्यों नहीं हुआ ?
उत्तर—अब तो उत्तर ने हार मान ली। इससे पहले विकल्प क्यों उत्पन्न न हुआ, इसका मेरे पास कोई उत्तर नहीं। उसी समय हुआ इतना जानता अवश्य हूँ। उस समय वह स्वतः ही जागृत हो गया और उसके आगे क्रमशः तदनुरूप कार्य चलने लगा। क्यों हुआ का उत्तर कुछ नहीं पर हुआ अवश्य।

यद्यपि अन्य अनेकों बातें बीच में लाई जा सकती हैं। जैसे मौसम तब ठीक न था। या कर्म का उदय इसी जाति का तब ही आया था। उस कर्म में अपकर्षण भी किसी विशेष समय में ही किया था इत्यादि। परन्तु बात को निर्णय करना है इसलिये अधिक खेंचने से लाभ नहीं। कितनी भी बातें बीच में अपने उत्तर में लाइये, आखिर एक स्थिति ऐसी अवश्य आ जायेगी जहां जाकर उत्तर हार मान जायेगा या उत्तरों की पूर्व कथित श्रृंखला पुनः चला देगा और अनवस्था में उलझ बैठेगा। ऐसी स्थिति आ जाने पर सरलता से विचार करें तो आपका हृदय स्वयं पुकार उठेगा कि उसी समय वैसा होना था और उसी समय वैसा हुआ। आगे पीछे न होना था और न आगे पीछे हुआ। बस समझ लीजिये कि वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है, क्योंकि यहां तर्क शान्त हो चुका है।

किसान को वह विकल्प विशेष उस निश्चित समय पर ही आना था और तभी वह आया भी, इस बात की परीक्षा भी की जा सकती है। आपसे ही यदि मैं कहूं कि इस समय जो इस बात को सुनकर आपके हृदय में अनेकों प्रश्नात्मक विकल्पों की बाढ़ आ गई है। उसे इस समय दबाकर कोई अन्य विकल्प उत्पन्न करलें और इन विकल्पों को शाम के ६ बजे उत्पन्न करना या करके दिखाना। विचारिये तो सही कि क्या इतनी शक्ति है आप में, कि जो विकल्प जिस समय आप चाहें वह ही आयें अन्य नहीं ? ऐसा नहीं है। विकल्प स्वतन्त्र रीति से अपने अपने समय पर उठ रहे हैं। उनमें हेर फेर करने की सामर्थ्य आप में नहीं। सामर्थ्य होती तो मेरे ऊपर वाले प्रश्न को कार्यन्वित रूप देकर दिखा देते। अतः निश्चित हुआ कि वह विकल्प उसी समय आना निश्चित था। इसी का नाम है नियति या

काल लब्धि। इसी के लिये एक नवीन शब्द का आविष्कार भी इस युग में हुआ है और वह है क्रमबद्धता। नियति, काल लब्धि, व क्रमबद्धता-इन तीनों का एक ही अर्थ है।

खेती बोने के कार्य के सर्व संयोगों की शृंखला में यदि एक प्रारम्भिक कड़ी भी नियत सिद्ध हो गई तो यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अगली अगली सर्व ही कड़ियां नियत हो जायेंगी। क्योंकि जैसेकि उस जाति का विकल्प उठने पर किसान ने उस उस समय वह वह निमित्त ही जुटाये अन्य नहीं। इसी प्रकार किसी भी पदार्थ में, कोई एक कार्य या परिवर्तन विशेष होने पर, उस समय उसके निमित्त से उसके सम्पर्क में आने वाले दूसरे पदार्थ में भी, तदनुरूप ही कोई कार्य होना निश्चित है, कोई अन्य नहीं। इस प्रकार खेती के कार्य में जितने भी साझीदार थे उन उन सबका वह वह कार्य उस उस समय ही होना निश्चित हो जाता है। अन्य प्रकार से भी यदि किसान की भाँति अन्य सर्व साझीदारों से बारी बारी वही ऊपर जैसे प्रश्न करें तो एक स्थान पर पहुँच कर वह सब ही यह कह देंगे कि उस समय में वैसा ही होना निश्चित था।

अतः यह सिद्धान्त निकला कि कार्य व्यवस्था में नियति का भी कुछ हाथ है। यद्यपि इस विषय के सम्बन्ध में अनेकों प्रश्न इस समय अन्तर में खलबली मचा रहे हैं, परन्तु कुछ धैर्य पूर्वक ही काम करना है। आगे जाकर उन सबका समाधान हो जायेगा।

६ भवितव्य इन प्रश्नों का समाधान करने से पहले यहां इस स्थान पर प्रकृत विषय की पूर्ति के अर्थ पांचवीं बात पर भी विचार कर लेना अभीष्ट है। इस पांचवें अंग का नाम बताया था भवितव्य अर्थात होने योग्य। होने योग्य बातें तीन हैं। एक तो वस्तु में उस जाति विशेष का कार्य जोकि उस समय में हुआ है, दूसरा उस निमित्त विशेष की उपलब्धि जोकि उस समय में हुई है और तीसरा वह ही पुरुषार्थ विशेष जोकि उस समय में हुआ है।

यद्यपि नियति या भवितव्य, यह दोनों अंग कुछ समान वाची से प्रतीत होते हैं पर वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि नियति तो उपरोक्त तीनों बातों के समय या काल मात्र को बताता है। भवितव्य और नियति यह दोनों परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं नियति के बिना भवितव्य का और भवितव्य के बिना नियति का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

नियति ने तो इतना बताया कि अमुक समय में वस्तु में कार्य होना निश्चित है पर कौन कार्य होना निश्चित है यह नहीं बताया। इसी प्रकार यह बताया कि अमुक समय में निमित्त का संयोग होना निश्चित है, पर कौन निमित्त का संयोग होना निश्चित है यह नहीं बताया। इसी प्रकार यह बताया कि अमुक समय में वस्तु के द्वारा पुरुषार्थ किया जाना निश्चित है पर कौन पुरुषार्थ किया जाना निश्चित है यह नही बताया।

इन तीनों बातों की जाति का निश्चय हुये बिना तो अमुक समय में जो कोई भी कार्य, जो कोई भी निमित्त व जो कोई भी पुरुषार्थ हो जायेगा। और यदि ऐसा ही है तो नियति की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी, क्योंकि यह तो पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि वस्तु में कोई न कोई कार्य या परिवर्तन, कोई न कोई संयोग या निमित्त अथवा कोई न कोई पुरुषार्थ तो प्रतिक्षण होना ही है। वहां

भी यह तीनों निश्चित या व्यवस्थित नहीं थे और यहां भी अर्थात नियति की स्वीकृति के पश्चात भी यह निश्चित न होने पाये। वहां और यहाँ दोनों ओर ही यह बात पड़ी है कि किसी भी समय तीनों होते तो अवश्य हैं, पर चाहे जो भी हो सकते हैं, अर्थात मैं जैसा चाहूँ निमित्त मिलाऊं, और जैसे चाहूँ वस्तु को परिणमा दूं। अथवा जिस समय जैसा जैसा भी निमित्त मिलेगा उस समय वस्तु में कार्य भी वैसा वैसा ही हो जायेगा। और यदि यह ठीक है तो वही पुरानी बात कि 'विश्व मेरे आधीन है,' ज्यों की त्यों बनी रही, जिस प्रकार अन्य को निमित्त के रूप में मिलाना या उसमें परिणमन कराना मेरे आधीन है उसी प्रकार मुझको निमित्त के रूप में मिलाना भी अन्य के आधीन हो जायेगा। अर्थात दूसरा मेरे आधीन और मैं दूसरे के आधीन बन बैठूंगा। दोनों में संघर्ष उत्पन्न हो जायेगा और वस्तु व्यवस्था बिगड़ जायेगी। क्योंकि ऐसा असम्भव है कि जो मेरे आधीन हो उसी के आधीन मैं हूँ।

इसलिये भवितव्य की सिद्धि की आवश्यकता है। भवितव्य कहता है कि ऐसा नहीं है कि किसी नियत समय पर तू जो चाहे निमित्त मिलाले, जो व जैसा कैसा भी पुरुषार्थ करले और जैसा कैसा भी कार्य बना ले। बल्कि ऐसा है कि किसी भी नियुक्त समय में तुझ में अमुक ही प्रकार का पुरुषार्थ होने योग्य है अर्थात तुझ में वैसा ही करने की इच्छा जागृत होती है, तदनुरूप ही सामग्री तू जुटाता है और इसलिये तदनुरूप ही कार्य हो पाता है। अतः किसी भी समय विशेष में इन तीनों का व्यवस्थित रूप में ही होना निश्चित है।

इस प्रकार नियति के बिना भवितव्य भी कल्पना मात्र ही रह जायेगा। क्योंकि भवितव्य केवल इतना ही बता पायेगा कि अमुक प्रकार का पुरुषार्थ निमित्त व कार्य होने योग्य है। परन्तु कब, यह न बताने पायेगा। तब यह बात समझी जायेगी कि मैं अमुक प्रकार का पुरुषार्थ कर सकता हूँ पर जब चाहे कर लूं। अथवा अमुक प्रकार से काम या परिवर्तन कर सकता हूँ पर जब चाहे कर लूं। और यदि ऐसा ही है तो भवितव्य की आवश्यकता ही क्या रही। अतः नियति भवितव्य को बल देती है और भवितव्य नियति को। नियति भवितव्य को व्यवस्थित करता है और भवितव्य नियति को।

इस प्रकार वस्तु की कार्य व्यवस्था में वस्तु का स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, नियति, व भवितव्य यह पांचों अंग सम्मिलित हैं। इन पांचों को पांच समवाय कहा जाता है क्योंकि कार्य व्यवस्था में यह पांचों ही सहकारी हैं अर्थात एक ही समय में एक कार्य में यह पांचों ही अविरोधी रूप से रहते हैं।

१४

—: पाँच समवाय समन्वय :—

दिनांक ३० मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० १७

१—समवायों सम्बन्धी अनेकों प्रश्न, २—नियति या पुरुषार्थ का समन्वय, ३—नियति व उपदेश का समन्वय, ४—नियति व विकल्प परिवर्तन का समन्वय, ५—नियति व स्वभाव का समन्वय, ६—नियति व स्वच्छन्द का समन्वय. ७—नियति व आगम का समन्वय, ८—नियति व निमित्त का समन्वय, ९—निमित्त व वस्तु स्वतन्त्रता का समन्वय, १०—निमित्तों के संयोग की स्वतन्त्रता, ११—नियति, निमित्त व पुरुषार्थ तीनों का समन्वय, १२—नियति व अनियति का समन्वय, १३—वस्तु स्वरूप की जटिलता।

अहो वस्तु स्वातन्त्रय की घोषणा करके, मेरे अन्दर में पड़ी कुछ करने धरने की बुद्धि हर कर, मुझे व्यग्रताओं से मुक्ति दिलाने वाले गुरुदेव आपकी महिमा! अलौकिक जनों की अलौकिक बातें। सर्व साधारण जन कैसे स्पर्श कर सकेंगे उनकी गहनता को। करने धरने की बुद्धि हटानी अभीष्ट है। खोजते खोजते उसका मूल मिला कहाँ जाकर? वस्तु की व्यवस्था में। अर्थात वस्तु की कार्य व्यवस्था का या उसकी स्वतन्त्रता का ठीक ठीक निर्णय न होने के कारण ही मैं जगत में फेर फार करने के पीछे दौड़ रहा हूँ। यदि कदाचित वस्तु का व्यवस्थित रूप पढ़ कर अपनी धारणाओं को बदल पाता तो यह व्यग्रता सहज ही टल जाती। इसी कारण से है गुरुओं का प्रयास-मुझे वस्तु व्यवस्था दर्शाने का।

१ समवायों सम्बन्धी अनेकों प्रश्न

समवाय सम्बन्धी अनेकों प्रश्न—

नियति या भवितव्य की बात सुनकर अनेकों प्रश्न चित्त में खलबली मचा रहे हैं। उनको कल दबा दिया गया था। आज उनका उत्तर देने का नम्बर आया है। लाइये कौन से प्रश्न हैं।

१ पहला प्रश्न तो यह कि नियति की स्वीकृति के पश्चात पुरुषार्थ निष्फल हो जाता है। या अकर्मण्यता आ जाती है?

२ दूसरा प्रश्न यह है कि नियति की स्वीकृति के पश्चात उपदेश का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता?

३ तीसरा प्रश्न यह है कि यदि विकल्प का परिवर्तन करने में भी मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, तब तो मैं कदापि भी अपना हित करने में सफल नहीं हो सकूंगा?

४ चौथा प्रश्न यह कि ऐसी नियति व्यवस्था बिना किसी के किये होनी कैसे सम्भव है?

५ पांचवां प्रश्न यह है कि नियति की स्वीकृति से स्वच्छन्द का पोषण हो जायेगा ?

६ छठा प्रश्न यह है कि नियति का आगम में निषेध किया गया है इसलिये इसको स्वीकार करने से आगम के साथ विरोध आता है ?

७ सातवां प्रश्न है कि यदि कार्य नियत है तो निमित्तों की क्या आवश्यकता ?

८ आठवां प्रश्न है कि निमित्तों को स्वीकार कर लेने पर वस्तु परतन्त्र हो जायेगी ?

९ नवां प्रश्न है कि निमित्तों को यथायोग्य संयोग कराने वाला कौन है ? मेरे बिना स्वयं निमित्त आकर कैसे प्राप्त होते हैं ?

१० दसवां प्रश्न है कि यदि निमित्त स्वतः प्राप्त हो जाते हैं तो पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता ?

११ ग्यारहवां प्रश्न है कि अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार नियति के साथ अनियति कैसे घटित होती है ?

और इसी प्रकार अन्य भी अनेकों प्रश्न हो सकते हैं। परन्तु यहां इन ग्यारह प्रश्नों का समाधान कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ।

लीजिये इन प्रश्नों का क्रम से समाधान करने का प्रयत्न करता हूं। बात कुछ जटिल अवश्य है पर फिर भी उसे सरल बनाने का प्रयत्न करूंगा। आप भी थोड़ा ज्ञान को ढीला करके सरल वृति से समझने का प्रयत्न करें वस्तु में जो दिखाई दे रहा है उसे अस्वीकार न करें। आप यदि मेरा साथ देंगे तब तो मैं समझा भी सकूंगा और आप समझ भी सकेंगे अन्यथा मेरा प्रयास विफल जायेगा।

२ नियति या पुरुषार्थ का समन्वय

यदि सर्व ही कार्य अपने अपने समय पर स्वतः हो रहे हैं तो मेरा कल्याण भी अपने समय पर स्वतः हो जायेगा। मैं शान्ति मार्ग की ओर का पुरुषार्थ भी क्यों करूं ? ठीक है प्रश्न स्वाभाविक है। हरेक व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होता है। पर भाई ! क्या विचारा है कभी, कि शान्ति की ओर का पुरुषार्थ न करके भी क्या तू खाली बैठा रह सकेगा ? कुछ न कुछ करना अर्थात अपने रूप में या स्थान में परिवर्तन करना तो तेरा स्वभाव है। वही तेरा पुरुषार्थ है। वह किये बिना तू क्या, जगत का कोई भी पदार्थ रह नहीं सकता। करना तो अवश्य तुझे कुछ न कुछ पड़ेगा ही क्योंकि स्वभाव को घाता नहीं जा सकता। अब यह बता कि शान्ति की दिशा का नहीं तो किस दिशा का पुरुषार्थ करने की इच्छा तेरे अन्दर उत्पन्न हो रही है। कोई न कोई इच्छा तो अवश्य है वहां। ऐसा तो हो नहीं सकता कि इच्छा या विकल्प न हो।

बस खाऊं, पीऊं, मौज उड़ाऊं, शान्ति जब होनी होगी हो जायेगी। ठीक है, तो तात्पर्य यह हुआ कि तेरे अन्दर में उन लौकिक सुखों के प्रति, जिनको कि पहले अशान्ति रूप बता दिया गया है, अभी तक आकर्षण पड़ा है। क्योंकि यदि ऐसा न हुआ होता तो तेरी इच्छा का प्रवाह उस ओर कदापि जाने न पाता। और इसलिये तू भले ही शान्ति पथ की बात करता हो, पर वास्तव में शान्ति का उपासक है ही नहीं। यदि हुआ होता तो तेरे अन्तर में बजाए भोगों के शान्ति का आकर्षण पड़ा होता और तब तेरा ऊपर वाला प्रश्न बदल कर यह रूप धर लेता कि इन बाह्य पदार्थों में करने धरने की क्या आवश्यकता, जैसा कैसा भी जब होना होगा हो जायेगा। मैं शान्ति में ही निवास क्यों न करूं ? क्यों विकल्पों की दाह में जलूं ?

दोनों ही दशाओं में तू पुरुषार्थ हीन नहीं वन पाया है। पुरुषार्थ अवश्य कर रहा है। अन्तर इतना ही है कि पहली दशा में तेरा पुरुषार्थ लौकिक सुखों की ओर ढलक रहा था और दूसरी दशा में शान्ति की ओर। जैसा जैसा तू उस समय करेगा वैसा वैसा फल तो अवश्य मिलेगा ही, अर्थात पहली दशा में अशान्ति और दूसरी दशा में शान्ति। बता पुरुषार्थ निष्फल कहां गया ? पुरुषार्थ हीनता या अकर्मण्यता कहाँ आई ?

वास्तव में तेरे अन्दर यह प्रश्न इसलिये उत्पन्न हो रहा है कि तेरी रुचि में तो पड़ा है लौकिक पुरुषार्थ और बाहर से कह रहा है तू अपने को शान्ति का उपासक, जो सर्वथा मिथ्या है। तू भले समझ न पाये पर ज्ञानी जन समझ जाते हैं कि इस प्राणी की काल लब्धि अभी खोटी पड़ी हुई है, अतः अभी कुछ और दिन इसे अशान्ति में निवास करना है। अतः तुझे समझाने के प्रति मध्यस्थता धारकर वह इस विकल्प को छोड़ देते हैं और पुनः शान्ति में स्नान करने लगते हैं।

अरे भाई! पुरुषार्थ अन्धा हुआ करता है। वह यह नहीं विचारा करता कि कब समय आये कि मैं अमुक जाति का पुरुषार्थ करूं। तेरा पुरुषार्थ तेरे विकल्प के आधीन है, नियति के नहीं। जब तेरे अन्दर उस उस समय उस उस प्रकार का विकल्प आ ही जायेगा तो उस उस जाति का पुरुषार्थ कैसे न करेगा। उस उस जाति का पुरुषार्थ होने पर फिर उस उस जाति का कार्य या परिवर्तन तेरे अन्दर कैसे न होगा।

क्या लौकिक व्यापार आदि करते हुये भी यह विचार आया करता है कि पहले यह मालूम करूं कि कब व्यापार का समय आयेगा ताकि उस समय मैं कार्य प्रारम्भ कर सकूं ? वहां तो कार्य करने का विकल्प आया और कार्य कर बैठा। कुंए में कोई व्यक्ति गिर पड़े तो उसको निकालने के समय या तेरे घर में आग लग जाये तो उसको बुझाने के समय भी क्या कभी यह विचार किया करता है कि जब समय आयेगा तब ही उसको निकालने का या आग बुझाने का पुरुषार्थ करूंगा, उससे पहले कसे करूं, क्योंकि कर ही नहीं सकता। प्रभो! कुछ करने का विकल्प अन्तर में जागृत हो जाने पर यह विचारा नहीं जाया करता कि कब समय आयेगा। विकल्प आते ही तदनुकूल पुरुषार्थ चालू हो ही जाता है। ऐसा स्वभाव है।

मैं हीन ज्ञानी हूं पहले से यह बात भले न जान पाऊं कि कौन समय कौन कार्य के लिये नियत है। परन्तु उपरोक्त प्रकार कार्य हो जाने पर मेरा अनुमान यही कहता हुआ प्रतीत होता है कि क्योंकि इस समय स्वतः यह कार्य करने का विकल्प जागृत हुआ था इसलिये अवश्य ही यह कार्य इस ही समय होना निश्चित था। तथा कुछ प्रत्यक्ष ज्ञानी अवधि व मनःपर्यय ज्ञान के आधार पर अथवा निमित्त ज्ञानी स्वपनों व चिन्ह विशेषों के आधार पर कार्य होने से पहले भी यह जान जाते हैं कि अमुक समय अमुक काम होना निश्चित है। वह भी जान भले जाओ या आप उनसे अपने किसी कार्य का निश्चित समय पूछ भले लो परन्तु कार्य होने के समय में तो आपको केवल कार्य करने का ही विकल्प आता है। "समय आया या नहीं" ऐसा विकल्प नहीं आता और इसलिये उस समय कार्य होता ही है। पीछे भले यह जानने का विकल्प आ जाये कि क्या कार्य उसी समय हुआ है या आगे पीछे और आपको यह जानकर सन्तोष होता है "कि उसी समय हुआ है आगे पीछे नहीं"।

यहाँ इतना अवश्य जान लेना योग्य है कि वर्तमान के ज्योतिषियों को इस तत्व की परीक्षा का आधार नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि अपने को ज्योतिषी कहने वाले वह वास्तविक ज्योतिषी या निमित्त ज्ञानी नहीं हैं। यदि हुये होते तो एक कोई कार्य होना बताकर स्वयं ही उसको टालने का उपाय न बताते होते। उन बेचारों को स्वयं यह विश्वास नहीं कि जो कुछ वह बता रहे हैं वह होना निश्चित ही है। नियति को किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। वास्तव में जो कोई टालने का उपाय करता है वह भी नियत ही है जैसे कि द्वारका के दहन में द्वीपायन का प्रयास।

यहां एक प्रश्न और आ खड़ा होता है कि क्या नियति पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देती है। यदि नहीं तो इसकी क्या आवश्यकता? प्रभो! वस्तु व्यवस्था तेरी आवश्यकता की मोहताज नहीं। तेरा निर्णय ही वस्तु व्यवस्था के मोहताज है। ज्ञान ने जाना इसलिये वस्तु व्यवस्था नहीं होती बल्कि वस्तु व्यवस्था जैसी होती है वैसा ज्ञान जानता है। ज्ञान का काम जानना मात्र है कुछ बाहर में करना धरना नहीं है। ज्ञान तो एक दर्पण है जैसी बात वस्तु में होती है वैसी दिखाई दे जाती है।

इसी प्रकार नियति तो कोई वस्तु नहीं। वह कोई पदार्थ नहीं। उसका कोई गुण भी नहीं, उसकी कोई अवस्था नहीं। इसलिये यह करने की प्रेरणा देता है इस बात को अवकाश ही कहां है? नियति तो वास्तव में कार्य व्यवस्था में पड़ा वह अंग है जिसके आधार पर कि ज्ञान यह जान पाता है कि अमुक समय में कार्य होना निश्चित है, या जिस समय में होना था उसी समय में हुआ है। नियति तो उस समय का नाम है जिसमें कि कोई कार्य होता है या होना होता है।

जैसा कि पहले बता दिया गया है। करने की बात नियति नहीं है पुरुषार्थ है। नियति केवल जानने की बात है। नियति बनाई नहीं जाया करती बल्कि ज्ञान से निर्णय की जाया करती है। जिस समय पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम किया बस ज्ञान ने जान लिया कि यही इस कार्य की नियति है। अर्थात पुरुषार्थ करे तो वहाँ नियति है ही है, पुरुषार्थ न करे तो नियति भी नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं, कि तब तो जब चाहूं मैं पुरुषार्थ करके अपनी नियति को बुला लूं। क्योंकि पहले ही बता दिया गया है कि नियति कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे बुलाई जाये और जिसकी सहायता पाकर कि तेरा पुरुषार्थ चालू हो। वह तो केवल जानने व निर्णय करने की बात है। करने की बात तो केवल एक पुरुषार्थ है। और वह तू अब भी जीवन में बिना नियति की प्रतीक्षा किये प्रति क्षण कर ही रहा है। बस तेरे इस वर्तमान के पुरुषार्थ पर से यह बात जानी जा सकती है कि तेरी नियति शान्ति की ओर जाने की है या अशान्ति में निवास करने की।

२ नियति व उपदेश का समन्वय

दूसरा प्रश्न था कि नियति की स्वीकृति के पश्चात उपदेश का कोई प्रयोजन रह नहीं जाता। ठीक है साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि उपदेश किसी विकल्प पूर्वक होता है। विकल्प निश्चित समय पर आता ही है जैसा कि पहले सिद्ध कर दिया गया। उपदेश दाता नियति से अनभिज्ञ नहीं है, जानता है कि होना वही है जो होना है, पर यह जो विकल्प आया है इसका क्या करे? कभी कभी तो जब कि विकल्प मन्द शक्ति को लेकर प्रगट होता है वह उसको नियति सम्बन्धी अन्य विकल्प व विचारणाओं के आधार पर दबा भी लेता है। पर जब वह कुछ तीव्र शक्ति को लेकर प्रगट होता है तो उसकी प्रवृत्ति तदनुरूप हो ही जाती

है। भले ही अन्तर में यह जानता रहे कि श्रोता का हिताहित तेरे उपदेश के आधीन नहीं है तथा समय से पहले नहीं हो सकता। विकल्प होने पर तदनुकूल कार्य न करे तो क्या करे? क्या उसके विपरीत कोई अन्य कार्य करे? क्या ऐसा किया जाना सम्भव है? तनिक विचार लीजिये। यदि नहीं तो नियति को जानते हुये भी उपदेश देने में बाधा ही क्या है?

उपदेश अन्तरंग की किसी प्रेरणा से निकला करता है। जिसका आधार सामने वाले प्राणी को किसी एक विशेष दशा में देखने की इच्छा होती है। अर्थात ऐसी करुणा जागृत हो जाने पर कि "अरे रे! यह प्राणी भी इस शान्ति सुधा का पान क्यों नहीं कर पाते। किसी प्रकार यह भी इसका एक बिन्दु चख पायें तो इनका जीवन बदल जाये," उपदेश प्रगट हुआ करता है। इसलिये इसमें प्रयुक्त भाषा भी प्रेरक रूप धारण करके ही प्रगट होती है। वस्तु स्वरूप को समझना और बात है और उपदेश देना और। वस्तु स्वरूप को समझाना शिक्षण में गर्भित है और उपदेश प्रेरणा में। शिक्षण में मध्यस्थता होती है पर उपदेश में श्रोता का जीवन परिवर्तन देखने की इच्छा। इसी से शिक्षण की शैली होती है 'होना' शब्द का आधार लेकर और उपदेश की शैली होती है 'करना' शब्द का आधार लेकर। अर्थात शिक्षण में कहा जाता है कि "ऐसा होता है" और उपदेश में कहा जाता है कि "तू ऐसा कर"। दोनों की शैलियों में अन्तर होने का कारण आन्तरिक विकल्प की जाति में पड़ा हुआ अन्तर ही है। उपदेश देते समय वह नियति को भूल गया हो ऐसा नहीं है। विकल्प आने पर तदनुरूप ही कार्य हुआ करता है उससे विपरीत नहीं। इसलिये प्रेरणा का विकल्प जागृत होने पर प्रेरणा रूप ही भाषा निकलेगी शिक्षण रूप नहीं। अतः नियति व उपदेश में भी कोई विरोध नहीं है। विरोध हो जाता यदि यह विकल्प बीच में न होता।

ज्ञान व विकल्प में कुछ अन्तर है। ज्ञान केवल जानने व निर्णय करने का काम करता है और विकल्प जीवन में मानसिक, वाचसिक व शारीरिक क्रियायें करने की प्रेरणा देता है। निर्णय ज्ञान की अवस्था विशेष है और विकल्प चारित्र की। इसलिये इन दोनों में भेद होना स्वाभाविक है। यदि ज्ञान के अनुरूप ही चारित्र हो जाये तो जीव की दशा निर्विकल्प हो जाती है। और इसलिये उस समय उसके जीवन में न स्वयं कुछ क्रिया हो पाती है और न ही इस अवस्था में किसी को उपदेश दिया जाता है। ज्ञान केवल जानने रूप है और विकल्प करने धरने के राग रूप। इन दोनों में यह अन्तर आप लोगों से अपरिचित नहीं है। अतः ज्ञान में नियति का निर्णय हो जाने पर भी जब तक उसकी दशा विकल्पात्मक रहती है वह तदनुकूल प्रवृति किया ही करता है। इससे नियति व पुरुषार्थ या उपदेश में कोई विरोध नहीं आता। यह दोनों एक समय में ही एक प्राणी में पड़े रहने सम्भव हैं।

दिनांक ३१ मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० १९

४ नियति व विकल्प परिवर्तन का समन्वय

वस्तु की कार्य व्यवस्था में वस्तु की स्वतन्त्रता की बात चलती है। दस प्रश्नों में से दो प्रश्नों का उत्तर दिया गया। अब तीसरा प्रश्न आता है कि यदि विकल्प परिवर्तन करने को भी मैं समर्थ नहीं तो अपना हित कैसे कर सकूंगा? यह प्रश्न तो कुछ हित की जिज्ञासा को लेकर निकला प्रतीत होता है, तब तो तुझे विकल्प परिवर्तन करने का प्रयास करने की

आवश्यकता ही क्या है ? "मैं अपना हित कैसे कर सकूंगा।" यह भी तो एक विकल्प है। ज़रा विचार तो सही कि इस विकल्प का झुकाव किस ओर है, अशान्ति की ओर कि शान्ति की ओर। "वर्तमान के लौकिक विकल्प अशान्ति रूप होने के कारण त्याज्य हैं। शान्ति की प्राप्ति के लिये मुझे विकल्प दवा कर निर्विकल्पता की ओर जाना चाहिये।" अन्तरंग की इस प्रेरणा में से ही तो यह आशंका उत्पन्न हो गई है। बस तो हो लिया। यदि यह प्रेरणा सच्ची है तो समझ ले कि तेरी शान्ति प्राप्ति के प्रति पुरुषार्थ करने का नियत समय भी आ गया। और क्या चाहिये ? विकल्प तो अपने समय पर स्वयं परिवर्तित हो गया। इस को भी बदलने का प्रयास तू करेगा ही नहीं, यदि वास्तव में निर्विकल्प होने की इच्छा है तो, निर्विकल्पता के पुरुषार्थ को प्रेरणा देने वाला यह विकल्प स्वयं ही अपने समय पर आ धमका है। और चाहिये ही क्या ?

वास्तव में तेरा यह प्रश्न भी नं० २ वाले प्रश्न में समावेश पा जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि वहां भोगों का विकल्प रख कर अपने को शान्ति पथ गामी सिद्ध करने का बहाना किया जा रहा है, और यहां भोगों का विकल्प हट जाने पर अपने को शान्ति पथ गामी बनाने का वास्तविक प्रयास किया जा रहा है। पुरुषार्थ वहां भी है और यहां भी। वहां उल्टा है यहां सीधा।

ज़रा बता तो सही कि "मैं किस प्रकार से विकल्पों से मुक्ति पा जाऊं ऐसा विकल्प अन्तरंग में उत्पन्न हो जाने पर तू पुरुषार्थ किस दिशा का करेगा ? पुरुषार्थ बिना किये तो रह न सकेगा। पुरुषार्थ करने को नियति की प्रतीक्षा करेगा क्या ? यह तो पहले ही बता दिया गया है। यदि विकल्पों से क्रम पूर्वक निवृत्ति पाने का विकल्प है तो समझ ले कि तेरे हित का समय आ गया है। इसलिये "मैं हित कैसे कर सकूंगा ?" इस प्रश्न को अवकाश नहीं रहता। यदि भोगों सम्बन्धी विकल्पों में वृद्धि करने का विकल्प है तो समझ ले कि तेरे हित का समय आया ही नहीं। इसलिये "मैं हित कैसे कर सकूंगा।" यह प्रश्न केवल कहने मात्र का रह जाता है। अन्तरंग प्रेरणा से शून्य इन शब्दों का कोई मूल्य नहीं, अतः तब भी इस प्रश्न को अवकाश नहीं। क्योंकि हित करते हुये हित की आशंका करना या अहित करते हुये हित की बातें करना निरर्थक है। नियति का निर्णय विकल्प पर से किया जाता है, विकल्प का निर्णय अज्ञात नियति पर से नहीं।

५ नियति व स्वभाव का समन्वय

अब चौथा प्रश्न लीजिये। वह है कि "ऐसी नियत व्यवस्था बिना किसी के किये होनी कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर पहले दिया जा चुका है। तनिक गौर करने पर पहले वक्तव्यों में से खोज कर उसे निकाला जा सकता है। याद होगा कि खेती के दृष्टान्त में प्रश्न पर प्रश्न करते हुए अन्त में यहां पहुंच गये थे कि किसान के हृदय में उसी समय वह कार्य करने का विकल्प उठा था (देखो चित्र नं० १३ प्रकरण नं० ८) और इस उत्तर पर पुनः प्रश्न करने पर तर्क शान्त हो गया था। तर्क का शान्त होना स्वभाव की सिद्धि है। अर्थात उस निश्चित समय पर ही वह विकल्प उसमें उत्पन्न होना था ऐसा उसके स्वाभाविक प्रवाह में पड़ा था। इसका किसी उपाय से बदला जाना भी सिद्ध नहीं हो सका था अतः यही कहेंगे कि उस उस समय वैसा विकल्प होना स्वाभाविक रीति से नियत है। इस प्रकार नियति व उसके साथ साथ भवितव्य भी (क्योंकि दोनों का जोड़ा है) स्वभाव ही सिद्ध होते हैं।

यद्यपि विकल्प पर प्रश्न करने से तो स्पष्टतया 'स्वभाव था' ऐसा उत्तर आता प्रतीत हो गया था, पर हल आदि अन्य पदार्थ उस उस समय ही क्यों काम करने लगे इन प्रश्नों के उत्तर में निमित्तों की प्रेरणा आई थी। इसलिये यहां प्रश्न हो सकता है कि जीव के विकल्प भले नियत हों पर अन्य द्रव्यों के कार्य तो नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि निमित्तों की परस्पर जुड़ी इस लम्बी शृंखला में यदि एक कड़ी भी नियत सिद्ध हो जाती है तो अन्य सर्व कड़ियां स्वतः ही नियत हो जाती हैं। इस रीति से वहाँ भी-नियत स्वभाव सिद्ध किया जा चुका है। अन्य प्रकार भी इस प्रश्न का उत्तर नवें प्रश्न के अन्तर्गत आ जायेगा। अतः नियत व्यवस्था करने वाला वस्तु का स्वभाव है अन्य कोई शक्ति नहीं। स्वभाव अनुभव किया जा सकता है पर उस पर तर्क नहीं किया जा सकता। और ऐसा स्वभाव अनुभव व दृष्टि में आ रहा है। तथा आगे आगे और विशद रीति से आ जायेगा।

६ नियति व स्वच्छन्द का समन्वय

पांचवां प्रश्न है कि नियति की स्वीकृति से स्वच्छन्द का पोषण होता है। बात तो ठीक है कि ऐसा देखा तो अवश्य जा रहा है। अर्थात नियति की ऐसी निर्भीक घोषणा सुन कर उसका हर प्रकार से यथार्थ निर्णय न होने के कारण, कुछ व्यक्ति उन धार्मिक क्रियाओं से, जो उनके जीवन में झूठे या सच्चे किसी भी रूप में पहले हुआ करती थीं, विमुख से हो गये हैं। बहाना वही है जो प्रश्न नं० १ में कहा जा चुका है। यद्यपि इसमें उस श्रोता का ही दोष है वक्ता का नहीं, परन्तु फिर भी वक्ता इस दोष से सर्वतः पृथक नहीं किया जा सकता। और इसलिये पूर्व के वक्ताओं व आचार्यों ने अन्य सर्व अंगों को चर्चा का विषय बनाया पर इसे अधिक छेड़ने का प्रयास न किया। यही कारण है कि वस्तु व्यवस्था के इस अंग का स्पष्ट रीति से उल्लेख बहुत कम स्थलों पर आ पाया है? "काल लब्धि" इस शब्द का संकेत मात्र ही देना उन्होंने पर्याप्त समझा था। इसलिये आज के वक्ता का भी कर्तव्य है कि या तो इस विषय को न छेड़े और छेड़े तो हर दृष्टि से पांच अंगों का सम्मेल बैठा कर श्रोता को समझाने का प्रयत्न करे। इसी लिये यह विषय यहां इतना लम्बा खेंचा जा रहा है।

फिर भी यदि कोई स्वच्छन्द का पोषण करे तो न वक्ता का दोष है न सिद्धान्त का। क्योंकि जिसे स्वच्छन्द पोषण का ही अभिप्राय पड़ा है वह तो जिस किस प्रकार भी अपना मार्ग निकाल ही लेगा। अनादि काल से कुछ टेव ही ऐसी पड़ी है कि अपराध करते हुए भी मैं अपने को अपराधी कहलाना नहीं चाहता। इसलिये जिस किस प्रकार भी अपने को निरपराधी सिद्ध करने का प्रयत्न किया करता हूँ। किस प्रकार सो देखिये।

लोक में तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। ईश्वर कर्ता वाद, कर्म वाद, नियति वाद। ईश्वर कर्ता वादी कहता है कि जो ईश्वर ने कराया वह मैंने कर लिया इसमें मेरा क्या दोष। जो वह करायेगा वह मैं कर लूंगा। मैं अपनी ओर से उसे बदलने का प्रयास क्यों करूं? क्योंकि ऐसा करना ईश्वर के साथ विरोध पैदा करना है। इतनी सामर्थ्य मुझ में नहीं है। अतः मैं निर्दोष हूँ। कर्म कर्ता वादी कह रहा है कि जैसा कर्म का उदय आया वैसा मैंने कर लिया। मैं तो ऐसा करना नहीं चाहता था पर क्या करूं लाचार हूँ। यदि यह कर्म मुझे छोड़ दे तो मैं कुछ न करूं। अतः मैं तो निर्दोष ही हूँ। इसके उदय के अनुसार मुझे करना पड़ेगा ही। अतः मैं उसके फेर फार करने का प्रयत्न क्यों करूं? और इसी प्रकार नियति वादी भी कह रहा है कि जो होना होगा सो हो जायेगा, मेरे में उस फेर फार करने की

सामर्थ्य ही नहीं है तो जैसा चलता है वैसा चलने दूं। फेर फार करने के प्रति उद्यम क्यों करूं ?

तीनों ही दशाओं में उसका आन्तरिक झुकाव पड़ा है भोगों के प्रति और वह सिद्ध करना चाहता है यह कि उसे विश्वास है सिद्धान्त पर। अरे भाई ! ऐसा विश्वास, विश्वास नहीं कहलाता, स्वच्छन्दाचार कहलाता है। अब बताइये यदि स्वच्छन्द का ही पोषण करना है तो सिद्धान्त की कोई भी बात प्रकाश में न लाई जा सकेगी। केवल उपदेश ही दिया जा सकेगा। परन्तु क्या ऐसा होना सम्भव है ? स्वच्छन्द वालों की ओर मत देख भाई ! अपनी ओर देख। तेरे अन्तर में क्या अभिप्राय पड़ा है उसे पढ़। तेरा हित अहित तेरे अभिप्राय में पड़ा है लोक के अभिप्राय में नहीं। दूसरे न समझ पायें तो तू भी न समझे यह कहां का न्याय है। कुंआ नहीं छनता लोटा छना करता है। स्वच्छन्द पोषण करने वाले स्वच्छन्द पोषण से कभी न रुकेंगे। पर तुझे उनसे क्या ? तू तत्व को ठीक प्रकार से समझ कर अपने अभिप्राय को शुद्ध करने का प्रयत्न कर।

७ नियति व आगम का समन्वय — अब छटा प्रश्न है कि नियति का आगम में निषेध किया है। इसलिये इसको स्वीकार करने से आगम के साथ विरोध आता है। सो भाई ! पहली बात तो यह है कि प्रारम्भ से ही तू वैज्ञानिक बन कर चला है। तेरे निर्णय का आधार वस्तु है आगम नहीं। इसलिये वस्तु में तुझे यह बात दिखाई देती हो तो उसे निर्भीक रूप से स्वीकार कर लेनी योग्य है। भले कोई उसका निषेध करता रहे।

पर फिर भी मैं अर्थात आप सब सर्वथा ऐसी बात कह नहीं सकते, क्योंकि हमें आगम पर दृढ़ विश्वास है। और तर्क, आमनाये व अनुभव के अतिरिक्त आगम को भी प्रमाण माना गया है। इसलिये अपने निर्णय का आगम से मिलान कर लेना आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो कि अल्प व परोक्ष ज्ञान होने के कारण वस्तु स्वरूप के समझने में हम भूल खा जायें।

आओ आगम में देखें कि कहां विरोध है। यद्यपि सरल दृष्टि से देखने पर विरोध बिल्कुल भासता नहीं फिर भी नियति को स्पष्ट रीति से आगम बहुत कम स्थलों पर स्वीकार किये जाने के कारण तथा अन्य अनेकों स्थलों पर इसका निषेध देखा जाने के कारण अवश्य कुछ विरोध सा भासने लगता है। यदि कुछ विचार पूर्वक देख तो वह निषेध भी वास्तव में इस तत्व का समर्थन ही करने लगेगा। सो कैसे वही बताता हूं।

इस तत्व का कड़े शब्दों में निषेध गोमटसार, पंच संग्रह व धवला में आया है। उस निषेध का यथार्थ तात्पर्य समझने के लिये हमें यह देखना होगा कि वहां वह उल्लेख किस प्रकरण के अन्तर्गत आया है। तीनों ही स्थलों पर लगभग समान रीति से निषेध किया है। शब्द भी लगभग समान हैं। प्रकरण तीनों ही स्थलों पर एक ही है। वहां मिथ्यात्व का प्रकरण चल रहा है। उसके अन्तर्गत मिथ्यात्व के पांच भेदों को दर्शा कर अब एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप दर्शा रहे हैं ? एकान्त मिथ्यात्व के ३६३ भेद किये गये। जिसमें अस्ति, नास्ति आदि सप्त भंग, जीवादि सप्त तत्व या नव पदार्थ, तथा लोक में प्रचलित आठ मुख्य धारणायें व मान्यतायें या वाद इन सब को यथा योग्य रूप में परस्पर गुणा करके क्रिया वादी, अक्रिया वादी, अज्ञान वादी, इत्यादि से अनेकों अंग बनाये गये। जिन सर्व का जोड़ ३६३ होता है वे आठ वाद भी निम्न प्रकार है :—

१. स्वभाववाद, २. आत्मवाद, ३. ईश्वरवाद, ४. कालवाद, ५. संयोगवाद, ६. पुरुषार्थ-वाद, ७. नियतिवाद, ८. दैववाद।

यदि ग़ौर से देखें तो इन ३६३ भेदों में एक नियतिवाद को ही मिथ्यात बताया हो ऐसा नहीं है बल्कि सप्त भंग में से एक दो आदि भंगों की अथवा जब पदार्थों में से जीव अजीवादि एक दो पदार्थों या तत्वों की और इन आठ वादों में से स्वभाव आदि एक दो वादों की स्वीकृति को भी मिथ्यात्व बताया है। बताइये जैनागम का कौन सा तत्व ऐसा रह गया जिसकी स्वीकृति को यहाँ मिथ्यात्व नहीं बता दिया गया। यहां तो वस्तु के उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप स्वभाव की स्वीकृति को भी मिथ्यात्व कहा है। तू यदि पुरुषार्थ के गान अलापता है तो उस पुरुषार्थ की स्वीकृति को भी वहाँ मिथ्यात्व कहा गया है। यदि निमित्तों को सिद्ध करना चाहता है तो उसकी स्वीकृति को भी वहां मिथ्यात्व कहा गया है। यहां तक कि आत्मा की स्वीकृति तक को मिथ्यात्व कहा है यदि वहां के उल्लेख के आधार पर ही नियति का निषेध कर रहा है तो अन्य सर्व बातों का भी निषेध क्यों नहीं कर देता। और यदि ऐसा करदे तो रह ही क्या जाये ? क्या सर्व शून्य की स्वीकृति को सम्यकत्व कहेगा ?

नहीं भाई ऐसा नहीं है। वहां वास्तव में नियति का निषेध नहीं किया गया है; बल्कि सप्त तत्व, सप्त भंग, स्वभाव, आत्मा, पुरुषार्थ, संयोग आदि की भान्ति ही नियति को भी स्वीकार करने के लिये कहा गया है। क्योंकि सर्व कथन समाप्त कर लेने के पश्चात आचार्य भगवान एक गाथा कह रहे हैं जिसका तात्पर्य निम्न प्रकार है।

एकान्त मिथ्यात्व के यह ३६३ भेद कह दिये गये पर यह इतने ही नहीं है। एकान्त असंख्यात प्रकार का हो सकता है। वास्तव में जितने वचन विकल्प हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही एकान्त हैं। अन्य मत वादियों के वही वचन मिथ्या है क्योंकि वह सर्वथा शब्द के साथ वर्तते हैं परन्तु जैन या अनेकान्त वादियों के वही वचन सम्यक् हैं क्योंकि वह कथन्चित शब्द से चिन्हित हैं।

इस गाथा पर से स्पष्ट हो जाता है कि आपको यदि ३६३ में से किसी एक भी बात का सर्वथा निषेध वर्त रहा है तो शेष ३६२ की स्वीकृति एकान्त कहलायेगी। किसी न किसी रूप से इन सर्व ही ३६३ बातों को तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों बातों को जो वस्तु में पड़ी दिखाई दें, स्वीकार करना ही वास्तव में अनेकान्त रूप होने के कारण सम्यक्त्व है। बताइये नियति का निषेध कहां आया ? यहाँ तो कहा गया है कि यदि नियति का निषेध करोगे तो पुरुषार्थ के निषेध वत ही वह आपकी मान्यता मिथ्यात्व की कोटि में चली जायेगी। पुरुषार्थ और संयोग के साथ नियति व दैव व काल को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। तब ही आपकी मान्यता अनेकान्तात्मक कही जा सकती है।

तथा अन्य प्रकार से भी इस तत्व का समर्थन आगम से हो रहा है। आगम में इसकी स्वीकृति सर्वथा न आई हो ऐसा नहीं है। अल्प स्थलों पर आई है ऐसा अवश्य है। आगम में एक ही विषय की विधि व निषेध दोनों मिलते हैं। जो प्रकरण वश कहने में आते हैं। विधि और निषेध सूचक गाथाओं का मिलान करें तो आश्चर्य होगा कि दोनों में अत्यन्त निकट शब्द साम्य है।

जैसे कि नियति का उपरोक्त एकान्त के प्रकरण में उल्लेख करते हुये जिन शब्दों में गाथा

गून्थी है, लगभग उन्हीं शब्दों में उसकी स्वीकृति को सम्यक्त्व बताते हुये गून्थी है। एकान्त प्रकरण में कहा है कि "जो, जहां, जब, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना होता है: वह वहाँ, तब, उसके द्वारा, उसी प्रकार से होती है। ऐसी मान्यता को नियतिवाद कहते हैं।" जो ऐसा माने सो मिथ्या दृष्टि ऐसे शब्द यहाँ नहीं हैं। सम्यक्त्व के प्रकरण में कहा है कि, "जो जहां, जब, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना होता है, वह वहां, तब, उसके द्वारा, उसी प्रकार से होता है। इसको बदलने को इन्द्र, नरेन्द्र व जिनेन्द्र कोई भी समर्थ नहीं है ऐसा जो मानता है सो सम्यग्दृष्टि है और ऐसा जो नहीं मानता सो मिथ्या दृष्टि है।"

दोनों गाथाओं के शब्दों में अत्यन्त निकट साम्य पड़ा है। इसके अतिरिक्त भी उसे मिथ्यात्व में कहते समय यह नहीं कहा गया कि जो ऐसा माने सो मिथ्यादृष्टि जब कि सम्यक्त्व के प्रकरण में इतने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया गया कि जो ऐसा माने सो सम्यग्दृष्टि तथा जो ऐसा न माने सो मिथ्यादृष्टि।

इसी प्रकार दैववाद की व्याख्या करते हुये भी एकान्त के प्रकरण में यह शब्द है कि "देखो दैव की महिमा कि अत्यन्त पराक्रमी राजा करण भी संग्राम में मारा गया। इसलिये पुरुषार्थ को धिक्कार हो"। तथा उसी को सम्यक्त्व के प्रकरण में कहते हुये यह शब्द है कि "देखो दैव का माहात्म्य कि बृहस्पति जिसका मन्त्री था और देव जिसके सैनिक थे ऐसा महा पराक्रमी रावण भी युद्ध में मारा गया। इसलिये पुरुषार्थ को धिक्कार हो"। दोनों गाथाओं का शब्द साम्य देखिये। परन्तु एक गाथा का प्रयोग हुआ है उसको मिथ्यात्व बताते हुये अर्थात निषेध करते हुए और दूसरी का प्रयोग हुआ है उसी को सम्यक्त्व बताते हुए।

इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना। अब बताइये आगम में नियति का निषेध है या समर्थन। वास्तव में जैनागम में सब ही विषयों का समर्थन है किसी का भी निषेध नहीं है स्याद्वाद किसी का निषेध करना जानता ही नहीं। वह सबका समर्थन करता है। इसलिये एक स्थल पर तो यह लिख दिया गया है कि लोक के सर्व दर्शनों को परस्पर मिला दें तो एक जैन दर्शन बन जायेगा। अनेकान्त की महिमा अपार है। अतः भाई! अब हट छोड़ और अन्य समवायों के साथ साथ इस नियति को भी वस्तु व्यवस्था का एक प्रमुख अंग स्वीकार कर।

दिनांक १ अप्रैल १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० २०

८ नियति व निमित्त का समन्वय

वस्तु स्वतन्त्रता की बात चलती है। प्रत्येक वस्तु की कार्य व्यवस्था नियत है, इस विषय के अन्तर्गत छः प्रश्नों के उत्तर दिये जा चुके। अब सातवां प्रश्न है कि यदि कार्य नियत है तो निमित्तों की क्या आवश्यकता। परन्तु भगवन! क्या वस्तु तुझ से पूछ कर अपनी कार्य व्यवस्था की स्थापना करेगी? निमित्तों की क्या आवश्यकता है ऐसा प्रश्न हो ही कैसे सकता है जब कार्य व्यवस्था में निमित्त एक प्रमुख अंग के रूप में देखने में आते हैं। जहाँ कार्य होना नियत है वहां निमित्त भी तो होना नियत है।

लोक के पदार्थों में कोई ऐसा तो विभाजन है नहीं, कि वहां कुछ पदार्थ तो निमित्त रूप पड़े हों। और कुछ पदार्थ उपादान रूप पड़े हों। प्रत्येक पदार्थ में दो बातें देखी जाती हैं। अर्थात प्रत्येक पदार्थ उपादान भी है और निमित्त भी। एक एक आकाश के प्रदेश पर अनन्तानन्त द्रव्य ठंसाठस भरे पड़े हैं। एक रूप से अन्य रूप को धारण करते हुये तथा एक स्थान से अन्य स्थान को गमन करते हुये, अपने निकट में पड़े या स्थान परिवर्तन क्रम में जा जाकर प्राप्त किये गये अन्य पदार्थों के साथ क्या इसका टकराव होना कोई रोक सकता है ? जहां दो बरतन होंगे तो खड़केंगे अवश्य ही। इसमें आवश्य-कता व अनावश्यकता का क्या प्रश्न ?

जब जब अपने नियत समय पर पदार्थ कोई नियत काम या परिवर्तन अपने अन्दर अर्थात उपादान रूप से करता है तब तब उस उस कार्य से तन्मय हो जाने के कारण वह पदार्थ अपने निकटवर्ती अन्य पदार्थ की कार्य व्यवस्था में या तो अनुकूल और या प्रतिकूल पड़ेगा ही। इसी को निमित्त बनना कहते हैं। यदि आप किसी भी पदार्थ को किसी ऐसे स्थान पर ले जा सकें जहां उसके पास अन्य पदार्थ न हो, तब तो सम्भवतः यह कहा जा सके कि निमित्त की क्या आवश्यकता। परन्तु ऐसा होना तो असम्भव है। उपादान रूप से कार्य करते हुये अनेकों अन्य पदार्थों का स्वाभाविक रूप से उसके पास किसी भी रूप में पड़े रहना होगा ही. अतः वह यथा योग्य रूप में उस में से किसी को अनुकूल और किसी को प्रतिकूल पड़ता हुआ निमित्त बनेगा ही। इस प्रकार जो द्रव्य अपने कार्य के लिये उपादान है वही उसी समय निकट वर्ती अन्य द्रव्य के कार्य के लिये निमित्त है। क्योंकि उपादान रूप कार्य नियत सिद्ध कर दिया गया। इसलिये उसका उस ही निश्चित द्रव्य के साथ उसी कार्य के सम्बन्ध में उसी समय निमित्त बनना भी स्वतः निश्चित हो गया। इसलिये नियति के कारण निमित्त का अभाव नहीं किया जा सकता और न हो सकता है।

६ निमित्त व वस्तु स्वतन्त्रता में समन्वय

आठवां प्रश्न है कि निमित्त की स्वीकृति कर लेने पर वस्तु परतन्त्र हो जायेगी। सो भी नहीं है। क्योंकि कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि निमित्त जब चाहे जो कुछ भी कार्य किसी वस्तु में जबरदस्ती कराने को समर्थ है। निमित्त होना अवश्य है पर जबरदस्ती वस्तु में कुछ कर दे या करा दे ऐसी सामर्थ्य उसमें नहीं है। उदासीन निमित्त में तो स्पष्टतया ही दीखती नहीं, परन्तु प्रेरक निमित्त में भी वह शक्ति नहीं है। इस का विचार दो प्रकार से किया जा सकता है ?

कर पायेंगे। हम जिस को लोक में कार्य कहते हैं, सम्भवतः वैसे कार्य की लोक में कोई सत्ता ही न हो। यह तो बड़ी अनोखी बात कह दी गई। रात दिन काम करते हैं तथा होते हुये देखते हैं पर उसकी सत्ता न हो यह कैसे सम्भव है? विना सत्ता के क्या हम आकाश पुष्प चुनने का ही कार्य नित्य किया करते हैं?

हां भाई हां! बात ऐसी ही है। याद कर कि कार्य का लक्षण क्या किया था। वस्तु के अन्दर होने वाला उसके रूप का अथवा स्थान का परिवर्तन। बस अब देख कि जिस जिस काम की कल्पना मैं लोक में किया करता हूँ वह वह काम किस किस द्रव्य के परिवर्तन स्वरूप है। उदाहरण के रूप में खेती का काम लीजिये। खेती बोना किस द्रव्य विशेष का परिवर्तन है। किसान में होने वाले परिवर्तन को खेती बोना कहें या हल में होने वाले परिवर्तन को। वास्तव में खेती बोना एक द्रव्य का परिवर्तन ही नहीं है। अनेक द्रव्यों के परिवर्तनों के परस्पर अनुकूल पने की शृंखला को हमने खेती बोना कहा है। इसी लिये इसे साझे का काम कहा गया था। इसी प्रकार प्रत्येक काम जो भी हमारी कल्पना में आता है वह किसी एक द्रव्य का काम न होकर अनेक द्रव्यों के कार्यों का एक सामूहिक रूप होता है। अर्थात निमित्त नैमितिक रूप से परस्पर में गुन्थी अनेक कड़ियों की एक बड़ी शृंखला रूप ही वह कार्य होता है। जैसे किसान से लेकर बीज फूटने की कड़ी तक की एक शृंखला को ही हम खेती बोने का काम कहते हैं।

वह शृंखला किसी एक पदार्थ का कार्य नहीं कही जा सकती। ऐसे एक कार्य की सत्ता लोक में है, यह कैसे कह सकते हैं? एक पदार्थ के एक समय के परिवर्तन को ही एक कार्य कह सकते हैं। अनेक पदार्थों के अनेक समय के परिवर्तनों को मिला जुला कर एक काम का नाम देना भूल है। और इसी कारण हम यह निर्णय कर नहीं पाते कि वस्तु व्यवस्था स्वतन्त्र है कि परतन्त्र।

कार्य व्यवस्था का निर्णय हमें शृंखला पर से नहीं करना चाहिये, क्योंकि शृंखला रूप कोई कार्य है ही नहीं। पृथक पृथक कड़ी पर से ही कार्य व्यवस्था का निर्णय होना सम्भव है। अब वह तो पहले खेती के दृष्टान्त में कर दिया गया है (देखो विषय १२ प्रकरण नं० ३) अर्थात प्रत्येक कड़ी अपनी अपनी सीमा में रहती हुई ही कोई न कोई कार्य या परिवर्तन कर ही रही है। ऐसा कार्य करती हुई वह अगली अगली कड़ी को निमित्त रूप से स्पर्श अवश्य कर रही है पर अपनी कार्य सीमा को उलंघन करके अन्य की कार्य सीमा में प्रवेश करने को समर्थ नहीं है। जैसे कि किसान का चैतन्य विकल्प की सीमा को उलंघन करके शरीर की हिलन जुलन रूप क्रिया या परिवर्तन को भी स्वयं अपनी कड़ी में उत्पन्न कर सके, यह बात असम्भव है। इतनी शक्ति उसमें है ही नहीं। इस प्रकार देखने पर परस्पर में निमित्त नैमित्तिक रूप से गुंथी उसी शृंखला की प्रत्येक कड़ी में पृथक पृथक कार्य की स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है।

दूसरे प्रकार से, निमित्त की ओर से देखने पर भी क्या निमित्त ने आकर उस निकट-वर्ती अन्य द्रव्य में जो कोई भी कार्य करा दिया है, या वही कार्य हो पाया है, जोकि होना निश्चित था। इस दिशा में विचार करने के लिये पूर्व कथित वह बड़े मील वाला दृष्टान्त देखिये (देखो विषय १२ प्रकरण नं० ६) एक गरारी स्वयं घूमती हुई अपने निकट-वर्ती दूसरी गरारी के घूमने के लिये प्रेरक निमित्त बनी हुई है, यह स्पष्ट है। पर क्या अपने अपने चक्करों के प्रवाह क्रम में घूमती हुई उन दोनों गरारियों का जो कोई भी
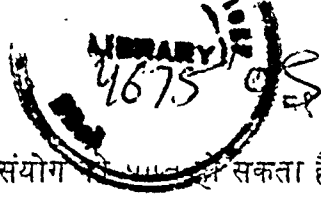
दांता किसी समय परस्पर संयोग को प्राप्त हो सकता है या कोई निश्चित दाँता ही संयोग को प्राप्त होगा । क्या उस प्रेरक गरारी में इतनी शक्ति है कि उस अगली गरारी के उस नं० ५ वाले दांते को तुरन्त आगे बुलाकर स्पर्श कर ले ? नहीं ऐसा होना असम्भव है । बिल्कुल किसान के विकल्पों वत किसी गरारी का वह वह दांता अपने अपने नम्बर पर ही यथा योग्य रूप में सम्पर्क को प्राप्त हो सकेगा । उसमें फेर फार करने को वह गरारी तो क्या आप भी समर्थ नहीं हैं । बस इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने परिवर्तनों के प्रवाह क्रम में चलते हुये यथा योग्य रूप में अपने निकट-वर्ती अन्य पदार्थों के परिवर्तनों में निमित्त होते हुये भी, उस उस पदार्थ की आगे पीछे के नम्बर पर प्रगट होने वाली नियत अवस्थाओं को, ज़बरदस्ती खेंच कर अपनी मर्ज़ी के अनुसार पहले पीछे करने में असमर्थ है ।

बताइये निमित्त नैमितिक सम्बन्ध होते हुए भी वस्तु परतन्त्र कैसे बनी ? यह सम्बन्ध होते हुए भी अर्थात बिना निमित्त के कार्य की सिद्धि न होते हुए भी, वस्तु स्वतन्त्र रीति से अपने अपने आश्रय पर, अपने अपने में से, अपने अपने लिये, अपने अपने द्वारा स्वयं उस उस समय, वह वह ही नियत अवस्था उत्पन्न कर रही है । और उससे पूर्व वाली का विनाश कर रही है ऐसी ही वस्तु की व्यवस्था है । इसमें हस्ताक्षेप कौन करे ? अतः वस्तु पूर्ण स्वतन्त्र ही है ।

दिनांक २ अप्रेल १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० २१

१० निमित्तों के संयोग की स्वतन्त्रता

आहा हा ! कितनी स्वतन्त्र है वस्तु व्यवस्था । जहां चैतन्य द्रव्य ही नहीं एक एक परमाणु स्वतन्त्र रीतयः अपना अपना काम कर रहा है । ऐसे विश्व मे रहते हुए, तुझे 'यह कर' 'वह कर' की कल्पनाओं के लिये अवकाश ही कहां है । अतः ओ चेतन ! इस करा करी के चक्कर से अब विश्राम पा, और यदि कुछ करना ही है तो अपने अन्दर करने के प्रति झुकाव कर । देख शान्ति रानी वर माला लिये तेरी प्रतीक्षा कर रही है ।

यहां नवां प्रश्न होता है कि निमित्तों का यथा योग्य संयोग कराने वाला कौन है ? मेरे बिना स्वयं निमित आकर प्राप्त कैसे हो सकते हैं ? मैं जब चाहूं जिस किस प्रकार भी निमित्त को मिला लूं या हटा दूं । जैसे जैसे निमित्त को मैं मिलाऊं वैसा वैसा ही कार्य मैं कर लूंगा । यही तो है मेरी स्वतन्त्रता । नहीं तो मैं नियति के आधीन होकर परतन्त्र हुए बिना कैसे रह सकूंगा ?

अपने कार्य का निमित्त बनाने के प्रति दौड़ेगा उसी समय वह दूर खड़ा तीसरा पदार्थ तुझे अपना निमित्त बनाने के प्रति दौड़ पड़ेगा । और एक संघर्ष और महान युद्ध खड़ा हो जायेगा । एक विप्लव मच आयेगा । क्या यह विश्व उस समय इस प्रकार व्यवस्थित रीति से टिका दिखाई दे सकेगा जैसे कि आज दिखाई दे रहा है ? सब गुत्थमगुत्था हो जायेंगे, प्रलय हो जायेगी । सर्व शून्य हो जायेगा । वस्तु व्यवस्था को तू न बिगाड़ सकेगा । अपनी कल्पना ही बिगाड़नी होगी । वस्तु की स्वतन्त्रता में हस्ताक्षेप तू न कर सकेगा, अपनी धारणा ही बदलनी होगी । जो पदार्थ जिस समय जिस पदार्थ को जिस कार्य विशेष के लिये निमित्त बनना नियत है वही बन सकेगा अन्य नहीं, ऐसा स्वाभाविक रीति से व्यवस्थित है । निम्न दृष्टान्त पर से इस रहस्य को पढ़ने का प्रयत्न करें ।

कल्पना कर एक रेल गाड़ी की, जिसमें छोटे बड़े अनेकों पहियें लगे हैं । आज की रेलगाड़ी में तो सर्व पहिये समान व्यास वाले हैं पर इस काल्पनिक रेलगाड़ी में सर्व ही असमान व्यास वाले हैं अर्थात छोटे बड़े हैं । इन सर्व पहियों पर उपर वाली दिशा में चाक से निशान लगा दीजिये । अब रेल को चला दीजिये । देखिये इन पहियों की ओर । यह गड़बड़ क्यों मच गई । एक ही दिशा में लगाये गये निशान आगे पीछे किसने कर दिये ? आगे पीछे रहते हुए भी वह देखो इस पहिये का निशान ऊपर की दिशा में आकर कभी तो उस नम्बर नौ वाले पहिये के निशान के साथ सम्मेल कर लेता है और कभी दूर पड़े उस नम्बर पच्चीस वाले निशान के साथ । और गणित के आधार पर हम यह निकाल भी सकते हैं कि कौन पहिये का निशान, किस समय कौन पहिये के निशान के साथ उसी ऊपर की दिशा में आकर सम्मेल खा जायेगा । देखो उस इन्जन के ६ फुट व्यास वाले पहिये का वह निशान उसी ऊपर की दिशा में आकर, इस ७ फुट ११ इन्च व्यास वाले पहिये के निशान के सामने, उसी समय आ सकेगा जबकि वह स्वयं ९ चक्कर कर लेगा और यह छोटा पहिया १८ चक्कर कर चुकेगा । अर्थात जब कि गाड़ी १६२ फुट आगे चली जायेगी । यदि गाड़ी की रफ्तार का पता हो तो समय भी निकाल सकते हैं कि किस समय ऐसा होना सम्भव होगा । बताइये क्या इस क्रम को फेर फार किया जाना सम्भव है ? और क्या इनका परस्पर में समान दिशा को प्राप्त करना भी कोई रोक सकता है ? नहीं ! बस तो इस विश्व की चलती रेल में लगे इन छोटे बड़े अनन्तों पहियों की कोई एक अवस्था विशेष यथा योग्य रीति से परस्पर में न तो अनुकूलता या प्रतिकूलता धारण किये बिना रह सकती है और न ही इस सम्मेल के निश्चित समय में फेर फार किया जा सकता है । ऐसी ही वस्तु की व्यवस्था है ।

अब इस कर्ता बुद्धि के अहंकार को छोड़ । जिस प्रकार तू उस रेल के पहिये को अपने अपने नम्बर पर सम्मेल खाते देख अवश्य सकता है, पर अपनी मर्जी के अनुसार जिस किसी का भी सम्मेल तू करा नहीं सकता । उसी प्रकार इस विश्व के अनन्तों पदार्थों को स्वतः परस्पर निमित्त बनते व बिछुड़ते तू देख अवश्य सकता है पर जिस किसी को भी निमित्त बना नहीं सकता । अतः स्वभाव ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कराने को पर्याप्त है । वहाँ तेरे हस्ताक्षेप की आवश्यकता नहीं और न ही तुझे ऐसा अधिकार है ।

११ नियति, निमित्त व पुरुषार्थ तीनों का समन्वय — अब दसवां प्रश्न होता है कि यदि निमित्त स्वतः प्राप्त होकर कार्य कर देते हैं तो पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता ? प्रभो ! यह प्रश्न तेरी कौन सी दृष्टि से निकल रहा है । क्या उसी कर्तापने के अभिमान की दृष्टि से या वस्तु व्यवस्था के निर्णय की दृष्टि से ? यदि

पहली दृष्टि से निकल रहा है तो समझले कि तू वस्तुओं को हाथ से पकड़ कर अपनाने की व्यग्रता को अभी छोड़ नहीं पा रहा है। या तेरे कल्याण का नियत समय अभी नहीं आया है। तू इन बाह्य पदार्थों की पकड़ धकड़ की उधेड़ बुन से अभी निवृति पा नहीं सका है। और इसलिये अशान्ति का ही पुरुषार्थ तुझे अभी करना है। इस क्रम में तुझे इच्छाओं की दाह को उत्पन्न करने वाले पदार्थों की निमित्तता ही प्राप्त हो सकेगी। क्योंकि तेरा पुरुषार्थ इस समय उसी ओर झुका जा रहा है। अतः स्वतः एवं प्राप्त और निमित्त रूप पदार्थों की चमक से अन्धा हुआ तू अपने हित को भूल कर आज अशान्ति का पुरुषार्थ कर रहा है। यह तेरी नियति है। इसको गुरु क्या करें। क्योंकि इसमें फेर फार करने को समर्थ नहीं है। इस प्रकार निमित्त, पुरुषार्थ व नियति का सम्मेल अशान्ति की दिशा में हो गया।

अब यदि तेरा प्रश्न वस्तु व्यवस्था के निर्णय की दृष्टि से निकल रहा है, तब तो स्वतन्त्र वस्तु व्यवस्था को समझ कर तुझे अब ज्ञाता दृष्टा बनना ही योग्य है। निमित्तों के मिलाने व बिछोड़ने की शक्ति से शून्य तुझे अब इस करने धरने की व्यग्रता से विश्राम पाना ही योग्य है। और ऐसी दृष्टि बन जाने पर तू ज्ञाता दृष्टा मात्र बने रहने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है? मार्ग में यदि स्वतः ही अपने अपने प्रवाह क्रम के अनुसार करने धरने के विकल्प आयेंगे भी तो क्या उनको उपरोक्त दृष्टि से दबाने का प्रयत्न न करेगा या अल्प स्थिति में राग व विकल्पों वश लौकिक कार्य करते रहते भी क्या पग पग पर तू अपने को धिक्कारता न रहेगा। अब स्वतन्त्र वस्तु व्यवस्था का निर्णय हुआ है तो निश्चय से स्वतः ऐसा ही करेगा। तेरी अन्तर प्रेरणा व दृष्टि तुझे ऐसा ही करने को बाध्य करेगी।

दृष्टि में से अर्थात विश्वास में से तो कर्ता बुद्धि पहले ही निकल गई. धीरे धीरे उपरोक्त पुरुषार्थ के फल स्वरूप प्रवृति में भी वह क्रम से कम होती चली जायेगी। अर्थात विरक्तता आती चली जायेगी। प्रति क्षण ही ज्ञाता दृष्टा बने रहने का प्रयास करेगा। बस यही तो रहस्य है या कुछ और? यही तो शान्ति मार्ग का पुरुषार्थ है। तू जिसे आज पुरुषार्थ समझ रहा है अर्थात बाहर के पदार्थों को मिलाने व दूर करने की व्यग्रता, वह तो शान्ति मार्ग में पुरुषार्थ नहीं कहा जाता। शान्ति के विपरीत पड़ने के कारण वहां तो वह अपुरुषार्थ की कोटि में गिना जाता है। ज्ञाता दृष्टा मात्र रहना ही शान्ति का पुरुषार्थ है।

वाधित न होगी, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। इस प्रकार पांचों समवाय युगपत वस्तु में पाये जाते हैं।

१२ नियति व अनियति का समन्वय

अव ग्यारहवां प्रश्न है कि अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार नियति में अनियति कैसे घटित होती है ? तो इसका उत्तर भी वहुत सरल है जो नं० १ वाले प्रश्न के उत्तर में आ चुका है। अर्थात पुरुषार्थ के प्रति अग्रसर होने वाला प्राणी उस समय यह नहीं सोचा करता कि क्या नियत है। अथवा पहले अपनी नियति व भवितव्य को जानूंगा तव कार्य करूंगा। ऐसा कोई भी प्राणी जीवन प्रवाह में करता हुआ देखा नहीं जाता। जिस समय वाहर में कुछ करने का प्रयास होता है उस समय ऐसी विचारना नहीं हुआ करती। तथा जिस समय इस नियति सम्वन्धी तत्व की विचारना का भी प्रयास या पुरुषार्थ होता है तव भी यह सोच कर नहीं हुआ करता कि अव ऐसी विचारना का समय आ गया है, इस लिये अव मुझे ऐसी विचारना तो करनी चाहिये।

पुरुषार्थ अन्धा होता है। वह हो जाया करता है। हम तुच्छ ज्ञानियों की तो वात नहीं अवधि व मनःपर्यय ज्ञानी भी कोई उद्यम करने से पहले यह विचारते हों कि अव क्या करने का समय आया है, ऐसा नहीं है। इसलिये पुरुषार्थ करते समय "क्या होना नियत है" ऐसे ज्ञान से शून्य उस व्यक्ति के लिये जो कुछ वह प्राप्त करने जा रहा है-वह अनियत है। विचारना आने पर वही प्राप्ति या पुरुषार्थ उसे नियत भासने लगता है। वस यही है नियति व अनियति का सम्मेल। विश्वास या दृष्टि में नियति रहती है और प्रवृति में अनियति।

लोक का कोई कार्य नियत है और कोई अनियत है अर्थात अवुद्धि पूर्वक के चेतन के कार्य या जड़ के कार्य नियत हैं, और वुद्धि पूर्वक के कार्य अनियत, इस प्रकार कार्यों के विभाजन करके नियति व अनियति का सम्मेल वैठाना योग्य नहीं है। क्योंकि अनेकान्त इसका नाम नहीं कि कोई कार्य सर्वथा नियत है और कोई कार्य सर्वथा अनियत। यह तो एकान्त है। अनेकान्त तो इसका नाम है कि जो कार्य किसी एक दृष्टि से नियत है वही कार्य किसी अन्य दृष्टि से अनियत है। और इस प्रकार उपरोक्त रीतयः जो कार्य वस्तु व्यवस्था के निर्णय या विचारना अर्थात ज्ञान श्रद्धा की दृष्टि से नियत है। वही कार्य प्रवृति या पुरुषार्थ या चारित्र की दृष्टि से अनियत है। ऐसा नियति व अनियति का समन्वय है।

१३ वस्तु स्वरूप की जटिलता

कहां तक कहें। अनन्तों अंगों से एक ही समय में गून्थी वस्तु वहुत जटिल है। जव तक वस्तु को पढ़ने का प्रयत्न न करेगा प्रश्न उठते ही रहेंगे। यह तो ११ ही प्रश्न हुये। इनके अतिरिक्त भी न जाने कितने प्रश्न और उठ सकते हैं। या सम्भवतः आप में से किसी के अन्दर उठ भी रहे हों। समय अल्प होने के कारण अव विषय का संकोच करना ही इष्ट है। मोटे मोटे प्रश्नों के उत्तर दिये जा चुके, परन्तु प्रभो ! अव कुछ अपनी वुद्धि का भी प्रयोग कर। कव तक दूसरों से अपने प्रश्नों का समाधान कराता रहेगा। वस्तु स्वरूप को पढ़ने का अभ्यास करे तो स्वतः ही प्रश्नों का उत्तर देने की योग्यता प्राप्त हो जाये।

अभी तो यहाँ केवल पांच बातें ही कही हैं। परन्तु यहां वस्तु स्वरूप में तो न जाने ऐसी ऐसी कितनी बातें पड़ी हैं। पांच ही बातों में वस्तु इतनी जटिल दीखने लगी, यदि और बातों को भी इसमें मिला दें तो कितनी जटिल बन जायेगी ? अनुमान कीजिये। परन्तु सब बातों को युगपत देखूं तो वस्तु की जटिलता स्पष्ट दृष्टि में आ जाये। कथन क्रम के अनुसार पृथक पृथक करके उन ही बातों को आगे पीछे देखें तो, उनके साथ ही रहने वाली अगली व पिछली बातों को उस समय विचारनाओं में अवकाश न मिलने के कारण, शंकायें उपजने लगती हैं। अब शान्त हो। कहा या सुना नहीं जा सकता, परन्तु देखा सम्पूर्ण जा सकता है। अब इधर से दृष्टि हटा कर वस्तु में प्रवेश पाने का प्रयत्न कर।
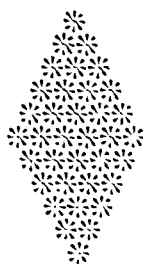
V आस्रव बन्ध

१५

—: आस्रव सामान्य :—

दिनांक २५ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २२

१—आस्रव का अर्थ अपराध, २—कार्माण शरीर व उसकी निःसारता।

१ आस्रव का अर्थ अपराध

अहो! अपराधों से अतीत वीतरागी गुरुओं, आपका उपकार, करुणा व निःस्वार्थता। निपट अन्धे को आंखें प्रदान करके इसे अपराधों के प्रत्यक्ष दर्शन करा देने वाले हे गुरुजनो! "इसके अपराधों को अब शान्त करो। शान्ति पथ के पथिक को स्व पर भेद कर चुकने के पश्चात, अब यह बात चलती है कि वह कौन सा ऐसा अपराध है जिसका कि दण्ड उसे इस व्याकुलता के रूप में मिल रहा है। गुरु देव के द्वारा प्रदान की गई दिव्य चक्षु से आज मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि वास्तव में मेरा सारा जीवन ही अपराध-मय है। चौबीस घण्टों में और करता ही क्या हूँ-अपराध के अतिरिक्त? यहां अपराध से तात्पर्य लौकिक अपराध न ले लेना, जिससे कि राज्य दण्ड उठाने पड़ें। बल्कि वह पारमार्थिक अपराध लेना, जिसके कारण कि यह व्याकुलता का दण्ड उठाना पड़े। कौन देने वाला है वह दण्ड? कोई दूसरा नहीं, मैं स्वयं ही हूँ। क्योंकि जो अपराध मैं करता हूँ वह स्वयं व्याकुलता रूप ही है। इसी अपराध को आगम कारों ने आस्रव नाम से कहा है।

२ कार्माण शरीर व उसकी निःसारता

आस्रव अर्थात आ+स्रव। 'आ' का अर्थ चारों ओर से और 'स्रव' का अर्थ स्रवना, रिसना या धीरे धीरे प्रवेश करना, अर्थात जो धीरे धीरे प्रवेश कर रहे हैं। उन्हें आस्रव कहते हैं। दो वस्तुयें हैं, जो इस प्रकार प्रवेश कर रही हैं। एक तो मेरा अपना चैतन्यात्मक अपराध और दूसरा वही जड़ पर-पदार्थ, जो इसके कारण से कुछ एक विशेष निमित्त बनने की शक्ति को लेकर आता है। इसे कर्म कहते हैं। मेरा अपराध मेरे जीवन में प्रवेश पाता है और कर्म शरीर में। मेरे अपराध से आगे बताये जाने वाले मेरे संस्कारों का निर्माण होता है, और इन कर्मों से एक सूक्ष्म शरीर का, जिसे कार्माण शरीर कहते हैं। अन्यत्र इसे लिंग शरीर भी कहा जाता है। यह शरीर यद्यपि सूक्ष्म है परन्तु वास्तव में यह ही मूल शरीर है, क्योंकि जिस प्रकार अनादि काल से मेरे संस्कार मेरे साथ चले आ रहे हैं, और आगे भी चलते रहेंगे, उसी प्रकार यह भी बराबर साथ चलता आ रहा है और आगे भी बना रहेगा। ऊपर दीखने वाला चमड़े का शरीर तो बहुत स्थूल है। इसका निर्माण उसी सूक्ष्म शरीर से होता है। वह न होता तो अमूर्तीक जीव का मूर्तीक शरीर कभी न हो सकता। जीव व इस शरीर के बीच वह गोंद का काम करता है। यह स्थूल शरीर तो मृत्यु के समय अपना त्याग पत्र दे देता है, पर वह कभी त्याग पत्र

नहीं देता। जैसे जैसे संस्कारों में कुछ परिवर्तन आता जाता है तैसे तैसे उसमें भी परिवर्तन अवश्य आता जाता है। यह ऊपर का शरीर तो दृष्ट है पर वह अन्दर का सूक्ष्म शरीर योगी जनों के अतिरिक्त किसी को किसी यन्त्र के द्वारा भी दिखाई नहीं देता।

यहां इतना कहने योग्य है कि वास्तव में वही शरीर मेरा बन्दीगृह है, यह शरीर नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो इस शरीर को आत्म हत्या के द्वारा त्याग कर सम्भवतः मैं इसकी बन्दी से निकल भागता। और इस प्रकार इसका अभाव हो जाने पर इस सम्बन्धी इच्छायें मुझे प्रगट न हो सकती। मैं शान्त हो जाता। परन्तु दुर्भाग्य वश ऐसा नहीं है। इसका विच्छेद हो जाने पर उसका विच्छेद नहीं होता, और वह पुनः नये शरीर का निर्माण कर देता है। अतः शान्ति का उपाय इसका विच्छेद करना नहीं है, वल्कि कुछ और है।

यदि उस सूक्ष्म शरीर का किसी प्रकार विच्छेद कर दिया जाये तो सहायक के अभाव में यह शरीर भी टिका नहीं रह सकता, और त्याग पत्र देकर स्वयं चला जाता है। पर यह त्याग पत्र सदा के लिये होता है। प्रति दिन वाली यह मृत्यु वास्तविक नहीं है। तब इसकी मृत्यु वास्तविक होती है? यह फिर मुझको वन्दी नहीं वना सकता। परन्तु उस सूक्ष्म शरीर का विच्छेद कैसे किया जाये, सो विचारनीय है। सूक्ष्म व अदृष्ट होने के कारण तथा दूध पानी वत मेरे साथ मिल कर पड़ा होने के कारण, किसी यन्त्र के द्वारा उसका विनाश किया जाना असम्भव है। अग्नि के द्वारा भी उसे भस्म नहीं किया जा सकता। वास्तव में उसका विच्छेद करना मेरे वस की वात नहीं। जिसे मैं छू व देख तक नहीं सकता, उसके विच्छेद करने का स्वप्न देखना भ्रम है। हां मैं उस अपराध का विच्छेद अवश्य कर सकता हूं जिसके कारण से, कि इसका प्रवेश हो रहा है।

को उठा कर छेतने से तो गोली लगने का भय नहीं जाता, उसके लिये तो व्याध (शिकारी) पर आघात करना होगा। सिंह सदा ऐसा ही करता है पर श्वान उससे उल्टा। वह व्याध पर न झपट कर गोली पर झपटता है। मारने वाले पर न झपट कर लाठी पर झपटता है। भला विचारो तो, लाठी बेचारी का क्या दोष ? व्यक्ति उठा कर लाया तो वह आई। उसे घुमाया तो घूम गई। उसी प्रकार इस बेचारे जड़ शरीर का क्या दोष ? तूने अपराध करके उसे बुलाया तो आकर बैठ गया। अपराध करने में ही रस मान मान कर तू उसे घुमाता है तो घूम जाता है अर्थात उदय में आ जाता है। वह बेचारा तो तेरा दास है। जैसी तुझसे आज्ञा पाता है वैसा करता है। वेतन न दे तो स्वयं भाग जायेगा। नया नया अपराध करके आनन्द मानना ही उसको वेतन देना है। प्रभु जाग ! देख तू सिंह की सन्तान है श्वान की नहीं। लाठी को मत पकड़। उस बेचारे को मत कोस। भूल पर आघात कर। अपने अपराध को देख, उसको स्वीकार कर।

भगवन ! तू स्वतंत्र है। स्व पर भेद विज्ञान किया है, फिर भी अपने को इस बेचारे जड़ कार्माण शरीर के आधीन क्यों मानता है ? "जो यह करायेगा वही तुझे करना पड़ेगा।" अर्थात तुझ में अपना तो कुछ बल है ही नहीं। कोई कह रहा है कि ईश्वर जैसा करायेगा वैसा करना पड़ेगा और तू कह रहा है कर्म जैसा करायेगा वैसा करना पड़ेगा। बात तो एक ही रही। केवल नाम भेद रहा। उसका ईश्वर आकाश में बैठा कोई काल्पनिक व्यक्ति है और तेरा ईश्वर कर्म। अनादि से परतंत्र दृष्टि बनी रही। व्याकुलता का निशाना बनता रहा। आज सौभाग्य से गुरुदेव का उपदेश प्राप्त हुआ है। यहां भी पुरानी टेव न छोड़ी ? उसी परतंत्रता का पोषण किया ? कुत्ते की दुम को बारह वर्ष नलकी में रखा पर टेढ़ी ही निकली। अपनी स्वतंत्र शक्ति को अब तक न पहिचाना। गुरुदेव के बताने पर भी विश्वास नहीं करता। कैसे होगा कल्याण ?

क्या कहा ? गुरुदेव पर व उनकी वाणी पर पूरा विश्वास है ? पर बात तो वास्तव में ठीक नहीं जंचती। केवल कहने मात्र का विश्वास हो तो हो, पर सच्चा विश्वास तो नहीं है। वह विश्वास जिसका प्रतिबिम्ब जीवन में दिखाई दे। जीवन में तो अविश्वास ही दिखाई दे रहा है। "आपकी बात स्वीकार है, पर करूंगा तो वही जो करना है" कुछ ऐसी बात है। बता कैसे कहें, कि विश्वास है। क्या भेद विज्ञान इसी का नाम है कि "शरीर जुदा मैं जुदा" इतना कहा और हो गया ? यदि पूर्व कथित रूप से गुरुदेव के समझाने पर उसमें और अपने में षट कारकी भेद का निश्चय किया है, तो बता तू कैसे कह सकता है कि कर्म तेरा काम कर सकेंगे ? भाई ! अपना अपराध करने वाला तू स्वयं है। स्वतंत्र रह कर करता है। अपने द्वारा करता है। कर्म बेचारे का क्या दोष ?

यदि तेरे निकट पड़ा भी है तो पड़ा रहने दे। क्या मांगता है तेरा ? वह अपना काम करता रहे और तू अपना। वह तुझे काम करने से तो रोकता नहीं। जिधर चाहे जा। जिस प्रकार चाहे विचार कर। चाहे तो इन अपराधों में रस ले चाहे तो न ले। यह बेचारे जड़ तुझे क्या कहते हैं ? अब गुरुदेव की शरण में आया है। स्व पर पदार्थों का स्वरूप निश्चय किया है। बस पर को पर समझ। उस पर से लक्ष्य हटा। स्व पर लक्ष्य कर। गुण या दोष जो कुछ भी देखता है स्व में देख। स्व में ही पुरुषार्थ कर। तभी कल्याण सम्भव है। कर्मों से भिक्षा मांग कर भिखारी बना हुआ क्यों अपने कुल को कलंक लगाता है ? आ तुझे समझायें, वह तेरा अपराध क्या है ? जो क्षण क्षण प्रति बराबर तेरे जीवन में प्रवेश कर रहा है।

—:o:—

१६

—: अशुभ आस्रव :—

दिनांक २३ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २३

१—क्षण क्षण प्रति नवीन नवीन अपराध, २—पंचेन्द्रिय विषयों सम्बन्धी राग द्वेष, ३—रागद्वेषात्मक क्रियाओं की अनिष्टता।

१ क्षण क्षण प्रति नवीन नवीन अपराध

शान्ति के घातक व व्याकुलता के कारण आस्रव का कथन चलता है। जड़ आस्रव अर्थात कर्मास्रव की बात हो चुकी। अब मुख्य आस्रव की बात चलेगी जो प्रत्यक्ष रूप से शान्ति का घातक ही नहीं बल्कि स्वयं व्याकुलता स्वरूप है। जो अपने अनुभव में आता है। जो स्वयं मेरा ही कुछ कोई दुष्कृत है। जिसको स्वतन्त्र रूप से मैं कर रहा हूं और इसलिये यदि चाहूँ तो स्वतन्त्र रूप से रोक भी सकता हूँ। वह आस्रव भी यद्यपि कर्म कहलाता है पर यह जड़ात्मक नहीं है, चेतनात्मक है। मेरी ही कोई अवस्था विशेष है। क्योंकि व्याकुलता स्वरूप है इसलिए शान्ति के प्रति कर्तव्य नहीं है। अपराध है। यह अपराध भी दो प्रकार का है। शुभ और अशुभ। पहले अशुभ की बात चलेगी।

आस्रव जो सर्व ओर से प्रतिक्षण मुझ में प्रवेश पा रहा है, अर्थात् वह अपराध जो प्रति क्षण मैं किये जा रहा हूं, इस बात से बिल्कुल बे खबर, कि इससे मुझे शान्ति मिलेगी कि अशान्ति। जैसा कि साक्षात् अनुभव में आ रहा है। मैं प्रति समय कोई न कोई नई नई क्रियाएं मन से, वचन से काय से किया करता हूँ। यदि विचार करके देखूं तो उन सब क्रियाओं का मूल अन्तर में उठने वाले वह विकल्प हैं जो इन्द्रिय भोगों से कुछ न कुछ सम्बन्ध रखते हैं। तथा उन भोगों के प्रति भोगेच्छात्मक इच्छाओं में से उत्पन्न होते हैं। मन में उठे हुये यह विकल्प ही इस शरीर को तथा जिह्वा को प्रेरित करके कोई न कोई शारीरिक व वाचिक क्रिया करने पर बाध्य करते हैं। यदि मन में यह विकल्प न आवें तो शरीर व वचन से वैसी क्रियायें न हों। मन-वचन-काय की यह सब क्रियायें इच्छाओं के आधीन तथा अमुक इच्छा की उत्तेजक होने के कारण शान्ति की घातक हैं, तथा स्वयं व्याकुलता रूप हैं। अतः शान्ति-पथ-गामी मेरे लिये ये सब अपराध स्वरूप हैं। इन ही का नाम आस्रव है।

खिंचा सा अनुभव करने लगता हूँ। बाज़ार में कोई सुन्दर चीज़ या मूर्ति देखकर, या हलवाई की दुकान में सजी हुई मिठाई देखकर, कोई सुन्दर रेडियो, ग्रामोफोन आदि देखकर, सिनेमा के चलचित्र पर कुछ चलते फिरते चित्र देखकर, या थियेटर सर्कस के कुछ सीन देखकर, या नृत्य देखकर, या किसी सुन्दर स्त्री का मुख देखकर, या अपने किसी परम मित्र को देखकर, न मालूम अपने मन में कहाँ से उथल पुथल मचाता यह एक आकर्षण सा आ घुसता है कि किसी प्रकार मैं यह पदार्थ प्राप्त कर पाऊं तो कितना अच्छा हो ? कहीं से आती हुई मीठे राग की ध्वनि व मेरी प्रशंसा के शब्द न मालूम क्यों मेरे कान खड़े कर देती है, और मुझे सब काम छोड़कर अपनी ओर ही ध्यान देने व कुछ अभिमान करने को बाध्य कर देती है ? तथा अन्य भी अनेकों प्रकार के यह पांच इन्द्रियों सम्बन्धी विषय मुझे अपनी ओर आकर्षक करते ही हैं उनमें मुझे कुछ आनन्द सा भासता है। साक्षात् उनकी प्राप्ति तो दूर, उनकी कल्पना मात्र से ही अन्तरंग में कुछ मिठास सा वर्तता है। विषयों के प्रति इस प्रकार के आकर्षण का नाम राग है। और इस जाति के यह विषय इष्ट कहे जाते हैं।

अधिक गर्मी या धूप में चलते हुये या सर्दी में काम करते हुये, या मैले व खुरदरे वस्त्र शरीर पर धारण करते हुये, शरीर पर मैल जमी जानते हुये, इस पर किसी प्रकार चोट आदि खाते हुये अथवा इस पर मच्छर आदि के काटने पर न मालूम क्यों कुछ पीड़ा सी, कुछ हटाव सा, कुछ बुरा सा प्रतीत होने लगता है ? कोई भी कड़वा या कसैला या रूखा पदार्थ खाते हुये, या स्वतः ही मुंह में से या किसी कुष्टी के शरीर में से या कहीं अन्यत्र से किसी प्रकार की दुर्गन्धि नाक में आ जाने पर न जाने क्यों मुंह फेरने को या शीघ्र से शीघ्र वहां से चले जाने को जी चाहता है ? किसी कुरूप से कुष्टी को देखकर, या किसी भी मैले कुचैले व्यक्ति को देखकर, या विष्टा को देखकर, अपने किसी शत्रु को देखकर अथवा किसी रोगी को देखकर न जाने कहां से कुछ घृणा सी, कुछ भय सा उत्पन्न होने लग जाता है ? गाली का या व्यंग का कोई वचन सुनकर या अपनी निन्दा का वचन सुन कर, या वैसे ही कोई कर्कस सा शब्द सुनकर न जाने क्यों कुछ बुरा सा लगने लगता है ? क्यों क्रोध सा आने लगता है ? तथा अन्य भी अनेकों प्रकार के यह पांच इन्द्रियों सम्बन्धी विषय मुझ में कुछ अदेख सका सा, कुछ हटाव का सा, कुछ क्रोध सा, कुछ बुरा सा भाव उत्पन्न कर देते हैं। उनमें कुछ मुझे हटाव सा वर्तता है। साक्षात् उनकी प्राप्ति तो दूर, उनकी कल्पना मात्र से अन्तरंग में कुछ हलचल सी मच जाती है। विषयों के प्रति इस प्रकार के अदेख सके से भाव का नाम द्वेष कहलाता है। और इस जाति के यह विषय अनिष्ट विषय कहे जाते हैं।

इष्ट विषयों की प्राप्ति में राग तथा उनकी अप्राप्ति या विनाश में द्वेष होता है। और इसके विपरीत अनिष्ट विषयों की प्राप्ति में द्वेष तथा अप्राप्ति व विनाश में राग वर्तता है। बस यह राग द्वेष ही मुझे प्रति क्षण मन द्वारा इनकी यथा योग्य प्राप्ति व अप्राप्ति सम्बन्धी कल्पनायें करने के लिये, उपाय सोचने को बाध्य करते हैं। वचन द्वारा किसी को प्रेम पूर्ण वाक्य कहने पर और किसी को गाली आदि देने के लिये मजबूर करते हैं। और शरीर द्वारा इधर उधर दौड़, इधर आ उधर जा, ऊपर चढ़ नीचे उतर, हाथ उठा हाथ घुमा, झुकने या सीधे खड़े रहने, बैठने या लेटने आदि रूप कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। उन उन विषयों की प्राप्ति हो जाने पर ही यह कार्य होते हों तो भी खैर थी, परन्तु उनकी निकट सम्भावना न होने पर भी शेख चिल्ली की भांति यह क्रियायें बराबर चला करती हैं।

कोई एक ही क्रिया वहुत देर तक चलती रहती हो, सो भी नहीं। प्रति क्षण वदलती रहती है। अगले अगले क्षणों में पहले पहले से अपूर्व ही कोई नई क्रिया हुआ करती है।

३ राग द्वेषात्मक क्रियाओं की अनिष्टता

प्रभो ! सोचा है कभी इस सम्वन्ध में कि यह क्या है ? यही तो है वह अपराध जिसे विकल्प नाम से कहा जाता है। आगे आगे के प्रकरणों में आने वाले "इन्द्रिय विषय" "रागद्वेष" व "विकल्प" इन शव्दों का यही तो तात्पर्य है। क्या इन क्रियाओं को करते हुये प्रति क्षण व्याकुलता सी नहीं भासती है ? वरावर होती रहने वाली इन क्रियाओं से तू कुछ थका थका सा नहीं महसूस करता है। साक्षात् व्याकुलता रूप इन क्रियाओं में फिर भी तू वड़ी लग्न से प्रवृति करता है, महान आश्चर्य है। वास्तव में तूने आज तक विचार कर देखा ही नहीं कि यह क्रियायें सुख रूप हैं कि दुःख रूप। विचारता भी कैसे ? उन दो महा सुभट राग द्वेष की असीम इच्छा रूप सेना से कौन भयभीत नहीं हो जाता ? उन इच्छाओं से संतप्त ही तू आज तक विना विचारे, किये जा रहा है-यह कार्य। प्रति क्षण नया नया अपराध। यदि एक क्षण को भी इधर ध्यान दे तो सदा के लिये इससे मुक्ति मिल जाये इन विकल्पों से छुट्टी मिल जाये। फिर यह कार्य करने की आवश्यकता ही न पड़े। इसलिये वास्तव में इच्छायें करना ही वह अपराध है, आस्रव है, जिसके प्रति कि संकेत करना अभीष्ट है।

स्व पर में भेद न होने या झूठा भेद होने के कारण ही इन पूर्व कथित पदार्थों का आश्रय वर्तता है, जिन की महिमा से अपरिचित रहने के कारण ही इन शारीरिक या भोग सामग्री आदिक पर-पदार्थों की महिमा तेरी दृष्टी में आती है। यदि यह समझ लेता कि इन पदार्थों से तेरा कोई कार्य सिद्ध होने वाला नहीं है, क्योंकि यह पर पदार्थ हैं, षट् कारकी रूप से स्वतन्त्र, तो इन क्रियाओं को अवकाश न रहता। यदि यह समझ लेता कि यह षट् कारकी रूप से स्वतंत्र पर पदार्थ तेरे आधीन नहीं हैं, तो इनकी प्राप्ति व विनाश की इच्छायें तुझे जागृत न होती। यदि यह समझ लेता कि यह षट् कारकी रूप से स्वयं अपना सर्व कार्य करने को समर्थ हैं, तो अन्य की सहायता की आवश्यकता न पड़ती। यदि यह समझ लेता कि षट् कारकी रूप से स्वतंत्र तू स्वयं शान्ति का भण्डार है तो इन वस्तुओं में अपनी शान्ति की खोज करने की भूल कभी न करता। यदि यह समझ लेता कि षट् कारकी रूप से स्वतन्त्र तू इनके आधीन नहीं है तो कदापि इनका आश्रय लेने का प्रयत्न न करता। स्वतन्त्र रूप से, अपने द्वारा, अपने लिये, अपने में से, अपने ही स्वभाव के आधार पर प्रयत्न करता-शान्ति प्राप्ति के लिये, और शीघ्र ही सफल हो जाता। विकल्प मिट जाते। सर्व इच्छाओं का लोप हो जाता। और वह सुभट राग द्वेष अपना रास्ता नापते दिखाई देते।

एक वार, केवल एक वार मेरे मुख पर दृष्टि डाल लीजिये। फिर भले चले जाना उधर ही। मैं आपको रोकूंगी नहीं। इतना ही खेद है कि जब से आये हो एक वार भी तो आँख उठा कर मेरी ओर नहीं देखा।" भाई! ठीक तो कहती है, एक वार देखने में क्या हर्ज है? नहीं अच्छी लगेगी तो छोड़ देना।

निर्विकल्प इस शान्ति के दर्शन करे तो, विकल्पात्मक इस मन-वचन-काय सम्बन्धी क्रिया को अपराध स्वीकार किये विना न रहे। और तेरा जीवन ही वदल जाये। जो अव इच्छाओं की ज्वाला में स्वाहा होने जा रहा है, वही फिर शान्ति सुधा के निर्मल सरोवर में स्नान करते लगे।

१७
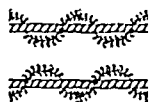
—: शुभ आस्रव निषेध :—

दिनांक १७ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २४

१—पुण्य अपराध, २—पुण्य पाप में समानता, ३—पुण्य प्रकृति में इच्छाओं का दल, ४—पांच कोटि की शुभ इच्छायें, ५—कर्म धारा व ज्ञान धारा, ६—पुण्य का निषेध, ७—पुण्य में पाप, ८—ज्ञानी व अज्ञानी के पुण्य में अन्तर, ९—अभिप्राय से विपरीत भी कार्य करने की सम्भावना।

१ पुण्य अपराध शान्ति के घातक व इच्छाओं की ज्वाला में नित्य मुझे भस्म करने वाले आस्रव की बात चलती है। इसके दो अंगों में से अशुभ आस्रव अर्थात अशुभ अपराध की बात तो हो चुकी। अब चलेगी शुभ अपराध की बात।

कल के प्रकरण में बताई गई ही वे मन-वचन-काय की क्रियायें हों, ऐसा नहीं है। धर्म कर्म के सम्बन्ध में भी उनकी क्रियायें चला करती हैं। उन क्रियाओं का आधार भी किसी विशेष जाति की इच्छायें ही हैं? इच्छा मूलक होने के कारण इन क्रियाओं का समावेश भी आस्रव या अपराध के प्रकरण में किया जा रहा है। क्योंकि इच्छा व्याकुलता की जननी है। और व्याकुलता सर्व ही अपराध रूप है?

धर्म कर्म सम्बन्धी वे क्रियायें मन के द्वारा, वचन के द्वारा, काय के द्वारा, सच्चे देव की पूजा व भक्ति के रूप में, अथवा शान्त-मूर्ति वीतरागी गुरु की उपासना के रूप में, अथवा शान्ति पथ प्रदर्शक प्रवचन के अध्ययन मनन के रूप में, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह त्याग व्रतों के रूप में, प्राणियों पर दया के रूप में, धर्मोपदेश के रूप में, परोपकार के रूप में, देश सेवा के रूप में, साधर्मी जनों पर प्रेम के रूप में, तप जप शील संयमादि के रूप में, इत्यादि अनेकों रूपों में मैं नित्य ही किया करता हूँ। इन सब क्रियाओं विशेष का वर्णन तो आगे संवर के प्रकरण में क्रम से चलने वाला है। यहां तो केवल संकेत मात्र के द्वारा धर्म कर्म रूप क्रियाओं से तात्पर्य है। इतना मात्र दर्शाना अभीष्ट है कि यह सर्व क्रियायें आस्रव हैं। अपराध हैं?

और इस प्रकार की अनेकों बातों का मानों तूफान ही आ गया हो आप सब के हृदय में। ऐसी बात कभी न सुनी, न देखी। एक अनौखी बात। इतनी कठिनाई उठा उठा कर जिन क्रियाओं को बड़े बड़े योगिश्वरों ने किया, आज उन्हें अपराध बताया जा रहा है ? यह कोई नई जाति का धर्म चलाना चाहता है ? सबको ही नास्तिक बनाना चाहता है ?

शान्त हो प्रभु ! शान्त हो ! यह नास्तिक बनाने की बात नहीं है, शान्ति दिलाने की बात है। तेरा कोई दोष नहीं। वास्तव में कभी इतनी निर्भीकता से ऐसी बात का न सुनना ही तेरे इस क्षोभ का कारण है। "मन वचन काय की यह क्रियायें अत्यन्त हित रूप हैं, धर्म रूप हैं। मोक्ष देने वाली हैं।" इस प्रकार की तेरी पुरानी धारणायें ही तेरे इस क्षोभ का कारण है। शान्त होकर सुन, तू स्वयं पछतायेगा अपनी इस भूल पर। बात कठिन नहीं है। समझ में आ जायेगी। अब तक सुनी नहीं, इसलिये समझी नहीं। शान्त चित होकर सुन। मेरे कहने मात्र पर विश्वास न कर लेना। तेरा अन्तःकरण स्वयं ही 'हाँ' कर दे तो स्वीकार करना, नहीं तो न करना। मेरी बात मेरे पास ही तो रहेगी ? तुझ से कुछ छीन तो न लूंगा ?

२ पुण्य पाप में समानता

कल बताई गई अशुभ क्रियाओं को तो दुनिया पाप बताती है, अपराध बताती है। परन्तु देखो वीतराग के मार्ग की अलौकिकता, कि धार्मिक क्रियाओं को भी अपराध बताया जा रहा है। पाप कहा जा रहा है। "पुण्य व पाप में अन्तर देखने वाला शान्ति का उपासक नहीं है"। यह कहा जा रहा है। है ही कुछ आश्चर्य की बात। कितनी निर्भीकता है, वीतरागी गुरुओं की बात में। सर्वलोक एक ओर और वह अकेले एक ओर, बेधड़क धार्मिक क्रियाओं को पाप बताने वाले। यहां तक कह दिया है ज्ञानी जनों ने, "भगवन ! मुझे सब कुछ हो। बड़े से बड़ी बाधा भी स्वीकार है, पर एक पुण्य कभी न हो।" अरे ! कैसी अजीब बात है यह। जिस पुण्य को, जिस धर्म को सब चाहते हैं उसे ज्ञानी इन्कार करते हैं। याद होगी आगरे के विरागी गृहस्थ श्री बनारसी दास जी के जीवन की वह घटना जब उसने बादशाह अकबर से यह मांगा था कि अगर आप मुझ पर प्रसन्न हो, तो कृपया आज के पीछे मुझे अपने दरबार में न बुलाना। और आश्चर्य में पड़ गया था सारा दरबार उस समय। क्या मांगा इसने ? पागल हो गया है शायद ? जिसकी नज़र के लिये आज सारा देश तरसता है, वह व्यक्ति उसके पास बुलाने से भी आना नहीं चाहता ? बस ऐसी ही अटपटी बात है ज्ञानियों की। सामान्य मनुष्य को यह रहस्य समझ में नहीं आ सकता। और वही हालत है आपकी। परन्तु घबराइये नहीं। गुरुदेव की शरण में आये हो। अज्ञानी न रहोगे। इस रहस्य को अवश्य समझ लोगे।

विषय समझने से पहले यह बात अवश्य हृदयंगत कर लीजिये कि सिद्धान्त वही होता है जो सर्वत्र समान रीति से लागू हो। कहीं लागू हो जाये कहीं नहीं उसे सिद्धान्त नहीं कहते। वह कल्पना है। पक्षपात है। वैज्ञानिक मार्ग में पक्षपात को अवकाश नहीं, भले पहले की पोसी सर्व धारणाओं का त्याग क्यों न करना पड़े। 'सत्य' सत्य ही रहेगा। "आपकी कल्पनाओं के अनुकूल हो तो सत्य, नहीं तो असत्य," ऐसा सत्य का लक्षण नहीं। कोई भी स्वीकार न करे तो भी 'सत्य' तो सत्य है। आपको कल्पनाओं के कारण सत्य न बदलेगा। सत्य के कारण आपको ही अपनी धारणायें बदलनी होंगी। यह तो विचारिये कि यदि आपकी धारणायें व क्रियायें सच्ची होती, तो आज दुखी क्यों होते ? अधिक नहीं तो कुछ शान्ति तो अवश्य होती। और प्रारम्भ से ही तो यह बताया जा रहा है कि वास्तविक सिद्धान्त व रहस्य से अपरिचित तेरी सब धारणायें भूल के आधार पर टिकी हुई हैं ? वहां तो सुन कर क्षोभ नहीं

आया था ? यहां क्षोभ क्यों आ गया ? प्रतीत होता है कि अन्य धारणाओं की अपेक्षा इस धारणा की शक्ति सब से प्रबल है । इसकी पकड़ बहुत मजबूत है । इसलिये सर्व शक्ति लगा कर इसे तुड़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है । यह बात तेरे हित के लिये है, अहित के लिये नहीं ।

१ पुण्य प्रवृति में इच्छाओं का वल　देखिये पहले तो यह याद कीजिये कि आप क्या प्रयोजन लेकर निकले हैं ? शान्ति ! अच्छा तो अब बताइये कि शान्ति का क्या लक्षण आपने स्वीकार किया है । निरभिलापता या निर्विकल्पता । ठीक ! अब यह बताइये कि आप अभिलापायें चाहते हो या उनका निरोध ? उनका निरोध । शाबाश ! शान्ति के उपासक के मुंह से इसके अतिरिक्त और कुछ निकल भी कैसे सकता था ? सिद्धान्त को तो आप खूब समझे हुये हो, परन्तु फिर भी उपरोक्त बाधा क्यों ? खैर धीरे धीरे दूर हो जाएगी । अब यह बताइये यदि कुछ इच्छाओं को निकाल कर कुछ इच्छायें छोड़ दी जायें तो ? किसी भी जाति की एक भी इच्छा नहीं रहनी चाहिये । वाह । कितना सुन्दर उत्तर है अनेकों पीड़ायें पहुँचा कर जब थक गये तो अंग्रेजों ने भी यही प्रश्न पूछा था-गान्धी से, कि कुछ स्वतन्त्रता तो ले लो, कुछ हमारे हाथ में रहने दो । उस समय गान्धी ने भी यही उत्तर दिया था, जो आज आपने दिया है । "चाहे आप स्वर्ण के भी बनकर आयें, चाहें मुझे सब कुछ देने को भी तैयार हो जायें पर मुझसे यह आशा न करना कि मैं परमाणु मात्र का भी अधिकार तुम्हारे हाथ में रहने दूं । मुझे पूर्ण स्वतंत्रता चाहिये, और पूर्ण ही लूंगा रत्ती भर कम नहीं । अच्छा निर्णय हो चुका कि निःशेष इच्छाओं का अभाव करना आपका प्रयोजन है । अब याद रखना इसे । आगे जाकर भूल न जाना ।

आ जाइये अब मूल विषय पर । विचारिये कि उपरोक्त धार्मिक क्रियायें इच्छा के बिना की जाती हैं । या इच्छा सहित ? देखिये हमारी आज की कोई क्रिया भी चाहे पुण्य रूप हो या पाप रूप, चाहे धर्म रूप हो कि अधर्म रूप, बिना इच्छा के नहीं हो रही है । यह बात सत्य है कि इच्छायें कई जाति की होती हैं, अशुभ भी होती हैं शुभ भी । अशुभ इच्छायें कहते हैं भोगाभिलाष को, जिसका कथन कि कल के प्रवचन में आ चुका है । और शुभ इच्छायें कहते हैं भोगाभिलाष से निरपेक्ष पूजादि या सेवादि उपरोक्त कार्य करने की इच्छा को । भोगाभिलाष के अभाव के कारण ही इन क्रियाओं को निष्काम कर्म कहते हैं । जिसका कि गीता में कथन आया है । परन्तु विचारिये कि क्या भोगाभिलाष के अभाव हो जाने के कारण उन क्रियाओं को निरभिलाष मान लें । यदि धार्मिक भी इन क्रियाओं को करने की अभिलाषा न होती, तो बताइये उन क्रियाओं में प्रवृत्ति ही कैसे होती ? क्या हर शुभ या अशुभ क्रिया के पीछे किसी न किसी इच्छा की प्रेरणा होती है ?

कर देंगे, मुकदमा जिता देंगे, परीक्षा में सफल करा देंगे, शत्रु पर विजय करा देंगे इत्यादि। इस प्रकार की इच्छायें रख कर पूजा करना, छत्र चढ़ाना, वोलत कवूलत करना आदि अनेकों ऐसी स्थूल क्रियायें होती हैं कि उनके अन्तरंग की इच्छायें स्पष्ट प्रगट हो जाती हैं।

२—दूसरी इच्छा वह है जिसके आधार पर इस भव सम्वन्धी भोगों का तो नहीं, परन्तु अगले भव सम्वन्धी भोगों का अभिप्राय अन्तरंग में छिपा रहता है। उसका रूप कुछ इस ढंग का है, "तिर्यञ्च व नरक गति तो वड़ी दुखदाई है वहां तो धर्म कर्म भी होना वड़ा कठिन है, किसी प्रकार देव गति मिले तो अच्छा, या भोग भूमि मिले तो अच्छा। वहां सुख है, सर्व अनुकूल है, कोई चिन्ता नहीं है, जीवन सुख पूर्वक वीतेगा इत्यादि। प्रयोजन की सिद्धि व्रतादि के द्वारा ही वताई गई है। पात्र दानादि के द्वारा ही वताई गई है। अतः यह क्रियायें ही मुझे इष्ट है। इस अभिप्राय पूर्वक अधिकाधिक भक्ति, तप व दानादि क्रियायें करता है। यद्यपि स्थूलतः वाहर में वह अभिप्राय पूर्ववत प्रगट होने नहीं पाता, परन्तु वात चीत में वह अवश्य प्रगट हो जाता है। इसलिये यह इच्छा भी स्थूल भोगों सम्वन्धी ही है।

३—तीसरी इच्छा वह है जिसके आधार स्वर्गादि सम्वन्धी न सही, पर मोक्ष सम्वन्धी अभिप्राय अन्दर में छिपा रहता है। परन्तु यहाँ मोक्ष का स्वरूप किसी अन्य प्रकार का कल्पना किया रहता है। इसका रूप कुछ इस प्रकार का है कि देवादि के सुख को तो गुरुजन दुःख वताते हैं। अतः ठीक है-मुझे वह सव कुछ नहीं चाहिये। परन्तु मोक्ष के लिये तो वह स्वयं भी प्रयत्न कर रहे हैं? इन क्रियाओं का फल मोक्ष भी तो है? कहा जाता है कि मोक्ष में अनन्त सुख है? सर्व इन्द्रों से भी अनन्त गुणा। सर्व चक्रवर्तियों से भी अनन्त गुणा। वाह वाह! इससे अच्छी वात क्या? वहां तो खूव मौज में रहूँगा। मोक्ष शिला भी सुन्दर वताई जाती है। उस पर वैठने मात्र से ही वड़ा सुख मिलेगा। फिर अनन्तों सिद्ध वहां विराजमान हैं। उनको साक्षात स्पर्श करने का अवसर मुझे मिलेगा। पवित्रात्माओं के स्पर्श से तथा उनके दर्शन से कितना सुख मिलेगा, जव कि साधुओं तक के स्पर्श की व दर्शन की इतनी महिमा वखानी जाती है? और न सही लोक में ख्याति तो हो ही जायेगी, कि वहुत धर्मी है। "अतः मुझे इन धार्मिक क्रियाओं में प्रवृति करना ही इष्ट है", यह अभिप्राय भी वचनों पर से जाना जा सकता है। अतः स्थूल है। यद्यति साधारणतयः देखने पर भोगाभिलाप सी प्रतीत नहीं होती, परन्तु यह भी भोगाभिलाप की कोटि में आ जाती है। क्योंकि मोक्ष सुख से अनभिज्ञ केवल शिला स्पर्श, सिद्धों का सम्पर्क, उनका स्पर्श व दर्शन भी इन्द्रिय सुख ही है अतीन्द्रिय नहीं।

४—चौथी इच्छा वह है जिसके अन्तर्गत विदेह क्षेत्र में जाकर सीमन्धर प्रभु के दर्शन का अभिप्राय छिपा है? उसका रूप कुछ ऐसा है, "पुण्य करने से देव गति में जाऊंगा, और वहां से प्रभु के दर्शन को। अथवा यहां से सीधा विदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो जाऊंगा और प्रभु के दर्शन करके सम्यक्त्व प्राप्त करूंगा. और फिर मोक्ष" परन्तु यहां फिर मोक्ष का स्वरुप पहला ही रहा। और सीमन्धर प्रभु के दर्शन में भी उसी के किसी सुख की कल्पना रही। या रही कोरी भावुकता। सो भी तीसरी इच्छा के समान ही है। यह भी वचनालाप से प्रगट हो जाती है।

५—पांचवी इच्छा है सच्चे मोक्ष की इच्छा। जिसका रूप कुछ इस प्रकार का है कि "मुझे केवल शान्ति चाहिये और कुछ नहीं। मुझे मोक्ष शिला लेकर क्या करना है? दूसरे सिद्धों से मेरा

क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अतः मेरे हृदय में उस लोक शिखर वाले सिद्ध लोक के प्रति कोई आकर्षण नहीं। यह ठीक है;वहाँ ही जाना होगा। परन्तु इसकी कोई महत्ता नहीं। नरक लोक में जाकर भी यदि शान्ति रहती हो तो वह भी मेरे लिये मोक्ष है। और कहीं जाने की मुझे क्या आवश्यकता, मुझे तो यहां ही शान्ति वर्तती है। यही मेरी मोक्ष है। कुछ कमी है पूरी हो जायेगी। ये धार्मिक क्रियायें करना शान्ति की दशा से कुछ प्रयोजनीय नहीं। जो कुछ भी इनका फल बताया जाता हो, पर मेरे लिए इनका कोई फल नहीं। जो इनका फल धनादि की प्राप्ति है वह मुझे चाहिये नहीं। वर्तमान में साक्षात् विकल्पात्मक होने से ये क्रियायें स्वयं अशान्ति रूप हैं। भले कुछ शान्ति रूप हों, पर वह शान्ति नहीं जो निर्विकल्प समाधि में होती है। परन्तु फिर भी जब समाधि में स्थिर न रह सकूं तब क्या करूं ? अशान्ति में तो जाना होगा। कहीं भोगादिकों की ओर प्रवाह हो गया तो ग़ज़ब हो जायेगा। सब कमाई लुट जायेगी। अतः "सारा जाता देखिए तो आधा लीजिए बांट" इस युक्ति के अनुसार, चलो, इन्हीं क्रियाओं में मन को उलझा दो, इत्यादि प्रकार से इन क्रियाओं में प्रवृति करता है। यद्यपि यह प्रवृति सच्ची है। यहां किसी भी रूप में भोगों की अभिलापा की रेखा भी दिखाई नहीं देती। न ही बाह्य क्रियाओं से या वचन से कोई भी उस प्रकार का अभिप्राय प्रगट होने पाता है, तो भी "मुझे किसी प्रकार शीघ्र शान्ति मिले', इतनी तो व्यग्रता है ही। बस इसी लिए अत्यन्त सूक्ष्म भी यह इच्छा ही तो है।

अब सिद्धान्त लागू कीजिए। क्योंकि पांचों में ही कोई न कोई इच्छा है अतः यह सब धार्मिक क्रियायें अपराध हैं। इतना अन्तर है कि नं० १ से नं० ४ तक की इच्छायें तो भोगाभिलाष सम्बन्धी होने के कारण अशुभ हैं, अत्यन्त अनिष्ट हैं। इसलिए उन इच्छा पूर्वक की गई वे क्रियायें बड़ा अपराध हैं। परन्तु नं० ५ की इच्छा अत्यन्त सूक्ष्म व भोगाभिलाप से निरपेक्ष होने के कारण, तथा उस इच्छा का भी अन्तरंग में निषेध वर्तते रहने के कारण शुभ है। इष्ट है। उस सूक्ष्म इच्छा के साथ वर्तने वाली क्रियायें शान्ति में इतनी बाधक नहीं पड़ती, जितनी कि पहली चार। बल्कि साधक की भोगाभिलाष के प्रति कुछ न कुछ रक्षा करने के कारण कुछ सहायक ही रहती है। अतः इस दशा में वह क्रियायें कथञ्चित इष्ट हैं। परन्तु सिद्धान्त बाधित नहीं होना चाहिए। जितनी कुछ भी इच्छा है, उतना अपराध ही है। अतः यह पांचवी भी है-अपराध ही, आस्रव ही।

५ ज्ञान धारा व कर्म धारा

मन, वचन व काय की क्रियाओं की विशेषतायें जानने के लिये मानसिक विचारणाओं की गहराई में उतर कर, कुछ पढ़ना होगा। क्योंकि मानसिक क्रिया ही वचन व शरीर की क्रियाओं की अधिपति है अतः इस प्रकरण में उसको ही विशेषतः जानना अभीष्ट है। मानसिक विचारनाओं का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि विचारनायें दो जाति की हैं। एक तो केवल किसी वस्तु के स्वरूप आदि का निर्णय करने रूप तथा दूसरी उस वस्तु के साथ अपना कुछ सम्बन्ध उत्पन्न करके उस में अच्छे बुरे की कल्पना करने रूप। पहली विचारना का नाम है ज्ञान धारा और दूसरी का नाम कर्म धारा।

और अत्यन्त निकृष्ट समझी जाने वाली विष्टा सम्बन्धी विचारना ज्ञान धारा रूप हो सकती है। सो कैसे वही दर्शाता हूँ।

मैं हूं। ज्ञान स्वभावी हूँ। शान्ति मेरा स्वभाव है। पहले भव में मैं कुत्ते के रूप में था। अगले भव में देव के रूप हो जाने वाला हूँ। तथा इसी प्रकार की अन्य भी अनेकों विचारनायें, जिनमें केवल मेरा भूत, वर्तमान व भविष्यत काल सम्बन्धी अनेकों अवस्थाओं में गून्था हुआ एक रूप ही आधार बना है, वे सर्व विचारनायें ज्ञान धारा रूप हैं? क्योंकि यहां था, हूँ, हूँगा के अतिरिक्त किसी भी अन्य पदार्थ के या अपनी ही किसी अवस्था के साथ पट् कारकी सम्बन्ध जोड़ कर उनमें इष्टता व अनिष्टता उत्पन्न नहीं की गई है। केवल होने मात्र का निर्णय है। परन्तु मैं पहले भव बहुत निकृष्ट दशा में पड़ा था। बहुत दु:खी था। अब मैं, कुछ धर्म करूंगा। या भोग भोगूंगा। देव बन जाऊं तो बहुत अच्छा लगेगा। इस प्रकार की अपने सम्बन्धी ही सर्व विचारनायें कर्म धारा रूप हैं। क्योंकि अन्य पदार्थों व अपनी ही किन्हीं अवस्थाओं के साथ पट् कारकी सम्बन्ध जोड़ कर उनमें इष्टता व अनीष्टता की कल्पना की जा रही है।

इसी प्रकार भगवान पूर्ण शान्ति में स्थित हैं। वे तीन लोक को देख रहे हैं। पहले निगोद में रहते थे। आगे सदा आनन्द में ही मग्न रहेंगे। भगवान सम्बन्धी यह सब विचारनायें ज्ञान धारा रूप हैं। और भगवान अधमोद्धारक हैं। उनकी पूजा व भक्ति मेरे लिये बड़ी हितकारी है। वे अपने आश्रितों को अपने समान कर लेते हैं इत्यादि विचारनायें कर्म धारा रूप हैं।

इसी प्रकार यह विष्टा नाम का एक पदार्थ है। इस का रंग पीला है। इस में एक विशेष प्रकार की गन्ध है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है। यह पहले अन्न रूप थी। यह खेतों में खाद के रूप में डाली जाती है। इत्यादि विष्टा सम्बन्धी सब विचारनायें ज्ञान धारा रूप हैं। परन्तु यह बहुत घिनावनी है, दुर्गन्धित है। इसे मेरे पास से हटाओ इत्यादि सब विचारनायें कर्म धारा रूप हैं।

यह युद्ध स्थल है। यहां अनेकों योद्धा परस्पर में लड़ कर मृत्यु की गोद में सो जाया करते हैं। यह युद्ध सिकन्दर व पोरस के मध्य हुआ था इत्यादि सर्व विचारनायें ज्ञान धारा रूप हैं। परन्तु यह युद्ध मेरे देश के लिये बड़ा हानि कारक सिद्ध हुआ। भविष्यत में हमें ऐसे युद्धों के प्रति रोक थाम करनी चाहिये इस प्रकार की विचारनायें कर्म धारा रूप हैं।

आज का दिन बहुत गर्म रहा है यह ज्ञान धारा की विचारना है। परन्तु इस से मुझे बड़ी बाधा हुई है। गर्मी कुछ कम हो जाती तो अच्छा होता, यह कर्म धारा है। यह दो भेद मानसिक क्रियाओं में ही है। वचन व शरीर की क्रियायें तो कर्म धारा रूप ही हैं।

वास्तव में देखा जाये तो ज्ञान धारा बुद्धि पूर्वक के प्रयास द्वारा विचारनायें करने रूप नहीं होती। क्योंकि इस प्रकार विचारना करने से तो वह भी कर्म धारा ही बन जायेगी। वह तो केवल सहज प्रतिभास रूप है। जैसा कैसा भी, जिस किस भी वस्तु का प्रतिभास हो जाने पर मन की विचारनायें रुक जाती हैं। तथा वह कुछ उस प्रतिभास के साथ तन्मय सा होकर खोया खोया सा महसूस

करने लगता है। वह दशा कुछ अद्वैत सी होती है और इसलिये शान्ति रूप है। जितनी देर भी उसमें स्थिति रहती है मन को थकान नहीं होती बल्कि आनन्द में कुछ झूमता सा रहता है। परन्तु वहाँ से छूट कर यदि कर्म धारा में आ जाता है तो बुद्धि पूर्वक का प्रयास प्रारम्भ हो जाने के कारण तब उसे उन्हीं विचारनाओं में थकान महसूस होने लगती है।

इन दोनों धाराओं में यह बताने की आवश्यकता नहीं कि कौन धारा शान्तिरूप। क्योंकि अनेकों दृष्टान्तों से पहले यह सिद्ध किया जा चुका है कि पदार्थ या पदार्थ का ज्ञान अशान्ति का कारण नहीं। मेरे तेरे, या अच्छे बुरे की कल्पनायें ही अशान्ति का कारण हैं। क्योंकि इन शुभ क्रियाओं में कर्म धारा काम कर रही है इसी लिये इन का निषेध किया जा रहा है। आगे यह भी स्पष्ट कर दिया जायेगा कि कुछ क्रियायें दोनों धाराओं के मिश्रण रूप भी हो सकनी सम्भव हैं। तब वे ही किसी अपेक्षा उपादेय हो जाती हैं। (देखो अधिकार नं० १८ प्रकरण नं० ५)

दिनांक १८ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २५

६ पुण्य का निषेध अहो! शान्त आत्माओं से मुझ में प्रतिबिम्बित होने वाली शान्त आभा जयवंत रहो। वह शान्ति जिसने भव संतप्त मुझ अधम को एक अपूर्व शीतलता प्रदान की वह शीतल शान्ति जिसके सामने दाहोत्पादक ये पंचेन्द्रिय के भोग चितातुल्य हैं। वह मधुर शान्ति जिसके सामने भोगों के सब रस फीके हैं। वह द्युतिवन्त शान्ति जिसके सामने प्राणी का अन्धकार मिटा देने वाली भोगों की चमक फीकी है। वह महिमावन्त शान्ति जिसके सामने भोगों की महिमा तुच्छ है। वह मूल्यवान शान्ति जिसके सामने तीन लोक की विभूति भी निर्मूल्य है। हे देवी! अपना रूप दिखाया है। अब छिपा न लेना। मैं तेरे लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने को तैयार हूं। तेरी ओर निहार कर अब मैं, कभी इस सम्पदा की ओर आंख उठा कर न देखूंगा। हे नाथ! मुझको शान्ति प्रदान कीजिये। कि इस दाहदा जनक सम्पदा की ओर इस भव में तो क्या, आगे किसी भव में भी मैं दृष्टि न उठाऊं। सदा इसे ठुकराता चलूं। इसका अपमान करता चलूं। शान्ति रानी को पाकर कौन ऐसा है जो इस कुल्टा का मुख देखेगा।

क्रियाओं का फल भोगादि प्राप्त हो जाने पर उनमें असक्तता हुए विना नहीं रह सकती। और यह वात सर्व सम्पत ही है। वहुत प्रतीक्षा के पश्चात मिली हुई स्त्री में क्या अत्यंत आसक्तता होती नहीं देखी जाती और आसक्तता का फल क्या होना चाहिए, सो सव जानते हैं। देखिये अपनी भूल का विषैला फल। धार्मिक क्रियाओं को भोगाभिलाप के कारण अपने हित रूप मान कर उन क्रियाओं को करने में सन्तोप धारण किया। "मैंने वहुत अच्छा काम किया है। मै वहुत धर्मात्मा हूँ।" ऐसा अभिमान उत्पन्न किया। भोगों की तीव्र इच्छा के कारण संताप उत्पन्न किया। यह दूसरे भव में फल पाया। और तीसरे भव में उस आसक्ति के फल स्वरूप कुगतियों में अनेक दुःख सहे। यह मिला तीसरे भव में उन क्रियाओं का फल और फिर भी उन क्रियाओं को अत्यन्त हित रूप मानता है। खेद है। इसी से ज्ञानी जन उनको अपराध कहते हैं।

८ ज्ञानी व अज्ञानी के पुण्य में अन्तर

उन क्रियाओं को अपराध वता देने से यह तेरे अन्दर में उत्पन्न हुआ क्षोभ ही यह वात दर्शाता है कि उनके प्रति तुझे मिठास वर्तता है। तर्क किया जा सकता है कि ज्ञानी जनों को भी तो उन क्रियाओं में मिठास ही आता है? नहीं! वे क्रियायें करते अवश्य हैं पर उनको इनमें मिठास कभी नहीं आती। मिठास तो स्वयं एक शान्ति में ही आती है और इसलिये उनको धन का निपेध सुन कर क्षोभ नहीं आता। स्वयं अन्तरंग से वह यही भावना उत्पन्न किया करता है कि यह क्रियायें करने की आवश्यकता उसे न पड़े। फिर तेरी मिठास और उनकी मिठास में अन्तर भी तो महान है। तेरी मिठास तो अपनी शान्ति से अपरिचित रहने के कारण केवल तेरे उन चार जाति के भोगाभिलाप सम्वन्धी अभिप्राय में से निकल रही है। जिनके सम्वन्ध में कल वताया गया था। और उसकी मिठास पांचवी जाति की शान्ति सम्वन्धी अभिलापा में से निकल रही है। जिसमें केवल शान्ति की अपेक्षा है अन्य किसी वात की नहीं है। उन क्रियाओं में तुझे तो तन्मयता सी दीखती है, उसका आधार तो वह मधुर, सुर, ताल, लय, मजीरे, ढोलक आदि हैं, जिनके द्वारा भक्ति करने को तू वहुत महत्ता देता है और उसकी तन्मयता का आधार अपनी वह शान्ति है, जो कि उसे उस समय भगवान की शान्ति को देख कर याद आ जाती है और अपने अन्दर जिसका प्रत्यक्ष वेदन करने लगता है। तू इन क्रियाओं को करते हुए उन्हें हित रूप समझता है, और इन क्रियाओं सम्वन्धी अपने पुरुपार्थ को हित रूप समझता है, इनके प्रति अपने झुकाव को हित रूप समझता है। और वह इन क्रियाओं को करते हुये भी इन्हें हित रूप नहीं समझता, इन क्रियाओं की इच्छा को हित रूप नहीं समझता, इन क्रियाओं सम्वन्धी अपने पुरुपार्थ को हित रूप नहीं समझता, तथा उनके प्रति अन्तरंग में उसे कभी झुकाव उत्पन्न नहीं होता। उसका सच्चा झुकाव है तो केवल शान्ति के वेदन के लिये।

अभिप्रायों में महान अन्तर होने से उनके फलों में भी महान अन्तर पड़ जाता है। फल तो दोनों को ही यद्यपि भोग सम्पदा मिलता है, परन्तु तुझको कदाचित जितनी मिल पाती है उससे हजारों गुणी उसे मिल जाती है। तू उस सम्पदा में उलझ जाता है, क्योंकि क्रियायें करते हुये उसी की अभिलापा मन में वैठी हुई थी और वह उसे प्राप्त करके भी उससे उदासीन वना रहता है और समय पड़ने पर उसे वेधड़क ठुकरा देता है। तू उसमें मिठास लेता है और उसे वह जंजाल भासती है। देव गति को तू अच्छा समझता है और वह तेतीस सागर की कैद, क्योंकि यह मार्ग में न आती तो वह इतने समय पहले ही अपने प्रयोजन को सिद्ध कर चुका होता। तुझे तीसरे भव उसका फल पाप में मिलता है और उसे सदा पुण्य ही पुण्य में। और इसी कारण तेरी वह क्रियायें कही जाती है पापानुवन्धी पुण्य।

देख बाहर में क्रियायें एक होते हुए भी केवल अभिप्रायों के फेर से कितना महान अन्तर पड़ गया है दोनों में। अपने अन्दर में झुक कर ज़रा ग़ौर से देख, वही या उसी जाति के कुछ और अभिप्राय बैठे हुए हैं या नहीं। शान्ति के प्रति का अभिप्राय तो तुझे हो ही नहीं सकता, क्योंकि तेरा हृदय स्वयं कह रहा है कि उसका वेदन हो नहीं पाया है। वह अब भी उसके लिये तड़प रहा है। अतः भाई। क्षोभ को तज कर अन्तर के कुछ अभिप्राय को बदलने का प्रयत्न कर, जिससे कदाचित् उन क्रियाओं की सार्थकता हो जाये। और जैसा कि कहा जाता है यह परम्परा रूप से शान्ति पथ में कुछ सहायक हो जायें। अभिप्राय बदले बिना तो ये परम्परा रूप से भी उसमें सहायक नहीं है।

६ अभिप्राय से विपरीत भी कार्य करने की सम्भावना

यह सुन कर आश्चर्य कर रहा होगा कि भिन्न अभिप्राय रखते हुए भी कार्य कैसे हो सकता है? ठीक है तेरा प्रश्न! आगे भी संयमादि के प्रकरणों में तुझे यही शंका उत्पन्न होगी तथा ज्ञानी गृहस्थ की महिमा का बखान किया जाने पर कि यह भोग भोगते भी वैरागी है, तुझे यह शंका हुए बिना न रहेगी। अतः इस शंका के निवारणार्थ ही यहां यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता हूँ कि ऐसा होना सम्भव है, कि अभिप्राय कुछ और हो और क्रिया कुछ और। अभिप्राय में उसका निषेध वर्तते हुए भी, बाह्य में वह क्रिया करता हुआ दीखता है। अन्तरंग में रस न लेते हुए भी बाहर में कुछ रस लेता हुआ सा प्रतीत होता है।

ले सुन! आगम में भी इस बात का समाधान भरत चक्री सम्बन्धी एक सुन्दर दृष्टान्त देकर किया गया है। यह प्रश्न किसी व्यक्ति के द्वारा किया जाने पर, एक तेल भरा कटोरा उसके हाथ में दिया और आज्ञा की कि सारे नगर में घूम कर आये। पर तेल की एक बूंद भी गिरने न पावे। गिरी तो तत्क्षण सर उड़ा दिया जायेगा। आज्ञा का पालन हुआ। लौट आने पर उस व्यक्ति से पूछा गया कि उसने नगर में क्या क्या देखा, तो क्या बताता बेचारा। तेल और अपना सर या तलवार के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दिया था उसे। नगर में क्या देखता? बस ज्ञानी को भोग भोगते भी कैसे रस आवे? उसे तो दिखाई देता है केवल अपनी शान्ति का लक्ष्य या वर्तमान तुच्छ मात्र विद्यमान शान्ति के वेदन में बाधा पड़ने की सम्भावना।

दूसरा आगम का दृष्टान्त है अर्जुन का। कौवे के नेत्र बींधने को धनुष [illegible] [illegible] अर्जुन खड़ा है। गुरु पूछते हैं कि क्या दिखाई देता है-उसे। जवाब मिला कि कौवे की एक नेत्र पुतली मात्र भी उस समय, जब कि वह उस पुतली में आती है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। क्या उस कौवे का इतना बड़ा शरीर विद्यमान होते हुये भी उसे दिखाई कैसे देता है? उसके लक्ष्य में तो था केवल एक नेत्र। इसी प्रकार पुण्य क्रियाओं में ज्ञानी को मिठास क्यों आवे? उसे तो वर्तमान में या भविष्यत में दिखाई देती है केवल एक शान्ति। लक्ष्य तो लगा है केवल उसी पर। यह है लक्ष्य बिन्दु पर [illegible] की महिमा।

से। परन्तु आप जानो कि कैसा प्रेम है आपको ? मुकदमा जीता कि सब प्रेम हवा में उड़ा। बस ज्ञानी को पता है कि कैसी रुचि है उसे इन धार्मिक क्रियाओं के प्रति। शान्ति मिली कि सब रुचि भागी। वर्तमान की यह झूठी रुचि दिखावटी है। केवल अशुभ बातों में यह विकल्प न चले जायें, इस भय के कारण। उससे विपरीत तेरी रुचि है, उन बच्चों के साथ माता के प्रेम वत हित बुद्धि रख कर।

और भी एक उदाहरण। जिससे सम्भवत: अभिप्राय की अत्यन्त सूक्ष्मता का भी स्पर्श किया जा सके। कल्पना कीजिये कि आपकी आयु ६० वर्ष की हो चुकी है। और सन्तान नहीं हुई। स्त्री ने बहुत इलाज कराये पर निराश रही। निराश होकर अपने भाई का कोई बच्चा रख लिया अपने पास। खूब प्रेम करते थे, इस अभिप्राय से कि दो तीन वर्ष में परच जायेगा। तब गोद ले लेंगे। एक दिन गांव जाते जाते मार्ग में सौभाग्य वश वृक्ष के नीचे बैठे दिखाई दिये एक अवधिज्ञानी दिगम्बर साधू। भक्ति उमड़ी, नमस्कार किया और कह डाली अपने मन की व्यथा। उत्तर मिला कि जाओ एक वर्ष पश्चात पुत्र होगा। सन्तोष हुआ तथा अतीव प्रसन्नता भी। घर आकर स्त्री से बताया। पर बेचारी बिल्कुल निराश हो चुकी थी, कैसे विश्वास करती ? ऊपर से हां हूँ कर दी पर भीतर से यही आवाज़ आती रही कि अरे ! क्या रखा है बच्चा होने को ? स्वामी को तो साधू की भक्ति वश ऐसे ही विश्वास हो गया है। बच्चा होना असम्भव है ?

अब भी उस दत्तक पुत्र पर दोनों का स्नेह बराबर था। परन्तु विचारिये कि स्त्री के व आपके स्नेह में कुछ अन्तर पड़ा कि वैसे ही है ? यद्यपि स्त्री का स्नेह ज्यों का त्यों रहा पर आपके स्नेह में कुछ अन्तर पड़ा। विश्वास जो था कि दो तीन साल पीछे उस बालक को तो चला ही जाना होगा-अपने घर। तीन महीने बीत गये। गर्भ के चिन्ह दिखाई दिये, बताइये कुछ और अन्तर पड़ेगा उस दूसरी स्थिति के प्रेम में ? अवश्य पड़ेगा, आपका प्रेम कुछ पहले की अपेक्षा भी कम हो जायेगा, और स्त्री के प्रेम में भी कुछ अन्तर पड़ जायेगा। अब चौथी स्थिति। बालक पैदा हो गया। क्या कुछ अन्तर पड़ा तीसरी स्थिति के प्रेम में ? अवश्य पड़ा, और सम्भवत: अब तो उस दत्तक पुत्र पर भी वह अन्तर कुछ कुछ प्रगट सा होने लगा। कभी कभी धमकाने की भी नौबत आने लगी। अब बालक हो गया दो वर्ष का। बताइये अब भी प्रेम रहा उस पहले बालक पर ? नहीं, अब तो कुछ वह भार दीखने लगा। यद्यपि शर्म व लिहाज़ के कारण स्वयं बालक को विदा न किया, पर यह इच्छा अवश्य रही कि जितनी जल्दी चला जाये अच्छा है।

देखिये, विश्वास में अन्तर पड़ते ही प्रेम में अन्तर पड़ गया। पहली दो स्थितियों में वह अन्तर सूक्ष्म रहा, बाहर प्रगट न होने पाया। और आगे की स्थितियों में उत्तरोत्तर स्थूल हो आया। अब बाहर भी उसके चिन्ह दिखाई देने लगे। इस उदाहरण पर से यह बात भली भांति जानी जा सकती है कि अभिप्राय बदल जाने पर किस क्रम से क्रिया में धीरे धीरे अन्तर पड़ा करता है, और पहली स्थितियों में अभिप्राय में क्रिया का निषेध होते हुए भी क्रिया बराबर होती रहती है।

और भी एक सुन्दर व स्पष्ट उदाहरण है। एक किसान खेती करता है और एक कैदी भी। दोनों ही दत्त चित्त से काम में जुटे हुये दिखाई देते हैं। दोनों ही खेती को फूली देख कर प्रसन्न चित्त दिखाई देते हैं। क्रिया दोनों से हो रही है। पर क्या अभिप्राय दोनों का समान है ? किसान हित बुद्धि से खेती करता है और कैदी दण्ड समझ कर। किसान की तन्मयता हित बुद्धि के कारण ध्रुव है

और कैदी की क्षणिक । आज छुट्टी मिले तो चाहे खेती में आग लगे, उसकी बला से । खेती के लिये जेल में रहने को तैयार नहीं । परन्तु किसान को मृत्यु शय्या पर पड़े हुए भी सम्भवतः यही विचार हो कि कहीं खेती में गाय न घुस गई हो । किसान की प्रसन्नता उसके फल को भोगने के लिये है, और कैदी की प्रसन्नता केवल अपने परिश्रम के फल के कारण है । भोक्तापने से निरपेक्ष । किसान की खेती है अभिप्राय के अनुकूल और कैदी की खेती है अभिप्राय के प्रतिकूल ।

बस इसी प्रकार तेरी धार्मिक क्रियायें हैं अभिप्राय के अनुकूल, हित बुद्धि पूर्वक, उनमें मिठास लेते हुये । और ज्ञानी की क्रियायें हैं, अभिप्राय से प्रतिकूल, अहित बुद्धि रख कर, उनमें कुछ कड़वास लेते हुए । महान अन्तर है । आकाश पाताल का अन्तर । धान्य कूटते समय देखने वाले को क्या पता कि यह धान्य कूटता है या तुष ? औखली में ऊपर तो तुष ही दिखाई देता है । इसी प्रकार ज्ञानी को पूजादि करते देख कर तू क्या समझे कि यह भगवान की पूजा करता है या अपनी शान्ति की । ऊपर से तो भगवान की ही पूजा करता है । देखम देखी वह देखने वाला अपने घर जाकर तुष कूटने लगे तो क्या निकलेगा उसके परिश्रम का फल ? यद्यपि परिश्रम तो उतना ही करना पड़ेगा, जितना की धान्य कूटने वाले को । उसी प्रकार ज्ञानी की देखम देखी तू भी पूजादि करने लगे तो क्या निकलेगा उस परिश्रम का फल ? यद्यपि परिश्रम तो उतना ही करना पड़ेगा जितना कि ज्ञानी को ।

१८

—: शुभ आस्रव समर्थन :—

दिनांक २६ जुलाई १९५९
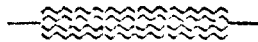
प्रवचन नं० २५

१—शुभ क्रिया को त्यागने का निषेध, २—मन को कहीं न कहीं उलझाने का आदेश, ३—चार कोटि की क्रियायें, ४—मन की क्रिया सम्बन्धी तीन सिद्धान्त, ५—चार क्रियाओं में हेयोपादेयता।

१ शुभ क्रिया को त्यागने का निषेध

धार्मिक क्रियाओं को अपराध बताया जा रहा है। तेरी व ज्ञानी की उन क्रियाओं सम्बन्धी अन्तरंग अभिप्राय में क्या अन्तर पड़ा यह बात कल दर्शाई गई। इन क्रियाओं को अपराध कहता सुन कर उपजा क्षोभ यद्यपि शान्त हो चुका है पर उसका स्थान एक संशय ने ले लिया है। उसका स्पष्टीकरण ही आज किया जायेगा।

तो क्या इन शुभ क्रियाओं को दोष दें? यदि यह बात है तो बड़ा ही अच्छा हुआ। आज तक भूल कर व्यर्थ ही समय गंवाता रहा। दुकान का भी व्यर्थ ही हर्ज करता रहा। यह रहस्य खोल कर तथा मुझे जगा कर बड़ा उपकार किया है आपने। आज से मन्दिर में न जाऊंगा। बेकार ही लोग धन बरबाद करते हैं-मन्दिर आदि बनवा कर या प्रतिमा स्थापित करवा कर। इत्यादि अनेकों विकल्प उठ रहे होंगे आज आपके मन में।

नहीं भाई ऐसा नहीं है। सम्भल! देख कहां जा रहा है तू। तेरे इस प्रवाह के रोकने के लिये ही तो ज्ञानी जनों ने यह क्रियायें तेरे लिये अच्छी बताई हैं। धन्य है उनकी करुणा बुद्धि, जिसमें ज्ञानी कि अज्ञानी सबको बराबर का स्थान प्राप्त है। ज्ञानी जन पागल नहीं थे भाई! कि तेरे ऊपर कोई व्यर्थ का साम्प्रदायिक भार लाद देते। उनके उपदेश में सर्व जन कल्याण के अतिरिक्त कुछ अन्य अभिप्राय नहीं होता। प्रभु! विचार कर, अपने हित अहित को पहिचान। कुछ तो बुद्धि लगा। केवल दूसरों के संकेत पर मत चल। तुझे ज्ञानी बनने के लिए बताया जा रहा है। मूढता त्यागने के लिए कहा जा रहा है। परन्तु हर बात का उल्टा ही अर्थ ले तो कहने वाले का क्या दोष? उन क्रियाओं को करने के लिये कहा जाये तो, "वह मुझे सुख प्रदान करने वाली है" ऐसा मान कर उनको ही हित रूप समझ जाता है। अभिप्राय को बदलने के लिये कहा जाये तो उन क्रियाओं को ही छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है। दोनों प्रकार मुश्किल है। किस प्रकार समझायें? ऐसे कहें तो भी नीचे की ओर जाता है और वैसे कहे तो भी नीचे की ही ओर जाता है। नीचे की ओर जाने को नहीं कहा जा रहा है भगवन! ऊपर उठने को कहा जा रहा है। दोनों ही प्रकार से नीचे ही जाने का प्रयत्न क्यों करता है? ऊपर उठने का प्रयत्न कर।

ज़रा विचार तो सही कि इन क्रियाओं को छोड़ कर यह समय कौन कार्य में वितायेगा ? दुकान आदि के धन्धों में ? तो लाभ क्या हुआ ? कुछ हानि ही हुई। पुण्य की बजाए पाप ही हुआ। धर्म अर्थात् शान्ति न हुई। पाप में धकेलने के लिये तो अपराध नहीं बताया जा रहा है-इन क्रियाओं को। धर्म में ले जाने के लिये बताया जा रहा है। जिससे कि तेरी दृष्टि पाप व पुण्य से अतीत किसी तीसरी बात पर जा सके, जो तेरे लिये साक्षात् हितकारी है। जिसे तू आज तक भूला हुआ है। दुकान आदि के धन्धे में न जाकर यदि शान्ति में स्थिति पाने सम्बन्धी पुरुषार्थ करना अभीष्ट है-इस समय में, तो इससे अच्छी बात ही क्या है ? अवश्य इन क्रियाओं को त्याग दे। शीघ्र त्याग दे। और शान्ति का वेदन करने में निश्चलता धार।

२ मन को कहीं न कहीं उलझाने का आदेश

देख सिद्धान्त घटित करते हैं। पहली बात तो यह है कि कोई भी समय ऐसा नहीं कि तू बिना कुछ काम किये रह रहा हो। दुकान का काम, कहीं जाने का काम, कुछ उठाने धरने के काम इत्यादिक अनेक कार्यों के अतिरिक्त यदि खाली भी बैठा है तो कुछ न कुछ विचारने का काम तो हर समय किया ही करता है। और किसी काम से, फुरसत मिल जावे तो मिल जाये पर विचार धाराओं से तो अवकाश पाना कठिन है। विचार वह राक्षस है जो हर समय तुझ से काम मांगता है। इसे काम में लगा दे तो लगा दे नहीं तो वह स्वयं तुझे अपने काम में लगा देगा।

हात्तम ताई की एक पिक्चर आई थी। उसमें था यह सीन। मन्त्रों द्वारा अपने कार्य की सिद्धि के अर्थ वश किया एक राक्षस अपने स्वामी से कहता है कि "काम दो नहीं तो तुझे खा जाऊंगा।" यह काम बताया, वह काम बताया आखिर कब तक ? इतने काम थे ही कहां, कि एक समय के लिये भी खाली न रहने पावे ? विचारा कि यह तो अच्छी बला मोल ले ली। अच्छाई के लिए सिद्ध किया था उसे परन्तु गले ही पड़ गया। वह अब छोड़े से भी तो नहीं छूटता। विचार विचार कर एक उपाय सूझा। ठीक है ? आओ काम बताता हूँ। एक ज़ीना बनाओ। उस पर उतरो और चढ़ो। वह टूट जाए तो फिर बनाओ। फिर उतरो फिर चढ़ो। और बराबर इसी भांति करते रहो जब तक कि मैं तुम्हें न बुलाऊं। अब तो सब राक्षसी हवा हो गई। खाली न रहने पाया, स्वामी तो भय से मुक्त हो गया।

इसी प्रकार तू भगवान आत्मा। उपयोग तेरा सेवक। परन्तु यह ऐसा सेवक जो हर समय काम मांगता है। एक क्षण को भी खाली नहीं रह सकता। काम न दें तो विकल्प जालों में उलझा कर ऐसा धकका दे तुझे, कि धरातल पर आकर तड़पने लगे। तो भाई ! इस उपयोग राक्षस को किसी न किसी काम में उलझाये रखना ही श्रेय है। भले निष्प्रयोजन क्यों न हो।

रूप दूसरी क्रिया को पापानुबन्धी पुण्य रूप शुभ क्रिया कहते हैं। शुभ के द्वितीय भेद रूप तीसरी क्रिया को पुण्यानुबन्धी रूप शुभ क्रिया कहते हैं। और चौथी क्रिया शुद्ध क्रिया कहलाती है।

इन चार क्रियाओं में एक समय में एक ही क्रिया की जानी शक्य है दो नहीं। अर्थात् मन में एक क्रिया सम्बन्धी विचार उठ सकते हैं ? एक समय में दो क्रिया सम्बन्धी नहीं। ऐसा तो हो सकना सम्भव है कि वचन व काय किसी दूसरी क्रिया को करते हों और मन किसी दूसरी क्रिया को, जैसा कि प्रति दिन अनुभव करते हैं। काय या वचन से तो भगवान की पूजादि कार्य करते हों और मन बाज़ार में घूमता हो। परन्तु यह नहीं हो सकता कि मन ही भगवान की पूजा सम्बन्धी विचार कर रहा हो और उसी समय बाज़ार में भी घूमता हो। जैसे कि ध्यान पूर्वक यह प्रवचन सुनते हुए आपको क्लाक की टन-टन भी सुनाई नहीं देती। अपनी चंचलता के कारण यह बड़ी द्रुतगति से गमन कर सकता है। अर्थात् अभी गृहस्थ सम्बन्धी विचार कर रहा हो और अगले ही क्षण मोक्ष व शान्ति सम्बन्धी। इन दो विचारों के बीच का अन्तराल कभी अधिक भी हो जाता है और कभी कम भी। अधिक अन्तराल होने पर तो हमें यह जान पड़ता है कि एक समय में एक ही कार्य हुआ और दूसरा कार्य कुछ देर पश्चात् दूसरे समय में हुआ है। परन्तु अल्प अन्तराल होने पर हमें ऐसा सा लगने लगता है कि दो काम एक दम हो रहे हैं। जैसे कि यह प्रवचन सुनने सुनते भी इस क्लाक की टन टन आप कदाचित सुन लेते हो।

यद्यपि मन-वचन व काय इन तीनों की क्रियाओं में स्वतन्त्रता देखने को मिलती है। परन्तु यह सब क्रियायें उपयोग या बुद्धि पूर्वक नहीं हुआ करती। स्वतः सब चला करती हैं। बुद्धि पूर्वक की मन-वचन व काय की क्रियाओं में भेद नहीं हुआ करता। मन या बुद्धि पूर्वक विचारा जाना, उसी दिशा में शरीर से गमन किया जाना, उसी के मकान पर ही जाकर रुका जाना, और उसी व्यक्ति विशेष से वही बातें करी जानी। और इसी प्रकार मन की विचारनाओं के ऊपर भी शारीरिक व मानसिक क्रियाओं का प्रभाव बराबर पड़ा करता है। क्रिया ठीक चल रही है यह देखने को मन स्वतः लौटा करता है। मन-वचन व काय इन तीनों की उपरोक्त प्रवृतियों से सब परिचित हैं। केवल विश्लेषण न कर पाने के कारण हमें उनके क्रम का पता नहीं चलता।

४ मन की क्रिया सम्बन्धी तीन सिद्धान्त

१—मन को हर समय कुछ न कुछ विचारने को चाहिये। यह खाली नहीं रह सकता।
२—मन एक समय में एक ही विचार कर सकता है।
३—बुद्धि पूर्वक की गई शरीर व मन की क्रियाओं से मन भी उसी ओर आकर्पित हो जाता है।

५ चारों क्रियाओं में हेयोपादेय

उपरोक्त सिद्धान्त पर से यह स्पष्ट हो गया कि मन को किसी एक क्रिया विशेष में जुटा देने पर वह उस समय दूसरी क्रिया न कर सकेगा, और शरीर व वचन की सहायता से उसको कुछ देर कदाचित वहां ही अटकाये रखा जा सकता है। अब यह विचारना है कि कौन सी क्रिया में जुटाना अधिक श्रेयस्कर है। हमारे पास चार क्रियायें हैं। पाप, पापानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पुण्य व शुद्ध क्रिया, इन चारों में कौन क्रिया हित रूप है और कौन किया अहित रूप इसका तोल हमें शान्ति की तुला से करना है। जिसमें सर्वथा अशान्ति है वह सर्वथा हेय है। जिसमें अधिक अशान्ति है वह अधिक हेय है। जिसमें कुछ शान्ति है वह कुछ हेय है। तथा जिसमें सर्वथा शान्ति है वह सर्वथा उपादेय है। उपरोक्त चारों क्रियाओं का तोल करने से, इसमें तो कोई संशय है ही नहीं कि पहली पाप और चौथी

इस सारे प्रकरण में पाप के अतिरिक्त दोनों शुभ क्रियाओं को भी सर्वथा व कथञ्चित् अपराध रूप बताया गया था। सो सिद्ध कर दिया गया। परन्तु इसका तात्पर्य उन शुभ क्रियाओं का जीवन में से सर्वथा निषेध कराना नहीं है बल्कि अभिप्राय बदलवाने का है। उन क्रियाओं में जो "बहुत अच्छी हैं, हित रूप हैं", ऐसा मिठास वर्तता है, उसे छुड़ाने का तत्पर्य है। ऐसा अभिप्राय तो सर्वथा हेय ही है। परन्तु अभिप्राय के हेय हो जाने पर, वह क्रियायें एक दम छोड़ दी जायें, ऐसा नहीं हुआ करता, जैसा कि पहले दृष्टान्त द्वारा समझा दिया गया है। अब प्रश्न होता है यह कि अभिप्राय बदल जाने के पश्चात् क्रिया कौन सी करें? क्योंकि कुछ करना तो पड़ेगा ही। निष्क्रिय तो रह नहीं सकता। इस प्रश्न का उत्तर लेने के लिये हमें उपरोक्त चारों क्रियाओं में से छाँट करनी है। परन्तु जिसमें चारों प्रकार की क्रिया करने की शक्ति न हो वह कितने में से छाँट करेगा? उतने में ही से तो करेगा जितनी की वह कर सकता है। ज्ञानी जीव जिन्होंने तुच्छ मात्र भी शान्ति का वेदन कर लिया है वे तो चारों क्रियायें कर सकते हैं। इसलिये उन्हें तो चारों में से छांट करनी है। और वे व्यक्ति जिन्होंने तुच्छ मात्र भी शान्ति का परिचय प्राप्त नहीं किया है, केवल पहली दो क्रियायें ही कर सकते हैं। अगली दो उनके पास हैं ही नहीं, क्या करे? यद्यपि अभिप्राय से भोगाभिलाष जाती रही है, परन्तु शान्ति के वेदन रहित होने से इनका समावेश तीसरी क्रिया में नहीं किया जा सकता। इसलिये उन्हें केवल पहली दो क्रियाओं में से छांट करनी है।

विषय स्पष्ट हो गया। ज्ञानी व्यक्ति तो चौथी क्रिया करने का ही भरसक प्रयत्न करेगा, परन्तु वहाँ भी अन्य भूमिका में शक्ति की हीनता वश अधिक समय न टिका रह सके तो, शेष समय तीसरी क्रिया में बिताने का प्रयत्न करेगा। दूसरी क्रिया तो उससे होगी ही नहीं। क्योंकि शुभ क्रियाओं में उसकी प्रवृति तीसरी कोटि में चली जायेगी। और गृहस्थ दशा में, करने का अभिप्राय न होते हुए भी, पूर्व संस्कार वश यदि कदाचित् पहली क्रिया हुई भी उसके प्रति बहुत अधिक निन्दन ग्रहण करेगा? परन्तु अज्ञानी जीव अभिप्राय बदल जाने पर और शांति की जिज्ञासा जागृत हो जाने पर दूसरी क्रिया को ही करने का भरसक प्रयत्न करेगा। तीसरी क्रिया की कोटि में प्रवेश पाने का भी भरसक प्रयत्न करेगा, पहली क्रिया करने का स्वयं प्रयत्न न करेगा, परन्तु यदि संस्कार वश हो ही गई तो उसके लिये अपनी निन्दा करेगा।

बताइये अब कहां रहा विरोध को अवकाश? परन्तु अपराध रूप तो वे क्रियायें रही ही रही। सिद्धान्त तीन काल में बाधित हो नहीं सकता।

१९
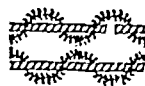
—: वन्ध तत्व :—

दिनांक २० जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २७

१—वन्धन शरीरादिक की दासता, २—तीन दृष्टान्तों द्वारा भूल प्रदर्शन, ३—भूल के प्रेरक संस्कार, ४—संस्कारों का निर्माण क्रम ।

१ वन्धन शरीरादिक की दासता

स्वतन्त्रता की उपासना के द्वारा सम्पूर्ण वन्धनों का विच्छेद करके पूर्ण स्वतन्त्रता सहित निज चैतन्य देश में शान्ति रानी के संग विलास करने वाले पर-ब्रह्म अनन्तों-सिद्ध भगवन्तो ! मुझे भी शक्ति प्रदान करें, कि आपकी भांति मैं भी इन वन्धनों का विच्छेद करके, निज साम्राज्य का भोग कर सकूं । परन्तु वन्धन क्या है बात तो पहले जाननी पड़ेगी । क्या किसी ने बेड़ी डाली है पाओं में, या वन्द किया है जेलखाने में ? कुछ भी तो ऐसी बात दिखाई नहीं देती ? फिर भी वन्धन क्या ?

ऐसा नहीं है भाई ! यह वन्धन बेड़ियों रूप नहीं है, पर बेड़ियों से भी अधिक दृढ़ है । यह वन्धन जेलखाने रूप नहीं है पर जेलखाने से भी अधिक प्रबल है । जो दो प्रकार से देखा जा सकता है, एक अन्तरंग में और दूसरे बाहर में । यदि मैं स्वयं अन्तरंग में न बन्धू तो बाहर से मुझे बांधने वाली कोई शक्ति नहीं । इस शरीर को अपना मान कर निष्प्रयोजन इसकी सेवा में जुटे रहना, अथवा इसके लिए इष्ट से दीखने वाले धनादि अचेतन पर पदार्थ तथा कुटुम्ब आदि चेतन पर पदार्थों की सेवा में ही जुटे रहना तो यह अन्तरंग वन्धन है, जो स्वयं मैंने अपने पर लिया हुआ है । कुटुम्ब आदि [illegible] बन्धन नहीं । यदि मैं इनकी सेवा न करूं तो कोई शक्ति ऐसी नहीं जो मुझे सेवक बना सके । सेवक बने रहना मेरी अपनी भूल है और मजा यह कि इस भूल में भी मैं आनन्द मनाता हूं । यह मेरी भूल ही अन्दर से मुझे कुछ प्रिय सी, कुछ मधुर सी लगती है ? यदि मेरा कोई अन्तरंग हितैषी मुझे इससे छुड़ाने के लिये इनकी स्वार्थता दर्शाये भी तो मुझे यह भाता नहीं । मैं अन्तरंग से किसी डर से [illegible] हुआ, [illegible] करता अन्तरंग से पुकार अवश्य करता हूं, पर उसकी मानने को तयार नहीं हूं । कितना दृढ़ है यह वन्धन ?

रहने दे क्या माँगता है वेचारा, "कर्म वेचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई ? अग्नि सहे धन घात लोह की संगत पाई।" यदि मैं इन पर-पदार्थों की सेवा स्वयं स्वीकार न करूं तो कोई शक्ति नहीं कि ज़बरदस्ती मुझे सेवा करने को वाध्य करे। इनकी सेवा स्वीकार करने वाला तो मैं हूं। विना किसी वाह्य के दवाव के स्वतंत्र रूप से स्वीकार करता हूँ। और पीछे पुकार करता हूं कि हाय हाय इन कर्मों ने मुझे पकड़ा है। कोई छुड़ाओ कोई छुड़ाओ।

२ दृष्टान्तों द्वारा भूल प्रदर्शन

अरे ! कैसी मूर्खता है ? वृक्ष की कौली भर कर यदि मैं आते जाते पथिकों से यह पुकार करूं कि भाई ! मेरी सहायता करो। देखो इस वृक्ष ने मुझे पकड़ा है, इससे मुझे छुड़ाओ तो, कितनी मूर्खता होगी ? मैं नित्य अन्य को उपदेश देता हूँ। तोते का दृष्टांत सुना सुना कर, मानो जगत को रिझाता हूँ। शिकारी के द्वारा लटकाई गई नलकी पर वैठा तोता, नलकी घूम जाने के कारण जव स्वयं उतरने लगता है तो यह जान कर कि अरे ! मैं तो नीचे गिरा नलकी को और दृढ़ पकड़ लेता है, और उस पर उल्टा लटका रहता है। परन्तु विचारता यह रहता है कि नलकी ने मुझे पकड़ लिया है। पर फड़-फड़ाता है उड़ने के लिये, पर पाँवों को न छोड़े तो कैसे उड़े ? "वस नलकी ने मुझे पकड़ लिया है हाय कोई छुड़ाओ" वही दशा तो मेरी है। स्वयं दासता स्वीकार करके, हाय इस दासता से मुझे छुड़ाओ। कितनी हंसी की वात है ?

देखो वन्दर की मूर्खता शिकारी के द्वारा पृथ्वी में आधी गाड़ी गई चनों से भरी हंडियाँ में, चनों के लालच वश हाथ डाले स्वयं, चनों की मुट्ठी भरे स्वयं और वन्द मुठ्ठी हंडियां के मुंह में से न निकल सके तो पुकार करे, हाय हाय, हंडियां ने मुझे पकड़ लिया कोई छुड़ाओ कोई छुड़ाओ। यदि उस समय उसको यह कहा जाये कि भाई ! मुठ्ठी को खोल दो, छुटा हो तो पड़ा है, तो मुठ्ठी खोलने के लिये कभी तैयार नहीं। भले शिकारी पकड़ ले। किसने पकड़ा है उसको ? हंडियां ने या उसके लालच ने ? हंडियां वेचारी का क्या दोष ? अव छोड़े और भाग जाये। पड़ी रहेगी वेचारी। वह कव उसे पकड़ने को वृक्ष पर चढ़ेगी ? वन्दर की मूर्खता पर आज मैं हंस रहा हूं, पर खेद है कि अपनी मूर्खता मुझे दिखाई नहीं देती। शरीर, धन व कुटुम्वादि की सेवा स्वयं स्वीकार करके कोस रहा हूँ कर्मों को। हाय इन कर्मों ने मुझे पकड़ा। देखो निष्कारण कनकान कर रहे हैं। अरे प्रभो ! किसने पकड़ा है तुझे ? विचार तो सही। सेवा चाकरी छोड़। कौन रोकता है तुझे ? यह वेचारा जड़ कर्म तो विल्कुल निरापराध हैं। यह कव पकड़ते हैं तुझे ? तू स्वयं ही इनको वुला वुला कर पकड़ लेता है इन्हें। अपराध मेरा और गले मंढूं कर्मों के। कैसे मज़े की वात है ?

भाई ! तुझे कल्याण चाहिये, हित चाहिये, सुख चाहिये, शान्ति चाहिये, तो वाहर में इन की ओर न देख। देख अपनी ओर, अपनी प्रभुता की ओर। तू तो पहले ही से कल्याण रूप पड़ा है। तू तो अव भी शान्ति का भन्डार ही हैं। किसने छीना है उसे ? कुछ भी तो नहीं विगड़ा है तेरा। अपनी शांति को सेवा चाकरी में खोजने जाता है, वस इस कल्पना ही ने तो पकड़ा है तुझे। यही वह वन्धन है जो महात्माओं ने तोड़ दिये हैं। तू भी तोड़ दे तो वैसा ही तो है। सिद्ध प्रभु व तुझमें तनिक भी तो भेद नहीं ? काहे दुहाई देता हैं उनके द्वार पर, कि तुझे शांति प्रदान करें। तू सर्व समर्थ है, शक्ति का पुंज।

हाथ यकायक बढ़ता है पैन्सिल की ओर। पर यह क्या ? "अरे ! नहीं नहीं यह ठीक नहीं है। यदि किसी ने देख लिया तो ? मार पड़ेगी बुरी तरह। और वह बेचारा साथी तो रोयेगा। नहीं नहीं मत उठा।" हृदय में बुरी तरह कांपता हुआ सा। पुनः चौकन्नी सी दृष्टि चहूँ ओर। और साहस बटोर कर उठा ही लेता है-उस पैन्सिल को-हृदय की कम्पन को दवाने का प्रयत्न करता हुआ। घर जाकर प्रसन्न होता है उस पैसिन्ल को देख देख कर। अरे दो पैसे की होगी। कितनी सुन्दर है ? चलो आज तो दो पैसे कमाये।

और अगले दिन वही दृष्टि पड़ी पुस्तक पर। चौकन्नी सी आंखें घूमने लगी यकायक चारों ओर। हृदय में कम्पन, हाथ भी कुछ कांपे कांपे से, परन्तु न तो था आज कल जितना विस्मय, न था कल जितना भय, न था कल जितना कम्पन, न थी कल जितनी ग्लानि। किताव उठाई और वस्ते में डाल दी। घर जाकर किताव को उलट-पलट कर देखा। विल्कुल नई है। वाह,वाह ! कितना अच्छा हुआ ? अव तुझे किताव खरीदनी न पड़ेगी।

तीसरे दिन उसी प्रकार दवात, और फिर चौथे पांचवें दिन अन्य-अन्य वस्तुयें। पर आगे को हीन-हीन विस्मय, हीन-हीन भय, और हीन-हीन कम्पन, हीन-हीन ग्लानि। इनके साथ-साथ धीरे-धीरे साहस में वृद्धि। और आज वही है साहसी निर्भीक डाकू। जिसके अन्दर न है विस्मय, न है भय, न है कम्पन, न है ग्लानि। वस वन गया संस्कार, एक पुष्ट और प्रवल डाके डालने का। पहली दूसरी आदि स्थितियों में ही रोकता तो रुक जाता, पर आज उसे कितना भी दण्ड मिले, वह संस्कार रुकने वाला नहीं। पहले दिन जिस संस्कार का आरम्भ कांपते हुये हृदय से हुआ था आज वह उसे प्रेरणा करता है-साहस देता है-वड़े वड़े डाके डालने का।

इसी प्रकार किसी मित्र की प्रेरणा से पहले दिन घृणा बुद्धि से, कांपते हुये हृदय के साथ, शराव की एक घूंट मात्र पी लेने वाले उस व्यक्ति को, आज शराव के विना चैन नहीं। पहले दूसरों के पैसे से पीनी प्रारम्भ करने वाला, आज अपनी लहू पसीने की कमाई को भी शराव के लिये फूंक रहा है। कौन शक्ति है ? कौन प्रेरणा है ? वही संस्कार की शक्ति, वही संस्कार की प्रेरणा, जिसे उपरोक्त क्रम से स्वयं उसने पुष्ट किया है।

वस वन गया संस्कार निर्माण का सिद्धान्त। कोई भी व्यक्ति कभी एक नया अपराध करता है। तव संस्कार की रूप रेखा मात्र सी अन्दर में वन जाती है, जो उसे पुनः वह अपराध करने के लिये वल प्रदान करती है-तथा उसके भय को हटाती है। उससे प्रेरित हुआ पुनः उसी जाति का अपराध करता है। उस संस्कार को पुष्टि हो जाती है। वह पुष्ट संस्कार और अधिक प्रेरणा व वल देता है। पुनः उस जाति का अपराध दोहराता है। पुनः संस्कार की पुष्टि हो जाती है। और इसी प्रकार पुनः पुनः नया नया अपराध या आस्रव और तत्फल स्वरूप और संस्कारों की पुष्टि, या पूर्व-पूर्व संस्कार में नई-नई शक्ति का वन्ध। और इसी प्रकार आगे जाकर वन वैठता है वह एक प्रवल संस्कार, एक आदत एक Instinct। जिसको अव यदि दवाना भी चाहूँगा तो कुछ असम्भव सा प्रतीत होगा।

इसी प्रकार मैं अनादि से कुछ नये-नये अपराध या आस्रव करता चला आ रहा हूँ। जिस जिस जाति के अपराध करता हूँ उस उस जाति के अपराध पहले भी किये थे। अतः उस उस जाति के

संस्कार अन्तरंग में पहले से ही पड़े हैं। अब का किया नया अपराध मिल जाता है अपनी जाति के पूर्व संस्कार के साथ-और पुष्ट कर देता है-उसे ! इसी प्रकार सर्व ही पूर्व संस्कारों का बराबर सींचन करता चला आ रहा हूँ। बराबर आस्रव तत्व के द्वारा उनका पोषण करता चला आ रहा हूँ। बराबर उन्हें वेतन देता चला आ रहा हूँ। यह है वास्तव में मेरा बन्धन अर्थात् बन्ध तत्व। इसकी प्रेरणा से करता हूँ मैं नित्य नये नये अपराध ? इसकी प्रेरणा से ही स्वीकार की है मैंने शरीरादिक की दासता।

यदि आज इस दासता को छोड़ कर नये नये अपराध करना बन्द कर दूं तो इन संस्कारों को आहार कहां से मिलेगा ? वेतन कौन देगा ? स्वयं सूख जायेंगे बेचारे। या भूखे मरते छोड़ जायेंगे मुझे। कोई दूसरा द्वार जा खट खटायेंगे। अतः भाई यदि स्वतन्त्रता चाहिये तो कर्मों को कोसने से कुछ न बनेगा। न ही प्रभु से भिक्षा माँगने से काम चलेगा। जिस प्रकार रस ले लेकर संस्कारों का निर्माण किया है उसी प्रकार रस ले लेकर इन्हें तोड़ने से काम चलेगा। स्वतन्त्र रूप से तूने ही इनका निर्माण किया है, और स्वतन्त्र रूप से तू ही इन्हें काट सकता है। कैसे ? सो अगले प्रवचन में आ जायेगा।
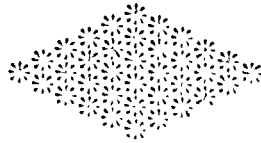
VI संवर निर्जरा

[गृहस्थ सम्बन्धी]

२०

—: संवर सामान्य :—

दिनांक २१ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २८

१—जीवन में उतारने की प्रेरणा, २—क्रियाओं में अभिप्राय की मुख्यता, ३—प्रत्येक क्रिया के अन्तरंग व वाह्य दो अंश।

भव संतप्त इस पथिक को शान्ति प्रदान कीजिये नाथ ! आपकी शरण में आकर क्या इतना भी न मिलेगा ? सुनते आये हैं कि अपने आश्रित को आप अपने समान कर लिया करते हो। अनेकों अधम उधारे हैं-आपने। मैं भी तो एक अधम हूँ। मुझ पर भी कृपा कीजिये प्रभु ! शान्ति मांगता हूँ और कुछ नहीं। धन सम्पत्ति नहीं माँगने आया हूँ। और वह आपके पास है ही कहां जो कि दे देते ? वही वस्तु तो दी जा सकती है जो कि उसके पास हो। आपके पास है शान्ति का अटूट भण्डार। मुझे भी दीजिये नाथ ! थोड़ी सी ही दे दीजिये। इस ही में सन्तोष कर लूंगा। देखिये अपने द्वार से खाली न लौटाइये। मेरा तो कुछ न विगड़ेगा। क्योंकि मैं तो पहले ही रंक हूँ। अब भी रंक रह लूंगा। जगत आपकी ही निंदा करेगा, कि काहे वड़ा, भूखे की झोली में एक मुठ्ठी चावल भी नहीं डालता।

१ जीवन में उतारने की प्रेरणा

नहीं नहीं। ऐसा होना असम्भव है। आपकी शरण में जो आया है वह खाली नहीं लौट सकता। मुझ में लेने की शक्ति होनी चाहिये। आप तो मार्ग दर्शा ही रहे हैं। संवर का मार्ग, अर्थात् सम्यक् प्रकार वरण करने का मार्ग। सम्यक् प्रकार ढक देने का अर्थात् दवा देने का माग। किनको ? आस्रव अधिकार में वताये प्रति क्षण होने वाले नवीन नवीन अपराधों को। उन अपराधों को जो साक्षात् व्याकुलता रूप हैं। अन्तर दाहक हैं। उनके दव जाने का नाम ही तो शान्ति है। अतः यह संवर का मार्ग ही तो शांति का मार्ग है। ले सुन ! सुनने मात्र से काम न चलेगा जीवन में उतारने से काम चलेगा। आज तक जीव अजीवादि तत्वों की रटंत की है। शांति मिले तो कैसे मिले ? अव वैसी वात न समझना। कुछ सूत्र याद करने से कोई लाभ नहीं। उनके रहस्य को जीवन में उतारने से लाभ है। ले तो उसी रहस्य को सूत्रों में नहीं, वड़ी सरल भाषा में, तेरी भाषा में, वड़ा सहल करके धीरे धीरे समझाता हूँ। ध्यान से सुन ! विचार कर ! और आज से ही अपने दैनिक जीवन में उनके अनुसार कुछ परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर।

वे बातें कुछ ऐसी भी नहीं होंगी, जो तू न कर सके। या कुछ कठिन पड़ें। गुरुदेव बड़े उपकारी हैं। छोटे से छोटे, बड़े से बड़े तथा शक्ति हीन व शक्तिशाली सब का उपकार करते हैं। सबको यथा योग्य मार्ग दर्शाते हैं। जो कियायें करने के लिये तुझे कहा जायेगा, वे तेरे ही लिये उपयुक्त हैं। आज तक अनेकों बार सुनी हैं वही क्रियायें, पर बैठी नहीं है ध्यान में। कारण कि कुछ विकट सी, कुछ उलझी हुई सी बना कर बताई गई हैं। साथ साथ व्रतों आदि की कुछ समस्यायें भी मिला दी गई हैं। बीच बीच में मुनियों की चर्चा का भी कथन कर दिया गया है। एक खिचड़ी सी बन गई है। पचे तो कैसे पचे ? डर मत। व्रत धरने को नहीं कहा जायेगा, न कुछ खाना पीना छोड़ने को कहा जायेगा, न घर छोड़ने को कहा जायेगा, फिर भी उनको जीवन में उतारने से साक्षात् शांति का रस तुझे स्वयं आयेगा। किसी से पूछने जाना न होगा। किसी शास्त्र में देख कर निर्णय न करना होगा। कसौटी स्वयं तेरे पास है। थोड़ा करके देखना। ज़रा ही प्रयास करना। कुछ लाभ दिखाई दे, कुछ शांति आवे, तो ग्रहण कर लेना नहीं तो छोड़ देना।

पक्षपात व साम्प्रदायिकता की बात नहीं है। सर्व हित की बात है। कोई भी क्यों न हो। पशु हो या मनुष्य, नारकी हो या देव, ब्राह्मण हो या शूद्र, जो करे सो पावे। जीवन में उतारने का नाम करना है, ऊपर ऊपर की कुछ दिखावे की या शरीर को तोड़ने मरोड़ने की या पदार्थों विशेष को इधर से उधर धरने की, ऐसी क्रियाओं का नाम नहीं है। अहो ! करुणा सागर गुरुदेव ! कितना सहज बना दिया है मार्ग ? हर किसी को अवकाश प्रदान कर दिया है। मानो सर्व समानता की बिगुल ही बजाई है। आपके शासन में ब्राह्मण आदि को ऊंचा व शूद्र को नीचा दर्जा प्राप्त हो ऐसा भेद है ही नहीं। और वास्तव में आपके शासन में शूद्र नाम का शब्द ही नहीं है।

जिस मार्ग की नींव में ही द्वेष डाला गया हो, ब्राह्मण व शूद्र में द्वेष उत्पन्न कर दिया गया हो, शूद्र के पानी का त्याग कराया जाता हो, उस मार्ग को साम्यता का मार्ग होने का दावा किया जाये, आश्चर्य है। द्वेष व साम्यता दोनों कैसे इकट्ठे रह सकेंगे ? शांति प्राप्त हो तो कैसे हो ? मूल में ही भूल है, फल कैसे लगे ? भगवन समझ ! स्व पर भेद विज्ञान प्राप्त करके, इस भूल का विनाश कर। और फिर साम्य रस में भीगी उस गुरुदेव की वाणी को सुन।

होना चाहिये था, अर्थात् शान्ति। इसलिए ऐसा कहने में आता है कि जितना अधिक धर्म करने वाले व्यक्ति हैं उतने ही अधिक दुःखी हैं। यह बात झूठी भी नहीं है। वास्तव में ऊपर से देखने से ऐसा ही दिखाई दे रहा है। उसका कारण यह है कि या तो वह क्रियायें मिथ्या अभिप्राय पूर्वक की जा रही हैं, अर्थात् आस्रव प्रकरण में बताये दूसरे अभिप्राय पूर्वक की जा रही हैं, या केवल कुल परम्परा से बिना समझे ही की जा रही हैं ? सच्चे अभिप्राय पूर्वक अर्थात् आस्रव प्रकरण में बताये गये तीसरी कोटि के अभिप्राय पूर्वक इन क्रियाओं को करने वाला तीन काल में भी कभी दुःखी रह नहीं सकता। ऐसा दावे के साथ कहा जा सकता है। अतः प्रत्येक क्रिया की परीक्षा अपने अभिप्राय से करते हुये चलना है। अभिप्राय पर ही जोर है। वही मुख्य है। क्रिया की इतनी महत्ता नहीं जितनी उसकी है। अतः अभिप्राय को पढ़ने का अभ्यास करना चाहिये। स्थल-स्थल पर दृष्टान्तों आदि के द्वारा अभिप्राय पढ़ने का उपाय भी बताता जाता रहेगा। उसे पढ़ कर गुण दोष खोजना, दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना। तभी वह क्रियायें सच्ची कहला सकती हैं।

एक उदाहरण देता हूँ। एक किसी साधू को स्वर्ण बनाने की रसायनिक विद्या आती थी। एक गृहस्थ को पता चल गया। विद्या लेने की धुन को लिये, वह उस साधू की सेवा करने लगा। दो वर्ष बीत गये। बहुत सेवा की। साधू ने प्रसन्न होकर उसे विद्या दे दी। अर्थात् वह कापी जिसमें वह उपाय लिखा था उसे दे दी। प्रसन्न चित्त गृहस्थ घर लौटा। भट्टी बनाई, सारा सामान जुटाया। और जिस प्रकार कापी में लिखा था, करने लगा। बड़ी सावधानी वर्ती, कि कहीं गल्ती न हो जाये। प्रत्येक क्रिया को पढ़ पढ़ कर किया, पर स्वर्ण न बना। फलतः श्रद्धा जाती रही। सोचने लगा दो वर्ष व्यर्थ ही खो दिये। साधू ने यूं ही झूठ मूठ अपनी ख्याति फैलाने के लिये ढोंग रच रखा था। सोना आदि बनाना उसे आता ही न था। कापी में भी यूं ही काल्पनिक बातें मेरे मन बहलाने को लिख दी। क्रोध में भर गया। पर क्रोध उतारे किस पर ? साधू न सही उसकी कापी तो है। चौराहे पर बैठ कर लगा कापी को जूतों से पीटने। सहसा ही वह साधू मार्ग से आ निकला। गृहस्थ की मूर्खता को देख कर सब कुछ समझ गया। बोला क्यों इतना क्रोध करता है। भूल स्वयं करे और क्रोध उतारे कापी पर ? इस बेचारी ने क्या लिया है तेरा ? चल मेरे साथ मैं देखता हूँ, कैसे नहीं बनता सोना ? भट्टी के पास दोनों आये। सामान जुटाया, प्रक्रिया चालू हुई। सब ठीक, परन्तु नींबू पड़ने का अवसर आया, तो लगा चाकू लेकर नींबू काटने। साधू बीच में ही बोला। 'क्या करता है ?' 'नींबू काटता हूं।' 'कहाँ लिखा है इसमें नींबू काटना ?' "काटना न सही, नींबू का रस तो लिखा है ? बिना काटे रस कैसे निकले ?" साधू ने गृहस्थ से नींबू छीन लिया, और दोनों हथेलियों के बीच साबुत का साबुत नींबू रख कर, ज़ोर से दबा दिया। रस नुचड़ गया। बोला कि ऐसे निकलता है रस। यह न सोचा बुद्धि लगा कर, कि चाकू से लोहे का अन्श जाकर सारे फल का विनाश कर देगा ? और सोना बन गया। गृहस्थ लज्जित हुआ-अपनी भूल पर। पर अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत। विद्या साधू अपने साथ ही ले गया।

तात्पर्य केवल इतना दर्शाना है कि सर्व क्रिया ठीक होते हुवे भी कोई ऐसी भूल जो दृष्टि में भी आती नहीं सर्व फल का विनाश कर डालती है। और यथा कथित फल न मिलने पर बजाये अपनी भूल खोजने के प्राणी का विश्वास क्रिया पर से ही उठ जाता है। इस प्रकार बजाये हित के अपना अहित कर बैठता है। अतः पहले से ही अभिप्राय की सूक्ष्मता को पढ़ने के लिये कहा जा रहा है।

ताकि सूक्ष्म से सूक्ष्म भूल का भी सुधार किया जा सके। और क्रिया से वही फल प्राप्त किया जा सके, जो कि उसमें होना चाहिये।

३ प्रत्येक क्रिया में अन्तरंग व बाह्य दो अन्श

संवर रूप सर्व क्रियाओं में जैसा कि प्रत्येक क्रिया के साथ साथ बताया जावेगा युगपत् दो अंश विद्यमान रहते हैं। एक बहिरंग अंश और एक अन्तरंग अंश। बहिरंग अंश तो शारीरिक क्रिया रूप होता है और अन्तरंग अंश मानसिक क्रिया रूप। बहिरंग अंश तो सर्व सामान्य व्यक्तियों के इन्द्रिय गम्य है, और अन्तरंग क्रिया केवल करने वाले एक व्यक्ति विशेष के अनुभव गम्य। बाह्य क्रिया का आधार शरीर व कुछ बाह्य जड़ या चेतन सामग्री है, और अन्तरंग क्रिया का आधार वह अभिप्राय जिसके प्रति कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। बाह्य क्रिया करने आदि के विकल्प सहित है और अन्तरंग क्रिया शांति के अनुभव सहित। और इसलिये वह सर्व क्रिया अशांति व शाँति के मिश्रण रूप हैं। शुभ आस्रव के अन्तर्गत बताई गई तीसरी कोटि की क्रिया है। इसमें जितना अंश अन्तरंग शांति के वेदन का है उतने ही अंश में यह क्रियायें संवर रूप हैं? जितना अंश विकल्पात्मक है उतने अंश में यह सर्व क्रियायें आस्रव रूप ही हैं। अतः जहां आस्रव प्रकरण में अपराध रूप से उन क्रियाओं का कथन आया है, वहां तो उन क्रियाओं के बाह्य अंशों की मुख्यता से समझना। जहां जहां कि अन्तरंग अंश रूप अभिप्राय के सुधार पर जोर दिया जा रहा है वहीं क्रियायें संवर रूप हैं।

सुविधा पूर्वक अपने जीवन में उतार सकूं। ऐसी क्रियायें आंशिक रूप से ही इष्टता अनिष्टता रहित हो सकती हैं। अतः संवर क्रियायें दो भागों में विभाजित कर दी गई, एक गृहस्थ के योग्य दूसरी साधू के योग्य। पहले गृहस्थ सम्बन्धी क्रियाओं की बात चलेगी। साधू सम्बन्धी क्रियाओं की बात आगे आयेगी। गृहस्थ सम्बन्धी संवर रूप क्रियाओं को छः कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान। अब क्रम पूर्वक इन्हीं क्रियाओं का अन्तरंग व बाह्य स्वरूप दर्शाया जायेगा। तथा यह भी साथ साथ बताने का प्रयत्न किया जायेगा कि आज तक की हमारी क्रियाओं में क्या त्रुटि रहती चली आई? जिसके कारण कि इनका फल नहीं मिल रहा है?
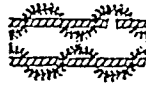
कदाचित् किसी प्रकार शांति में स्थिति हो जाये तो मैं भी स्वतः भीख मांगना छोड़ दूंगा। जैसे वह यदि आज ही आपके कहने से या स्वतः ही भीख मांगना छोड़ दे तो भूखे मर जाये, उसी प्रकार मैं भी यदि आपके कहने से या शर्म के कारण भीख मांगना छोड़ दूं तो भूखा मर जाऊं।

२ अभिप्राय वश किसी भी व्यक्ति में देवत्व

अब प्रश्न यह उठता है कि भिखारी बन कर घर से निकला कोई भी व्यक्ति किस के पास जाये भीख मांगने ? उत्तर स्पष्ट है कि, उसके पास, जिसके पास कि उसकी अभीष्ट वस्तु का भण्डार हो तथा जो उदार हो कृपण नहीं। बस तो जिस प्रकार धन के भिखारी जाते हैं धन के भण्डार व दानी, धनिकों व राजा के पास, धनुप विद्या के भिखारी जाते है, उस विद्या के भण्डार व उदार हृदय द्रोणाचार्य के पास, आधुनिक विद्या के भिखारी जाते हैं उस विद्या के भण्डार तथा इसे देने में तत्पर स्कूल, कालिज के मास्टरों व प्रोफैसरों के पास, वीरता के भिखारी जाते हैं, वीरता के भण्डार तथा दयालु महाराणा प्रताप के पास, जुए के भिखारी जाते हैं, बड़े जुआरी के पास, उसी प्रकार शान्ति का पुजारी मैं जाऊंगा शान्ति के भण्डार व विश्व कल्याण में तत्पर किसी भी योग्य व्यक्ति के पास।

अब देखना यह है कि मेरी कामनाओं की पूर्ति करने वाला, मुझ भिखारी की झोली भर देने वाला, उपरोक्त लक्षणों को धारण करने वाला, ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके पास कि मैं जाऊं, तथा वह कहां रहता है ? चलो खोजें उसे। यह लो राजा की सवारी जाती है। आइये इसी से मांग लें "राजा महाराज की जय हो। इस गरीब की झोली में भी कुछ डाल दो।" "लो यह दो अशर्फी।" "पर क्या करूंगा इनका ? मुझे तो शान्ति चाहिये। हो तो दे दीजिये।" "अरे ! इस शान्ति का तो मैं भी भिखारी हूँ। भिखारी भिखारी को क्या देगा ?" और इस प्रकार स्कूल का मास्टर, प्रोफैसर, सेठ, सेनापति, जुआरी, कसाई सब से मांग कर देखो सब स्वयं भिखारी हैं इस शान्ति के। उनके पास जाना व्यर्थ है।

अब आइये इधर इस द्वार पर जहां कि कल्पनाओं के घोड़े पर सवार, यह कुछ विशेष प्रकार के भिखारी खड़े भीख मांग रहे हैं। देखें तो अन्दर कौन है, और क्या बांट रहा है ? अरे ! यह तो मुरली बजाता हुआ उसकी धुन में, तथा गोपियों के साथ क्रीड़ा करने में मस्त हुआ, अतीव सुन्दर शरीर का धारी, बलवान, नीतिज्ञ, दयालु, सखा व अनेक गुणों का भण्डार कृष्ण है। "प्रभो ! मुझको भी दे दीजिये कुछ ?" "हां, हां, लो। बताओ क्या चाहिये ? संगीत का मधुर पान चाहिये, तो यह लो। स्त्रियों में आसक्तता का स्वाद चाहिये ? तो यह लो। अपने साथियों से प्रेम करने की इच्छा हो तो, यह लो। वीरता चाहिये, तो यह लो। राज्य नीति चाहिये, तो यह लो। धन महल चाहिये, तो यह लो। अरे ! तुम तो कुछ बोलते ही नहीं। बोलो, डरो नहीं। जो चाहिये ले लो।" 'परन्तु भगवन् ! मेरे काम की तो इनमें एक भी वस्तु नहीं। मुझे तो शान्ति चाहिये, हो तो दे दीजिये।" "हैं क्या कहा ? शांति ? भाई यह तो कुछ कठिन समस्या है। मैं स्वयं इसके लिये शिव की उपासना करता हूँ।"

आइये इधर देखिये, कैसी भीड़ लगी है ? अरे ! यह तो राजा राम हैं। कन्धे पर धनुष, दाईं ओर भ्रातृ भक्त लक्ष्मण, और बाईं ओर माता सीता। अहा हा ! कितना मनोज्ञ है यह दृश्य ?

शान्ति की शरण

मानों विश्व को प्रेम का संदेश सुना रहा है। मुख पर कोमल कोमल मुस्कान, मानों जगत को निर्भयता प्रदान कर रहा हो। आओ इन्हीं के सामने झोली फैला कर देखूं। सम्भवतः कुछ मिल जाये। देखिये यह स्वयं बुला रहे हैं। कितना प्रेम है इनमें ? प्रभो ! मुझे भी दे दीजिये कुछ। "ले लो भाई यह पड़ा है ढेर, जो चाहे ले जाओ। देखो यह पड़ी है पितृभक्ति, इधर देखो यह पड़ा है प्रजा पालन, और वह देखो न्याय है न्याय, यह है वीरता, और यह लो कर्तव्य परायणता। बताओ क्या चाहिये ? अरे ! चुप क्यों हो ?" "क्या कहूँ भगवन् ! इन सब में से मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। मुझे तो चाहिये केवल शान्ति।" "ओह ! समझा। बहुत भाग्यशाली हो तुम, कि उस महान वस्तु की जिज्ञासा लेकर आये हो कि जिसके सामने तीन लोक की सम्पदा तुच्छ है, जिसके लिये बड़े बड़े चक्रवर्तियों ने राज पाट को लात मार दी, और जिसके लिये मैंने स्वयं भी इस सम्पूर्ण जाल को तोड़ कर बीतरागी वेष धर वनवास को अपना सौभाग्य समझा था। तुम सम्भवतः नहीं देख पा रहे हो मेरे जीवन का वह पिछला भाग, जब कि मैं राजा राम नहीं था बल्कि था साधू राम, और न ही देख पा रहे हो मेरे आज का जीवन जब कि मैं राजा से बढ़कर भगवान राम बन चुका हूं। यदि शान्ति चाहिये तो राजा राम के पास न मिलेगी, बल्कि भगवान राम के पास मिलेगी, मुनि राम के पास मिलेगी, तपस्वी राम के पास मिलेगी, दिगम्बर राम के पास मिलेगी. जिसको न रही थी महल की आवश्यकता, जिसको न रही थी वस्त्राभूषण की आवश्यकता, जिसको न रही थी दास दासियों की आवश्यकता, जिसको न रही थी धनुष बाण की आवश्यकता, जाओ उसे वन में खोजो।"

कैसा मधुर व निःस्वार्थ है इनका उपदेश ? धन्य हो गया है भगवन् । आज मैं कृतकृत्य । आपने मुझे अधिक भटकने से रोक दिया। यदि आप से उस शान्ति भण्डार मुनि व भगवान राम के सम्बन्ध में परिचय न पाता तो न जाने किस किस के दर की ठोकरें खानी पड़ती। बड़ा उपकार हुआ है-नाथ आपका। कृपया आशीर्वाद दीजिये कि मैं उस परम योगेश्वर को खोज निकालने में समर्थ हो जाऊं।

बैठा हूँ सब कुछ यहाँ तक कि वह भी, कि मैं यहाँ किस काम के लिये आया था ? मानों मैं स्वयं भी शांत हुआ जा रहा हूँ।

चन्दन के आस पास लगे वृक्ष भी स्वतः चन्दन बन जाते हैं। इस शान्ति के देवता का भी तो ऐसा ही माहात्मय प्रतीत होता है। इनसे बिना कुछ मांगे ही मैं तृप्त हुआ जा रहा हूँ। कृत-कृत्य हुआ जा रहा हूँ। भोगों का रस इस समय मुझे विषसम भास रहा है। स्त्री व बच्चों की चीख पुकार मानों मेरे कानों को चीरे डाल रही है ? धन सम्पत्ति मानों एक बड़ा भारी भार सा प्रतीत होता है। इसका उपार्जन व रक्षण अब साक्षात् दावाग्नि वत् दिखाई पड़ता है। मैं भी स्वयं शांति के साथ तन्मय सा हो गया हूँ। शांति सुधा का मानों पान ही कर रहा हूँ। आज मैं अपने को भिखारी नहीं समझता। मैं तो स्वामी हूँ। सामने बैठा जैसा ही सा लग रहा हूँ-कुछ अपने को। ठीक ही सुना करता था कि प्रभु अपने आश्रित को अपने समान कर लेते हैं। आज उस बात का साक्षात् हो रहा है ? अन्तर केवल इतना ही है कि तब समझा करता था यह कि वह उसे कुछ राज्य वैभव, सुन्दर स्त्रियां आदि देकर अपने बराबर करता है और अब समझता हूँ यह कि उसका करना तो नाम मात्र से भले कह लो, परन्तु उसके बिना किये स्वतः उसका आश्रित उसके समान शांत हो जाता है। उसके बिना कुछ दिये ही स्वतः वह वस्तु अर्थात् शाँति पा लेता है, जिसकी इच्छा लेकर कि वह इनकी शरण में आया था, तथा जिसके लिये कि भटकता भटकता वह कुछ निराश हो गया था।

अहो ! इस परम अभीष्ट शांति को पाकर, उस शांति को कि जिसके पाने के लिये मुझे व्यर्थ ही अनेकों द्वारों की टोकरें खानी पड़ीं, मैं आज न जाने अपने को कितना महान देख रहा हूँ। कुछ ऐसा सा लगता है कि मानों मुझे नाली से निकाल कर सिंहासन पर बैठा दिया गया हो-राजतिलक करने के लिये। परम सौभाग्य ही जागृत हो गया है। आज तक राजा राम को देखता रहा, अब भगवान राम को देख रहा हूँ। भगवान हनुमन्त को देख रहा हूँ। भगवान ऋषभ को देख रहा हूँ। अरिष्ट नेमि को देख रहा हूँ। भगवान पार्श्व व महावीर को देख रहा हूँ। मानों साक्षात् ब्रह्मा को, शिव को या शंकर को ही देख रहा हूं। महादेव या महेश को देख रहा हुँ। विष्णु या बुद्ध को देख रहा हूँ। अल्लाह या खुदा को देख रहा हूँ। जिनको आज तक पृथक पृथक देख कर व्यर्थ ही द्वेष की ज्वाला में जलता रहा, आज उसको एक शान्ति के आदर्श के रूप में देख रहा हूँ। वास्तव में आज मैं धन्य हो गया हूँ।

जगत पुकारता रहे इसे अनेकों नामों से। परन्तु शान्ति के भिखारी मेरे लिये तो यह राम है न वीर। ये हैं केवल शान्ति के प्रतीक। यह है मेरा लक्ष्य बिन्दु। मेरे जीवन का आदर्श। यह है वह जो कि बनना चाहता हूँ-मैं। यही है मेरे उपास्य देव, जिनके चरणों का दास बनने को मैंने प्रार्थना की थी। सर्वत्र घूमा पर राग व इच्छा, द्वेष व भय, प्रेम व शोक के अतिरिक्त कुछ न देखा। सब स्थानों से निराश ही लौटा। सर्व दोष विमुक्त इस शांति के सौन्दर्य में मुझे वह दिखाई दे रहा है, जो मैंने कहीं नहीं देखा, अर्थात् वीतरागता, छोटे बड़े, ऊंचे नीचे, सर्व प्राणियों के प्रति साम्यता, सरलता, सौम्यता, स्थिरता, क्रोधादि रहितता, प्रसन्न चित्तता। अनेक गुणों का भण्डार यही मेरा लक्ष्य था, जिससे मुझे कुछ मांगना था, पर बिना मांगे ही जिसें देख कर मुझे मिल गया।

आप और मैं ? अरे ! यह दो पना कहां टिकता है ? जो आप हैं सो ही तो मैं हूँ । शांत मूर्ति आप और शांत मूर्ति मैं । अरे रे ! यह क्या ? सब शांति ही शांति ! और कुछ नहीं ? यहां तो "शांति और मैं" इस द्वैत को भी अवकाश नहीं ? कहूँ भी क्या ? दूसरा कुछ है ही नहीं यहां ? एक अद्वैत ब्रह्म । शान्तं, शिवं, सुन्दरं । कैसे बखान करूं इसकी महिमा ? इसकी महिमा का क्या अपनी महिमा का ? अपने सौन्दर्य का । शरीर के सौन्दर्य का नहीं कह रहा हूँ भगवन् ! अपने सौन्दर्य की बात है । अन्तरंग सौन्दर्य की । जिसके सामने जगत की सुन्दरता भ्रम है । जिसमें तन्मयता हो जाने पर सारा जगत ही कल्पना मात्र है । जहां मैं और शान्ति का भी भेद नहीं । आहा ! यह ! बस यह । इसके अतिरिक्त कुछ नहीं ।

अरे ! मैं तो आपकी पूजा करने आया था ? पर आपको भूल गया और अपने को भी ? कौन पूजा करे, किसकी करे, और कैसे करे ? कोई पदार्थ ही दिखाई नहीं देता ? क्या अर्पण करूं ? एक शांति है । लीजिये यही चढ़ा देता हूँ चरणों में । और शान्ति को चरणों में चढ़ा दिया तो मैं पृथक कहां रह गया ? मैं भी तो चढ़ गया वहीं ? चरणों में क्या चढ़ना ? आपकी शान्ति में ही तो मिल गया ? आपकी शान्ति और मेरी शान्ति दो रही ही कहां ? एक शान्ति ही तो है ? और वह मैं ही तो हूँ ? बस फिर वही शान्ति, उसके साथ, तन्मयता, वही सौन्दर्य । बताइये भगवन् ! पूजा करूं तो कैसे करूं ? पुनः पुनः शान्ति में खोया जा रहा हूँ । पूजा का विकल्प फिर शान्ति, फिर पूजा का विकल्प, फिर शान्ति । यह आंख मिचौनी ? कभी अन्दर कभी बाहर । कभी अपनी ओर, कभी आपकी ओर । पागलों का सा प्रलाप है प्रभु ! पूजा करूं तो कैसे करूं ?

यही तो यथार्थ पूजा है । और क्या चाहता है-इसके अतिरिक्त ? चढ़ाने व पढ़ने में क्या रखा है ? अपनी शान्ति पर न्यौछावर होकर उसके साथ तन्मय हो जाना ही प्रभु के चरणों में वास्तविक भेंट चढ़ाना है । तू तो धन्य है कि तुझे वास्तविक पूजा का अवसर मिला । लोकों के द्वारा की जाने वाली पूजा पर क्यों जाता है ? यह बेचारे स्वयं नहीं जानते कि पूजा किसे कहते हैं ? निज शान्ति के साथ तन्मयता में अत्यन्त तृप्ति, सन्तोष व हल्कापना सा, जो प्रतीति में आता है, वही वास्तव में देव पूजा है-अन्तरंग पूजा ।

इस पूजा में से स्वाभाविक माधुर्य आ जाने पर स्वतः ही प्रभु के प्रति एक बाहुमान सा उत्पन्न हो जाता है । इस माधुर्य से च्युत हो जाने पर, अर्थात् निज शान्ति के वेदन से हट कर, प्रभु का विकल्प उत्पन्न हो जाने पर, कुछ इस प्रकार की स्वाभाविक दासता सी उत्पन्न हो जाती है कि हे प्रभु । मुझ जैसे भव कीट को यह अतुल निधान प्रदान करके, कृत्य कृत्य कर दिया है-आपने । मैं किन शब्दों में कृतार्थता प्रगट करूं ? आपको कहां बिठाऊं ? इत्यादि जो पूर्व कथित विकल्पों के आधार पर प्रभु में तन्मयता है वह ही उनकी भक्ति व बहुमान कहलाता है ।

इस प्रकार का बहुमान कृत्रिम नहीं हुआ करता, स्वाभाविक होता है ? अन्तरंग ध्वनि से निकलता है । किसी गुरु की प्रेरणा से नहीं होता । स्वयं अन्तष्करण की प्रेरणा से, उसके झुकाव से उत्पन्न होता है ? स्वाभाविक बहुमान का कुछ चित्रण इस दृष्टान्त के आधार पर दृष्टि में आ सकता है ।

पास जाऊं अपनी पुकार सुनाने ?" घर खोदना प्रारम्भ किया। और कुछ देर के पश्चात्, "हैं! यह खट की ध्वनि कैसी ? क्या है इसमें दवा हुआ ? कोई टोकना सा प्रतीत होता है। अरे! यह तो है वह जिसकी ओर चचा का संकेत हुआ था।" और एक ही बार घूम गई चचा की सब बातें-उसके हृदय पट पर। "तू अब भी करोड़पति है। तू अब भी करोड़पति है।" मानों कोने कोने से यही आवाज़ आ रही थी। पागल सा हो गया कुछ भावुकता के आवेश में। भूल गया आगे खोदना। हाथ भी कैसे चलता ? कृतघ्नी तो न था ? यद्यपि पृथ्वी का टोकना पृथ्वी में ही था, पर सेठ बन चुका था आज वह। "नहीं नहीं यह कृतज्ञता न कहलायेगी। यह सब कुछ मेरा है ही कब ? मेरा होता तो भूखा क्यों मरता ? और यदि दूसरे मकानों के साथ इसे भी बेच देता तो किसका होता यह टोकना ? नहीं नहीं मेरा कुछ भी नहीं। भले यहां रहता हूँ। वह इतनी प्रेरणा न देते तो खोदने को ही कब तैयार होता—मैं ? और इसी प्रकार के विचारों में खो गया। रुक गये उसके हाथ-और चल पड़ा दौड़ा दौड़ा अपने चचा के घर की ओर।

"चलिये चचा चलिये। सम्भाल लीजिये वह, जो वहां से निकला है। आपने ही बताया था। आपका ही है।" "बेटा! जा उसको निकाल ले व्यापार प्रारम्भ कर, तेरा कल्याण होगा।" धन्य है चचा आपकी सहानुभूति, धन्य है आपका प्रेम, धन्य है आपकी निःस्वार्थता धन्य है आपका त्याग। आज तक आपकी शरण में न आकर व्यर्थ ही ठोकरें खाता रहा। क्षमा कर दीजिये अब मुझे! मैं अधम हूँ। नीच हूँ। पापी हूँ। आपकी ओर आज तक न देखा। उन दुष्टों को ही मित्र समझता रहा जिन्होंने सब कुछ लूटा है-मेरा। और यदि कदाचित् इस टोकने का भी पता होता तो, अब तक साथ न छोड़ते। आप न होते तो आज मैं रंक से राव कैसे बनता ? मैं कैसे आन्तरिक कृतार्थता प्रगट करूं। कहने को शब्द भी तो नहीं हैं मेरे पास। किंकर्तव्य विमूढ सा मानों सब कुछ भूल गया हूँ मैं। जी करता है कि आपके चरणों में ही बिछ जाऊं मैं ? क्या करूं, क्या न करूं, कुछ सूझ नहीं पड़ता ? आशीर्वाद दीजिये चचा। आखिर यही निकलता है मुंह से।" और इस प्रकार का कुछ अन्तर प्रवाह वह रहा था-उसके हृदय से आज। आंखों से अश्रु धारा, मानों उसकी सब पिछली भूलों को धोये डाल रही थी। और यह सब कुछ वह किसी दवाव से नहीं कर रहा था। स्वतः ही उससे ऐसा हो रहा था। यदि और भी शक्ति होती तो और भी सब कुछ करने को तैयार था-आज अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रगट करने के लिये। नया जीवन जो मिला था-उसे आज।

६ अष्ट द्रव्य पूजा का स्वरूप

और आप भी क्या ऐसा ही न करते यदि होते उस परिस्थिति में ? यदि कृतज्ञ हो तो अवश्य ऐसा ही करते। क्योंकि यह स्वभाव ही है एक कृतज्ञ का। उपकारी के प्रति सहज भक्ति, सहज बहुमान। यह है वह भाव जिसके प्रति कि संकेत किया गया था। अन्तरंग शान्ति के तुच्छ मात्र वेदन के माधुर्य से निकला हुआ देव के प्रति का स्वाभाविक बहुमान, आदर्श भक्ति, आदर्श पूजा। और इस बहुमान से प्रेरित हो अपनी योग्यतानुसार कुछ शब्दों की, तथा अपने उद्‌गारों की, तथा कुछ सामग्री आदि की, उनके चरणों में भेंट, कुछ याचनायें, सो है बाह्य पूजा-द्रव्य पूजा।

१—हे नाथ! इस तृप्ति कर अतुल शान्ति में विश्राम करते, आप तो जन्म ज़रा मरण से अतीत, क्षण क्षण में वर्तने वाले दाहोत्पादय विकल्पों की दाह से अति दूर, स्वयं एक शीतल सर हो। मुझको भी शीतलता प्रदान कीजिये। इन विकल्पों से मेरी रक्षा कीजिये प्रभु! उस अलौकिक शीतलता

तुच्छ दीपक लाया हूं भेंट देने। मानों आपकी ज्योति से उद्योतित हुआ, मैं स्वयं ही दीपक बन गया हूं आज।

७—हे विष्णु ! हे अग्नि ! आपके अनन्त ताप में पड़े यह मेरे दोप भस्म बन कर उड़ ही नहीं रहे हैं बल्कि विश्व के कोने कोने में कोई अपूर्व सुगन्धि फैला रहे हैं इसका आज मैं साक्षात् वेदन कर रहा हूँ। मतवाला बना जा रहा हूं। और इसी से लेकर आया हूं यह धूपायन आपके चरणों में।

८—हे मिष्ट फल प्रदायक ! आपको तो आपका लक्ष्य बिन्दु जो शान्ति, उस फल की प्राप्ति हो चुकी है। आप तो अथक उसके स्वाद में मग्न हो रहे हैं। कुछ मेरी ओर भी तो निहारिये। इस भिखारी की ओर भी तो देखिये। दर दर की ठोकरें खाता कितनी कठिनाई से आया है इस द्वार पर। हर ओर से निराश होकर आये हुये इसे यहां से निराश न लौटाइये। इस फल का थोड़ा टुकड़ा मेरी झोली में भी डाल दीजिए। मैं भी दुआयें दूंगा आपको। यह एक तुच्छ सा लौकिक फल पड़ा है ? डाल दिया था यह भी किसी भूखे ने मेरी झोली में निःसार सा है। परन्तु क्या करूं इसके अतिरिक्त और है भी नहीं मेरे पास, जो कि भेंट करूं। लीजिये इसे ही लीजिये। पर मुफ्त में नहीं। वह अपने वाला फल मझे भी प्रदान कर दीजिये।

और इसी प्रकार की अनेकों उठने वाली अन्तरंग की मधुर मधुर कल्पनाओं पर बैठ कर ऊंची ऊंची उड़ाने भरते हुए, मानों प्रभु के साथ तन्मय ही, होने जा रहा हूं। इन बाह्य के जलादि द्रव्यों से भगवान की अर्चना की जो यह क्रिया, उसे कहते हैं द्रव्य पूजा बाह्य पूजा। अन्तरंग व बाह्य दोनों अंगों में गून्थी, यह है वास्तविक देव पूजा जो एक शान्ति का उपासक, शान्ति के आदर्श अपने देव के प्रति करता है। केवल पूजा ही नहीं साक्षात् शान्ति का वेदन ही पड़ा है इसमें। देव के लिये नहीं बल्कि अपनी शान्ति के आस्वाद के लिये ही होती है यह पूजन, यह उद्गार, जो स्वतन्त्र ही प्रवाहित हो उठते हैं।

दिनांक २४ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३१

७ देव कौन

देव पूजा की बात चलती है। इस प्रकरण के अन्तर्गत अनेकों प्रश्न सामने आकर घूमने लगते हैं। जैसे—१ देव कौन ? २ पूजा क्या ? ३ पूजा की आवश्यकता क्यों ? ४ प्रतिमा की आवश्यकता क्यों ? ५ जड़ प्रतिमा से मुझे क्या मिले ? ६ मन्दिर की आवश्यकता क्यों इत्यादि।

पहला प्रश्न है देव कौन ? वास्तव में देव के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता, कि अमुक ही देव है। क्योंकि देव नाम आदर्श का है। और आदर्श इच्छा के पूर्ण लक्ष्य का नाम है। अतः देव की परीक्षा अपने अभिप्राय से की जा सकती है। जैसा अपना अभिप्राय हो या जैसी अपनी इच्छा हो वैसा ही उस व्यक्ति विशेष का लक्ष्य होगा, और वैसे ही किसी यथार्थ या काल्पनिक आदर्श को वह स्वीकार करेगा। उसकी दृष्टि उस पर ही जाकर ठहरेगी जैसा कि वह स्वयं बनना चाहता

अर्थ हैं अन्तरंग सापेक्ष बाह्य पूजा। यहां इतना अवश्य जान लेने योग्य है कि आगे अगली भूमिका में जाकर इस बाह्य पूजा की कोई आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु इस गृहस्थ दशा में स्थित मनुष्य के लिये यह अत्यन्त आवश्यक हैं ?

१० देव के आश्रय की क्या आवश्यकता

विना किसी बाह्य जीवन का आश्रय लिये इस शांति का परिचय क्यों प्राप्त नहीं हो सकता ? शान्ति तो अपना स्वभाव है, स्वतन्त्र रूप से क्यों जानी नहीं जा सकती ? उसके जीवन की शान्ति मुझ में कैसे आ सकती है, और अपनी शान्ति बिना दिये वह मुझे शांति का स्वाद कैसे चखा सकता है ? इत्यादि अनेकों प्रश्न इस स्थल पर मुझे आगे चलने से रोक रहे हैं। अच्छा ले, पहले इनका ही स्पष्टीकरण कर देता हूँ।

पहले प्रश्न का उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है कि जिसने आज तक न देखा हो, न अनुभव किया हो,वह विना पर के आश्रयके उसे कैसे जान सकताहै ? जसे जिस वस्तुका आकार ही मेरे ध्यान में नहीं, उस वस्तु को वनाने का कारखाना मैं कैसे लगा सकता हूं ? उस वस्तु का एक नमूना अपने सामने रख कर भले ही उस जैसी अनेकों वस्तुयें वनाने में सफल हो जाऊं। यह ठीक है कि कारखाना चल जाने के पश्चात् उस नमूने को अब मुझे कोई आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु प्रारम्भ में वह मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक है।

दूसरा प्रश्न है, स्वतन्त्र रूप से क्यों नहीं जानी जा सकती ? परन्तु इसका निषेध किया किसने ? स्वतन्त्र रूप से भी जानी अवश्य जा सकती है। परन्तु केवल उसके द्वारा जिसने कि कभी पहले उसका परिचय प्राप्त किया हो। भले ही उसका परिचय प्राप्त करके छोड़ बैठा हो। यहां इतनी वात अवश्य है कि अधिक समय तक छोड़े रहने के कारण वह परिचय अत्यन्त लुप्त हो सकता है, ऐसा कि प्रयत्न करने पर भी याद न आये। तव उसे अवश्य पुनः वाह्य का आश्रय लेने की आवश्यकता पड़ेगी। जैसे कि पहली वार लगाया हुआ कारखाना यदि दुर्भाग्यवश फेल हो जाए, और कुछ वर्ष पश्चात् पुनः उसे चालू करना पड़े तो अब उसे नमूने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। स्वतन्त्र रूप से स्मरण के आधार पर माल वना लेता है। परन्तु यदि किसी रोग विशेष के कारण उसकी स्मरण शक्ति जाती रही हो, और फिर यह कारखाना चालू करना पड़े, तव तो पुनः उसे अवश्य नमूने की आवश्यकता पड़ेगी।

११ देव से मुझे शान्ति कैसे मिलती है

तीसरा प्रश्न है, उसके जीवन की शान्ति मुझ में कैसे आ सकती है ? बहुत सुन्दर प्रश्न है। तेरा विचार विल्कुल ठीक है। वास्तव में किसी अन्य की शान्ति मुझ में कदापि नहीं आ सकती। उसको शान्ति उसके साथ और मेरी शान्ति मेरे साथ ही रहेगी। उसकी शान्ति उसके पुरुषार्थ से ही उत्पन्न हुई है, और मेरी शांति मेरे पुरुषार्थ के द्वारा मुझ में ही उत्पन्न होगी। उसको शांति का उपभोग वह स्वयं ही करेगा। ऐसी ही वस्तु की स्वतन्त्रता है। इसलिये वह मुझे शांति देने में समर्थ नहों है। इतना अवश्य उससे लाभ हैं कि उसका नमूना देख कर मैं उस परम परोक्ष रहस्य का कुछ अनुमान लगा सकता हूं-यदि बुद्धि पूर्वक प्रवल पुरुषार्थ करू तो। जैसे कि कारखाना लगाने वाले उस व्यक्ति को नमूना कुछ देता नहीं है, वह स्वयं ही उसको देख कर अनुमान के आधार पर उस सम्बन्धी परिचय प्राप्त कर लेता है। वैसे ही शान्त स्वरूप व आदर्श रूप वह व्यक्ति मुझे कुछ नहीं देता है, मैं

"सेठ जी ! मैं क्या देख रहा हूँ ? कुछ अनोखी सी बात ? चार करोड़ की हानि में वही बात, १० करोड़ के लाभ में भी वही बात ? कुछ विश्वास नहीं आता।" तुझको आश्चर्य हो रहा है जिज्ञासु। परन्तु उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मेरी दृष्टि को न पहिचान सकना ही इसका कारण है। लाभ हानि का मेरी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं, क्योंकि बाहर से सर्व आडम्बर का स्वामी भले देख रहा हूँ पर अन्तरंग में मैं केवल इसका मैनेजर हूँ। व्यापार तो प्रभु का है। सारे विश्व में उसके व्यापार की अनेकों शाखायें हैं। कभी इस शाखा से वह रुपया उस शाखा में भेज देता है, और कभी उस शाखा से इस शाखा में। मैं तो केवल नाम लिख देता हूँ, या जमा कर देता हूं। और बातों से मुझे क्या मतलब है ? और समझ गया वह जिज्ञासु साम्यता का रहस्यार्थ, जो शब्दों पर से तीन काल में भी समझाना सम्भव नहीं था।

इसी प्रकार पूर्ण आदर्श व जीवन पर से समझी जा सकती है पूर्ण शान्ति।

१२ पूजा में कर्तावाद क्यों

चौथा प्रश्न भी बहुत सुन्दर है। कि बिना अपनी शांति दिये वह मुझे शांति का स्वाद कैसे चखा सकते हैं ? जैसा कि ऊपर बता दिया गया है वह अपनी शांति का स्वयं उपभोग करने में समर्थ हैं मुझे देने में नहीं। परन्तु उपरोक्त प्रकार अनुमान के आधार पर शांति सम्बन्धी कुछ परिचय प्राप्त करके, मैं भी अपने जीवन में, अपने सम्भाषण में, वैसे वैसे ही रूप से वर्तने का प्रयत्न करने लगता हूँ। उसकी मुखाकृति पर से उसकी अन्तरमुखी दृष्टि का अनुमान करके स्वयं भी अन्तर्मुख होने के प्रयत्न करने लगता हूँ, जैसा कि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट हो जायेगा। और अपने इस प्रयत्न में दृढ़ रहते हुए कुछ समय पश्चात् स्वयं उस अमृत का स्वाद चख अवश्य सकता हूँ। इतनी ही कुछ मेरे प्रयोजन की उससे सहायता मिलती है। और इस सहायता के कारण ही "यह शान्ति उसने दी है", ऐसा कहा जा सकता है। जो केवल उपचार है।

यहां एक और प्रश्न उठ सकता है कि जब वह कुछ दे नहीं सकता तो "हे प्रभु मुझे शांति प्रदान कीजिये" इस प्रकार के शब्दों के द्वारा "भक्ति क्यों की जाती है ?" ठीक है। सैद्धान्तिक रूप से इसका कोई अर्थ नहीं है। इन शब्दों को सत्यार्थ मानकर प्रभु को शांति या अशांति अथवा दुःख या सुख देने वाला समझ बैठना भ्रम है। परतन्त्रता है। पुरुषार्थ हीनता है। स्व पर भेद से अनभिज्ञता है। ऐसा समझने वाला सच्चे देव को आदर्श रूप से स्वीकार कर लेने पर भी शांति की प्राप्ति नहीं कर सकता। क्योंकि "देव ही प्रसन्न होकर मेरा प्रयोजन सिद्ध कर देंगे। मुझे तो स्वयं कुछ करना न पड़ेगा।" ऐसा अभिप्राय रखने के कारण वह उपरोक्त प्रकार न अपने जीवन में कुछ विशेष परिवर्तन का प्रयत्न करेगा और न उसे वह प्राप्त होगी।

स्वयं अपने उद्यम द्वारा अपने में से उत्पन्न की गई होने पर भी बहुमान वश कृतज्ञता प्रगट करने के लिये तथा उस उत्कृष्ट आदर्श के सामने अपनी इस हीन दशा को रख कर दोनों में महान अन्तर देखने के कारण, यह कहने में अवश्य आता है कि यह महान विभूति आपने ही प्रदान की है। यदि आप न देते तो मुझ अधम के द्वारा यह प्राप्त की जानी कैसे सम्भव थी ? इत्यादि। बिल्कुल उसी प्रकार जैसे कि बहुमान सम्बन्धी कल के दृष्टांत में सेठ पुत्र के मुख से अपने चचा के प्रति कहा गया था। और आप भी निरभिमानता दिखाने के अर्थ जिस प्रकार ऐसा कहते सुने जाते हो कि, "आपकी कृपा से ही

रेखाओं मात्र को एक क्षणिक चित्र के रूप में देखने से क्या होता है ? वह मुझ से छिपा नहीं है। यदि कुछ न हुआ होता तो धन खर्च करके व्यर्थ ही वहां नींद न खोता। अभी किसी चित्र विशेष को देख कर मानों मुझे रोना आ जाता है। क्या कारण है ? वह भी तो चित्र ही है। जड़ चित्र, जो एक क्षण भी सामने टिकता नहीं। किसी के प्रति द्वेष हो जाने पर उसके चित्र को अविनय करने का भाव क्यों आता है-मेरे हृदय में। काग़ज़ पर खिंची दो चार लकीरें ही तो हैं ? स्वयंवर में संयोगता ने पृथ्वीराज की प्रतिमा के गले में माला क्या समझ कर डाल दी थी ? अपने उपास्य देव या स्वयं अपने चित्र को जूतों में पड़ा देख कर क्यों दुःख सा होने लगता है मुझे ? अपने कमरों को चित्रों के द्वारा क्यों सजाता हूं-मैं ? यदि सजाऊं भी तो, जो कोई भी चित्र क्यों टांग नहीं देता, अपनी रुचि के अनुसार ही क्यों टांगता हूँ ? इत्यादि सर्व दृष्टान्तों पर से एक जड़ चित्र का मेरे मन पर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है, यह बात स्पष्ट प्रगट हो जाती है। वैसे ही देव के चित्र को देख कर स्वाभाविक रीति से ही मेरे मन पर कुछ अद्वितीय प्रभाव पड़ता है।

और इस प्रभाव में और भी कई गुणी वृद्धि हो जाती है जब कि मैं इसमें अपनी कुछ विशेष कल्पनाओं को डाल देता हूं। जैसे दश पाँच सूत के धागों की बनी इस देश की ध्वजा को ऊंचे पर लहराते देख कर मानों मेरा रोम रोम फूल उठता है, और इस छोटे से वस्त्र के टुकड़े को अपमानित होता देख कर मुझे स्वतः ही क्रोध आ जाता है। क्या कारण है ? वहां किसी जानकार व्यक्ति की तो बात ही नहीं, किसी व्यक्ति का या देश नगर ग्रामादि का चित्र भी तो नहीं है। केवल एक कपड़े का टुकड़ा ही तो है वह ? परन्तु ऐसी बात चित्र में होती अवश्य है। जिस बात का साक्षात् वेदन हो उससे नकार कैसे की जा सकती है ? इसका कारण यही है कि बजाज़ की दुकान पर रहने तक ही वह साधारण वस्त्र था, परन्तु आज तो मेरी कुछ कल्पनाओं का आधार होने के कारण वह साधारण वस्त्र नहीं रहा है, वह बन गया है देश की लाज। यह शक्ति उस जड़ वस्त्र में नहीं बल्कि मेरी कल्पनाओं में है। इसी प्रकार पत्थर या लकड़ी के टुकड़े आदि में भी मैं देव की कल्पना करके उसी प्रकार का भाव उत्पन्न कर सकता हूं, जैसा कि जीवित देव को देखने से होता है। और यदि वह पत्थर व लकड़ी का टुकड़ा देव की आकृति के अनुरूप ही हो तो सोने पर सुहागा है। आकृति सापेक्ष और आकृति निरपेक्ष दोनों ही प्रकार की प्रतिमायें आज हमारे देखने में आती हैं। जैसे शिव प्रतिमा आकृति निरपेक्ष है और वीतरागी शान्त देव की प्रतिमा आकृति सापेक्ष। परन्तु आकृति सापेक्ष का जो प्रभाव सहज ही पड़ता प्रतीत होता है वह आकृति निरपेक्ष में अनुभव करने में नहीं आता, जिसका कारण सम्भवतः यह हो कि आकृति निरपेक्ष को देख कर मुझे बुद्धिपूर्वक ही उन कल्पनाओं की याद करने के लिये अधिक ज़ोर लगाना पड़ता हो, जो कि आकृति सापेक्ष को देखते ही अबुद्धि पूर्वक स्वतः जागृत हो उठती हैं। खैर कुछ भी हो यहां तो केवल इतना सिद्ध करना था कि प्रतिमा का कोई प्रभाव न पड़ता हो ऐसा नहीं है। उसका हमारी बुद्धि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त बातों पर से तीन सिद्धान्त निकलते हैं। एक तो यह कि किसी चित्र का मेरी मनोवृति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, दूसरा यह कि किसी भी वस्तु में कल्पना विशेष कर लेने पर उस वस्तु में मुझे तद्वत् सा ही भाव बीतने लगता है, और तीसरा यह कि आकृति सापेक्ष प्रतिमा से मेरे चित्त पर आकृति निरपेक्ष प्रतिमा की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। और जिस प्रतिमा को आज मैंने अपने

विषाद का अनुभव किया करता हूँ। ऐसा होता सबको प्रतीत होता है, फिर इस सत्य के प्रति नकार क्यों ? प्रतिमा के प्रभाव व कल्पनाओं की शक्ति के प्रति आज जो नकार तुझे वर्त रही है उसके पीछे कोई पक्षपात छिपा बैठा है। कोई सम्प्रदाय पुकार रहा है। तू एक वैज्ञानिक बन कर निकला है सम्प्रदायिक नहीं। एक वैज्ञानिक है तो पक्षपात को अब धो डाल। और इस मनोविज्ञान से कुछ लाभ उठा।

आज तक इस मनोविज्ञान को दूसरी दिशा में प्रयोग करना आया है आज उसी का प्रयोग इस दिशा में कर। देख तुझे साक्षात् देव के दर्शन होते हैं शांति के दर्शन होते हैं। आज तक वैज्ञानिक बन कर दर्शन किये नहीं, साम्प्रदायिक बन कर ही दर्शन करता रहा है। और इसी लिये ऊपर की शंकायें उत्पन्न हो रही हैं। अभिप्राय के तनिक के फेर से क्रिया में महान अन्तर पड़ जाता है। अतः अभिप्राय को ठीक बना कर आगे बढ़। पहले ही इस दिशा में काफी समझा दिया गया है-तुझे। आ, और देख इस प्रतिमा में जीवित देव।

दिनांक २६ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३३

१७ प्रतिमा व जीवित देव में समानता

देव पूजा के सम्बन्ध में बात चलती है। अन्तरंग व बाह्य पूजा का चित्रण खेंच दिया गया, अब यह देखना है कि प्रतिमा में जीवित देव के दर्शन कैसे किये जायें ? आओ चलें। यह लो आ गया भगवान का समवशरण। गन्ध कुटी पर विराजमान साक्षात् वीतराग देव। वह देखो सामने वीतराग प्रभु कितनी शान्त मुद्रा में स्थित हैं। वेदी में नहीं समवशरण में बैठे हैं। वेदी पर दृष्टि न कीजिये केवल प्रतिमा पर लक्ष्य दीजिये। जैसे धनुर्धर अर्जुन की दृष्टि में कौवे की आंख ही आती थी-उसी प्रकार। यह जीवित ही तो हैं। जिन्हें बन में देखा था वही तो हैं। वही मुखाकृति, वही वीतरागता, वही सरलता, वही शान्ति, वही मधुर मुस्कान, वही निश्चल आसन, वही मौन, वही नासाग्रदृष्टि, वही निर्भीक नग्न रूप, वही निश्चिन्तता, वही अलौकिक तेज, वही आकर्षण।

१८ देव के प्रति बहुमान व भक्ति

आहा हा ! धन्य हुआ जा रहा हूँ आज-मैं। किस परम सौभाग्य से मिला है यह दुर्लभ अवसर ? जिनके दर्शनों को बड़े बड़े इन्द्र तरसते हैं, सर्वार्थ-सिद्धि के अहमिन्द्र को भी जो सौभाग्य प्राप्त नहीं है। आहा हा ! आज मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आज मैं इस विश्व में सबसे ऊंचा हूँ। आज से पहले अधम था, नीच था, पापी था। पर आज ? आज न पूछिये। मुझे यह बताने को भी अवकाश नहीं कि आज मैं सर्वार्थ सिद्धि के इन्द्रों से भी ऊंचा हूँ। आज मुझे कुछ अन्य बातें विचारने का अवकाश नहीं। किसी की बात सुनने का अवकाश नहीं। बोलने का अवकाश नहीं। अरे ! पलक झपकने तक का अवकाश नहीं-आज मुझे। अरे मन ! कृपा करके ज़रा चुप रहो न। देख नहीं रहे हो कि आज मेरे, देव आये हैं-मेरे आंगन में। अरे ! जवाहर लाल नेहरू तेरे घर पर आ जाये तो तू पागल बन

कैसा लगता है अब तुझको ?.....................मैं तुम एक हुये मानों।

कुछ इच्छा है तो कह डालो ?.....................क्या कहूँ। नाथ अब मत बोलो।

क्या कह रहा है यह वन्दक ?.....................होंगे कोई मुझे क्या इनसे।

जा जा इनकी कुछ तो सुनले ?.....................इनका नाता ही क्या मुझसे।

कुछ इच्छा है तो अब भी कह दे ?.....................बस प्रभु और न बोलो मुझ से।

नेत्र बन्द किये मानों मैं प्रभु में मिल चुका था, दीन दुनिया की खबर न थी। मैं था और थे मेरे शान्ति आदर्श वीतराग प्रभु। और फिर ? वही। अरे मन! तेरा सत्यानाश हो। तू अपनी चंचलता से बाज न आया। आखिर वही किया जो तुझे करना था। घसीट ही लिया मुझे। अच्छा करले जो कुछ करना है। अपनी बदकारी में कमी मत रख। सर्व अरमान निकाल ले। आखिर कब तक ? एक दिन विदा लेनी होगी तुझे। बान्ध ले अपना बिस्तरा बोरिया। अब अधिक दिन नहीं निभेगा मेरा साथ। मेरा रास्ता यह और तेरा रास्ता वह। प्रभु को भुला देना तो अब मेरी सामर्थ्य से बाहर हो चुका है। क्योंकि अब मैं कर चुका हूँ प्रतिमा में जीवित देव के दर्शन। अब यह मेरे लिये पाषाण नहीं हैं। भगवान है।

२० पंच कल्याणक महत्व

अब तक भले भूला रहा हूं पर अब मुझे सब पिछली बातें याद आ गई हैं। वह दृश्य मेरी आंखों के सामने घूम रहा है, जब कि प्रभु ने माता की कोख में प्रवेश किया था। मेरे सामने ही इनका जन्म हुआ था। वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है, जबकि आपका राजतिलक हुआ था, और इनकी प्रजा का एक अंग बन के मैं सुख पूर्वक जीवन बिताता था। आहा हा! वह दिन तो मानों कल ही गुजरा है। क्या दृश्य था वह ? चहूँ ओर वैराग्य व वीतराग। लौकान्तिक देवों का वह सम्बोधन, मेरे कानों में आज भी गूंज रहा है। प्रभु को वैराग्य आ गया था उस दिन। राज पाट को ठुकरा व नीची गर्दन किये बन की ओर चल पड़े थे। मुझ से रहा न गया। पालकी उठा लाया। प्रभु को बैठाया और ले चला कुछ दूर अपने कन्धों पर। ओह! कितना उत्साह था उस दिन मुझ में ? जैसे कि आज ही मैं भी घर छोड़ कर चल दूं-प्रभु के पीछे। पर मेरा दुर्भाग्य मैं न जा सका। प्रभु चले गये और मैं देखता ही रह गया। कितनी उदासीन थी सारी प्रजा ? पर प्रभु प्रसन्न थे। शान्त थे। मानों चले हों किसी स्वयंवर में।

यह दृश्य तो मानों यह मेरी आँखों के सामने ही हो रहा है। देखो देखो। क्या नहीं दीख रहा है तुम्हें ? लो इन आंखों से देखो। वह प्रभु बैठे किस तरह घास फूस की भाँति आपने केश नोच कर फेंक रहे हैं। मैंने इन ही हाथों से समेटे थे उनके बाल। ध्यान में निश्चल हुए वह योगी यही तो हैं, जिनके शरीर पर खाज खुजाता हुआ वह मृग मैंने देखा था। और वह दिन मानों जब तीनों लोक झंकार उठे थे। चहुँ ओर ही युगपत् गूंजने वाली दुंदुभियों की ध्वनि मानों आकाश को फाड़ने का प्रयत्न कर रही थी। उस दिन उत्पन्न हुआ था भगवान को वह ज्ञान, जिसके प्रकाश में मानों वह तीनों लोकों को व तीनों कालों को प्रत्यक्ष देख रहे थे-अपने हृदय पट पर। वह अलौकिक तेज जिसमें कि मुझे भी दिखाई देने लगे थे-अपने सात भव। आहा हा! कैसी महिमा थी उस समय भगवान की ? तीन लोक की

तथा वाह्य जल्पों से रहित, उस समय प्रभु भी तो जड़ वत् ही दीखते थे। क्या भूल गया उस दिन को? जव अपने मुंह से उस महायोगी को जड़ भरत कह कर पुकारा करता था? यदि यह प्रतिमा ही जड़ वत् दीखती है तो क्या आश्चर्य हुआ।

२२ भील व गुरु द्रोण का दृष्टान्त

देख प्रतिमा सम्वन्धी महाभारत का प्रसिद्ध दृष्टान्त। भले ही नीच कुलीन होने के कारण या "मेरे द्वारा सिखाई गई धनुर्विद्या का दुरुपयोग न हो जाये, इसका प्रयोग पशु हिंसा के प्रति न हो जाये", इस कारण वश, गुरु द्रोणाचार्य ने उस भील को धनुर्विद्या देने से इन्कार कर दिया था। पर उसकी दृष्टि में तो गुरु द्रोणाचार्य उसके गुरु वन चुके थे। भले वह उसे अपना शिष्य स्वीकार न करते पर उसकी भावना कैसे वदल सकते थे? प्रत्यक्ष न सही परोक्ष ही सही। धनुर्विद्या अवश्य सीखूंगा। ऐसा दृढ़ संकल्प वाले उस भील ने वन में जा कच्ची मिट्टी से बनाई द्रोणाचार्य की प्रतिमा, और एक गुफा के मुख पर वड़ी विनय से विराजमान कर दिया उसे। तीन समय पुष्प चढ़ाता था उसके चरणों में। वह उसकी दृष्टि में प्रतिमा न थी। वह थे साक्षात् गुरु द्रोण। प्रतिमा से ही पूछ पूछ कर करने लगा धनुर्विद्या का अभ्यास। स्वयं अपने ही हृदय से प्रगट होने वाले लक्ष्य साधन के उपायों को यदि पहले ही से मान वैठता अपने, तो अभिमान हो जाता। "गुरु द्रोण ही क्या करेंगे इसमें? मैं स्वयं ही सीख लूंगा" ऐसा भाव आ जाता। और कभी न सीख सकता वह विद्या। परन्तु उसके हृदय में यह विकल्प था कव? उसकी दृष्टि में तो थी गुरु की विनय। लक्ष्य चूक जाने पर गुरु से अर्थात् प्रतिमा से क्षमा मांग लेता और लक्ष्य सफल हो जाने पर उनके चरण छू लेता। वर्षों वींत गये इसी प्रकार करते। पर एक क्षण को भी उसने उसे प्रतिमा रूप में न देखा। वह थे उसके साक्षात् गुरु। और एक दिन सिद्धहस्त हो गया वह-अर्जुन की विद्या को भी शर्मा देने वाला।

अर्जुन से यह कैसे सहा जा सकता था? गुरु द्रोण का शिष्य इस वे गुरुवे भील से नीचा रह जायें? नहीं यह नहीं हो सकता। गुरु से जाकर कह ही दिया। गुरु आये। भील से पूछा। किन से सीखी हैं विद्या? गुरु को साक्षात् सामने देख लेट गया उसके चरणों में। आहा हा! आखिर चले ही आये आप खिंचे हुये। भक्त की भक्ति में इतनी ही सामर्थ्य हैं। "भगवन! और ओई नहीं आप ही हैं मेरे गुरु" यह था भील का उत्तर। गुरु द्रोण आश्चर्य में डूव गये। यह वात सत्य कैसे हो सकती है। उन्होंने तो उसे विद्या देने से इन्कार कर दिया था न। नही मैं नहीं हो सकता। यह झूठ वोलता है। छिपाना चाहता है अपने गुरु का नाम-मुझसे। भील ताड़ गया गुरु के मन की वात और ले गया उनको प्रतिमा के पास। यदि विश्वास न आता हो तो देख लीजिये, यह वैठे हैं मेरे गुरु। और गुरु द्रोण पर खुल गया सारा रहस्य-जड़ प्रतिमा क्या दे सकती है और किस प्रकार दे सकती है यह रहस्य।

भो कल्याणार्थी! अव पक्षपात तज। किसी दूसरे के लिये नहीं अपने लिये। "मेरे मन में है भगवन! क्या करूंगा प्रतिमा के दर्शन करके" ऐसा वहाना छोड़ दे। स्वयं तेरी शान्ति का घात कर रहा है यह। क्योंकि अव तक तूने भगवान के दर्शन किये ही कव हैं, जो तेरे हृदय में उनका वास सम्भव हो जाता। भगवान शब्द का नाम तो भगवान नहीं। भगवान जीवन का एक आदर्श है जो तू इस प्रतिमा से पढ़ सकता है या साक्षात् भगवान में। भगवान वर्तमान में है नहीं। अतः उनके प्रतिनिधि इस प्रतिमा की अव शरण ले, और अपना कल्याण कर।

दिनांक २७ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३४

२३ विकल्पों को सर्वतः या सर्वदा दवानेमें असमर्थता, देव पूजा की वात चलती है। देव का व पूजा का स्वरूप दर्शाया जा चुका है। अव प्रश्न यह होता है कि मन्दिर की क्या आवश्यकता ? प्रश्न बहुत उत्तम व स्वाभाविक है। ऐसे प्रश्न उत्पन्न करते समय यदि भय लगेगा तो तत्व नहीं समझा जा सकता। जैसे मैं कहूँ वैसे स्वीकार कर लेना वास्तव में समझना नहीं हैं। देख इस प्रश्न का उत्तर स्वयं अपने अन्दर से ही आ जाता है।

'मुझे शान्ति चाहिये' यह समस्या है। इस समस्या को सुलझाने का अव प्रश्न है। शान्ति प्राप्त करने से पहले यह जानना आवश्यक था कि शान्ति क्या है, और इसका घात करने वाला कौन है ? सो भी जाना जा चुका कि शान्ति मेरा स्वभाव है, और इसका घात करने वाला मेरा अपना ही अपराध है, जिसे आस्रव तत्व में दर्शाया गया है। अर्थात् शरीर धन व कुटुम्वादि सम्वन्धी अनेकों नित नये नये उठने वाले विकल्प इच्छायें व चिन्तायें। यदि यह विकल्प दव जाये तो मैं शान्त पहले ही हूँ। वास्तव में शान्ति प्राप्ति नहीं करनी है बल्कि अशान्ति को दूर करना है। इन चिन्ताओं को, इन इच्छाओं को, इन विकल्पों को दूर हटाना है। यह दूर हुए कि शान्त तो मैं हूँ ही। वह तो स्वभाव जो ठहरा। प्राप्त की प्राप्ति क्या ? जो पहले ही से मेरे पास है उसको प्राप्त करने का प्रयास क्या ? स्वभाव का कभी विच्छेद नहीं हुआ करता। क्या अग्नि से जल गर्म हो जाने पर भी जल अपना शीतल स्वभाव छोड़ बैठता है ? नहीं। तो मैं ही इन विकल्पों के कारण व्याकुल होता हुआ भी, अपनी शान्ति कैसे छोड़ सकता हूँ ? अतः जिस किस प्रकार भी इन विकल्पों के अभाव करने का प्रयास करना है।

२४ थोड़ी देर को विकल्प दवाना प्रयोजनीय अव विचारना यह है कि क्या एक दम इन विकल्पों को रोका जाना सम्भव है ? जैसे कि विजली का वटन दवाया और प्रकाश वन्द ? क्या इसी प्रकार कोई क्रिया विशेष करी और विकल्प वन्द, ऐसा होना सम्भव है ? नहीं। ऐसी वात यहां सम्भव नहीं, क्योंकि प्रारम्भ में ही आस्रव वन्ध तत्वों के अन्तर्गत इन विकल्पों व संस्कारों के जन्म का यह क्रम दर्शाते हुये यह वताया जा चुका है कि संस्कार धीरे धीरे ही शक्ति पकड़ता हुआ एक दिन पुष्ट हो जाता है। एक दम पुष्ट नहीं हो वैठता। वस उसी प्रकार यहां भी समझना। आगे निर्जरा के प्रकरण मे इस वात को सविस्तार भी वताया जायेगा, कि कोई भी संस्कार क्रम पूर्वक तोड़ा जाता है। जव तक संस्कार समूल नष्ट न होगा, तव तक उससे प्रेरित हुआ मैं नित नये नये विकल्प भी छोड़ न सकूंगा। रोगी का रोग एक दम दवाया नहीं जा सकता। क्रम पूर्वक और धीरे धीरे ही दवाया जा सकता है। उसी प्रकार विकल्प दवाने के सम्वन्ध में भी समझना।

२५ अनुकूल वाता- वरण की महत्ता इन विकल्पों में सर्वदा के लिये तो क्या, कुछ देर के लिये भी पूर्णतयः रोका नहीं लगाया जा सकता। हां इतना अवश्य है कि इन्हें कुछ देर के लिये किसी प्रकार दवाया अवश्य जा सकता है। जिस प्रकार कि मारफीन के इन्जैक्शन द्वारा या कोकीन के इन्जैक्शन द्वारा कुछ देर के

लिये पीड़ा दवाई अवश्य जा सकती है। अब मुझे यह देखना है कि कुछ देर के लिये ही सही, वह क्रिया विशेष कौन सी है जिसके करने से कि वे विकल्प दब सके। अनेकों बार जब कि मैं क्रोध में अत्यन्त व्याकुल बना हुआ, अन्दर ही अन्दर कुछ जलन सी महसूस करता हूँ मैंने यह अनुभव किया है कि ऐसे अवसरों पर यदि मैं घर या दुकानादि का वातावरण छोड़ कर क्लब में जाकर खेलने लगूं तो धीरे धीरे वह क्रोध शान्त हो जाता है। और उस समय तक पुनः जागृत नहीं हो पाता जब तक कि पुनः उसी प्रकार का कोई अन्य वातावरण मेरे सामने न बन जाये। बस इसी अपने अनुभव से सिद्धान्त निकाल लीजिये।

सिद्धान्त यह ~~विकल्प~~ निकला कि बाह्य वातावरण का मेरे विचारों के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जुआरियों के वातावरण में मैं रह कर जुआरी और शराबियों के वातारण में मैं रह कर शराबी बन जाता हूँ। इस प्रकार निर्विकल्प वातावरण में मैं रह कर निर्विकल्प भी बन सकता हूँ। यद्यपि स्व पर भेद विज्ञान के अन्तर्गत वस्तुतः इसका निषेध किया गया है, और बताया गया है कि अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। और इस बात पर मुझे विश्वास भी है। युक्ति आदि से निर्णय भी किया है, परन्तु अभी तक वह विश्वास पूर्णतयः मेरे जीवन में उतरने नहीं पाया है। पूर्व का पराश्रित हो जाने का संस्कार अभी दृढ़ है। गल्ती मेरी ही है। पर करता हूं मैं किसी वातावरण से प्रभावित ही होकर। जो बात स्पष्ट अनुभव में आती हो, उस के प्रति न करने से क्या लाभ ?

विकल्प को दबाने के दो उपाय हैं। एक तो यह कि स्व पर भेद ज्ञान के द्वारा मैं जहां कहीं भी बैठा दृढ़ता धार कर वातावरण की ओर दृष्टि ही न दूं, और अपने शान्त स्वभाव को लक्ष्य में लेकर अन्तरंग में एक नया वातारण उत्पन्न कर लूं। यह उपाय करने बैठता हूँ तो वर्तमान की इस प्राथमिक अवस्था में अपने को बिल्कुल असमर्थ पाता हूं। बात को समझना सरल है पर उस बात को कार्यन्वित रूप देना कुछ कठिन। समझने व श्रद्धा करते में अधिक समय नहीं लगता, पर उसे पूरा करने को एक लम्बा समय होना चाहिये। उपाय ऐसा होना चाहिये जो इस अत्यन्त निकृष्ट अवस्था में भी किया जा सकना सम्भव हो, और मेरी शक्ति से बाहर न हो।

२६ मन्दिर की अनुकूलता

कुटुम्ब सम्बन्धी चिन्ताओं से कुटुम्ब के वातावरण में रह कर, और धनोपार्जन सम्बन्धी चिन्ताओं से दुकान पर रह कर और शरीर सम्बन्धी चिन्ताओं से शरीर की सेवा में संलग्न रह कर, बचने का प्रयास करते हुए भी बचा नहीं जा सकता। अतः इस निश्चय के आधार पर कि वातावरण बदल देना चाहिये। अतः यह विचारना है कि इसको छोड़ कर किस वातावरण में जाऊं ? क्या क्लब में जाने से काम चल जायेगा ? नहीं, क्योंकि यद्यपि वहां कुटुम्बादि सम्बन्धी विकल्प दब जायेंगे पर हार जीत सम्बन्धी नये विकल्प उत्पन्न हो जायेंगे। अतः वातावरण ऐसा होना चाहिये कि जहां जाकर यदि विकल्प भी उत्पन्न हो, तो वीतरागता सम्बन्धी ही हों, शान्ति सम्बन्धी ही हों। और सौभाग्य वश शान्ति के आदर्श जीवित देव या उसकी प्रतिमा की शरण में जाने से यह प्रयोजन ठीक ठीक सिद्ध हो जाता है। जैसा कि इससे पहले के प्रकरणों में दर्शा दिया गया है। इन दोनों में भी देव की शरण का तो प्रश्न ही नहीं, क्योंकि वर्तमान में कहीं दिखाई ही देते नहीं। उनकी प्रतिमा सौभाग्य वश अवश्य प्राप्त है। प्राप्त साधन से ही कुछ लाभ लेना है।

अब यह विचारिये कि यदि यह प्रतिमा घर पर ही रख लूं तो क्या वह वातावरण छूट कर नया तातावरण बनाया जा सकेगा ? यह बताने की आवश्यकता नहीं कि नहीं बनाया जा सकेगा। एक ओर स्त्री की नई नई मांगें, एक ओर बुद्ध माता पिता की कर्राहट, एक ओर बच्चों की चीख पुकार, इन सब को होते हुये प्रतिमा के सामने खड़े हुये भी कैसे मेरा उपयोग उनकी ओर आकर्षित न होगा ? अतः कोई अन्य उपयुक्त स्थान ढूंढ़ना होगा।

चलिये बन में खोजें। आहा हा ! कैसा रमणीक व सुन्दर स्थान है ? यहां ही तो देखा था अपने प्रभु को बैठे हुये। बड़ा शान्त। प्रकृति ने मानों अपनी विशाल गोद फैलाई है-नगर व ग्राम की दाह से जले मुझे आश्रय देने के लिये। बहुत शान्त वातावरण है। इससे अच्छा और क्या वातावरण हो सकता है ? जहां आते ही मैं भूल जाता हूँ सर्व कुटुम्ब को, धन को, यहां तक कि शरीर को, और खो जाता हूँ प्रकृति की सुन्दरता में। उस स्वाभाविक व शाश्वत् सुन्दरता में जिसको करने का या नवीन बनाने का विकल्प भी मुझे नहीं आ सकता ? बस अपने प्रभु की प्रतिमा को यहां ही ले आऊं, और कर दूं विराजमान, किसी वृक्ष के नीचे, एक शिला पर। यह वातावरण स्वयं शान्त होने के कारण, प्रतिमा के दर्शन करने में मेरी बहुत सहायता करेगा। और इसी कारण से वन गये चैत्य वृक्ष। जिनकी ओर कि गुरुदेव पुनः पुनः संकेत कर रहे हैं-इस आगम में। चैत्य वृक्ष। अर्थात् प्रतिमा रखी गई हो जिस वृक्ष के नीचे, वह चैत्य वृक्ष। और प्राचीन समयों में यह चैत्य वृक्ष ही हुआ करते थे, जहां जाकर कि मैं कुछ देर के लिये भूल जाता था-सब चिन्तायें और लय हो जाता था प्रभु की शान्ति में। जैसा कि पहले प्रकरणों में बता दिया गया है।

यह समय वह था जब कि मैं छोटे छोटे गांवों में रहा करता था। दो फर्लाङ्ग चला कि चैत्य वृक्ष पर पहुँच गया। फालतू समय भी काफी होता था। सो पचास छोटी छोटी झोंपड़ियों का ग्राम होता ही कितना बड़ा है ? चारों ओर बन ही वन पड़ा है, और हैं हरे हरे खेत। परन्तु समय में पलटा खाया और आज मैं रहता हूँ बड़े बड़े नगरों में। जहाँ से यदि कई मील भी चल लिया जाये तो भी मैं बन में प्रवेश न कर सकूंगा। सड़कों आदि पर बड़ा व्याकुल सा वातावरण। और आज इतना समय भी तो नहीं है मेरे पास कि मीलों चला जाऊं वन में भगवान के दर्शन व पूजा करने और घर पर लौट आऊं। सम्भवतः आधा दिन लग जाये इस काम में। मैं गृहस्थ भला कैसे दे सकता हूँ इतना समय ? यदि गुरुदेव की प्रेरणा से या अन्तष्करण में शान्ति की अभिलाषा की प्रेरणा से कुछ समय निकालने का भी प्रयत्न करूं तो बड़ी कठिनता से १५ मिन्ट या आध घण्टा। अव्वल तो इतना समय भी फालतू कहां है आज मेरे पास ?

बन को अनुकूल वातावरण के रूप में प्रयोग में करना आज असम्भव है। अतः कोई अन्य कृत्रिम मार्ग निकालना पड़ेगा, जो भले ही उतना सुन्दर व स्वाभाविक न हो, पर जिस किस प्रकार भी वहां मेरे प्रयोजन की सिद्धि किञ्चित हो सके। और निकल ही आया एक उपाय। नगर ही में एक पृथक स्थान या मन्दिर बना डालो। उसके अन्दर घर सम्बन्धी कोई सामान न रखो। बस हो मेरे प्रभु की प्रतिमा शान्ति के दर्शन के लिये, और हो मन्दिर की दिवारें, जिनके दूसरी ओर भले पड़ा रहे नगर का व्याकुल वातावरण, परन्तु उनके भीतर हो केवल एक शान्ति ही शान्ति। चहुँ ओर दीवारों पर खिचे हों या यो प्राकृतिक चित्र, या शान्त जीवनों के चित्र, या हों शान्ति उत्पादक कुछ गुरु वाक्य। ताकि

इस स्थान में आकर जिधर भी दृष्टि उठाऊं-दिखाई दे एक शान्ति। इसे कहते हैं मन्दिर अर्थात् शान्ति का निवास स्थान। यद्यपि आज इस विलासता के युग में आकर इसमें भी विलासता का विषैला अंश प्रवेश पा गया है। सोने चाँदी की अधिकाधिक सामग्री के रूप में, कुछ वर्तनों के रूप में, छत्र, चमरों के वड़े संग्रह के रूप में, फर्नीचर के रूप में, परन्तु फिर भी यहां अन्यत्र की अपेक्षा शान्ति है। कर्तव्य तो यह है कि इस विषैले अंश को यहां से निकालने का प्रयत्न करूं, और कर भी रहा हूँ। कुछ सफलता भी मिली है। क्योंकि नवीन आदर्श मन्दिरों की स्थापना की जा रही है, जहां न स्वर्ण का छत्र है न चमर, न बर्तन भांडों की खड़ खड़ाहट, न अधिक चौकियों आदि का संग्रह, न अधिक प्रतिमायें न लौकिक आकर्षण। केवल एक विशाल प्रतिमा है और एक वड़ी टेवल या वैठने के लिये कुछ आसन। वस और कुछ नहीं। यह हे मेरे प्रयोजन की सिद्धि में सहाय" शान्त वातावरण।

यद्यपि प्रभु को तो कुछ नहीं, वह तो वीतराग है। कहीं भी वैठा दो ले जाकर। निश्चल व निर्विकल्प ही रहते हैं। पूर्ण जो हो गये हैं। पर मैं तो अभी चलना भी नहीं सीखा हूँ। इसीं कारण मन्दिर में यह विलासता का दृश्य खटकने लगता है आँखों में सो ठीक ही हैं। फिर भी अपना काम निकालना है। यदि आदर्श मन्दिर उपलब्ध हो जाये तो बहुत अच्छा, नहीं तो भागते चोर की लंगोटी ही भली। इन ही मन्दिरों से काम चलाओ। ज़रा अधिक वल लगाना पड़ेगा, इस रूप में, कि दृष्टि के सामने पड़े आकर्षक पदार्थों की ओर मेरा विकल्प खिचने न पावे। परन्तु घर व दुकानादि से फिर भी अच्छा है। अनेकों अन्य विकल्पों में तो छुट्टी मिली ही मिली। दो प्रकार कीं मुख्य वाधायें हैं जो मेरी शान्ति की वाधित करती है। एक इन्द्रिय ज्ञान व उनके द्वारा जाने गये पदार्थ, और दूसरा मन व उसमें उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष व अप्रत्यख पदार्थों सम्वन्धी विकल्प। इन दोनों वाधाओं में से इन्द्रिय ज्ञान सम्वन्धी स्थूल है, क्योंकि वह वाह्य में पड़े पदार्थो का आश्रय लिये विना उत्पन्न नहीं होती, और मन सम्वन्धी वाधा सूक्ष्म है, क्योंकि इसके विकल्पों को वाह्य में किसी पदार्थ के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। मन्दिर के वातावरण व घर आदिक के वातावरण में इतना ही अन्तर है कि घर आदिक में तो दोनों प्रकार की वाधायें सम्भव हैं परन्तु मन्दिर में केवल मन सम्वन्धी। क्योंकि रागात्मक वाह्य पदार्थ वहां दिखाई ही नहीं देते। घर वैठ कर विकल्पों के प्रशमन का पुरुषार्थ करने में दोनों प्रकार की वाधाओं का सामना करना पड़ेगा। जिसमें अधिक वल की आवश्यकता है। और मन्दिर में वैठ कर वही पुरुषार्थ करने में केवल एक वाधा का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक प्रतिमा की उपस्थिति मुझे शान्ति के दर्शन करने में सहायता भी देती है। इसलिये कम वल से भी काम चलता है।

यदि विकल्पों के प्रशमन के लिये पर्याप्त वल मुझ में हो, तो मन्दिर की वास्तव में कोई आवश्यकता न थी। तव तो घर पर वैठे, दुकान पर वैठे, रेल में वैठे, या सड़क पर चलते, किसी स्थान पर भी, किसी समय भी, मैं विकल्पों को दवा कर शान्ति में मग्न हो जाता। परन्तु अनुभव करने पर तो यह जाना जाता है कि जीवन चर्चा में विकल्प वजाये दवाने के अधिकाधिक वृद्धि को ही प्राप्त होते हैं, इसलिये विकल्प प्रशमन के प्रयोजनार्थ घर आदिक का वातावरण प्रतिकूल पड़ता है और मन्दिर का वातावरण अनुकूल। आगे आगे भी सर्वतः यही सिद्धान्त लागू करना पड़ेगा कि अनुकूल

वातावरण में रह कर पुरुषार्थ करने में कम बल लगाना पड़ता है, इसलिये आगे आगे के सर्व प्रकरणों में जहां अन्तरंग विकल्पों के संवरव अर्थात् प्रशमन का अनेक दिशाओं में प्रसार होने लगेगा, जिस किस प्रकार भी प्रतिकूल निमित्तों के त्याग व अनुकूल निमित्तों के ग्रहण करने को दृष्टि में से ओझल नहीं किया जा सकेगा। कारण कि मैं अधिक बल वालों की कोटि में नहीं हूँ। मेरी शक्ति बहुत हीन है। जरा सी बात में ही विकल्प उठ खड़े होते हैं। आगे आगे भी यद्यपि शक्ति बढ़ती चली जायेगी, और वहां वहां तत् तदनुसार अनुकूलतायें बनाने का प्रयास भी बराबर चलता रहेगा। भले पहले पहल की अनुकूलताओं का आगे आगे कोई मूल्य न रह जाये। जैसे कि साधु दशा में पहुँच जाने पर यद्यपि मन्दिर का अधिक मूल्य नहीं रह जाता, परन्तु कोई भी अन्य एकान्त नाम के योग्य स्थान का मूल्य बन जाता है।

२७ मन्दिर में प्रवेश करते समय विकल्पों का त्याग

अब यह तो सिद्ध हो गया कि मन्दिर में आकर अनुकूल वातावरण के कारण मैं चाहूँ तो किञ्चित् शान्ति प्राप्त कर सकता हूँ। परन्तु मन्दिर में आ जाने मात्र को पर्याप्त मान कर यदि सन्तोष कर बैठूं तो क्या उस प्रयोजन की सिद्धि सम्भव है? नहीं। क्योंकि यद्यपि एक स्थूल बाधा टल चुकी है परन्तु अत्यन्त प्रबल मन सम्बन्धी सूक्ष्म बाधा जीतनी है। यदि उस बाधा को जीतने का प्रयत्न किये बिना, तथा बाधा के विवेक हीन केवल साम्प्रदायिक विश्वास के आधार पर ही, मन्दिर में आकर हाथ जोड़ूं और चला जाऊं तो कोई कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये इतना जानना आवश्यक है कि मन्दिर में क्यों आना चाहिये, कैसे आना चाहिये, और वहां आकर क्या करना चाहिये?

उपरोक्त तीन प्रश्नों में से पहले प्रश्न का उत्तर तो दिया जा चुका है कि केवल विकल्पों का प्रशमन करना ही मन्दिर में आने का प्रयोजन है। इसलिये यहां आने से यदि विकल्प किंचित् भी शान्त नहीं होते तो यहां आना निरर्थक है। तीसरे प्रश्न का उत्तर भी लगभग आ गया, कि वहां आकर प्रतिमा में जीवित देव के पूर्व प्रकरणानुसार दर्शन करते हुये निज शान्ति में लय होने का प्रयास करना चाहिये। मन्दिर में भी आकर यदि "यह बड़ा सुन्दर है, यह स्तम्भ संगमरमर के हैं, इन पर बहुत पैसा लगा हुआ है, अभी इसमें इतनी कमी है", इत्यादि विकल्पों में उलझकर देव दर्शन का कार्य भूल बैठूं तो भी यहां आना निरर्थक ही हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि फिर यहां न आयें, बल्कि यह अर्थ है कि यहां आकर इन विकल्पों में उलझने की बजाये यथार्थ देव दर्शन का कार्य करना ही मेरा कर्तव्य है। देव दर्शन व देव पूजा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दर्शन ही पूजन है।

अब यह देखना है कि मन्दिर में कैसे आया जाये? प्रयोजन पर ध्यान दीजिये। विकल्पों के प्रशमनार्थ व शान्ति के अनुभवार्थ आता हूँ यहां। शान्ति के दर्शन तो देव की पूजा से हो जाते हैं। पर विकल्पों का प्रशमन तो स्वयं करना पड़ेगा। विकल्पों की उपस्थिति में देव के भी तो दर्शन न कर सकोगे। नेत्र करते होंगे दर्शन और मन भागता फिरेगा घर व बाजार में। मन्दिर तो केवल निमित्त

मात्र हैं। यदि स्वयं पुरुपार्थ प्रवर्धक विकल्पों का किंचित् त्याग करूं, तो मन्दिर व वातावरण सहायक कहलायें, और यदि मन का व्यापार चलने दूं, इस पर ब्रेक न लगाऊं, तो मन्दिर तो ज़बरदस्ती मुझ से विकल्प छीनने से रहा ? अतः मन्दिर के लिये घर से चलते समय पहिला पग ही जब आगे बढ़ जाये, तब से ही अपना मन्दिर सम्बन्धि कार्य प्रारम्भ करना है।

"अब चला हूँ प्रभु के साथ, तन्मय होने। अपनी शान्ति का, तृप्ति का, स्वाद लेने। परम आल्हाद में नृत्य करने। मानों प्रभु की वीतरागता अभी से घूमने लगी है मेरे हृदय पट पर। अरे चेतन! यह विकल्प क्यों ? क्या नाता है इन पदार्थों से, कुटुम्ब से इस सम्पत्ति से या इस शरीर से तेरा ? सब जड़ या चेतन पथिक जा रहे हैं अपने अपने मार्ग पर, बराबर बढ़ते हुए एक लक्ष्य की ओर न जाने क्यों ? मैं भी जा रहा था अब तक इनकी साथ। पर मुझे मुड़ जाना है दूसरी पगडंडी पर, और इन सबों को जाना है सीधे इसी पगडंडी पर। जाने दो इन्हें। तुझे क्या मतलब कहीं जाये यह। तू अपना मार्ग देख और यह देखें अपना। निभ लिया जितना साथ निभना था। सदा किसका साथ निभता है ? यों ही मिलते और बिछुड़ते रहते हैं। अब इधर मत देख। इस अपने मार्ग की ओर देख। इस पर जाते हुए भी तो कोई न कोई साथी मिल ही जायेगा। घबराता क्यों है ? भले कम पथिक जाते हों इस मार्ग पर, परन्तु जाते तो अवश्य हैं। मार्ग सूना तो नहीं है। वे तो थे सब स्वार्थी, लुटेरे, और इधर मिलेंगे, निःस्वार्थी, करुणाधारी। वे देखो दूर दिखाई दे रहा है कोई जाता हुआ। कितनी शान्त है इसकी चाल" और इसी प्रकार की विचार धारा में बहते न जाने कब आ जाये मन्दिर की डयोढ़ी।

आज भगवान के दर्शन करने जा रहा हूँ। परम अभीष्ट शान्ति की उपासना को जा रहा हूँ। तो सर्व विकल्पों की गठरी छोड़ दे इसी डयोढ़ी के बाहर। इसको सर पर रखे कैसे जायेगा आगे ? और अच्छा भी क्या लगेगा इस घसियारे की दशा में प्रभु के आगे जाता हुआ ? यह माली तो यहां बैठा ही है। ज़रा देखते रहना भाई! वापिस आकर उठा लूंगा, "और इस प्रकार सर्व विकल्पों के भार को त्याग कर, प्रवेश करता हूँ मन्दिर में। मानों आज मैं साधु ही हूँ। मेरे में और साधु में अन्तर ही क्या है ? उसने घर सम्पत्ति को त्याग वैराग्य धारा। और मैंने भी घर सम्पत्ति तथा उनके विकल्पों की गठरी को त्याग वैराग्य धारा। वह भी शान्ति की ओर उन्मुख और मैं भी शान्ति की ओर उन्मुख। रहे यह वस्त्र, सो इनकी कोई मुख्यता नहीं। क्योंकि इस समय देव के अतिरिक्त मुझे कुछ दिखाई ही नहीं देता। यहां वस्त्र बेचारे मेरी दृष्टि में कैसे आवें। "और यह देखो आ गया अब मै साक्षात् प्रभु के सामने।" इसके पश्चात् वही तल्लीनता जिसके सम्बन्ध में पहले काफी बताया जा चुका है।

इस प्रकार अपनी अपनी योग्यता अनुसार किसी निश्चित समय के लिये, १५ मिनट आध घण्टा या एक घण्टे के लिये सर्व संग विमुख होकर, घर गृहस्थी से नाता तोड़ कर, थोड़े समय के लिये मानों मुनि हूँ, मन्दिर में प्रवेश करूं तो मेरे प्रयोजन की सिद्धि हो। और उसी का नाम है वास्तव में मन्दिर जाना। उतने समग के लिये इतनी दृढ़ता होनी चाहिये, जैसे कि सेठ धन दत्त को हुई थी।

धन का लाभ हानि ता तुच्छ सी बात है, यदि पुत्र मृत्यु का समाचार भी आ जाये तो नेत्र न हटे-प्रभु पर से, और कोई विकल्प न आने पावे मन में। "अरे! उस पुत्र का नाता है ही कहां मेरे पास इस समय? वह तो बाहर पड़ा है गठड़ी में। भाई! ज़रा वाहर प्रतीक्षा करो। जब बाहर आऊं तो याद दिलाना। खोजूंगा उस गठड़ी में वह तुम्हारा कागज़ कहीं मिल गया तो। अब तो कुछ याद नहीं पड़ता। अभी दफ्तर का समय हुआ नहीं, शान्ति का भोजन कर लूं, फिर आऊंगा। फिर सुनूंगा कि क्या कहना है तुम्हें। अब इस समय अवकाश नहीं।" ऐसे होने चाहिये विचार उस अवसर पर। तब कहा जा सकता है कि मन्दिर में जाना सफल हुआ। और उसे तू स्वयं अनुभव करेगा। यह है वास्तविक देव दर्शन।

२२
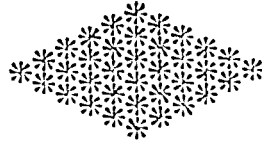
—: गुरु उपासना :—

दिनांक २८ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३५

१—तत्वों की पुनरावृत्ति, २—गुरु परीक्षा की मुख्यता व सार्थकता, ३—गुरु का जीवन एक शिक्षा है, ४—आदर्श गुरु उपासना, ५—देव व गुरु में कथञ्चित समानता, ६—पर होते हुए भी इनका आश्रय क्यों ७—प्रयोजन वश अनेकों गुरु, ८—गुरु परीक्षा की प्रधानता और उसका उपाय, ९—गुरुकी यथार्थ पहिचान वीतरागता, १०—यथार्थ गुरु, ११—अयथार्थ गुरू, १२—कालादि के बहानों का निराकरण।

१ तत्वों की पुनरावृत्ति

पूर्व संस्कारों को विजय कर महान विकल्प सागर से पार हो जाने वाले, तथा गम्भीर प्रशान्त सागर की अथाह गुरुता को प्राप्त हे गुरुवर ! मुझे भी गुरुता प्रदान करें। हे कुशल खेवटिया। मेरी नौका इस भव सागर से पार करो। उस पार, जहां न राग द्वेप को ज्वाला हो और न हो हर्ष शोक की आंधी। हो एक गहन शान्ति। आज मैं अशान्त हूँ। प्रतिक्षण मिलने वाली अन्तरंग की प्रेरणा, मुझे शान्त द्वीप की ओर जाने के लिये मानों वाचाल कर रही है, परन्तु विकल्पों की इस आंधी में अत्यन्त विशाल व भयानक इस भव सागर को इन शक्ति हीन भुजाओं से कैसे पार करूं ?

हे गुरुवर ! यदि जन्मान्ध इस पामर को आंखें प्रदान करके आप यह न दर्शाते कि मेरा घर शान्ति है, और आज मैं अशान्त सागर में गोते खाता हूँ, तो किस प्रकार मुझे आपकी शरण भाती ? मैं कैसे यह समझ पाता कि मैं तो चिदानन्द घन पूर्ण परमेश्वर, आनन्द मूर्ति, तथा ज्ञान शरीरी वर्तमान में स्थित प्रभु आत्मा हूं, चैतन्य हूँ' अमूर्तिक हूँ ?

तथा जीव तत्व के ऐसे श्रद्धान विना कैसे यह विश्वास करता कि, "यह मेरे हैं, मैं इनका हुँ। इनसे मुझे सुख दुःख है और मुझसे इन्हें सुख दुःख है।" इस प्रकार की धारणाओं के साथ इन्द्रियों से दीखने वाले यह, क्षेत्र से पृथक स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिक पदार्थ, अथवा मेरे आंगन में रह कर नृत्य करने वाला यह चमड़े का शरीर व सूक्ष्म कार्माण, अथवा नित्य उठने वाले यह विकल्प आदिक, सर्व पदार्थ "पर" हैं। मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं। इसमें मेरा हित अहित निहित नहीं है। आज तक सदा यही मानता आया हूं कि इनका कार्य मैं करता हूँ और इनके कारण से मेरा काम होता है, इनके लिये मैं काम करता हूँ और मेरे लिये यह काम करते हैं, मेरे स्वभाव में से इनका कार्य अर्थात् लाभ हानि निकलतो है और इनमें से मेरा कार्य बनता है, मेरे आधार पर इनका जीवन व सत्ता है और इनके

ग्राधार पर मेरा जीवन व सत्ता है । मैं न होऊं तो यह न हों,ग्रौर यह न हों तो मैं न होऊं । मैं इनकी रक्षा करता हूँ यह मेरी रक्षा करते हैं । यह न होते तो मेरा कभी का कल्याण हो गया होता, न्याय ग्रन्याय कभी न करता । मुझ निर्दोष को दोषी बनाने वाले यह हैं, मैं तो उज्जवल निर्दोप हूँ । इत्यादि । इस प्रकार की पर-पदार्थ के साथ षट् कारकी ग्रभेद बुद्धि के कारण इनके ही काम में व्यग्रता धारण कर, ग्रपने काम से विमुख मैं ग्रशान्त बना हुग्रा हूँ । ग्रौर मजा यह कि फिर भी चाहता शान्ति ही हूँ । यह सब ग्रापका ही प्रसाद है कि ग्राज मैं इन सबको प्रत्यक्ष पर-पदार्थ के रूप में ग्रपने से विल्कुल भिन्न षट् कारकी रूप से पृथक देखने में समर्थ हुग्रा हूँ । इन सबको ग्रपनी दृष्टि से ग्रजीव तत्व रूप देख पाया हूँ । ऐसी भारी भूल के ज्ञान विना "ग्रजीव इतने होते हैं, इतने प्रकार के होते हैं, इनके लक्षण यह यह हैं" इत्यादि जानने को ही ग्रजीव तत्व का श्रद्धान गिनता रहा ' कभी विश्लेपण द्वारा स्व व पर को जुदा करके नहीं देखा ।

"यदि मेरी भूल है तो हुग्रा करे । इस भूल से मेरी हानि ही क्या है ? इसी प्रकार की धारणा ग्राज तक बनी रही । यह भी कभी सोचने को ग्रवकाश न मिला कि मेरी वर्तमान की दशा क्या है, ग्रौर शान्ति का स्वरूप व उसकी प्राप्ति का सच्चा उपाय क्या है ? उपरोक्त पर-पदार्थो की व्यग्रता में, इच्छाग्रों के ग्राधार पर ग्रर्थात् इच्छाग्रों को बढ़ा चढ़ा कर, मैं शान्ति खोजने बैठा हूँ । महान ग्राश्चर्य है । ग्रापके बिना मुझे इस ग्रन्धकार में कौन यह सुझाता कि यही तो मेरा ग्रपराध है । ग्रौर इस ग्रपराध के ही द्वारा पुष्ट किये गये, नित्य के राग द्वेषादि को प्रेरित करने वाले संस्कार ही मेरा वास्तविक बन्धन है । ग्रशान्ति का मूल है । ग्रापका शाब्दिक उपदेश पाकर ग्राज तक यही मानता ग्राया हूँ कि जड़ कर्मों का मेरे प्रदेशों में ग्राना मात्र कोई ग्रास्रव नाम का तत्व है, ग्रौर उनका किसी विचित्र प्रकार से बन्धान होकर कार्माण शरीर का रूप धारण कर लेना ही बन्ध तत्व है । ग्राज तक ग्रपनी शान्ति ग्रशान्ति को खोजने का प्रयत्न ही नहीं किया । कर्म हैं, ऐसे हैं, वैसे हैं, इस प्रकार के भेदादि की उलझन में उलझा ग्रपने को ज्ञानी मान बैठा, ग्रौर झूठे ग्रभिमान के शिखर पर बैठ, नीचे पड़ी बिलखती ग्रपनी शान्ति पर स्वयं थूकने लगा ।

ग्रापकी महान कृपा से ग्राज वह कुछ रहस्य प्रगट हो जाने पर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है-शान्ति पथ । ग्रशांति के उपरोक्त भ्रमात्मक पथ से बिल्कुल उल्टा, विपरीत दिशा में जाने वाला । धन्य है ग्रापकी बुद्धि ! विष में से ग्रमृत खोज निकाला । ग्रनुमान के ग्रधार पर यह जान कर कि "क्योंकि वहां ग्रशान्ति है, ग्रौर मुझे चाहिये शान्ति । वहां विकल्प हैं ग्रौर मुझे चाहिये निर्विकल्पता "यह सिद्धान्त बना डाला कि शान्ति का मार्ग ग्रशान्ति से बिल्कुल उल्टा ही होना चाहिये । ग्रापने देखा कि ग्रशान्ति उत्पन्न हो रही है पर-पदार्थों का ग्राश्रय लेने से, ग्रत: शान्ति का मार्ग होगा उनका ग्राश्रय छोड़ देने से । ग्रौर इसलिये मुझ पामर को उपदेश में बताने लगे यही रहस्य, कि यदि मैं उन पर-पदार्थों का कर्ता न बनूं उनसे लाभ हानि न मानूं, उनमें रस न लूं, तो ग्रवश्य शान्त हो जाऊं । इसी मार्ग का ग्रर्थात् संवर का प्रकरण चल रहा है । लक्ष्य है पर-पदार्थों का ग्राश्रय कतई न हो । कर्ता बुद्धि के ग्राधार पर होने वाला राग व द्वेष कतई न हो ।

राग ग्रौर द्वेष दोनों सहोदर हैं । "यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।" जहां राग होता है वहां द्वेष होता ही है । कोई द्वेष को बुरा समझे ग्रौर राग को ग्रच्छा माने सो भ्रम है । दोनों

ही आकुलता जनक हैं। स्वयं आकुलता स्वरूप हैं। उनको दूर करना ही होगा। 'यह कतई न हो', ऐसा तो हुआ लक्ष्य। हमें तो इस लक्ष्य की पूर्ति करनी अभीष्ट है। इसे कार्यान्वित रूप देना अभीष्ट है। लक्ष्य मात्र से तो काम चलता नहीं। और उसकी प्राप्ति की जिज्ञासा रख कर उस ओर चले विना वह लक्ष्य भी क्या?

अब देखना यह है कि क्या इस लक्ष्य की प्राप्ति एक समय में हो जानी सम्भव है, अर्थात् क्या सम्पूर्ण राग द्वेष का जीवनमें से विच्छेद किया जाना सम्भवहै? नहीं, लक्ष्य एक समय मनिश्चयें हो जाया करताहै पर प्राप्ति करनेमें अधिक समय लगताहै। लक्ष्य वनाना एक वातहै और उसकी प्राप्ति दूसरी वात। लक्ष्यमें कोई क्रम नहीं होता,परन्तु प्राप्ति के लिये कोई मार्ग होताहै,जिसमें क्रम पड़ता है। उस मार्ग में धीरे धीरे शक्ति अनुसार चलना होता है? इसलिये चलते चलते कोई आगे निकल जाता है और कोई रह जाता है-पीछे। किसी में शान्ति अधिक प्रगट हो जाती है और किसी में रह जाती है-कम। जितना वल लगाओ जितनी तेजी से चलो उतनी ही जल्दी शान्ति के निकट पहुँच जाओ। क्या अधिक वल वाले, क्या हीन वल वाले, उस मार्ग पर चलने की देर है, पहुँच दोनों जायेंगे लक्ष्य पर। कोई पहले और कोई पीछे। अतः प्रभु! अपने को असमर्थ मत समझ। उस मार्ग चलने की सामर्थ्य तुझ में न हो, ऐसी वात नहीं है। चल, भले धीरे धीरे चल।

२ गुरु परीक्षा की मुख्यता व सार्थकता

शान्ति के मार्ग में गमन करते हुए तेरा पहला कदम कहां पड़ेगा भला? वह पड़ेगा देव पूजा में, शान्ति के पूर्ण आदर्श के वहुमान में, उसकी भक्ति व उपासना में, अथवा चैत्य चैत्याकय व शान्त स्वरूप प्रतिमा के आदर्श दर्शनों में, आदर्श पूजा में। पूजा जैसी कि पहले प्रकरणों में वताई गई है! अर्थात् देव कैसा होना चाहिये, प्रतिमा व मन्दिर से क्या लाभ, अनुकूल वातावरण का मन पर प्रभाव पड़ता है इत्यादि, वातें वताते हुए भली भांति यह वात दर्शा दी गई थी कि देव का आश्रय लेने का यह प्रयोजन नहीं है कि वह मुझे ज़वरदस्ती तार देगा। पर यह है कि नमूने के रूप में उसे अपने सामने रख कर मैं अपने जीवन में उसका रूप ढालने का प्रयत्न कर सकूं। जैसा नमूना होगा वैसा ही माल वनाया जा सकेगा। इसलिये नमूने के सम्वन्ध में अत्यन्त सावधानी वर्तने की आवश्यकता है। खूव अच्छी तरह परीक्षा करके, अपनी अभिलाषाओं के अनुरूप ही नमूना अर्थात् देव को उपास्य रूप में ग्रहण करना चाहिये। विना विवेक किये जैसा तैसा भी आदर्श हमें हमारा लक्ष्य नहीं दर्शा सकता।

अव दूसरे पग की वात चलती है। वह है गुरु उपासना। जिस प्रकार ऊपर अच्छी प्रकार घूम फिर के, खूव परीक्षा करके ही, अपने लक्ष्य के अनुरूप देव मैंने पहले खोजा है, उसी प्रकार यहाँ गुरु के सम्वन्ध में भी जानना। गुरु मेरी नाव के खेवटिया हैं। अतः देव से भी अधिक है-उनकी मुख्यता। जैसा कैसा भी गुरु मेरी नाव को किस दिशा में ले जाये, शान्ति की ओर ले जाये या अशान्ति की गहराई में डुवाये यह कौन जाने अतः खूव अच्छी तरह परीक्षा करके ही किसी को गुरु स्वीकार करना योग्य है। गुरु चेतन पदार्थ है। अपने उपदेशों से वह शिष्य की वुद्धि को अपने अभिप्राय के अनुसार घुमा सकता है। अतः गुरु को स्वीकार करने से पहले यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इसका

आन्तरिक अभिप्राय क्या है ? इसका जीवन शान्ति की ओर जा रहा है या अभिलाषाओं के पोषण की ओर ?

३ गुरु का जीवन एक है शिक्षा

देव पूजा वत् ही गुरु उपासना का प्रयोजन गुरु को प्रसन्न करने का या रिझाने का नहीं। बल्कि उनके शान्त स्वरूप पर से अपना शान्त स्वरूप निहारना, उनके गुणों पर से अपने गुणों को स्मरण करना, तथा उनके जीवन पर से अपने जीवन में कुछ परिवर्तन की प्रेरणा लेना है। इस मार्ग में मेरी प्रगति बराबर बढ़ती हुई चली जानी चाहिए। यद्यपि देव पूजा करते समय आध पौन घण्टे के लिए, अन्तरंग की प्रगति उस समय अवश्य कुछ शान्ति की ओर बढ़ी थी, पर दैनिक चर्या के अन्य समयों में लौकिक धन्धों में फंस कर वह पुनः मन्द पड़ जाती है, लुप्त वत हो जाती है। गुरु का जीवन मुझे मन्दिर मात्र में सीमित कर्तव्य ही नहीं दर्शाता, बल्कि चौबीस घण्टों की मेरी जीवन चर्या में कुछ योग्य अन्तर डालने की प्रेरणा देता है, तथा इस संशय को दूर करता है कि यह शान्ति पूर्ण हो सकनी शक्य भी है या नहीं। गुरु से प्रश्न करके नहीं बल्कि उसके जीवन पर से यह बात पढ़ी जा सकती है, कि यह शान्ति अवश्य ही पूर्ण हो सकती है। और मुझे अपने जीवन में कुछ इस प्रकार से परिवर्तन करना चाहिए। जैसा कि देव पूजा के प्रकरण नं० ११ के अन्तर्गत दृष्टान्त में प्रगट करके दिखाया गया था (देखो प्रवचन नं० ३१ दिनांक २४ जुलाई १९५९)। एक जीवित आदर्श से कुछ शाब्दिक उपदेश न मिलने पर भी एक भारी उपदेश मिलता है। यह उपदेश कुछ ऐसा होता है जो सीधा जाकर जीवन पर टकराता है, और जीवन की दिशा को घुमा देता है। दो वर्ष की स्वाध्याय भी इतना नहीं सिखा सकती जितना कि एक मिनट की गुरु उपासना सिखा देती है। गुरु जीवित आदर्श है इसलिये इनकी उपासना या दर्शन मेरे जीवन में एक फेर ला सकने में समर्थ है। यद्यपि गुरु मौखिक उपदेश भी देते हैं। जिनसे बड़े-बड़े सिद्धान्तिक रहस्य खुल जाने के कारण मार्ग सरल बन जाता है, परन्तु जीवन को प्रेरणा देने वाला उपदेश वचनों से नहीं बल्कि स्वयं उनके जीवनों से लिया जाता है। शाब्दिक उपदेश हम शास्त्र में से भी पढ़ सकते हैं। पर जीवित उपदेश हमें गुरु के सिवाय कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिए गुरु उपासना है इस मार्ग में दूसरा पग, मार्ग का बड़ा आवश्यक अंग।

४ आदर्श गुरु उपासना

मेरी भान्ति उन गुरुओं ने भी प्रथम पग देव पूजा में ही रखा था। वहां से चलते चलते ही उन्होंने अपनी अन्दर से आती हुई कोई गर्जना सुनी कि "प्रभु! तू सिंह है; सिंह की सन्तान है; त्रिलोकाधिपति है। तू अपने को पामर व कायर मत समझ। अपनी जाति को पहिचान। जिनका तू उपासक बना है, वही तू है।" उससे ही इन्हें जागृति मिली प्रेरणा मिली, और बन गये वीर, सच्चे वीर, इन्द्रिय विजयी। ऐसा वीरत्व अपने अन्दर जागृत करने के लिये ही गुरु उपासना की प्रधानता है। गुरु उपासना का अर्थ गुरु के पांव दबा देना, या उनकी सच्ची झूठी प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करना मात्र नहीं है। इसका आन्तरिक अर्थ कुछ और ही है।

होने से ऐसे शब्द निकल ही जाया करते हैं।) (जैसा कि देव पूजा के प्रवचन नं० ३१ दिनांक २४ जुलाई १९५६ के प्रकरण नं० १२ में बताया गया था) गृहस्थ में आप अपने को संतान का सहायक मान रहे थे, परन्तु कितनी जल्दी छोड़ दी वह मान्यता ? मेरा भी यह भ्रम दूर कर दीजिए प्रभु ! आपने इस संसार से दूर एक नया संसार बसाया है। कितना सुन्दर है यह संसार जहां शान्ति सुन्दरी के साथ आप किलोल कर रहे हैं। जहां इस सुन्दरी की कोख से आपके सन्तति उत्पन्न हुई है, निष्कपटता व निष्कषायता तथा अन्य अनेक सद्गुण। मुझे भी वहीं ले चलिये प्रभु ! कितने स्वतन्त्र हैं आप ? न है वस्त्र की आवश्यकता न धन की। न किसी की सहायता की आवश्यकता न इन्द्रादि पदों की। धन्य है आपकी स्वतन्त्रता को, धन्य है आपकी निर्भयता को, धन्य है आपकी साम्यता को। सुख व दुख में, अनुकूलता व प्रतिकूलता में, सदा समान भाव। सदैव अपने को ही निहारा करते हैं। मुझ पर भी करुणा कीजिये नाथ। यह भाव व शक्ति मुझ में भी प्रदान कीजिये।

"देखिये भगवन् ! आपका वीर्य कितना बढ़ा हुआ है कि आपने कुटुम्बादि से ममत्व छोड़ा तो छोड़ा, परन्तु इससे भी आगे आपने तो मेरी ऐसी बुद्धि को, कि "क्या गर्मी सर्दी आदि की बाधायें सहन करने को मैं समर्थ हो सकूंगा ?" दूर करके यह सिद्ध कर दिया है कि मैं अवश्य सहन कर सकूंगा। आप धन्य हैं। "परन्तु इस पर से मेरे जीवन में कुछ प्रेरणा मिले तभी तो यह 'धन्य', धन्य है। आज के लोकों को सम्भवतः यह भ्रम होता है कि दिशाओं मात्र को वस्त्र रूप से ग्रहण करते हुए, आकाश की खुली छत के नीचे, गर्मी सर्दी को कुछ जबरदस्ती केवल भावुकता वश सहन करते हुए, आप कष्ट सहन कर रहे हैं, और वह कष्ट करना ही आपको मुक्ति दिला देता है। परन्तु यह केवल भ्रम है। अब मुझे आपके प्रसाद से तत्वों का प्रकाश मिला है। कोई जीव अशान्ति के मार्ग में से शान्ति पा नहीं सकता, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है। आपके जीवन को तपश्चरणों का जीवन कहा जाता है। परन्तु क्या जाने क्यों मुझे तो वह फूलों की सेज पर विश्राम करता प्रतीत होता है। यह सुख का मार्ग है। इसमें दुख है ही नहीं। कड़ाके की सर्दी सहन करते हुए भी आपकी मुखाकृति देखने पर आपके अन्तर में कल्लोलित शान्ति रस का सागर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अशान्ति की एक रेखा को भी वहां प्रवेश कहां ? यदि सर्दी आदि सहन करने से आपको दुःख होता तो आपके अन्दर अशान्ति होती। और वह आपके मस्तक पर आये बिना न रहती ? परन्तु यहां वह दीखती ही नहीं।

अब मैं जान पाया हूँ, कि यह बाधायें आपके लिये बाधायें नहीं हैं। आपका वीरत्व जागृत हो चुका है। आज आपने साक्षात् शत्रुओं को ललकारा है। शत्रु सामने खड़े हैं। परन्तु किस में सामर्थ्य है कि आपको डिगा सके ? धन्य है यह साहस, कि यह बात प्रत्यक्ष दिखा दी है। शब्दों से नहीं, वरन् अपने जीवन से। आप कितने बड़े योद्धा बन कर युद्ध क्षेत्र में उतरे हैं, जहाँ बड़े से बड़ा शत्रु आता है-आपको विचलित करने के लिये-आपकी परीक्षा करने के लिए। पोष माघ में चलने वाला तीव्र वायु का वेग, रात्रि को कितना ठण्डा कर देता है, परन्तु आप ऐसी रात्रि में भी धैर्य और शांति से, चिन्तवन में निजानन्दा रस पान ही किया करते हैं। आपके साहस को देख कर मानों जन सामान्य को कम्पा देने वाला वह तुषार स्वयं कम्पायमान हो गया है आज। वह भागा जा रहा है न जाने किस ओर ? वह आपके प्रहार से मानों भयभीत होकर आज खण्ड खण्ड हो, हिम के रूप में आप के चरणों में आ पड़ा है ?

इस प्रकार के भावों से गुरु का स्वरूप देख कर, अपनी शक्ति का स्वीकार करना ही वास्तव में गुरु उपासना है। और यदि मैं गुरु उपासना करूं और करता ही चला जाऊं, जब तक कि वीरत्व प्राप्त न कर लूं, तो क्या मैं समझ न पाऊंगा कि मेरे लिये भी वैसा बन जाना सम्भव है ? और क्या इससे मेरी गति इस मार्ग में और न बढ़ेगी ? इस उपासना के प्रताप से मेरा लक्ष्य और निकट आ जायेगा। अतः हे कल्याणार्थी ! हे शान्ति पथ के पथिक ! राग की शरण को छोड़ अब वीतरागी गुरु की शरण में जा।

दिनांक २९ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३९

५ देव व गुरू में कथञ्चित समानता

शांति की प्राप्ति करने चला हूं। उसकी प्राप्ति से पहले 'वह क्या है' यह जानना आवश्यक है। ऐसा न हो कि हीरे के बजाय कांच ले आऊं। यद्यपि पहले शांति के स्वरूप सम्बन्धी प्रवचन में चार प्रकार के शांति के चित्र खेंच कर उसके झूठे व सच्चे पने की परीक्षा कर ली गई थी। परन्तु नमूना देखे बिना उस रहस्य को समझना कुछ कठिन है। इसलिये शांति का नमूना देखने की आवश्यकता है। देव तो पूर्ण शांति के आदर्श हैं ही-परन्तु उनसे किञ्चित् कम दशा में गुरु भी पूर्ण वत् ही शांति के आदर्श हैं। क्योंकि बाह्य से देखने में देव व गुरु दोनों की शांति में कुछ अन्तर दिखाई नहीं देता। अंतरंग में भले ही कुछ अंतर हो तो हो। उसको वह स्वयं जाने। मुझे उसमें क्या ? इसलिये शांति के मार्ग में जितने वन्दनीय व पूजनीय देव हैं उतने ही गुरु भी हैं। बल्कि किसी अपेक्षा से गुरु का ध्यान मेरी दृष्टि में देव से भी ऊंचा है ! क्योंकि मुझे कीचड़ से निकाल कर गुरु दर मुंह आकर, वह मुझे मेरा हित न दर्शाते तो देव का परिचय भी मुझे कैसे होता ? मैं इस उत्तम मार्ग में आकर अपने जीवन को किञ्चित् भी शांत कैसे बना पाता ? शांति की अपेक्षा देखने पर तो पांचों ही परमेष्ठियों का एक स्थान है। 'आचार्य कुछ ऊंचे हैं, उपाध्याय कुछ नीचे हैं, अर्हन्त सबसे ऊंचे हैं" इत्यादि। इस प्रकार का भेद एक वन्दक की दृष्टि में है ही नहीं। क्योंकि वास्तव में वह न देव को वन्दता है न गुरु को वन्दता है। उसका वन्दन तो है केवल एक शांति के लिये, जो पांचों में ही उसे बाह्य में समान रूप से दिखाई देती है।

६ पर होते हुए भी गुरू का आश्रय क्यों

किसी को पूजने में व्यक्ति का कोई न कोई तो स्वार्थ होना ही है। और इसी लिये धन का इच्छुक लक्ष्मी को पूजता है, वही बाट तराजू गज आदि को पूजता है। जो [illegible] नहीं पूजता। उसके अंतरंग में धन प्राप्ति का लक्ष्य अवश्य है। इसी प्रकार पंच परमेष्ठी की पूजा में भी मेरा कोई न कोई स्वार्थ अवश्य होना चाहिये। वह स्वार्थ क्या है ? "तू चैतन्य पदार्थ है, गृह सब स्त्री पुत्र धन धान्यादि तुझ से भिन्न हैं। शरीर, रागद्वेषादि यहां तक कि स्वाभाविक पर्याय भी किसी अपेक्षा 'पर' है। ज्ञान में इनका आश्रय आने पर कुछ रागादिक विकल्प उठे बिना नहीं रहते। अतः इनका आश्रय छोड़े बिना शांति मिलनी असम्भव है।" इस प्रकार एक ओर तो पर तत्व को छोड़ने का आदेश दिया जा रहा है, उसे अनिष्ट बताया जा रहा है और दूसरी ओर देव व गुरु का आश्रय लेने

की, उनकी पूजा, वन्दना आदि करने की प्रेरणा। क्या देव व गुरु स्व हैं ? यह भी तो पर हैं ? फिर उस ही का निषेध और उसी का ग्रहण ? कैसी अजीव बात है ? समझ में नहीं आती ? सो भाई ! ऐसी बात नहीं है। पर तत्व का आश्रय तो सदैव ही अशांति का कारण है। हमारा कर्तव्य तो एक मात्र निज शांति में ठहरना ही है। परन्तु क्या करें, अल्प दशा में यह सम्भव नहीं दीख रहा है ? पूर्व प्रवल संस्कार वश, अधिक देर शांति में स्थिरता रहती नहीं। पुनः पुनः लौकिक पर-पदार्थों की ओर ही उपयोग भागने का प्रयत्न करता है। इसलिये यदि पर तत्व का ही आश्रय लेना है तो किसी ऐसे का ही ले, जिससे लौकिक तीव्र रागात्मक विकल्प तो न उठ पावें। विकल्प ही उठे तो शांति सम्वन्धी तो उठें। और इसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये शांति को प्राप्त किन्हीं पर तत्वों का आश्रय लेने के लिये कहा जा रहा है। लौकिक पर पदार्थों का आश्रय पराश्रय के लिये होता है, इन में से रस लेने के लिये होता है, पर यह आश्रय पराश्रय छुड़ाने के लिये है।

यहाँ वड़े भारी विवेक की आवश्यकता है। क्योंकि पराश्रय की वात है। वड़ी देख भाल कर, ऐसे का ही आश्रय लेना योग्य है जिनमें कि कुछ मेरे लक्ष्य विन्दु की आभा दिखाई दे, शान्ति दिखाई दे, वीतरागता दिखाई दे। यहां 'पर' के आश्रय से अर्थात् गुरु के आश्रय से उठने वाली मेरी अपनी ही भावनायें, क्योंकि मुझे मेरी शान्ति की याद दिलाती प्रतीत होती है, निज शान्ति के दर्शन कराती प्रतीत होती है, इसलिये वह 'पर' का आश्रय भी स्व के आश्रय के लिये ही है। भविष्यत की वात नहीं वर्तमान में ही उसके आधार पर मैं अधिकाधिक स्व की ओर झुकता प्रतीत होता हूँ। अतः वाह्य में देव गुरु का पराश्रय अन्तरंग में निज शान्ति का ही आश्रय है। दोनों क्रियायें साथ साथ चल रहीं हैं। लौकिक पर पदार्थों से वाह्य निवृत्ति, देव गुरु में वाह्य प्रवृत्ति, देव गुरु में अन्तरंग निवृत्ति, स्व शान्ति में अंतरंग प्रवृत्ति। निवृत्ति व प्रवृत्ति दोनों मार्गों का कितवा सुन्दर समन्वय ? यही है पंच परमेष्ठी की पूजा या उपासना में मेरा स्वार्थ। यहां विवेक की माँग है, कि यदि इस अल्प दशा में तुझे पर का आश्रय लेना ही है, तो किसी ऐसे का ले जो तेरे लक्ष्य के अनुकूल हो।

७ प्रयोजन वश अनेकों गुरू

यद्यपि गुरु के सम्वंध में भी देव वत् निश्चित् रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ही गुरु है। क्योंकि जिससे अपने जीवन के लिये कोई भी हित की वात सीखने में आये, वह गुरु है। और इस प्रकार एक जुआरी का गुरु जुआरी और एक चोर का गुरु चोर ही हो सकता है। अन्य नहीं। लेकिन जीवन को उन्नत वनाने के लिये लौकिक विद्या प्रदान करने वाले स्कूल के मास्टर भी गुरु हैं। परंतु यहां जीवन सम्वंधी कोई वात सीखना अभीष्ट नहीं है अतः वे लौकिक गुरु यहां गुरु नहीं कहे जा सकते। शांति सम्वंधि कोई वात जिससे सीखने में आवे सो ही यहाँ गुरु कहा जा सकता है। इस प्रयोजन के लिये भी, कदाचित् अनेकों कुछ ऐसे व्यक्ति या पशु व जड़ पदार्थ तक भी गुरु वनते हुए पाये जाते हैं, कि जिन वेचारों को यह भी पता नहीं कि शांति किस चिड़िया का नाम है। जैसे सारी रात ग्राहक की प्रतीक्षा में विता देने पर अंत में प्रातः को निराशा के कारण निद्रा की गोद में चली जाने वाली वेश्या, "निराशा संतोष की जननी है" ऐसा उपदेश देने के कारण गुरू मानी जा सकती है। अथवा रोटी के टुकड़े को लिये हुए चील पर अन्य चीलों को झपटते देख यह उपदेश मिलता है कि परिग्रह दुख का और झगड़े का मूल है; अतः इस दृष्टि से वह चील भी गुरु कही जा सकती है। तथा दाल के सोये को देखकर, दाल व उसके छिलके वत् "चैतन्य तत्व व शरीर की पृथकता" का उपदेश मिल जाने के कारण, कदाचित दाल भी गुरु है।

परंतु यहां शांति का उपदेश देते हुए भी ऐसे जीवों व पदार्थों को गुरु स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें से किसी का भी ज़ीवन शांति का आदर्श नहीं है। यहां केवल वीतरागी व शांत प्रवृति मनुष्य को ही गुरु कहा जा सकता है- भले ही शब्दों में उपदेश देने की योग्यता भी उसमें न हो। क्योंकि शब्दों के द्वारा वह शिक्षा ग्रहण नहीं की जा सकती जो विना शब्दों के ही केवल जीवन पर से कर ली जा सकती है। जैसा कि पहले ही देव पूजा के प्रकरण में, जिज्ञासु को सेठ के जीवन से साम्यता की शिक्षा मिलने का दृष्टान्त दिया जा चुका है। (देखो प्रवचन नं० ३१ दिनांक २४-७-५६ प्रकरण नं० ११) ऐसे वीतराग व शांत जीवन वाले व्यक्ति भी जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त यथा योग्य रूप में अनेकों प्रकार के वेषों सहित हो सकते हैं। जैसे कि एक सच्चा ज्ञानी गृहस्थ भी किंचित् शांत व संतुष्ट जीवन के कारण, गुरु कहा जा सकता है। परन्तु यहां उनकी भी वात नहीं है। क्योंकि गृहस्थ सम्बंधि अथवा शरीर रक्षण सम्बंधि, जो कुछ भी अधिक या हीन परीग्रह उनके पास देखने में आता है, उनके जीवन में अधिक या हीन अभिलाषाओं का, राग व अशान्ति का प्रदर्शन कर रहा है। जिससे कि वे शान्ति के आदर्श नहीं कहे जा सकते।

८ गुरू परीक्षा की प्रधानता व उसका उपाय

इस लिए गुरु की परीक्षा करनी आवश्यक हो जाती है। देव की परीक्षा भी आज इतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि गुरु की। क्योंकि जो देव आज उपलब्ध है, वह जड़ है। गुरु चैतन्य है। वह बुद्धि पूर्वक उपदेश द्वारा प्रेरित करके अपने आश्रित का उपकार भी कर सकता है और अपकार भी। परन्तु परीक्षा कैसे करें? देव की परीक्षा तो केवल वाह्य की नग्नता, निष्परिग्रहता व नासाग्र दृष्टि आदि चिन्हों से कर लेनी सहल है। वहां तो अन्तरंग भावों की परीक्षा का प्रश्न ही नहीं है। परंतु गुरु के सम्वंध मे तो वड़ी सावधानी वर्तनी पड़ेगी। उसकी परीक्षा केवल वाह्य रूप पर से ही करनी पर्याप्त नहीं है। अंतरंग अभिप्राय पर से करनी होगी। क्योंकि हो सकता है कि किसी का वाह्य वेष नग्न हो, पास में कुछ परिग्रह भी न हो, रहता भी वन में हो, दृष्टि भी नासिका पर टिकाई हो, मुख पर कुछ शांति भी प्रतीत होती हो, पर अंतरंग अभिप्राय उसका मलिन हो। अतः यहां परीक्षा करने के लिये कुछ सूक्ष्म दृष्टि करने की आवश्यकता पड़ेगी। रूढ़िवाद से काम न चलेगा।

यदि आदर्श के अनुकूल गुरु उपलब्ध नही हैं तो जिस किसी को गुरु स्वीकार कर लेना भी ठीक नहीं है। स्वर्ण के अभाव में पीतल को स्वर्ण मानने के लिये कौन तैयार हो जायेगा? जब लौकिक बातों में इतनी परीक्षा करता हूँ, तो यहां तो हित अहित का प्रश्न है। भगवान कह रहे हैं कि तू ज्ञानी की सन्तान है, अपने पिता को लांछन मत लगाना। मैं त्रिलोक का व त्रिकालज्ञ का पुत्र हूँ। मुझे वैसा ही बनना है। परीक्षा के विना कोई वात स्वीकार कर लेना मेरा काम नहीं। आज तक जिस किसी को भी गुरु स्वीकार करता आया हूँ। क्योंकि वास्तव में मुझे पता ही नहीं था कि मुझे क्या बनना है। पर आज यह वात जान जाने के पश्चात् कि मुझे पूर्ण वीतरागी और शान्त बनना है, मैं जिस किसी को गुरु स्वीकार नहीं कर सकता।

जौंहरी की दुकान खोली है। इसमें मिट्टी भरने से काम न चलेगा। हीरे ही भरने होंगे। उसके लिये पहले यह पहचानना होगा कि हीरा किसको कहते हैं। अध्यात्म की दुकान में सच्चे गुरु को ही प्रवेश है। अन्य को नहीं। अतः सच्चे गुरु की पहिचान कीजिये बिना काम न चलेगा। पर ऐसा कहना ठीक नहीं कि हम तो वाह्य का रूप देख सकते हैं, अंतर का अभिप्राय कैसे जाने? [illegible]

मुखाकृति को देखकर पहिचान लेता है कि इस समय वह उसे क्रोध से मार रहा है कि प्यार से। यदि क्रोध से मारे तो रो देता है, और यदि प्यार से तो हंस देता है। एक बालक में अंतर अभिप्राय जानने की शक्ति है, तुझमें कैसे न होगी ? कुछ मेहनत अवश्य करनी होगी।

कुछ दिन उसके निकट सम्पर्क में रहना होगा। उसकी सर्व दैनिक क्रियाओं को ध्यान से पढ़ना होगा। गमनागमन करते समय दृष्टि रखनी होगी। उपदेशादि देते समय या किसी अन्य से व अपने शिष्य से बातें करते समय ध्यान से सुनना होगा। उसकी भोजन चर्या देखनी होगी। उसके उपदेश का ढंग व वचन माधुर्य की ओर ध्यान देना होगा। वस्तुओं को उठाते धरते उस पर दृष्टि रखनी होगी। शौचादि को जाते समय भी उसे निहारना होगा। सामायिक, वन्दना या ध्यानादि करते समय भी ध्यान से उसकी स्थिरता, अस्थिरता को देखना होगा। सर्व अवसरों पर उसके शरीर के हाव भाव आदि को पढ़ना होगा। मस्तक व मुखाकृति पर नित्य ही आकर विलय हो जाने वाले भावों को पढ़ना होगा। फालतू समय में सिद्धान्तिक चर्चा करके, उसके उत्तरों पर से, तत्व सम्बन्धी अन्तरंग अभिप्राय की जांच करनी होगी। इस प्रकार करने से मैं उसके अन्तरंग अभिप्राय को न जान पाऊं, यह असम्भव है। इतनी योग्यता सब में है। परन्तु यदि आंखों पर पट्टी बाँध कर परीक्षा करने का प्रयत्न ही न करूं तो लक्ष्य को कैसे प्राप्त करूंगा ? लौकिक बातों में इतना परिश्रम करना पड़ता है। परम हित की बात बिना परिश्रम कैसे मिलेगी ?

९ गुरू की यथार्थ पहिचान वीतरागता

गुरु के अन्दर वीतरागता होनी चाहिये यही गुरु की वास्तविक पहिचान है। यदि बाह्य में वस्त्रादि का परिग्रह है, उसको तो गुरु मानने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, क्योंकि वहां तो राग का साइन बोर्ड ही लगा है। परीक्षा तो उसकी करनी है कि जिसने यह साइन बोर्ड ही उतार दिया है। जौहरीकी दुकानमें हीरे ही होने चाहिये काँच नहीं। अतः केवल बाह्यकी निष्परिग्रहता पर से गुरु की पहिचान नहीं हो सकती। यह फोकट की वस्तु नहीं, कि कोई भी नग्न हो जाये और बन बैठे गुरु। हित और अहित का प्रश्न है। जीवन मृत्यु का प्रश्न है। ज्ञानी किसी को गुरु केवल इसलिये स्वीकार नहीं करता कि वह नग्न है। वह तो उसको कसौटी पर कसता है।

दिनांक ३० व ३१ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३७ व ३८

भगवान आत्मा को भगवान बनने की इच्छा हुई है। वर्तमान दशा से कम्पन छूटा है। इसे भव सागर के रूप में देखने लगा है। इसे पार होने के लिये खेवटिया की खोज है, जो ऐसा न हो कि बीच में ही डुबा दे। अतः गुरु की परीक्षा की बात चलती है। बाह्य वेष के धारी अनेक व्यक्ति आज गुरु होने का दावा कर रहे हैं। किस को स्वीकार करूं ? किस का आश्रय लूं ? घबरा नहीं आत्मन् ! देख, कुछ लक्षण गुरु देव स्वयं बता रहे हैं-गुरु परीक्षा करने के लिये।

१० यथार्थ गुरू

गुरु वह होता है जो वीतराग व शान्त हो। जिसके जीवन में कषाय की रेखा दिखाई न देती हो। विषय पोषण का भाव जिसमें से जाता रहा हो। पांचों इन्द्रिय जिसने वश में कर ली हों।

छोटे बड़े प्राणियों के प्रति जिसके हृदय से दया उमड़ी पड़ती हो। षट् आवश्यक क्रियाओं में जो सदा तत्पर रहता हो। केश लुंचनादि क्रियाओं को करके ख्याति न चाहता हो। निज हित के लिये चारित्र पालन करता हो, दिखाने के लिये नहीं। जिसके पास धागे का ताना मात्र भी न हो। नग्न रहता हो। गर्मी सर्दी को न गिनता हो। कमण्डल, पीछी, व एक दो शास्त्र, इन तीन वस्तुओं के अतिरिक्त, चौथी वस्तु को अपने पास न रखता हो। शास्त्र भी अधिक न रखता हो। जहां पहला शास्त्र पढ़ कर पूरा हो गया, उसे वहीं छोड़ दिया, और वहाँ से दूसरा ले लिया। इस प्रकार पीछे से लेकर आगे तक छोड़ता चला जाता हो। अपने पास संग्रह न करता हो। किसी दिशा विशेष में जाने का लक्ष्य न रखता हो। जिधर नाक उठी चल दिये।

जो भोजन तो करता हो पर केवल संयम की रक्षा के लिये, शरीर पोषण के लिये नहीं। इस प्रकार से कि दातार को बाधा न हो। जैसे भ्रमर फूल पर बैठे, रस ले और उड़ जाये, पर फूल ज्यों का त्यों बना रहे। एक भी पंखड़ी झड़ने न पाये। जैसा कैसा बना बनाया मिल जाये और ले ले। केवल संयम की गाड़ी को लक्ष्य की ओर खेंचने के लिये लेता हो। जैसे चूं चूं करती गाड़ी के धुरे में, थोड़ी थोड़ी देर के पश्चात् तेल दे देते हैं। केवल इसलिये कि जिस किस प्रकार यह एक बार घर पहुंच जाये। भोजन में स्वाद अस्वाद, सलोने अलोने, चिकने रूखे आदि की ओर जिसका ध्यान न जाता हो। खड्डा भरने से मतलब हो। दातार के गरीब अमीर पने से जिसे मतलब न हो। जैसे गाय को घास खाने से ही मतलब है, चाहे चक्रवृति के महल में खड़ी हो चाहे भिखारी की कुटिया में। ऐसी निरपेक्ष बुद्धि से जो भिक्षा पूर्वक बिना याचना किये आहार ग्रहण करता हो।

लौकिक जन संसर्ग से जो दूर रहना पसन्द करता हो। जो सदा धार्मिक चर्चा ही करता हो। लौकिक कथायें न करता हो। भारत में क्या हो रहा है उसे परवाह नहीं। विश्व में क्या बीत रहा है उसे चिन्ता नहीं। कोई चांद पर जा रहा है या एटम बम बना रहा है उनकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं। ऐसी बातें न करता है न पूछता है। न लौकिक समाचार पत्र पढ़ता है। भोजन सम्बन्धी बातें नहीं करता। भोजन को दण्ड समझता है। भोजन करने में जो समय चला गया उसे अपराध मानता है। भोजन की चर्चा में समय क्यों खोये? स्त्री आदि की सुन्दरताओं की चर्चा की वार्ता नहीं करता है। चोर डाकुओं आदि की बातें नहीं पूछता है। या तो मौन रहता है। और बोलता है तो आत्म हित सम्बन्धी बात ही करता है।

कोटि जिव्हा लगाकर भी जिनके गुणों का कथन होना असम्भव है, उनके गुण वर्णन करने के लिये यह मेंडक टरटर कर रहा है, सो इसका दुःसाहस है।

११ अयथार्थ गुरू उसका जीवन यदि रागात्मक हो, अन्तरंग में जिसके कषाय पड़ी हो, वह वीतरागी नहीं कहला सकता। जिसे बात करते हुए या दूसरे के किसी प्रश्न पर, या अपनी बात कटती देख कर क्रोध आ जाता हो। जिसे वचन पर काबू न हो। 'इस बात का दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ेगा' इस विवेक से शून्य हो, जो जी में आये बोल देता हो, वह गुरू नहीं हो सकता। जो कषाय वश अपने मुख से अपनी प्रशंसा करते हिचकिचाता न हो, वह गुरू नहीं हो सकता। जिसके अन्दर कुछ अभिप्राय पड़ा हो, और बाहर में क्रिया कुछ और करता हो, जैसे खोया, मेवा व फल आदि का भोजन करने की जिज्ञासा रखकर अन्न छोड़ देता हो, वह गुरू नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति को भले बाह्य का त्याग दिखाई दे, पर अन्तरंग में माया चारी पड़ी है। जिसके अन्दर लोभ की प्रवृत्ति बराबर चल रही हो। किसी बहाने से भी पैसा एकत्रित करने की पड़ी हो। संस्थायें खोल कर, ग्रन्थ मालायें चला कर, या किन्हीं उपायों से चन्दा इकट्ठा करता फिरता हो वह गुरू नहीं हो सकता। जिसमें ख्याति का लोभ पड़ा हो, शास्त्र इसलिए लिखता हो कि मेरी प्रशंसा हो, प्रवचन इसलिए देता हो कि मेरी प्रशंसा हो। इस प्रकार कषायों से जो पीड़ित हो वह गुरू नहीं हो सकता।

जिसमें विषय पोषण का भाव पड़ा हो और उसके पोषणार्थ वह अनेकों अयोग्य क्रियायें करते हुए हिचकिचाता न हो। जैसे दातार की प्रशंसा करता हो-इस अभिप्राय से कि यह अच्छा स्वादिष्ट भोजन देगा, या मेरी अधिक सेवा करेगा। अथवा उसका सन्देश दूसरे गांव में पहुंचा देता हो। अथवा उसे कोई उसके भाग्य सम्बन्धी बात बताता हो। अथवा उसे यंत्र-मंत्र या तावीज़ गण्डे बना कर देता हो। अथवा बाज़ार भाव का उतार चढ़ाव बता देता हो। उनके बच्चों को देख कर, 'यह बड़ा होनहार है' इत्यादि रूप से, उसके मुंह पर उनकी प्रशंसा कर देता हो, उनके प्रति सहानुभूति दिखाता हो। किन्हीं लौकिक कार्यों के सम्बन्ध में अपनी अनुमति दे देता हो; वह गुरु नहीं हो सकता।

जिसमें दया न हो, जो रूढ़ि वश केवल बाह्य क्रियाओं को करता हो, पीछे से चींटी आदि छोटे जन्तुओं को हटाते हुए भी जिसके नेत्र किसी अन्य ही दिशा में देखते हों। जिसे मनुष्य या दातार के कष्ट का तनिक भी विचार न हो। दातार के प्राण पीड़न करके अर्थात् उसपर भार बन कर आहार लेता हो। किस अन्य व्यक्ति द्वारा अपनी रुचि अरुचि दातार पर प्रगट करा देता हो। ऐसे त्याग कर दिये हों जिनको निभाना एक साधारण गृहस्थ के लिए अत्यन्त कठिन हो या अन्न का भोजन छोड़ कर दूध व फलों का रस पीता हो। अर्थात् आठ आये या रुपये का भोजन छोड़ कर दस रुपये का भोजन एक समय में कर लेता हो, उसे अहिंसा महाव्रत कैसा ? उसे तो न्याय और अन्याय का भी विचार नहीं। केवल इन्द्रिय पोषण का विचार है। दातार चाहे कर्ज लाकर बनाये। स्वयं अपने पर काबू करने की बजाये यह कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेता हो, कि "दातार जो बनाता है ले लेते हैं। हम कहने थोड़े ही जाते हैं। वह न बनाये" इत्यादि, वह गुरु नहीं हो सकता। उसे यह भी भान नहीं कि दातार किस भक्ति वश कर्ज़ा लाकर भी बनाने को तैयार है। उसपर तेरी इस प्रवृति से कितना बड़ा भार पड़ रहा है। उसे अहिंसा महाव्रत कैसा ?

जिसे वचन पर काबू नहीं, "यह वचन दूसरे को इष्ट पड़ेगा कि अनिष्ट, शान्ति देगा कि अशान्ति, मिष्ट है या अमिष्ट, "इस प्रकार का जिसे विवेक नहीं। किसी को शूद्र कहते भी जिसका कलेजा हिलता नहीं। जो अपने मुख से अपनी प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करते डरता नहीं। जिसके वचनों में से क्रोध या मान, माया या लोभ टपकता हो। जो धर्म कथा न करके, लौकिक जनों के साथ राज कथा, चोर कथा, स्त्री कथा, व भोजन कथा करने में आनन्द मानता हो। जिसके बोलने का ढंग व्यंगात्मक या हास्यात्मक हो। इत्यादि अन्य अनेकों दोष जहां दिखाई देते हैं वहां सत्य व्रत कहां ?

जो दातार की आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध अधिक मूल्य का भोजन ग्रहण करता हो। 'चौके में कितनी वस्तु बनाई गई हैं, उसमें से तुझे कितनी लेनी चाहिये,' इस बात के विचार से शून्य जिसे अपनी जिव्हा का पोषण मात्र ही अभीष्ट हो। जो दातार की बिना इच्छा के कुछ संकेतादि द्वारा, उसके घर की कोई वस्तु मांग लेता हो। पीछी, कमण्डल व शास्त्र के अतिरिक्त चौथी वस्तु अपने पास रखता हो। जो अपने निवास स्थान पर दूसरे को ठहरने में रोक लगाता हो। उसे अचौर्य व्रत कहां ? वह मेरा गुरु नहीं हो सकता।

जिव्हा इन्द्रिय के प्रहार से घायल हुआ जो भोजन में स्वाद लेता हो। नित्य पौष्टिक, गरिष्ट, व तामसिक, या राजसिक भोजन करता हो। दसियों बीसियों तरह के व्यंजन पदार्थों का ग्रहण करता हो, एकान्त में स्त्रियों से बातें करता न हिचकिचाता हो, वह ब्रह्मचारी कहां ?

जिसे परिग्रह का त्याग तो दूर रहा उसका परिमाण भी न हो। केवल एक नग्नता का साइन बोर्ड लगाकर जगत भर की विष्टा अपने घर में भर कर बैठा हो। रोगों से भयभीत होकर, जिसे अपने साथ औषधियों का पिटारा रखना पड़ता हो। सर्दी से बचने के लिये जिसे कोई विशेष प्रकार का बक्सा रखना पड़ता हो। मच्छरों से बचने के लिए जिसे मच्छरदानी चाहिये। जिन्होंने अनेकों संस्थाओं तथा शास्त्र मालाओं के बन्धनों में अपने को जकड़ रखा हो। शास्त्र छपवाने के लिए टाइप राइटर व प्रेस तक लगा लिए हों। इसके अतिरिक्त भी टार्च आदि अन्य अनेकों सामान अपने साथ रखते हों। वे बेचारे अभिलाषाओं से सताये गये रंक क्या जानें-निष्परिग्रहता का मूल्य ? कैसे देखें उसमें अपना हित व अहित ? क्या जाने कि शान्ति किस चिड़िया का नाम है ? एक छोटा घर छोड़ कर मानों एक नया घर बसा लिया है। एक गृहस्थ भी परदेश जाने लगे तो थैला लटकाये और चल दे। और एक मुनि जाने लगे तो एक ठेला गाड़ी की आवश्यकता पड़े उसकी गृहस्थी का भार उठाने को। जहां शरीर भी परिग्रह बना है वहां इतना आडम्बर जोड़ते जिसका हृदय कांपता नहीं, वह अपने को वीतरागी कहे, निष्परिग्रही कहे, आश्चर्य है। उसे देख कर कोई हंसने के सिवाय क्या करेगा ? वह गुरुओं के आदर्श पर एक कलंक है गुरु नहीं। वह अपने को महाव्रती कहे और हम स्वीकार करें खेद है।

को कितना भी आरम्भ करना पड़े। रूढ़ियों वश जो दातार के समझाये जाने पर भी, वर्तमान युग के उन्नत साधनों का प्रयोग न करके लकीर का फकीर बना रहे, चाहे उसमें जीव हिंसा अधिक ही क्यों न हो। आरम्भ में स्पष्ट जीव हिंसा देखते हुए भी तथा आधुनिक वस्तुओं के मुकाबले में अशुद्धता देखते हुए जो मात्र रूढ़ि वश हाथ से ही उन्हें बनवाने में महत्व समझे। भोजन की मात्रा का जिसे प्रमाण न हो। खाता ही चला जाये। उसे एषणा समिति कहां ? जो बुद्धि पूर्वक आंखों से देख भाल कर वस्तुओं को उठाता धरता न हो, केवल पीछी को ही इधर उधर घुमाने की कुछ दिखावटी सी लौकिक क्रिया कर देता हो, उसे आदान निक्षेपण समिति कहां ? पांच समिति रहित वह मेरा गुरु नहीं हो सकता।

जिसको सर्दी से बचने के लिए अंगीठी की, और गर्मी से बचने के लिए बिजली के पंखों की आवश्यकता हो, वह स्पर्शन इन्द्रिय का दास मेरा गुरु कैसे हो सकता है।

स्वादिष्ट, गरिष्ट, व पौष्टिक भोजन की चाह रखने वाला, जो इस प्रकार का भोजन न मिलने पर कुछ बिगड़ बैठता हो, या भोजन छोड़ देता हो, या जिसका मुख मलिन सा हो जाता हो, सस्ती वस्तुओं का त्याग कर महंगी वस्तुओं को ग्रहण करता हो, वह बेचारा जिव्हा इन्द्रिय का सताया मेरा गुरु कैसे हो सकता है ?

किसी व्यक्ति या पदार्थ से दुर्गन्ध आने पर बैठे हुवे या गमन करते हुवे जिसका नाक सुकड़ जाता हो, माथे पर बल पड़ जाते हों, वह नासिका इन्द्रिय का दास मेरा गुरु कैसे हो सकता है ?

दातार के घर पर या मन्दिर आदि से जाकर, जिसकी दृष्टि घर या मन्दिर की या अन्य वस्तुओं की सुन्दरता या असुन्दरता में फंस कर उनकी स्तुति व निन्दा करने लगता हो, वह नेत्र इन्द्रिय विजयी कहां ? गऊ वत् भोजन लेने के लिये मात्र दातार के घर पर जाने वाले योगी को इतनी फुरसत कहां, कि वस्तुओं की सुन्दरता सम्बन्धी विचार करे ? गऊ वत् दृष्टि में तो चक्रवर्ती का महल व भिखारी की कुटिया समान होनी चाहिये। वह तो भोजन करते समय भी अपने को धिक्कारता हो रहता है, कि "अरे ! तू कितना अशक्त है ? कि भोजन बिना रहा न गया। अपने अन्तर रस को छोड़कर इस धूल के भोजन को करने चला आया। धिक्कार है तुझे।" ऐसी बात जिसमें नहीं वह योगी कहां ? रंक है बेचारा। नेत्र इन्द्रियों का बन्दी।

जो अपनी स्तुति सुन कर प्रसन्न हो जाता हो, या अपनी प्रशंसा सुनने की भावना रखता हो। अपनी निन्दा सुनने की क्षमता जिसमें न हो। जो वास्तविक बात सुनना भी गवारा न करता हो। गुरु का वह यथार्थ स्वरूप स्पष्ट सुन कर जो झुंझला उठता हो। वह गुरु कहां ? कर्ण इन्द्रिय का दास है बेचारा।

जो ठीक समय पर स्तुति, वन्दना व सामायिक आदि आवश्यक कर्म न करता हो। या कुछ दण्ड सा समझ कर करता हो। चित्त लगा कर न करता हो। क्रियायें करते समय मन कुछ और विचारों में फंसा रहता हो, जल्दी जल्दी उन क्रियाओं को पूरी करके कुछ अन्य ही क्रिया करने की रुचि

वाणी के प्रसार में योग दान दीजिए

यहां तक स्वाध्याय कर चुकने पर आपको अवश्य यह विश्वास हो गया होगा कि आधुनिक युग में, आधुनिक ढंग से वैज्ञानिक की भाँति, अत्यन्त सरल भाषा में, जीवन विज्ञान के रूप में अध्यात्म प्रदर्शन का यह उपाय ही विश्व शान्ति की स्थापना तथा वाणी का प्रसार करने में समर्थ हो सकता है। आगम भाषा या पुरानी रूढ़ियों के आधार पर इस लक्ष्य की पूर्ति आज के युग में असम्भव है। आधुनिक बुद्धि युक्ति व अनुभव को स्वीकार करती है, आगम को नहीं। अतः विद्वज्जनों, प्रचारकों, त्यागियों, प्रकाशन संस्थाओं, दानी महानुभावों व अपने पाठकों से सानुरोध प्रार्थना है कि पुराने ढङ्ग को बदल कर मार्ग प्रचार के इस ढङ्ग को अपनायें, इस ढङ्ग की ट्रेनिंग लें। ब्र० जिनेन्द्र कुमार की सेवायें इस कार्य के लिये हर समय उपलब्ध हो सकती हैं। पुराने ढङ्ग के साहित्य निर्माण तथा अन्य प्रतिष्ठाओं आदि की दिशा से धन व परिश्रम की बचत करके इस दिशा में लगायें, तो अवश्य ही एक दिन रामा कृष्ण मिशन से भी अधिक वाणी के मिशन का विश्व में प्रकाश होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार करें। इसका परिचय देकर अपने मित्रों से अनुरोध करें कि इस ग्रन्थ को जीवन साथी के रूप में अवश्य अपने साथ रखें। चिन्ता के अन्धकार पूर्ण अवसरों में यह उन्हें प्रकाश व शान्ति प्रदान करेगा। अपना व अपने मित्रों का पता अवश्य भेजने की कृपा करें, ताकि निःशुल्क सामायिक ट्रैक्ट आदि आप को भेजे जा सकें।

रूप चन्द गार्गीय जैन

पानीपत

नय दर्पण

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद जैन वाङ्मय का बड़ा गम्भीर परन्तु उलझा हुआ व जटिल सिद्धान्त है। वाद-विवाद के प्रशमनार्थ, जैनागम के रहस्य को स्पर्श करणार्थ तथा वस्तु की जटिल व्यवस्था व स्वरूप के स्पष्टीकरणार्थ इस सिद्धान्त से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसे आगम का अर्थ समझने की कुञ्जी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। आगम में पढ़ कर या आगम भाषा में पण्डितजनों के मुख से सुन कर इसको समझना एक साधारण बुद्धि के लिये अत्यन्त कठिन है।

बाल गोपाल भी इसको सरलता से समझ सकें, इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ, प्रस्तुत ग्रन्थ जैसी ही वैज्ञानिक व बालक भाषा में, इस महान सिद्धान्त का उद्घाटन करने का प्रयत्न करने के फलस्वरूप, "नय दर्पण" नाम के एक दूसरे ग्रन्थ का जन्म भी हो चुका है। शीघ्र ही प्रकाश में आने वाला है।

आगम में प्रवेश पाने के लिये तथा संशयों के निवारणार्थ अवश्य ही इस ग्रन्थ को खरीद कर अपने ज्ञान का विकास कीजिये, तथा इसका भी अधिक से अधिक प्रचार करने के लिये अपने मित्रों को इसका परिचय दीजिये। अभी से अपने आर्डर निम्न पते पर बुक कराइये।

लगी हो। अपने दोषों पर जिसका ध्यान ही न जाता हो, और इसलिये उन दोषों को पकड़ कर उनके प्रति निन्दन करना या प्रायश्चित आदि प्रतिक्रमण करना जिसके लिये असम्भव हो। हां, कुछ रूढ़ि वश प्रतिक्रमण पाठ आदिक मात्र पढ़ लेता हो। या गुरु से अपने दोष कहता डरता हो। नाम मात्र शास्त्र खोल कर बैठा रहता हो, पर बातें लौकिक जनों से करता हो। उसे षट् आवश्यक क्रियाओं का पालन कहां ? वह मेरा गुरु नहीं हो सकता।

तथा अन्य भी बाह्य की क्रियायें जो केवल दिखाने मात्र को करता हो, या वे क्रियायें दूसरों को दिखाने में उसे कुछ महानता सी प्रतीत होती हो। जैसे खूब भीड़ एकत्रित करके उनके बीच में केश लोच करना इत्यादि। उसकी यह शारीरिक क्रियायें भी सच्ची कैसे कही जा सकती है ? अभिप्राय तो एडवरटाइज़ करने का है। वह गुरु नहीं हो सकते। जिसको कषायों पर विजय नहीं, विषयों के पोषण की रुचि है पांच महाव्रत नहीं, पांच समिति नहीं, छः आवश्यक नहीं, तथा बाह्य की क्रियायें भी जिसकी निरपेक्ष न हों, उसे तो २८ में से एक भी मूलगुण नहीं, भला मेरा गुरु कैसे हो ?

१२ कालादि के बहानों का निराकरण

गुरु हमको तारने वाले हैं। तीर्थ हैं। क्या इस प्रकार के गुरु हमें तिरा सकते हैं ? वे बेचारे तो स्वयं डूबे हुए हैं-विषय वासना में। स्वयं मारे हुये हैं कषाय व इन्द्रियों से। आज दुर्भाग्य वश। इस प्रकार के गुरु सरीखे दीखने वाले व्यक्ति ही प्रायः इस पृथ्वी पर विचरण कर रहे हैं। उनके इस ढोंगी रूप को देख कर आज हमारी श्रद्धा सच्चे गुरु पर से हटती जाती है। आज हमें संशय हो रहा है कि, क्या आदर्श के अनुसार वीतरागी गुरु सम्भव है ? कि क्या ऐसे सच्चे रूप का धारक गुरु होना भी सम्भव है, या कभी होता था ? आज तो पंचम काल है इत्यादि।

आज गुरुओं का विरह हो रहा है। आज अपने गुरुओं की याद कर हृदय रो उठता है परन्तु उनकी उपलब्धि न होने पर भी, मैं जिस किसी को भी गुरु स्वीकार कर लूं ऐसा नहीं हो सकता ? "पंचम काल के अन्त तक गुरुओं का सद्भाव बताया है, और आज तो जैसे कैसे भी हैं, यही दिखाई देते हैं। अतः इन्हीं को गुरु स्वीकार कर लूं।" ऐसा नहीं हो सकता। आज हंस दिखते नहीं तो बगुलों को तो कोई हंस नहीं स्वीकार कर लेता ? गुरु तो गुरु ही रहेगा। भले वर्तमान में उपलब्ध हो या न हो। उपलब्धि गुरु को पहिचान नहीं। गुरु का आदर्श बहुत ऊंचा होता है। जब कभी भी होगा ऐसा ही होगा। गुरु की जातियां भिन्न भिन्न नहीं होती।

मार्ग पकड़ ले। गुरू बनना कोई व्यापार नहीं है। कोई अपराधी बने तो मैं भी अपराध करने लगूं, यह न्याय नहीं।

तब तो यह अर्थ हुआ कि द्रव्यलिंगी मुनि वन्दन क्रिया जाने योग्य नहीं? ऐसा नहीं है भाई! जिनको आगम में द्रव्यलिंगी मुनि कहा गया है, वह बाह्य में वीतरागी हुआ करते हैं। उन्हें क्रोधादि कषाय नहीं होती। विषय वासना नहीं होती। पंच महाव्रत व समिति पूरी पूरी पालते हैं। इन्द्रियों पर उनका पूर्ण अधिकार है। षट् आवश्यक क्रियाओं में कोई दोष बाहर में नहीं दीख सकता। केश लुंचनादि क्रियाओं में भी कोई दोष लगने नहीं पाता। आप स्वयं यह परीक्षा नहीं कर सकते कि यह अयथार्थ है कि यथार्थ। अर्थात् द्रव्यलिंगी है कि भाव लिंगी। केवल सर्वज्ञ ही जानते हैं उनके अन्तरंग दोष को। हमारे लिये तो वह यथार्थ ही हैं। जब परीक्षा कर लेने पर भी दोष न दीख सके तो अयथार्थ कैसे कहें? अन्तरंग के सूक्ष्म परिणाम को जांचने की शक्ति मुझ में नहीं। दूसरे उसमें पूरे वीतरागता के दर्शन हो रहे हैं, जिससे कि हमें प्रयोजन है। व्यक्ति कोई पूज्य नहीं होता। हमारा आदर्श या लक्ष्य ही पूज्य होता है। जहां वीतरागता नहीं अर्थात् जिसमें निर्दोष २८ मूल गुण नहीं वह तो द्रव्यलिंगी भी कहा नहीं गया है। प्रवचन करते समय द्रव्यलिंगी की बात आये तब, यह बात किसे कही जा रही है, यह न समझ कर अपने दोष पर तो दृष्टि न डाले, और थोपने जाये वही दोष-किसी दूसरे पर, तो वह मुनि अपना अनिष्ट कर रहा है तथा दूसरों का भी। ऐसा मुनि तो केवल करुणा का पात्र है।

इन बहानों के द्वारा इन रंकों का पोषण मत कर भाई! इससे मेरे यथार्थ गुरुओं को, कुन्द कुन्द प्रभु व समन्त भद्र स्वामि व शुभ चन्द्राचार्य देव आदि को लाँछन लगता है। अन्य लोक क्या समझेगा, कि वे भी ऐसे ही गुरु होंगे जैसे का कि तू पोषण कर रहा है? वे भी तो पंचम काल व हीन संहनन में ही हुवे हैं? अपने आदर्श गुरुओं की निन्दा मैं कैसे सुन सकूंगा? आपने क्या कथा नहीं सुनी है, उस सेठ की कथा जो गुरु निन्दा के भय से कुष्ठी गुरू को सुन्दर व निर्मल शरीर वाला कहते हुवे भी न हिचकिचाया। उस गृहस्थ को झूठ बोलना स्वीकार था, पर गुरू निन्दा सहन न था। क्या आप अपने गुरू को संसार में रागी सुनना चाहते हैं? क्या आपका हृदय नहीं कांप जायेगा ऐसा-सुन कर?

हमें गुरू को अंगीकार करना है। अगुरू को नहीं। पंचम काल है संहनन हीन है, यह बात स्वीकार है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं, कि वह पूर्वोक्त प्रकार राग करने की प्रेरणा देते हैं। हो सकता है कि इन कारणों वश वह वन में न रह सके। न सही मन्दिर में रहिये। परन्तु मन्दिर में रह करके भी एकान्तता का त्याग करके, जन सम्पर्क में आ, इधर उधर की भोजन आदि सम्बन्धी बातों में समय गंवाने के लिये तो पंचम काल नहीं कहता? संहनन की हीनता अधिक तपश्चरण, अधिक उपवासादि नहीं करने देती, यह तो माना, परन्तु स्वादिष्ट व पौष्टिक भोजन करने के लिये तो प्रेरणा नहीं करती। यह तो नहीं कहती कि गृहस्थ पर चाहे कितना भी भार पड़े, जिस किस प्रकार भी तू अपने शरीर का पोषण कर, जिस किस प्रकार भी अपने भोग सम्बन्धी स्वार्थ की सिद्धि कर। एक बार के मुनि के आहार पर १५) रुपये लग जाये और गृहस्थ के बच्चों को चाहे महीनों तक दूध भी न मिले, यह तो हीन संहनन नहीं कहती। गुरू को इतना निर्दयी तो नहीं बना देती। गुरू है तो ऐसा भोजन कदापि न लेगा। कुत्ता बैठा हो तब भी, यह समझ कर कि कुत्ते का पेट सम्भवतः कट जाये भोजन नहीं लेते, तो क्या बच्चों को बिलखता देख कर भोजन ले लेंगे? ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा भोजन लेने

वाला अहिंसक कैसा ? वह तो महान हिंसक है। हां धनवान या समर्थ दातार के यहां कदाचित् ऐसा भी ले ले तब कोई बात नहीं। हीन संहनन वश बाह्य क्रियाओं में कदाचित् दोष आ जाना सम्भव है पर अभिप्राय में नहीं।

ऐसी स्थूल बातों की परीक्षा तो हम कर ही सकते हैं। इतने मूढ़ तो नहीं हैं, कि इन बातों को पहिचानते न हों। हमारा अन्तष्करण बराबर इन सब बातों को पकड़ता है। कोई ऐसा नहीं जो यह कुछ न जानता हो, पर ढक देता है उसे किसी अदृष्ट भय के कारण। आप सिंह की सन्तान हैं, वीर हैं, निर्भय हैं। किस का भय है ? उनके शांप आदि से भय खा कर कर्तव्य न भूलिये। उन्हें नमस्कार न कीजिये। इसका यह भी अर्थ न समझना कि उनसे द्वेष कीजिये। नहीं नगर में रहने वाले अन्य सामान्य व्यक्तियों वत् ही समझिये। जिन से प्रेम है न घृणा।

१३

—: स्वाध्याय :—

दिनांक २२ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ३९

१—स्वाध्याय का महत्व व प्रयोजन, २—स्वाध्याय का अर्थ, ३—स्वाध्याय में विनय का महत्व, ४—शास्त्र परीक्षा, ५—अभिप्राय वश अनेकों शास्त्र, ६—शास्त्र परीक्षा का उपाय, ७—सच्चे शास्त्रों में भी प्रयोजनीय व अप्रयोजनीय का विवेक।

अहो ! मुझ जैसे अन्धों को घर बैठे ही समस्त विश्व का साक्षात्कार कराने वाली जिन वाणी का उपकार। यदि यह न होती तो आज इतनी निकृष्ट परिस्थिति में जब कि देव दिखाई देते हैं न गुरु, मुझे शान्ति की बात कौन सुनाता ? शान्ति मार्ग के अन्तर्गत आज स्वाध्याय की बात चलती है।

१ स्वाध्याय का महत्व व प्रयोजन

शान्ति प्राप्ति की सिद्धि के अर्थ आवश्यकता इस बात की है कि जिस किस प्रकार भी अभिलाषा प्रवर्धक विकल्पों का, भले कुछ देर के लिए सही, संवरण कर दिया जाये। प्रशमन कर दिया जाये। उपाय निकला यह कि सारी जीवन चर्या में आध या पौन घण्टा समय का अवकाश निकाल कर, उतने समय मात्र के लिये गृहस्थ के वातावरण को बिलकुल भूलने, तथा शान्ति का स्मरण करने का प्रयत्न कीजिये। मन्दिर में आकर देव दर्शन या पूजन कीजिये अथवा गुरु की शरण में जाकर उनकी उपासना कीजिये। परन्तु विचार करने पर यह बात ध्यान में आये बिना न रहेगी, कि इन कामों में मैं कितनी देर संलग्न रह सकूंगा ? स्वतन्त्र रूप में अपने हृदय से निकाल निकाल कर कब तक उद्गार प्रगट करता रहूंगा ? सम्भवत: चार पांच दिन तक क्रम बना रहे और फिर वह उद्गार सरीखे दीखने वाले भाव शब्द मात्र ही रह जायें और मन अपना काम करता रहे-गृहस्थी में घूमने का। तात्पर्य यह कि शान्ति के दर्शनों में चित अटकाने का काम, इस प्रथम भूमिका में अधिक देर तक किया जाना बहुत कठिन है। इस लिये इन कामों के अतिरिक्त कोई और काम ऐसा ढूंढना होगा कि जिसमें बहुत अधिक देर तक भी उपयोग को अटकाया जा सके, और इतना अटकाया जा सके कि शान्ति की बातों के अतिरिक्त इसे अन्यत्र जाने को अवकाश ही न मिले। सौभाग्य वश एक ऐसा उपाय निकल ही आया और वह है स्वाध्याय।

दूसरा प्रयोजन यह भी है, कि भले देव व गुरु में शान्ति के दर्शन कर पाया हूँ, पर इस शान्ति से बिलकुल अपरिचित मुझ को शब्दों के बिना कौन यह बताये, कि इसकी प्राप्ति अमुक प्रकार होनी सम्भव है ? नमूना अपना स्वरूप बता सकता है पर अपने बनाने का उपाय नहीं। मुझ को तो अशान्त

से शान्त बनना है। और बड़े विकट वातावरण में रहते हुए बनना है। क्या क्या प्रक्रियायें करूं, जीवन को कैसे ढालूं, जो इस प्रयोजन की सिद्धि हो ? ठीक है कि देव दर्शन व गुरु उपासना भी इस मार्ग में बड़ी सहायक प्रक्रियायें हैं। परन्तु मन्दिर के समय से बचे जीवन के इतने लम्बे काल में क्या करूं ? क्या वैसे ही वर्तन करता रहूं, जैसे कि अब कर रहा हूं ? ऐसा ही करता रहूंगा तो प्रातः देव व गुरु के दर्शनों से प्राप्त हुई शान्ति कितनी देर टिक सकेगी ? और जीवन के चौबीस घण्टे अत्यन्त तीव्र व्यग्रता में बिताये जाने के कारण, मन्दिर में प्रवेश करते समय, तत्सम्बन्धी विकल्पों के दृढ़ संस्कारों का त्याग, थोड़ी देर के लिये भी कैसे कर सकूंगा ? अतः कुछ ऐसी बातें भी अवश्य होनी चाहिये, जिनको इस वर्तमान परिस्थिति में रहते हुए भी, मैं अपने चौबीस घण्टों के जीवन में किञ्चित् उतार सकूं, और विकल्पों की तीव्रता में तनिक मन्दता ला सकूं। कौन बताये यह बातें मुझे ?

घबरा नहीं जिज्ञासु ! वह देख सामने से आती हुई प्रकाश की एक रेखा अब भी तुझे बुला रही है-अपनी ओर। चल वहां चल। कुछ प्रकाश मिलेगा, जिसकी सहायता से तू अपने जीवन को पढ़ सके कि क्या कुछ और कहना है-तुझे। ओह। यह तो वाणी है, सरस्वती देवी है। कितना शान्त है इसका स्वरूप। अहो ! जिसके दर्शन मात्र से ही इतनी तृप्ति हो गई, उसकी बातें सुनने से तो कितना बड़ा कल्याण हो जायेगा ? कृपा कीजिये माता ! मुझे मार्ग दर्शाइये। देव व गुरु दर्शन से आने वाली क्षणिक शान्ति ने मेरे चित्त में अब यह लगन उत्पन्न कर दी है, कि जिस किस प्रकार भी इसमें अधिकाधिक वृद्धि करूं। अब गृहस्थ सम्बन्धी व्यग्रतायें साक्षात रूप से मुझ को दाह उत्पन्न करती हुई प्रतीत होने लगी हैं। मेरी रक्षा करो माता।

२ स्वाध्याय का अर्थ　स्वाध्याय का अर्थ है स्व+अध्याय या स्व अध्ययन, अर्थात् निज शान्ति स्वरूप का अध्ययन, या दर्शन। इसलिये वास्तव में तो देव दर्शन व गुरु उपासना में भी यही कार्य निहित होने के कारण वह दोनों कार्य भी स्वाध्याय कहे जा सकते हैं, परन्तु अधिक देर तक विकल्पों से बच कर [illegible] शान्ति में स्थिति पाने के अर्थ यह तीसरा कार्य अधिक उपयोगी है। अतः मुख्यता से स्वाध्याय इस तीसरी प्रक्रिया का नाम है। इसमें समावेश पाता है उपदेश-मौखिक या लिखित।

सौभाग्य वश सरस्वती माता ने आशा दिलाई, और वह देख अब भी कितने प्रेम से बुला रही है-तुझे अपनी ओर। अब कोई चिन्ता नहीं। आश्रय मिल गया। ऐसा कि चाहे कितनी ही देर सुनता रहे उपदेश। चाहे जितना समय बिता दे। विकल्पों को प्रवेश पाने का अवकाश ही न मिले। जो हर समय तेरे पास है, कहीं वन आदि में जाने की भी आवश्यकता नहीं। अर्थात् गुरुओं का ही लिखित उपदेश आगम या शास्त्र। जितनी देर चाहे पढ़। जितनी बार चाहे पढ़। जब चाहे उसे विचार जहां चाहे उसे विचार, जैसी अवस्था में चाहे विचार। और विशेषता यह कि वही गुरु की बात। वही प्रतिध्वनि। मानों साक्षात गुरु ही बोल रहे हों- सामने बैठे। गहन से गहन, गम्भीर से गम्भीर समस्याओं का अत्यन्त सहल उपाय बता देने में समर्थ, यह आगम ही वास्तव में सरस्वती है। शान्ति में स्नान कराने के लिए अन्तर मल शोषण के लिए यही यर्थाथ गंगा है। विकल्पों से मेरी रक्षा करने के कारण यही माता है।

स्वाध्याय का अर्थ शास्त्र का पढ़ना मात्र ही नहीं है। बल्कि उसका अर्थ है, जिस किस प्रकार भी शान्ति मार्ग के उपदेश का रहस्यार्थ ग्रहण करना व उसमें इस अत्यन्त चंचल मन को अटकाना। इसलिए विशेष ज्ञानी या उपयुक्त वक्ता के मुख से वह रहस्य सुनना, विशेष स्पष्टीकरण के अर्थ शंकायें उठाना, प्रश्न कर करके समाधान करना, अवधारित अर्थ को एकान्त में पुन: चिन्तवन करना या विचारना, जो कुछ समझा उसकी परम्परा या आमनाय से मिलान करके परीक्षा करना कि ठीक ही समझा हूं कि कहीं भूल है तो पक्षपात रहित हो सुधार करने का प्रयत्न करना। जो निर्णय किया उसका उपदेश अन्य को देना, या जो समझा है उसको लिखना, यह सब ही स्वाध्याय है। कोई पढ़ना जाने या न जाने, उपदेश देना जाने या न जाने किसी न किसी प्रकार स्वाध्याय अवश्य कर सकता है और मार्ग का निर्णय कर हित उपजा सकता है।

३ स्वाध्याय में विनय का महत्व देव गुरु की भान्ति स्वाध्याय में भी विनय व बहुमान अत्यन्त आवश्यक है। विनय रहित सुना या पढ़ा बेकार है। गुरु व वाणी के प्रति बहुमान न हो तो कोई भी बात सीखी नहीं जा सकती। मुझे केवल पढ़ कर स्वाध्याय की रूढ़ि ही पूरी नहीं करनी है बल्कि कुछ हित की बात सीखनी है। स्कूल के गुरु की विनय न करे, तो क्यों सीखे ? इसीलिए आज के विद्यार्थी स्कूल से उतना कुछ सीख कर नहीं निकलते जितना कि पहले के विद्यार्थी सीख कर निकला करते थे। आज गुरु की विनय युवकों में उतनी ही रह गई है। रावण मृत्यु शय्या पर पड़ा था कि भगवान राम ने लक्ष्मण से कहा "भाई ! जाओ इस अन्तिम समय में रावण से कुछ सीख लो। जीवन में तुम्हारे काम आयेगा। वह बड़ा अनुभवी व पंडित है। नहीं सीखोगे तो समस्त विद्यायें उसके साथ ही चली जायेंगी।" लक्ष्मण गया और रावण के सिराहने खड़ा होकर अपना अभिप्राय प्रगट किया। उसे मौन देख कर निराश वापिस लौट आया और राम से बोला कि "भगवन ! वह बड़ा अभिमानी है, बोलता नहीं।" राम बोले "भूलता है, लक्ष्मण ! मानी वह नहीं तू है। स्वभाव में ही तू उद्दण्ड है। तूने अवश्य उद्दण्डता दिखाई होगी। कैसे बोलें ? तुझे अगर कुछ सीखना है तो गुरु बन कर नहीं शिष्य बन कर सीखना होगा। जाओ ! उसके चरणों में बैठ कर विनय पूर्वक विनती करो। उसे गुरु स्वीकार करो।" लक्ष्मण की आंखें खुल गई। गया, और अबकी बार उसे निराश लौटना न पड़ा।

बस इसी प्रकार शास्त्र को पुस्तक मात्र न देख कर साक्षात् गुरु के रूप में देखो। बिल्कुल इसी प्रकार जिस प्रकार प्रतिमा में जीवित देव के दर्शन किये थे। शास्त्र जड़ नहीं है वह साक्षात् बोल

कर मेरा हित दर्शा रहा है। पद पद पर ठोकरों से बचा रहा है। गहन से गहन ग्रन्थियों को सुलझा रहा है। अहो ! इसका उपकार, न जानी, न देखी, न अनुभवी अत्यन्त रहस्य मयी उस सूक्ष्म बात को मानो हथेली पर रख कर ही साक्षात् दर्शा रही हो। उसकी शरण कितनी शीतलता प्रदायक है। अतुल प्रकाश है। उसकी विनय अत्यन्त आवश्यक है। बिना नहाये व हाथ धोये उसे छूने में बिना शुद्ध वस्त्र पहने उसे हाथ लगाने में उसकी अविनय है। शुद्धता व अशुद्धता के विवेक रहित, जिस किस स्थान में भी बैठ कर उसे उपन्यास की भान्ति पढ़ने में उसकी अविनय है। उसे उठाते व धरते समय अत्यन्त विनय से साष्टांग नमस्कार किये बिना उद्दण्डता से सामने जाकर बैठ जाने में उसकी अविनय है। स्थान एकान्त व शुद्ध होना चाहिये। मन्दिर ही उसके लिये सर्वोत्तम स्थान है। घर पर भी यदि पढ़े तो किसी एकान्त कमरे में ही पढ़े, जहां जूते आदि न आते हों। जिस किस समय में पढ़ना भी योग्य नहीं। जब अन्य विकल्पों से किञ्चित् मुक्ति मिले तो पढ़ना योग्य है। रूढ़ि पूरी करने मात्र को एक दो लकीर इधर उधर से जैसे तैसे पढ़ कर जल्दी जल्दी भागने का अभिप्राय रखते हुवे पढ़ना, पढ़ना नहीं दण्ड है। बिना स्पष्ट उच्चारण किये या बिना अर्थ समझे पढ़ना भी पढ़ना नहीं रूढ़ि है। इस प्रकार पढ़ने में इसकी अविनय है। अतः सर्व बातों का विचार करके अपने लिये अत्यन्त कल्याणकारी समझते हुवे कुछ जीवन में उतारने योग्य उपयोगी बातें सीखने पर ही, इसके पढ़ने से या सुनने से लाभ हो सकता है। केवल पढ़ने वालों के लिये तो यह कुछ पत्रों मात्र का ढेर है, और कुछ नहीं। जैसी दृष्टि से देखे वैसा ही कुछ सीख ले।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'स्वाध्याय' मन्दिर की चार दिवारी के अन्दर ही [illegible] हो सकना सम्भव है, बाहर नहीं। जो कुछ पढ़ा या सुना है उसका चिन्तवन हम कहीं भी बैठकर कर सकते हैं। कैसी ही अवस्था में कर सकते हैं। किसी भी समय में कर सकते हैं। और इसलिये स्वाध्याय चौबीस घण्टे की जा सकती है। यद्यपि इस प्रकार मन के द्वारा देव व गुरु के दर्शन भी [illegible] किये जा सकते हैं। परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उसमें अधिक देर स्थिरता नहीं रह सकती। शास्त्र में पढ़े या सुने तत्वों सम्बन्धी चिन्तवना में, तत्सम्बन्धी तर्क वितर्क में, हम कई कई घण्टे बिता सकते हैं। यही है स्वाध्याय का महत्व और इसीलिये यह इस मार्ग में बहुत आवश्यक है ?

५ अभिप्राय वश अनेकों

देव व गुरू वत यहां भी हम नियम नहीं बना सकते, कि अमुक ही सच्चा शास्त्र है। क्योंकि भिन्न भिन्न अभिप्रायों के आधार पर आज अनेकों शास्त्र या पुस्तकें या साहित्य लोक में दिखाई दे रहे हैं। किसी को भी सर्वथा झूठा नहीं कहा जा सकता और किसी को भी सर्वथा सच्चा नहीं कहा जा सकता। सच्चे व झूठे की पहिचान अभिप्राय पर से होती है। डाक्टरी सम्बन्धी जानकारी का अभिप्राय रखने वाले के लिए तो डाक्टरी सम्बन्धी साहित्य सच्चा और सब झूठ। एन्जीनियरिङ्ग पढ़ने की अभिलाषा रखने वाले के लिए एन्जीनियरिङ्ग का साहित्य सच्चा और सब झूठा। और इसी प्रकार जो भी विषय पढ़ने या सीखनेका अभिप्राय हो, तत् सम्बन्धी ही साहित्य सच्चा कहा जा सकताहै उसके अतिरिक्त अन्य नहीं परन्तु यहां हम किसे सच्चा शास्त्र व साहित्य स्वीकार करें ? बस तो वही सिद्धान्त लागू करो, और पूछो अपने मन से कि क्या सीखना है ? प्रकरण चलता है शान्ति का। यहां सब आये हैं शान्ति की खोज करने के लिये, धर्म कमाने के लिए नहीं। अतः शान्ति विषयक साहित्य ही हमारे लिए सच्चा साहित्य हो सकता है। इसके अतिरिक्त लोक का बड़े से बड़ा शास्त्र झूठा है।

६ शास्त्र परीक्षा का उपाय

परीक्षा करने का उपाय निकल ही आया। शान्ति पथ दर्शाने वाली वाणी ही सच्ची वाणी हो सकती है। लौकिक प्रयोजन दर्शाने वाली या शरीर पोषण की बातें बताने वाली नहीं। अब कुछ बुद्धि का प्रयोग करना है, जिस प्रकार देव व गुरु के सम्बन्ध में करते आये हैं। क्योंकि दुर्भाग्य वश आज बहुत बड़ा शास्त्र हमारे सामने है। और सर्व ही शान्ति पथ दर्शाने का दावा करते हैं। सब के ऊपर शान्ति पथ की मोहर लगी है। सब को साक्षात् भगवान से आया हुआ माना जा रहा है। और मज़े की बात यह है कि एक शान्ति को दर्शाने वाले होते हुए भी परस्पर वह एक दूसरे का विरोध कर रहे हैं। एक दूसरे से मानों लड़ रहे हैं। बड़ी विकट समस्या है। किस को सच्चा मानूं ? पढ़ने बैठता हूँ तो प्रत्येक में ही कुछ न कुछ बातें अवश्य शान्ति प्रदान करती प्रतीत होती हैं, परन्तु आगे जाकर कुछ अन्य बातें और आ जाती है जो या तो शान्ति में बाधक हैं या इस विषय से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। और आगे जाता हूँ तो अरे ! वहां तो द्वेष का नग्न नृत्य ही देखने में आता है। पढ़ने को ही जी नहीं करता। किसी का खण्डन और किसी का मण्डन।

अहो ! यह वीतराग वाणी का ही प्रताप है, जिससे कि मुझे यह प्रकाश मिला है कि भाई ! हर साहित्य में जो बातें तुझे शान्ति प्रद प्रतीत हो, समझ लो कि वह सच्ची हैं। अथवा विचार करके तर्क व अनुभव के द्वारा जो सच्ची दिखाई देती हों, मान लो कि वह सच्ची हैं। भले ही वह किसी भी साहित्य में लिखी हों। सब शान्ति प्रद व सच्ची बातें एक सच्ची वाणी के ही अंश हैं। जो किन्हीं किन्हीं ज्ञानियों ने अपने अनुभव के आधार पर लिखी हैं। यह बात अवश्य है कि अधिकतर साहित्य ऐसा है कि जिनमें आदि से अन्त तक का पूर्ण मार्ग न दर्शा कर उस मार्ग का एक खण्ड मात्र दर्शाया है। इसका कारण यही है कि उसका रचियता शान्ति को तो पकड़ पाया, पर उसे पूर्ण करने से पहले ही उसे काल के मुख में जाना पड़ा, और उसकी बात अधूरी ही रह गई। कुछ साहित्य ऐसा भी है कि जिसमें इस अधूरी बात के साथ साथ कुछ अन्य बातों का अथवा कुछ अप्रयोजनीय बातों का मिश्रण भी दिखाई देता है। तनिक सा विचार करने पर यह पैवन्द स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वह साहित्य वह है जो कि मूल रचयिताओं को कृति न होकर उनके पीछे आने वाले किन्हीं व्यक्तियों ने लिखा है। अधूरी बात सीख लेने के कारण, इनको उसकी पूर्ति के अर्थ, कुछ बातें अपनी कल्पना के आधार पर, बिना उसके सच्चे व झूठे पने का अनुभव किये, इस मूल साहित्य में मिलानी पड़ी, और वह साहित्य खिचड़ी बन गया।

जैनेन्द्र कोष
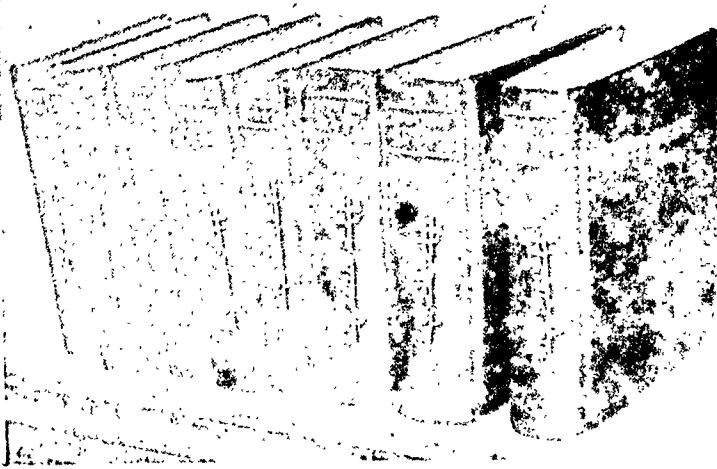
जैनेन्द्र कोष जैन जगत में अपनी जाति की प्रथम कृति है। ऐनसाइक्लोपीडिया या लॉ डाइजेस्ट वत् (Encyclopedea or Law Digest वत्) इसमें जैनागम के समस्त मूल सैद्धान्तिक शब्दों व विषयों का वर्णानुक्रम में संकलन किया गया है। कोई भी सैद्धान्तिक शब्द या आगम प्रणीत किसी भी विषय सम्बन्धी कोई शंका ऐसी नहीं जिसका अर्थ व उत्तर विस्तार सहित इसमें न मिले। कोई विषय पढ़ कर भूल गया हो तो भी इस कोष में खोज कर एक दृष्टि मात्र में स्मरण किया जा सकता है।

सैकड़ों ग्रंथों का प्रतिनिधित्व करने वाली यह कृति अपने अन्दर परिपूर्ण है। एक ही स्थान पर, एक विषय के सम्बंध में, भिन्न भिन्न आचार्यों द्वारा कथित, अनेकों शास्त्र वाक्यों के उदाहरण आपको इस कोष में मिल सकते हैं। स्वाध्याय प्रेमी जन या आगम के खोजी विद्वान इसकी सहायता से एक क्षण में बड़ी बड़ी समस्यायें समझ व सुलझा सकते हैं, और इस प्रकार अपने बहुमूल्य समय की भारी बचत कर सकते हैं। करणानुयोग के गहन विषयों की ओघ आदेश सर्व प्ररूपणाओं को कोष्ठकों में भर कर सागर को गागर में समा दिया गया है। इस कोष के आठ मोटे मोटे वाल्यूम हैं जैसा कि ऊपर के चित्र से विदित है।

इस कृति के बिना आपका साहित्य संग्रह अपूर्ण है। यद्यपि अभी इसका [illegible] ही है, पर यदि आज से ही अपनी पूछताछ या आर्डर भेज कर प्रोत्साहन प्रदान करें तो इसे प्रकाश में लाया जा सकता है। छप जाने के पश्चात् इस सारे कोष का मूल्य अनुमानतः [illegible]) पड़ेगा। प्रकाशन का कार्य भी धीरे धीरे कई वर्ष में पूरा होगा। प्रत्येक वर्ष एक वाल्यूम निकाला जा सकेगा, अतः [illegible]) एक दम खर्च करना न पड़ेगा।

प्रेमलता जैन ग्रन्थ माला

स्वाध्याय क्रम

स्वाध्याय से प्रेम होते हुए भी स्वाध्याय क्रम से अपरिचित रहने के कारण जो भी ग्रन्थ आगे आया वही पढ़ लिया। इसी कारण स्वाध्याय करते हुए भी इसका फल प्राप्त न हो सका अर्थात् सिद्धाँत समझ में न आ सका। स्वाध्याय प्रेमियों की यह कठिनाई दूर करने के अर्थ अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार निम्न में स्वाध्याय का कुछ क्रम दर्शाया गया है, अर्थात् किसी प्राथमिक को कौनसा ग्रन्थ पहले पढ़ना चाहिये और कौनसा पीछे ऐसा क्रम निर्धारित किया गया है। सर्व साधारण-जन के लिये ही यह क्रम है, अन्य अभ्यस्त जन के लिये नहीं, ऐसा स्वयं समझ लेना।

क्रम नं० १	क्रम नं० २	क्रम नं० ३
१ शान्ति पथ प्रदर्शन	६ प्रश्नोत्तर माला (सोनगढ़)	१२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
२ मोक्ष मार्ग प्रकाशक	७ नय विवरण	१३ परमात्म प्रकाश
३ सर्वार्थ सिद्धि	८ बृहद् द्रव्य संग्रह	१४ ज्ञानार्णव
४ पद्म पुराण	९ पंचास्ति-काय	१५ कार्तिकेयानुप्रेक्षा
५ धन्य कुमार चारित्र	१० प्रवचन सार	१६ समाधि शतक
	११ समय सार	१७ रत्न करण्ड श्रावकाचार

इस क्रम से धैर्य व साहस पूर्वक यदि आगमाभ्यास किया जाये तो मेरे विचार में साधारण से साधारण व्यक्ति भी कुछ वर्षों में ही आगम के अर्थ को समझने के योग्य हो जायेगा। यह ध्यान अवश्य रहे कि शास्त्र को जल्दी समाप्त करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सब ही शास्त्रों को और मुख्यत: क्रम नं० १ व क्रम नं० २ वालों को लगातार कम से कम तीन बार अवश्य ही पढ़ना चाहिए। एक बार पढ़ कर छोड़ देना तो कदाचित् भी योग्य नहीं। इस क्रम से स्वाध्याय प्रारम्भ करें अवश्य ही आपकी जिज्ञासा शांत होगी।

—ब्र० जिनेन्द्र

उनके भी पीछे आने वालों ने कुछ अपने स्वार्थ वश बहुत सी बातें मिला दी। और आगे चल कर वह स्वार्थ बदल गया द्वेष में। जिसके कारण आ मिला उस साहित्य में खण्डन मण्डन का विष।

यह तो हुई साहित्य के इतिहास की कुछ रूप रेखा, पर इतना जानने मात्र से तो साहित्य के सच्चे व झूठे पने की परीक्षा करने में समर्थ न हो सका। परीक्षा का कोई उपाय होना चाहिये। सो विचार करने पर ऐसा उपाय निकल भी आया। देख भाई ! शास्त्र तो बेचारे जड़ हैं, वह तो स्वयं बोल नहीं सकते। उसके अन्दर तो कुछ शब्दों का संग्रह है। और इन शब्दों में छिपा है वक्ता का कोई अभिप्राय। बस यदि वक्ता की परीक्षा हो जाये तो उसके वाक्यों की भी परीक्षा हो गई मानो। शब्दों की प्रमाणिकता वक्ता की प्रमाणिकता के आधार पर होती है। जैसा कि पहले श्रद्धा सम्बन्धी उस पथिक के दृष्टान्त में बता दिया गया है। देखिये कोई ग्राहक आकर आपसे कहने लगे कि यह वस्तु अमुक दुकान पर यह भावों मिल रही है यदि आपको इस भाव देनी हो तो दो। बताइये, क्या आप विश्वास कर लेंगे उसकी बात पर ? नहीं करेंगे। क्या कारण ? एक तो यह कि स्पष्ट झूठ दिखाई दे रहा है। जितने में आपको घर भी नहीं पड़ी उतने में वह उसे कैसे बेच सकता है ? परन्तु हो सकता है कि भाव गिर गया हो, ऐसे संशय को दूर कर देता है उस ग्राहक का अपना स्वार्थ "यदि इस भाव लगानी है तो दे दो।" और यदि वही बात मैं आपको जाकर कहूँ तो ? आप अवश्य स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि न मुझे आपसे मोल लेनी थी न बेचनी थी। जैसा उस दुकान पर सुन कर आया था आपने कह दिया। आपके घर उतने में पड़ी है कि न पड़ी है मुझे उससे क्या मतलब ? अतः वक्ता की प्रमाणिकता से ही वचन की प्रमाणिकता होती देखी जाती है। और वक्ता की परीक्षा उसकी स्वार्थता व निःस्वार्थता पर से की जा सकती है।

निर्दोष बातें भरी पड़ी हों, परन्तु कहीं एक भी कोई दूषित बात दिखाई दे तो समझ लो कि उन सर्व निर्दोष बातों का भी कोई मूल्य नहीं। यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि "भले दूषित बात को स्वीकार न करो पर निर्दोष बात का निषेध क्यों करते हो? सो भाई! इसके अन्दर निर्दोष बात का निषेध करने का अभिप्राय नहीं है। वक्ता का निषेध करने का अभिप्राय है। जैसा कि पहले दृष्टान्त में बताया गया है। एक ही बात दो व्यक्तियों के मुख से सुन कर ग्राहक के मुख से निकला हुआ वही वाक्य झूठा माना गया और मेरे मुख से निकला हुआ वही वाक्य सच्चा माना गया। कोई व्यक्ति कभी माता को माता कहता है। और कभी माता को स्त्री भी कह देता हो तो क्या कहेंगे आप उसे? यह नशे में है। इसकी कोई भी बात ठीक नहीं माता को माता भी बेहोशी में कह रहा है। इसे कुछ पता नहीं, माता कौन और स्त्री कौन? यही न कहोगे? बस इसी प्रकार ९९ बातें ठीक कह कर एक बात भी विपरीत कह रहा हो तो उसकी ९९ बातें भी ठीक नहीं हैं। या तो किसी दूसरे की नकल करके कही है। या बिना समझे बूझे यों ही सुन सुना कर कह दी हैं। सम्भवत: आगे चल कर कोई ऐसी बात भी कह दे कि जो मेरे लिये अहितकारी हो। और उस समय प्रमाद वश मैं उसकी परीक्षा न करूं तो मेरा अहित हो जायेगा, इसलिये इसकी सारी ही बातें मान्य नहीं हैं।

अथवा जिस प्रकार कोई दुकानदार सच्चा व्यवहार करके पहले अपनी साख जमा लेता है और पीछे लोगों का रुपया मार कर भाग जाता है। उसी प्रकार स्वार्थी वक्ता पहले बहुत सी सच्ची व शान्ति की बातें बता कर अपना विश्वास जमा लेता है और पीछे अपने स्वार्थ की बात कह कर अपना अभिप्राय सिद्ध कर लेता है। पढ़ने वाले का हित हो कि अहित इस बात को उसे चिन्ता नहीं। इसलिये ऐसे वक्ता की कोई भी बात स्वीकार करने योग्य नहीं। भले शान्ति की क्यों न हो। वही बात यदि किसी दूसरे प्रमाणिक शास्त्र में लिखी हुई पायें तो विश्वास करने योग्य हैं। अत: शास्त्र की परीक्षा का उपाय यही है कि पूरे के पूरे शास्त्र में हित की बात के अतिरिक्त अन्य बातें किञ्चित् भी नहीं होनी चाहिये। एक भी बात यदि अहित या स्वार्थ की हो तो सारा शास्त्र ही पढ़ने योग्य नहीं।

७ सच्चे शास्त्रों में प्रयोजनीय व अप्रयोजनीय का विवेक

शास्त्र की परीक्षा ठीक प्रकार से कर लेने के पश्चात् अब यहां आकर भी कुछ अड़चन हो जाती है कि प्रमाणिक पुरुषों द्वारा लिखे गये शास्त्र भी मुख्यत: चार कोटियों में विभाजित किये गये हैं। कुछ शास्त्र तो शान्त पथ के गामियों के जीवन चरित्र दर्शा कर कोई आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। अर्थात् आदर्श पुरुषों की कथाओं का निरूपण करते हैं। उनको कथानुयोग या प्रथमानुयोग कहा जाता है। इनमें प्राथमिक जनों को शान्ति पथ की ओर आकर्षित करने का अभिप्राय लिया गया है। इसलिये शृङ्गार रस आदि अलंकारों का बहुत प्रयोग किया गया है। कुछ ऐसे हैं जिनमें अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से प्ररुपण किया गया है। तथा अत्यन्त परोक्ष व सूक्ष्म बात अर्थात् कार्माण शरीर व उसके बनने व बिछुड़ने सम्बन्धी, या द्वीप समुद्रों आदि सम्बन्धी कुछ कथन है। इसे करणानुयोग कहते हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें वस्तु का अनुभवात्मक स्वरूप दर्शाया है। स्व व पर में विवेक कराया है। सुख व दु:ख का सच्चा स्वरूप दर्शाया है। तर्क व बुद्धि से उसकी अनेक प्रकार से सिद्धि करते हुए वैज्ञानिक ढङ्ग से विवेचन किया है। उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। और कुछ ऐसे हैं जो हमें हमारा कर्तव्य व अकर्तव्य बता रहे हैं। अपने जीवन को किस प्रकार शान्ति के सांचे में ढालना चाहिये, यह बता रहे हैं। इसे चरणानुयोग कहते हैं।

यद्यपि यह चारों ही प्रमाणिक हैं । परन्तु इस वर्तमान भूमिका में क्या चारों ही पढ़े जाने योग्य हैं ? नहीं भाई ! इनमें से पहले दो इस अवस्था में तेरे लिये उपयोगी नहीं । क्योंकि प्राथमिक कोटिसे तो तू निकल चुका है । तभी तो यहां बैठा सुन रहा है-इतनी रुचि से । इसलिये प्रथमानुयोग वर्तमान में तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय रूप नहीं । दूसरे अभी तक तो तू स्थूल बातों तक का निर्णय नहीं कर सका, सूक्ष्म को कैसे जान सकेगा ? अत्यन्त परोक्ष बातों को, जैसे कर्म व द्वीप समुद्रों को अभी जान कर क्या करेगा ? और सूक्ष्म दृष्टि बने बिना वह तेरी समझ में भी क्या आयेगी ? अतः करणानुयोग भी वर्तमान दशा में तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय नहीं । यहाँ ऐसा न समझ लेना कि इनके पढ़ने का निषेध किया जा रहा है । निषेध का अभिप्राय नहीं है । थोड़े से थोड़े समय में अधिक कल्याण कैसे प्राप्त हो, यह अभिप्राय है । कुछ अनुभव व स्थूल सिद्धान्तों का निर्णय हो जाने के पश्चात् करणानुयोग महान उपकारी सिद्ध होगा । "किसी को बैंगन बायले, किसी को बैंगन पथ ।" अर्थात् जो करणानुयोग तेरे लिये प्रयोजनीय नहीं है, वही किसी अन्य के लिये जिसक दृष्टि मंज चुकी है अत्यन्त उपकारी है । तथा जो आज तेरे लिये प्रयोजनीय नहीं है वही कल तेरे लिये उपकारी सिद्ध होगा ।

परन्तु बात यह चलनी है कि इस वर्तमान स्थिति में कौन से शास्त्र की स्वाध्याय करूँ ? बस तो वस्तु स्वरूप दर्शक द्रव्यानुयोग से स्व पर भेद की बात जानने के साथ साथ, चरणानुयोग से कर्तव्य अकर्तव्य पहिचानने, तथा अपने जीवन को शान्ति की ओर ढालने सम्बन्धी बात जाननी चाहिये । अतः यह दोनों द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग इस दशा में तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय हैं । चरणानुयोग की भी दो धारायें हैं । एक अन्तरंग में वैराग्य उत्पन्न करने वाली, तथा दूसरी इस जीवन में बाहर का त्याग रूप कुछ प्रेरणा देने वाली । इन दोनों में से भी पहले चरणानुयोग की वैराग्य उत्पन्न कराने वाली धारा विशेष प्रयोजनीय है । किञ्चित् वैराग्य उत्पन्न हो जाने के पश्चात् व्रतादि का उपदेश देने वाली धारा महान उपकारी है ।

इस कथन पर से स्वयं अपनी भूमिका को पहिचान कर इन चारों में से यथा योग्य रूप में किसी भी शास्त्र का मनन करना तेरा परम कर्तव्य है । शान्ति पथ के अंदर प्रवेश का यह तीसरा पग है ।

२४
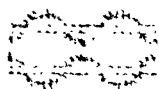
—: संयम सामान्य :—

दिनांक २४ सितम्बर १६५६

प्रवचन नं० ४१

१—संयम का सर्व अङ्गों में एकत्व, २—संयम का अर्थ, ३—पूर्ण संयम का आदर्श स्वरूप।

शान्ति की खोज में आगे बढ़ने वाले पथिक को क्रमश: इसकी प्राप्ति का उपाय बताया जा रहा है। वह उपाय तो अत्यन्त सरल है, जो इस गृहस्थ अवस्था में रहते हुवे भी अपनाया जाना शक्य है। जिसके लिये गृहस्थ छोड़ कर तुरन्त साधु हो जाने की आवश्यकता नहीं। इसलिये इस मार्ग से भय न खा। जो मार्ग बताया जा रहा है वह कठिन भी नहीं है। कोमल है। क्योंकि इसका आंशिक रूप से भी अनुधारण करने वाले को तत्क्षण सहभावी शान्ति का वेदन अवश्य होने लगता है। वह अलौकिक शान्ति जो कि पहले प्रकरणों में कुछ संकेतों द्वारा बताई जा चुकी है; उस शान्ति के रसास्वादन में इस मार्ग की कठिनाइयां वास्तव में कठिनाइयाँ प्रतीत नहीं होती जिस प्रकार धन के लोभ से प्रगटी धनोपार्जन की रुचि में व्यापार की कठिनाइयां वास्तव में कठिनाइयां भासती नहीं।

१ संयम का सर्व अङ्गों में एकत्व — इस मार्ग के गृहस्थ योग्य कुछ अंगों में से तीन अंग-देव दर्शन, गुरु उपासना व स्वाध्याय बताये जा चुके हैं। अब चौथे अंग संयम का प्रकरण चलता है। मार्ग के इन पृथक पृथक करके बताये जाने वाले अंगों का यह अर्थ नहीं कि जीवन में भी यह पृथक पृथक प्रगट हों। अर्थात् जब देव दर्शन हो तब गुरु उपासनादि अन्य अंगों का जीवन में अभाव हो। और जब संयम पालन करता हुआ हो तो देव दर्शनादि का जीवन में अभाव हो। यह चारों तथा आगे बताये जाने वाले जितने भी अंग हैं वह सब शरीर के हाथ पांव आदि अंगों वत् एक गृहस्थ जीवन में युगपत प्रगट होने चाहिये, व होते हैं। युगपत होने पर ही उस गृहस्थ का जीवन शान्ति का मार्ग रूप बन जाता है। पृथक पृथक रहने पर वास्तव में वह मार्ग नहीं, और न ही उसे जीवन के अङ्ग रूप स्वीकार किया जा सकता है। वह तो बन्दर की नकल मात्र बन कर रह जायेंगे, जिनका कोई मूल्य नहीं। किसी अन्य धर्मी की देखम देखी बिना समझे, तथा उन उन अंगों में बिना शान्ति का दर्शन किये, यह सर्व अङ्ग शून्य मात्र हैं। निष्फल हैं। क्योंकि शान्ति पथ की प्राप्ति के लिये अपनाये गये यह सर्व अङ्ग यदि तत्क्षण शान्ति का वेदन न करा सकें, तो फल के अभाव में इन सर्व अङ्गों को निष्फल ही तो कहेंगे ?

२ संयम का अर्थ — संयम अर्थात् 'सं'+'यम'। 'सं' अर्थात् सम्यक प्रकार, 'यम' अर्थात् यमन करना, दमन करना, दबाना। सम्यक् प्रकार दबा देना-व्याकुलता उत्पादक विकल्पों को, जो कि विषय भोगों के दृढ़

संस्कारों वश या कर्तव्य विहीनता वश प्रतिक्षण नवीन नवीन रूप धारण करके मेरे अन्तःकरण में प्रवेश पाते या आस्रवते हुए मुझे अशान्त व विह्वल बनाये रहते हैं। शान्ति के उपासक को और चाहिये ही क्या ? विकल्पों का पूर्णतया अभाव ही तो अभीष्ट है। और विकल्पों के आस्रवन का निरोध ही संवर है। अतः संयम संवर का ही एक अङ्ग है। पूर्ण संयम के प्रतीक तो हैं देव व गुरु जिनकी भक्ति व उपासना की बात चल चुकी है। जिनके दर्शनों से मैंने शान्ति का स्वरूप समझा। उस शान्ति का जो कि संयम की अविनाभावी है। पूर्ण संयम अर्थात् संकल्प विकल्प समूह के पूर्णतया अभाव में ही तो पूर्ण शान्ति का निवास है। इस बात पर विश्वास कराने तथा उस संयम के प्रति बहुमान उत्पन्न कराने के लिये ही तो देव दर्शन व गुरु उपासना का अन्तरभाव संवर के प्रकरण में किया गया है। उनसे मुझे संयम धारण करने की शिक्षा व प्रेरणा जो मिलती है ? अतः पूर्व में बताये गये देव दर्शन व गुरु उपासना का फल जीवन को संयमित बनाने में ही निहित है। उस प्रकार से जिस प्रकार से कि उन संयमी गुरुओं द्वारा प्रणीत आगम में बताया गया है। अर्थात् स्वाध्याय से उसी संयम धारण करने की जिज्ञासा को प्रोत्साहना तथा संयम धारण करने के मार्ग का ज्ञान कराया गया है। उस संयम के लिये, जिसको कि स्वयं अपने जीवन में लाकर उन गुरुओं ने यह सिद्ध कर दिया, कि इसका पालना असम्भव नहीं है, और इसका पालन ही है शान्ति। उन्होंने तभी उपदेश दिया जब कि अपने जीवन की प्रयोगशाला में प्रयोग करके उसके फल का निर्णय उन्होंने कर लिया।

इस संयम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक वह भाग जिसके द्वारा मैं अपनी इन्द्रिय विषयों सम्बन्धी लोलुपता व आसक्तता का सम्यक् प्रकार दमन कर सकूं अर्थात् इन्द्रिय संयम, और दूसरा वह जिसके द्वारा इस जीवन में अपनी शान्ति की रक्षा करने के साथ साथ, दूसरे प्राणियों के प्रति भी मैं कर्तव्य निष्ठ बना रहूँ, और उन कुटिल संस्कारों का सम्यक् प्रकार दमन करने में समर्थ हो सकूं जो कि मुझे कर्तव्य विहीन बनाये हुवे हैं, जिनके कारण मैं स्वयं मनुष्यता को भूल कर अपने साथी अन्य छोटे बड़े प्राणियों के साथ सम्भवतः पशुओं से भी अधिक नीचा तामसी व्यवहार कर रहा हूँ, और फिर भी अपने को मनुष्य कहने का गर्व करता है। अर्थात् प्राण संयम।

महीनों महीनों के उपवास के पश्चात् भी, आहार लेने की भावना जागृत हो जाने पर, आकुल व आसक्त चित्त से गृद्धता सहित आहार की ओर दृष्टि नहीं होना तथा अन्तराय या कोई भी बाधा आ जाने पर शान्ति पूर्वक आहार जल का त्याग करके पुनः उनका बन को लौट आना उनकी जिह्वा इन्द्रिय पर पूर्ण विजय का प्रदर्शन कर रहा है। आहार लेते समय भी स्वादिष्ट व अस्वादिष्ट में, नमक सहित व नमक रहित में, मीठे या खट्टे में, चिकने या रूखे में, गर्म या ठण्डे में, उनकी मुखाकृति का एकी भाव उनकी अन्तर साम्यता व रस निरपेक्षता की घोषणा करता हुआ, उन्हें जिह्वा इन्द्रिय विजयी सिद्ध कर रहा है। रोम रोम को पुलकित कर देने वाला सर्व सत्व कल्याण की करुणापूर्ण भावनाओं से निकला, उनका हितकारी व अत्यन्त मिष्ट सम्भाषण, वचन पर उनका पूर्ण नियन्त्रण दर्शाता हुआ उनके पूर्ण जिह्वा इन्द्रिय विजयी होने का विश्वास दिला रहा है।

विष्टा के पास से गुजरते हुवे भी उनकी मुखाकृति की सरलता व शान्तता का निर्भङ्ग रहना, किसी कुष्टी आदि ग्लानि मयी शरीर धारी को देख कर भी उनकी आंख का दूसरी ओर न घूमना, तथा किसी उद्यान के निकट से जाते या वहां बैठे हुए वहां आने वाली धीमी धीमी सुगन्धि की ओर उनके चित्त का आकर्षित न होना, मुखाकृति पर किसी सन्तोष विशेष की आकृति का न दीखना, उनके पूर्ण नासिका इन्द्रिय विजयी पने को सिद्ध करता है। दुर्गन्धि व सुगन्धि में साम्य भाव उनकी पूर्ण वीतरागता व शान्ति के रसास्वादन का प्रतीक है, जिसके कारण कि उन दोनों में उन्हें भेद ही भासता नहीं।

तीखे कटाक्ष करती, शृङ्गारित रम्भा व उर्वशी सी सुन्दर युवतियों के सामने आ जाने पर भी, विकृत दृष्टि से उधर न लखाना, अथवा महा भयानक कोई विकराल रूप दीख पड़ने पर भी उनकी आभा में कोई अन्तर न पड़ना, आहारार्थ चक्रवर्ती के महल में या भिखारी की कुटिया में प्रवेश करते उनका गौ वत् समान ही भाव में स्थिति पाना, उनके पूर्ण नेत्र इन्द्रिय विजयी होने की घोषणा कर रहा है। तथा निन्दा व स्तुति दोनों में समान रहने वाली उनकी सम बुद्धि, निन्दक व वन्दक दोनों के लिये समान रूप से प्रगट होने वाली कल्याण की भावना, व दोनों के लिये मुख से एक शान्त मुस्कान के साथ निकला हुआ 'तेरा कल्याण हो' ऐसा आशीर्वाद सूचक वाक्य, उनके पूर्ण कर्णेन्द्रिय विजयी होने का द्योतक है। इन सबके अतिरिक्त स्वर्ण व काँच में, दुःख व सुख में, हानि व लाभ में, रहने वाली उनकी साम्यता व निर्लोभता व निष्कपटता उनके पूर्ण निष्परिग्रही पने का, पूर्ण त्यागी पने का आदर्श उपस्थित करता है। शत्रु व मित्र में समानता उनकी क्षमा को, तथा अनेकों गुणों व चमत्कारिक ऋद्धियों या शक्ति विशेषों के होते हुए भी उन्हें प्रयोग में न लाना, उनकी निरभिमानता व क्षमता का द्योतक है। कहां तक कहें, वह देव गुरु जिनको कि मैंने आदर्श रूप से स्वीकार किया है, स्पष्टतः पूर्ण संयमी हैं। पूर्ण इन्द्रिय विजयी हैं। पूर्ण कषाय विजयी हैं।

आज सौभाग्य वश उनकी शरण में आकार क्या मैं खाली लौट जाऊं? जैसा कि अनादि काल से करता आया हूँ? नहीं, अब तक भूला तो भूला, अब वही भूल पुनः न दोहराऊंगा। इस अवसर को अब न खोऊंगा। इस अवसर की महान दुर्लभता को मैं अब जान पाया हूँ। प्रभु! मुझे शक्ति प्रदान करें, कि मैं भी आप के समान संयमी बन कर शान्त जीवन बना सकूं, ऐसा ही जैसा कि आपका है। आपकी भांति ही अभिप्राय में साम्यता को स्थान दे सकूं। सुनता हूँ कि जो आप की शरण में आता है वह आप सरीखा ही बन जाता है। धनिक का धनिक पना भी किस काम का जो याचक को अपने समान

२५

—: इन्द्रिय संयम :—

दिनांक २६ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४२

१—इन्द्रिय विषयों के दो भाग, २—इन्द्रिय विषय का अर्थ, ३—स्पर्शनेन्द्रिय संयम, ४—अन्तरंग तथा बाह्य त्याग, ५—जिव्हा इन्द्रिय संयम, ६—नासिका इन्द्रिय संयम, ७—चक्षु इन्द्रिय संयम, ८—कर्णेन्द्रिय संयम, ९—मनो इन्द्रिय संयम।

१ इन्द्रिय विषयों के दो भाग

धीरे धीरे अपने जीवन को संयमित बनाने की बात चलती है। इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ मुझे विश्लेषण द्वारा अपने विषयों को दो भागों में विभाजित करना होगा। एक आवश्यक भाग अर्थात् Necessities और दूसरा अनावश्यक भाग अर्थात् Luxuries। शरीर पर या कुटुम्बादि पर अर्थात् मेरी गृहस्थी पर किसी भी प्रकार की बाधा, तीव्र राग वश व शक्ति की हीनता वश, आज मुझ से सहन न हो सकने के कारण, भले आज आवश्यक विषयों को अर्थात् Necessities को त्यागने में या उनसे उपेक्षा करने में मैं अपने को समर्थ न पाऊं, परन्तु अनावश्यक विषयों अर्थात् Luxuries को त्यागने में मैं आज भी समर्थ हूँ। क्योंकि इसके त्याग से मेरे शरीर में या गृहस्थी में कोई बाधा आनी सम्भव नहीं। यदि ऐसा अभिप्राय बन जाये तो अवश्य ही इन्द्रिय विषयों के उस बड़े भाग्य से मैं बच जाऊं, जो मेरे जीवन में अधिक भार रूप हैं। जिसके कारण मुझे अधिक व्याकुलता हो रही है, जिसके कारण कि मैं अपना विवेक भी भूला बैठा हूँ, जिसके कारण कि मैं हित को अहित और अहित को हित मान रहा हूँ, और इस प्रकार विकल्पों के एक बड़े समूह को जीत लेने के कारण मैं पूर्ण रूपेण न सही, परन्तु आंशिक रूप से अवश्य इन्द्रिय विजयी बन जाऊंगा।

२ इन्द्रिय विषय का अर्थ

परन्तु यहां इतना समझ लेना आवश्यक है कि इन्द्रिय शब्द से यहां शरीर में दीखने वाले यह कुछ नेत्रादि चिन्ह मात्र नहीं हैं, बल्कि है मेरे अन्दर का वह अभिप्राय जिसके कारण कि न मालूम क्यों आप ही आप, उन नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जाने गये पदार्थों व विषयों की ओर रुचि पूर्वक मैं झुक जाता हूँ। जिसके कारण कि उन उन पदार्थों व विषयों का उन उन इन्द्रियों से ग्रहण करते समय मुझ में स्वतः ही कुछ कुछ मिठास सा वर्तने लगता है, कुछ कुछ आनन्द सा आने लगता है, और इस प्रकार का भाव आ जाने पर जिनके पुनः पुनः ग्रहण की इच्छा अन्तरंग में जागृत हो जाती है, "अहा! यह तो बहुत स्वादिष्ट है, ऐसा ही और भी लाकर देना", कुछ ऐसा सा भाव ही वास्तव में यहां इन्द्रिय शब्द का वाच्य बनाया जा रहा है। ऊपर कहे जाने वाले

अनावश्यक विषयों का ग्रहण तो सर्वत: उन्हीं भावों के आधार पर होता है, परन्तु आवश्यक विषयों के ग्रहण का आधार बहुत अंशों में है-सहन शक्ति की कमी, तथा थोड़े अंशों में है वह उपरोक्त विशेष झुकाव का भाव। इच्छाओं को भड़काने के कारणभूत इस विशेष झुकाव वाले भाव का निषेध ही प्रथम अवस्था में त्याज्य है। क्योंकि उसके त्याग से मेरी शान्ति में बाधक इच्छाओं का एक बड़े अंश में निराकरण हो जाता है। और इसलिये क्रमश: संयम धारण के प्रकरण में इस कारण से भी पहले अनावश्यक विषयों के त्याग का उपदेश दिया गया है। मुझे पद पद पर अपनी शान्ति की रक्षा का अभिप्राय लेकर चलना है। अत: इस शान्ति में जो भी बात अधिक बाधा पहुँचाती प्रतीत होती हो उसे पहले ही मार्ग से हटा देना आवश्यक है।

३ स्पर्शनेन्द्रिय संयम

उदाहरण रूप में स्पर्शन इन्द्रिय को लीजिये। इसके दो विषय हैं। एक गर्मी का भान करते हुवे सुखी दु:खी होना, और दूसरा कोमल, कठोर, चिकनी व रूखी वस्तुओं को स्पर्श करके सुखी दु:खी होना। इस इन्द्रिय सम्बन्धी इन दो विषयों में से पहला विषय इस अल्प गृहस्थ भूमिका के लिये आवश्यक है, क्योंकि गर्मी के दिनों में गर्मी और सर्दी के दिनों में सर्दी को सहन करने में मैं असमर्थ हूँ। उस उस समय यदि उनसे शीतादि उपचारों व पवनादि के द्वारा तथा वस्त्रादि के द्वारा इस इन्द्रिय की रक्षा न करूं तो सहन शक्ति की हीनता के कारण व्याकुल हो जाता हूँ। इसलिये यद्यपि पूर्ण आदर्श की दृष्टि में वह भी त्याज्य है, फिर भी इस भूमिका में इसका त्याग भले न करूं, भले वस्त्रादि पहनूं, शीतादि उपचार करूं, पवन को प्रयोग में लाऊं। परन्तु भो चेतन ! सुन्दर कीमती, सिल्की व ऊनी वस्त्र, जरी के वस्त्र, ज़ेवर तथा अन्य भी इसी प्रकार की कोमल व शरीर को सजाने के अभिप्राय से ग्रहण की गई वस्तुयें, और शरीर को मल मल कर धोने के लिये साबुन, व इसे चिकना बनाने के लिये तेल का मर्दन, तथा इसी प्रकार के अन्य भी प्रयोग यदि त्याग दिये जायें, तो विचार तो सही कि तेरी गृहस्थी में इससे क्या बाधा पड़ेगी ? या तुझको किस पीड़ा का वेदन होगा, जिसको कि तू न सह सकेगा ? कुछ भी तो नहीं। ये विषय तो सर्वत: अनावश्यक ही हैं। इनके त्याग से बाधा होनी तो दूर रही, बहुत सी बाधाओं का प्रतीकार हो जायेगा।

किस प्रकार सो ही बताता हूँ। आज से ३० वर्ष पूर्व का अपने पूर्वजों का जीवन हमें याद है, जिनके पास होते थे गर्मी सर्दी से बचने के लिये २-४ गिनती के वस्त्र। न ट्रंक थे न सन्दूक। एक जोड़ा धोया और एक पहन लिया। तीसरे का काम नहीं। या कहीं विशेष अवसरों पर जाने आने के लिये किसी ने रखा तो एक जोड़ा, और बस इतना ही पर्याप्त था। न कोई साबुन जानता था न शरीर पर मलने के लिये तेल। ज़ेवर थे पर ठोस। जब चाहो बेच लो और पूरे दाम बना लो। नुकसान का कुछ काम नहीं। फलितार्थ जीवन हल्का तथा सन्तोषी था। आवश्यकतायें व चिन्तायें कम, धनोपार्जन के प्रति की लालायितता कम, निज हित अर्थात् धर्म साधन के लिये या मित्रों में बैठ कर कुछ हंस बोल कर मनोरंजन करने के लिये काफी समय।

और आज का जीवन भी हमारे सामने है, जब घर में ट्रंक सन्दूकों का ढेर, एक के ऊपर एक लदे हुवे, उनमें से प्रत्येक ठसा ठस सूती व ऊनी व रेशमी तथा जरी के कीमती वस्त्रों से भरा हुआ। उस पर भी विशेष अवसरों पर कहीं जाते समय जब ट्रंक खोल कर देखा जाता है, तो सर्व दर्शन

कमीज़ों का ढेर वाहर निकाल लेने पर भी सन्तोष नहीं। क्योंकि कोई योग्य कमीज़ ही नहीं है। कोई योग्य कोट ही नहीं है। एक भी दृष्टि में नहीं जमता। दर्जनों होते हुवे भी एक नहीं है। शरीर को मल मल कर नहलाने के लिने अनेक भांति के साबुन। इसको चिकना चुपड़ा वनाने के लिये अनेक जाति के पाऊडर, क्रीम, फिक्सर, सुर्खी, तेल और न मालूम क़्या क्या ? एक भरी हुई पूरी आलमारी का सामान, परन्तु फिर भी अभी कमी है-अमुक वस्तु की। वाजार में तो उपलब्ध है न नित नयी ढङ्ग की नाना प्रकार की वस्तुयें ? ज़ेवर है परन्तु काग़ज़, जिनमें स्वर्ण का मूल्यात्मक अंश का नाम नहीं। कांच ही कांच। और कहा जाता है स्वर्ण का ज़ेवर। वेचने जाओ तो सम्भवतः मूल्य का आठवां भाग भी न मिल सके। फलितार्थ, जीवन स्वयं एक भार, जिसमें है एक व्याकुलता व कलकलाहट, झुंझलाहट व कलह, असीम आवश्यकतायें, असीम तृष्णायें। 'यह भी चाहिये' 'यह भी चाहिये' 'और ला-और ला' की पुकार से व्यग्रचित, चिन्ताओं की दाह, धनोपार्जन में लालायितता। निज हित अर्थात् धर्म साधन के लिये या मित्रों में मनोरंजन करने के लिये एक सैकिण्ड का भी अवकाश नहीं, घर में वीवी वच्चों से हंसने के लिये, वोलने का अवकाश नहीं, माता पिता को सांत्वना देने का अवकाश नहीं, खाना खाने का अवकाश नहीं, भागते दौड़ते कुछ खाया कुछ नहीं, यहां तक कि सोने को भी अवकाश नहीं, कभी ४ घण्टे सोये कभी २ घण्टे सोये, सोये सोये न सोये न सोये। प्रतिदिन यात्रा, कभी मोटर में कभी रेल में। कहां तक वताया जाये ? सव ही जानते हैं। क्या यही है जीवन का सार ? क्या इसलिये ही वन कर आये हैं मनुष्य ? इससे अच्छा तो तिर्यञ्च ही रहते तो अच्छा था, जिसे कुछ जुगाली करने को तो अवसर मिल जाता है।

आश्चर्य है कि इतना कुछ होने पर भी अपने को सुखी मानूं, और विपयों के और और अधिक ग्रहण में ग्रस्त होने का प्रयत्न करूं। सम्भल चेतन सम्भल ! सौभाग्य वश तुझे वह प्रकाश मिल रहा है जिसमें यदि आँख खोल कर देखें तो इस विषैले विषय रूपी सर्पों से जिनको अन्धकार में तू चिकने चिकने सुन्दर हार समझता रहा, अवश्य सावधान हो जाये। और अपने जीवन में इन अनावश्यक स्पर्शन इन्द्रिय सम्वन्धी विषयों से अवश्य अपनी रक्षा करे। वास्तव में स्पर्शन इन्द्रिय की रक्षा के लिये इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि उस अन्तरंग मिठास के उस विशेष भाव के पोपने के लिये है। आज वस्त्रादि शरीर ढांपने के लिये नहीं है, वल्कि है शरीर को सजाने के लिये। तथा इसी प्रकार अन्य यथा योग्य वस्तुयें भी।

क्या कहा ? साबुन तो आवश्यक वस्तु है ? नहीं ! यदि ऐसा होता तो उन पूर्वजों के जीवन में तुझे अवश्य दिखाई देता। अपने स्वार्थ वश प्रचार करने वाली साबुन व टायलैट कम्पनियों के वहकावे में मत आ। जल से स्नान कर रगड़ कर शरीर को किसी सूखे वस्त्र से पोंछ लेना ही इसे साफ रखने को पर्याप्त है। इसमें प्राकृतिक चिकनाई है। तेल द्वारा कृत्रिम चिकनाई की इस पर आवश्यकता नहीं। और सर्दी में कदाचित् कुछ रूक्षता दिखाई भी दे तो दीखने दे, तेरा क्या मांगती है ? हां यदि कुछ असह्य खुजली आदि प्रतीत होती हो, तो अवश्य तेल का प्रयोग कुछ लाभदायक सिद्ध हो सकेगा, और उस समय वह अनावश्यक न रह कर आवश्यक विषय की कोटि में आ जायेगा।

४ अन्तरंग व वाह्य संयम

अन्तरंग अभिप्राय को टालने को कहा है न ? वाहर में त्यागने से क्या लाभ ? अरे प्रभु ! दया कर अपने ऊपर। तू स्वयं यह प्रश्न करके सन्तोष नहीं पा रहा है। फिर भी,

आश्चर्य है कि प्रश्न कर रहा है। क्या बाहर का ग्रहण बिना अन्तरंग के अभिप्राय के सम्भव है ? क्या बिना अन्तरंग झुकाव के ही इतना व्यग्रचित बना हुआ अपनी शान्ति का बलिदान कर रहा है ? नहीं, नहीं, ऐसा न कह। बाह्य का ग्रहण अंतरंग अभिप्राय का लक्षण है। यह हो सकना सम्भव है कि बाहर का त्याग हो जाये पर अंतरंग का अभिप्राय न छूटे, पर ऐसा होना असम्भव है कि अन्तरंग अभिप्राय छूट जाने पर बाहर न छूटे। अतः अन्तरंग त्याग पर मुख्यता से ज़ोर दिया जा रहा है। इसका अभिप्राय बाहर का ग्रहण नहीं है।

हर क्रिया के मुख्य दो अङ्ग हैं। एक अंतरंग व दूसरा बाह्य जैसा कि पहले देव व गुरु उपासना में बताया जा चुका है। दोनों अंग अविनाभावी रूप से साथ साथ चलते हैं। यहां भी अंतरंग की क्रिया है, उन उन वस्तुओं के प्रति झुकाव का त्याग और तत्फल स्वरूप बाह्य क्रिया है उन उन अनावश्यक वस्तुओं का त्याग। यद्यपि आवश्यक वस्तुओं के भाग में से भी मिठास लेने के अर्थ रूप अंतरंग रूप भाव का त्याग हो जाता है,परंतु शक्ति के अभाव के कारण शरीर की रक्षार्थ बाह्य विषय का त्याग नहीं होता। यह बात कुछ अटपटी सी लग रही होगी, पर वास्तव में ऐसी नहीं है। शान्ति के उपासक को वीतरागता के प्रति गमन करने में उत्साह वर्तता है। उसे स्वभावतः ही उन उन विषयों में से मिठास आना बन्द हो जाता है। वह अब उसे कुछ जन्जाल सी भासने लग जाती है। ऐसा स्वभाव है।

दिनांक २७ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४३

शान्ति की खोज में संलग्न पथिक को शान्ति में बाधक विकल्पों में निषेधार्थ जीवन को यथा शक्ति संयमित बनाने की प्रेरणा की जा रही है। संयम के प्रथम अङ्ग इन्द्रिय संयम के अन्तर्गत स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी संयम की बात हो चुकी। अब चलती है जिह्वादि शेष इन्द्रियों को संयमित करने की बात।

५ जिह्वा इन्द्रिय संयम

स्पर्शन इन्द्रिय वत् जिह्वा इन्द्रिय के विषयों को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक आवश्यक भाग और दूसरा अनावश्यक भाग। आवश्यक व अनावश्यक की व्याख्या स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी प्रकरण में की जा चुकी है। आवश्यक भाग में आता है क्षुधा शमनार्थ किये गए भोजन को चबा कर अन्दर ढकेलना, तथा घर के व्यक्तियों से या व्यापारादि उद्योगों में ग्राहकों से तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों से योग्य संभाषण करना, अथवा अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य साधारण व असाधारण व्यक्तियों से योग्य संभाषण करना। और अनावश्यक भाग में आता है उस किये गये भोजन के स्वाद में या अन्य स्वादिष्ट मिष्टान्न या चाट आदिक पदार्थों में आसक्ति का होना, और निष्कारण द्वेष या प्रमाद वश किसी की निन्दा या चुगली करना, गाली या व्यंग के वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना इत्यादि।

स्पर्शनेन्द्रिय वत् यहां भी यद्यपि आवश्यक संभाषण व भोजन ग्रहण की क्रियाओं का वर्तमान में त्याग करना शक्ति के बाहर की बात होने के कारण भले उसका त्याग न हो सके, परन्तु उपरोक्त अनावश्यक भाग का त्याग करने में तो गृहस्थ जीवन की दैनिक चर्या में कोई बाधा नहीं आती। फिर भी इसके त्याग के प्रति क्यों उत्साह नहीं करता ? तनिक विचार करके देखे तो पता चले बिना न रहेगा, कि इस प्रकार की आसक्तता के कारण तुझे समय समय प्रति कितनी जाति के संकल्प विकल्प उत्पन्न हो होकर व्याकुल बना रहे हैं ? अनुकूल स्वाद न मिलने पर क्रोध के कारण तू किस प्रकार स्वयं अपने स्वरूप को साक्षात् जलता हुआ अनुभव करता है ? एक ही वस्तु में अनेक स्वाद उत्पन्न करने के लिए तुझे कितना कुछ करना पड़ता है ? तथा इसके कारण तेरे दैनिक बजट पर कितना भार पड़ा हुआ है ? जिसकी पूर्ति कि तू अपना सारा समय धनोपार्जन के अर्थ लगा देने पर भी कर नहीं पाता। क्या कभी विचारा है, कि आज के तेरे लिये स्वयं तेरे जीवन को भार बना देने वाली, यह स्वाद की आसक्तता पूर्ण भावना, तेरी शान्ति को कितनी बाधा पहुँचा रही है ? इसके त्याग से तेरे शरीर को या गृहस्थी को बाधा पहुँचाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं तुझे बड़ा लाभ होगा- यह बात विचारणीय है। आर्थिक दृष्टि से व स्वास्थ्य की दृष्टि से। आर्थिक दृष्टि से इसके त्याग के कारण अवश्यमेव ही तेरे दैनिक खर्चे में बहुत बड़ी कमी आ जायेगी। सम्भवत: क्षुधा निवृत्ति के लिये होने वाला तेरा खर्च स्वादार्थ होने वाले खर्च का तीसरा भाग भी न हो। जिसके फल स्वरूप उसकी पूर्ति की जो चिन्ता आज तुझे लगी रहती है उससे तुझे मुक्ति मिलेगी, और धनोपार्जन से कुछ समय का अवकाश पाकर तू शान्ति की उपासना कर सकेगा। स्वास्थ की दृष्टि से भी इस स्वाद की भावना से दबाया गया तू अनेकों बार जानते बूझते भी किन्हीं ऐसे पदार्थों का सेवन कर जाता है, जिनके कारण पीछे से अनेकों रोग या कष्ट उत्पन्न हो जाते हैं। उनसे रक्षा करने के लिए भी इस पर काबू पाना श्रेयस्कर है।

इसके अतिरिक्त निन्दनीय सम्भाषण व पर निन्दा में तेरा कितना समय व्यर्थ चला जा रहा है, क्या कभी विचार किया है इस पर ? इस क्रिया से तुझको कौन सा लौकिक व अलौकिक लाभ है ? अलौकिक रीति से भी हानि, इसलिये कि इसके कारण ही अनेक व्यक्ति तेरे शत्रु बन बैठते हैं। और तुझे बाधा पहुँचाने में कदाचित् सफल भी हो जाते हैं। तथा अलौकिक हानि इसलिये कि इसके कारण प्रोत्साहित तेरा अन्तर द्वेष, स्वयं तेरे अन्दर दाह उत्पन्न कर के तेरी शान्ति को जला डालता है। अत: इस वर्तमान गृहस्थ दशा में रहते हुवे भी यदि स्वाद के प्रति अपनी आसक्तता का त्याग करने के लिए बाजार की मिठाई चाट आदिक का त्याग करके या घर पर भी स्वादिष्ट वस्तुयें बनवाने का यथा सम्भव त्याग करके, अथवा किसी के साथ भी अयोग्य, अश्लील व निन्दनीय सम्भाषण का त्याग करके, तू एक देश रूप से जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी संयम धारण कर सकता है। यहां भी स्पर्शन इन्द्रिय संयम वत् अन्तरङ्ग अभिप्राय की प्रधानता जानना। इससे अवश्य ही तुझको शान्ति की आंशिक प्राप्ति होती प्रतीत होगी।

६ नासिका इन्द्रिय संयम

और अब लीजिये तीसरी नासिका इन्द्रिय सम्बन्धी संयम की बात। इसके विषय को भी आवश्यक व अनावश्यक अङ्गों में विभाजित करने पर, श्वास लेने की प्रवृत्ति रूप एक आवश्यक अङ्ग तथा सुगन्धि दुर्गन्धि के प्रति राग व घृणा भाव रूप अनावश्यक अंग, ये दो बातें विचारणीय हो जाती हैं। श्वास लेना भले त्यागा न जा सके, परन्तु दूसरा विषय त्याग देने पर शरीर

को या गृहस्थी को कोई क्षति नहीं होती। वास्तव में देखा जाये तो दुर्गन्धि व सुगन्धि नाम की दो सत्तायें ही कहीं नहीं हैं प्रत्येक भौतिक पदार्थ में कोई न कोई गन्ध तो अवश्य ही है, पर वह सुगन्धि है या दुर्गन्धि इस बात का निर्णय कौन करे ? जो तुझे अच्छी लगे सो सुगन्धि, जो न रुचे सो दुर्गन्धि, इसी प्रकार अपनी रुचि के अनुसार किसी भी गन्ध में 'सु', व 'दु', उपसर्ग लगा देना क्या न्याय संगत है ? पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने का तुझको यह अधिकार है ही कहां ? अतः वास्तव में तो तुझे किसी भी गन्ध के आने पर 'सु', व 'दु' का अथवा अच्छी व बुरी का भाव ला कर, राग द्वेष जनक व्याकुलता उत्पन्न करके, अपनी शांति को घातना नहीं चाहिये। दोनों में ही साम्यता रहनी चाहिये। जैसे कि पहले देव व गुरु के आदर्श जीवन में देख आया हूं। परन्तु फिर भी अपनी शक्ति का संतुलन करने पर, मुझे ऐसा लगता है कि प्रयत्न करने पर भी सम्भवतः दुर्गन्धि आने पर मेरा नाक सुकड़े बिना न रह सकेगा। क्योंकि उसके प्रति घृणा के कुछ दृढ़ संस्कार ही ऐसे पड़े हुए हैं। खैर यदि ऐसा है तो भले दुर्गन्धि के प्रति की ग्लानि वर्तमान में न छूटे, परन्तु सुगन्धि के प्रति का झुकाव छोड़ने में तो तेरे गृहस्थ जीवन में या दैनिक चर्या में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। वल्कि इसके त्याग से तो तुझको लौकिक व अलौकिक दोनों प्रकार का लाभ ही होगा। आर्थिक दृष्टि से तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से।

आर्थिक दृष्टि से देखने पर तो इस विषय पर काबू पा लेने के पश्चात्, पाऊडर, क्रीम, वैसलीन, सैन्ट आदि अनेकों ऐसे बेकार पदार्थों की कोई आवश्यकता न रह जायेगी, जिनमें कि तेरी आय का एक बड़ा भाग व्यय हो जाता है। और इस प्रकार तेरे व्यय में न्यूनता हो जाने के पश्चात् स्वभावतः ही धनोपार्जन सम्बन्धी तेरा भार कुछ कम हो जायेगा। और तत्सम्बन्धी चिन्ताओं से निवृति के कारण कुछ समय बचा सकेगा। इस प्रकार शान्ति की उपासना के मार्ग पर सुलभता से अग्रसर होने का अवसर प्राप्त कर सकेगा। तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से देखने पर उन उपरोक्त पदार्थों के कारण उत्पन्न होने वाले बालों का सफेद हो जाना, व नज़ला तथा अन्य भी कई इसी प्रकार के रोगों से मुक्त हो सकेगा। अतः पूर्णतया न सही परन्तु सुगन्धि के प्रति का राग भाव छोड़ कर इस विषय का भी एक देश त्यागी तू अवश्य बन सकता है।

७ चक्षु इन्द्रिय संयम

अब देखिये नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी विषय को। जिसका काम है देखना। राग भाव से व द्वेष भाव से, जैसे कुटुम्बी जनों को व किसी शत्रु को। निर्विकार भाव से व विकृत भाव से, जैसे अपनी माता को व किसी अन्य सुन्दर स्त्री को। करुणा भाव से व क्रूर भाव से, जैसे अपने रोगीले पुत्र को व सर्पादिक को। प्रेम से व भय से, जैसे स्व स्त्री को व सिंह को। बहुमान से व मनोरंजन से, जैसे देव गुरु को व धार्मिक उत्सवों को, तथा सिनेमा आदिक को। तथा अन्य भी अनेकों विरोधी अभिप्रायों से देखना इन सर्व अभिप्रायों में राग से, निर्विकार भाव से, करुणा से व प्रेम से व बहुमान इत्यादिक भावों से देखे बिना वर्तमान अवस्था में चलता प्रतीत नहीं होता। न सही। परन्तु द्वेष भाव से, विकृत भाव से, क्रूर भाव से, भय से तथा मनोरंजन आदि के भावों से देखने का त्याग तो सहज ही कर सकता है, और इन दृष्टियों के त्याग से, तेरी दैनिक चर्या में बाधा आने की बजाये लौकिक व अलौकिक दोनों रीति से कुछ सुन्दरता ही आयेगी। लोक में होने वाले अपराध से बचेगा। यह है लौकिक सुन्दरता। सिनेमा आदि मनोरंजन मात्र के साधनों से मिलती है निःशुल्क शिक्षा सर्व खोटी बातों की व्यसनों की। देश में प्रचलित डाके मारने के नये नये ढंग, जेब कतरी, व्यभिचार सेवन, मद्य व मांस सेवन, नये नये शृङ्गार व फैशन, इन सब के प्रचार केन्द्र वास्तव में यह सिनेमा आदि ही तो है। अतः

इनको देखने का त्याग करने से अनेकों व्यसनों से अपनी रक्षा, व इन भावों से उत्पन्न होने वाले अन्तर दाह से निज शान्ति की रक्षा-है अलौकिक सुन्दरता। इसके अतिरिक्त विकारी भाव से उत्पन्न होने वाली कषाय से प्रेरित अन्य जो वेश्यागमनादि महान अपराध, उनसे भी तो बचा रहेगा। तथा इस प्रकार इन अपराधों के कारण होने वाले व्यर्थ के धन व्यय की चिन्ता से मुक्ति, अर्थात् धनोपार्जन सम्बन्धी भारसे छुटकारा। और अन्य भी अनेक लाभ। अतः यदि पूर्ण नहीं तो आंशिक रूपसे अवश्य आज भी इस नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी उपरोक्त अनावश्यक अंग को छोड़ कर संयमी बन सकता है।

८ कर्णेन्द्रिय संयम अब लीजिये पाँचवी कर्ण इन्द्रिय की बात। गृहस्थ व व्यापार सम्बन्ध में, व निज धार्मिक क्षेत्र में, कुटुम्ब वालों की, ग्राहकों की, अथवा गुरु जनों या उपदेशकों की बातें सुनना या धार्मिक भजन सुनना तो आवश्यक अंग होने के कारण छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु सिनेमा के अश्लील गाने सुनने का त्याग करने से तुझे क्या बाधा पड़ेगी ? इसमें तो निहित है तेरा लाभ। सिनेमा पर होने वाले तथा रेडियो, ग्रामोफोन आदि पर होने वाले, व्यर्थ के व्यय से बचेगा, और इस प्रकार धनोपार्जन सम्बन्धी भार हल्का पड़ेगा। जो समय इन कार्यों में व्यर्थ जाता है वह समय बच जायेगा-तेरे पास, जिसे तू उपयोग में ला सकेगा निज हितार्थ।

इसके अतिरिक्त कर्ण इन्द्रिय का एक और भी विषय है। बड़ा भयानक परन्तु वह ऊपर से देखने में सुन्दर। जिस सुन्दरता से आकर्षित होकर, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, धार्मिक क्षेत्र में आगे बढ़े हुये व्यक्ति विशेष भी धोखा खाये बिना नहीं रहते, और ऐसी पटखनी खाते हैं कि चारों खाने चित्त नीचे आते हैं, और उस खाई में जा पड़ते हैं जहां से वह कब निकल सकेंगे, यह कौन जाने ? वह विषय है निज प्रशंसा के शब्द सुन कर उसके प्रति का मिठास व झुकाव। शान्ति के उपासक को इस दुष्ट विषय से पद पद पर सावधानी वर्तने की आवश्यकता है। इस विषय की विकराल दाढ़ का चबीना बने हुवे व्रत संयमादि ज़ार ज़ार रोते देखे जाते हैं। अभी से ही, इस अल्प अवस्था से ही, इसके प्रति सावधान रहने का अभ्यास करना होगा। नहीं तो आगे जाकर अवश्यमेव इस विषय से परास्त होना पड़ेगा। शान्ति पथ की यह सबसे बड़ी बाधा है।

९ मनो इन्द्रिय संयम पांचों इन्द्रिय की बात हो चुकी, परन्तु इन पांचों के अधिपति मन की बात शेष रह गई। वह मन जिससे कि इन पांचों को प्रेरणा मिल रही है, जिसके बल पर पांचों का बल है, जिसके जीवित रहने पर पांचों जीवित हैं, तथा जिसकी मृत्यु से पांचों की मृत्यु है। इस मन का कोई एक निश्चित विषय नहीं है। पांचों ही इन्द्रियों के विषय इसके विषय हैं। जिस प्रकार पहले देव पूजा व गुरु उपासना व स्वाध्याय के प्रकरण में बताया जा चुका है तथा स्पर्शनेन्द्रिय दमन सम्बन्धी विषय के साथ भी बताया जा चुका है, प्रत्येक क्रिया के दो अंग हैं। जो सदा साथ साथ रहते हैं। एक अन्तरंग और दूसरा बाह्य अंग। यहां भी अर्थात् इन्द्रिय संयम के प्रकरण में भी वही बात है। प्रत्येक इन्द्रिय का बाह्य विषय तो है उन उन पदार्थों का ग्रहण, और अन्तरंग विषय है, उनके ग्रहण होने पर अंतरंग में उत्पन्न होने वाली मिठास, रुचि व झुकाव, जो कि मुझे आगे आगे पुनः पुनः अधिक अधिक उन उन विषयों के ग्रहण की प्रेरणा देता है। तथा अत्यंत आसक्त व गृद्ध बना कर मुझे उनके उपभोग में ऐसा फंसा देता है कि उनसे छूटने का भाव भी मेरे अन्दर उत्पन्न न होने पावे, हिताहित का विवेक भी जाता

रहे। इन सर्व इन्द्रियों के विषय मिल कर एक मन इन्द्रिय का विषय वन जाता है। अतः इस मन को काबू करने के लिये, पांचों इन्द्रिय सम्वंधी अनावश्यक व आवश्यक दोनों ही विषयों के प्रति का झुकाव अंतरङ्ग में न होने देने के लिये सावधानी वर्तनी आवश्यक है। इस प्रयास से भी गृहस्थ सम्वंधी किसी चर्या में बाधा आना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त भी आगे आगे के प्रकरणों में आने वाली सर्व ही अंतरङ्ग क्रियायें मन का विषय है। उन सर्व ही अंतरङ्ग क्रियाओं का यथा योग्य त्याग विवेक पूर्वक सावधानी के साथ निर्वाध रीति से जीवन में उतारने का नाम ही मनो इंद्रिय संयम है। इसको वश में करने पर यह सब इंद्रियें सहल ही वश में आ जायेंगी। इस प्रथम भूमिका में इस ही को मुख्यतः वश में करने की बात चलती है।

२६

—: प्राण संयम :—

दिनांक २८ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४४

१—दश प्राण, २—जीवों के भेद प्रभेद, ३—स्थावर व सूक्ष्म जीवों की सिद्धि, ४—पांच पाप निर्देश, ५—हिंसा, ६—असत्य, ७—चोरी, ८—अब्रह्म, ९—परिग्रह, १०—प्राण पीड़न के १२९६० अङ्ग, ११—हिंसा का व्यापक अर्थ, १२—सकल व देश प्राण संयम, १३—कर्तव्य अकर्तव्य निर्देश, १४—वर्तमान जीवन का चित्रण, १५—विवेक हीनता, १६—उद्योगी व आरम्भी हिंसा में यत्नाचार, १७—अहिंसा कायरता नहीं, १८—अहिंसा में लौकिक वीरत्व, १९—विरोधी हिंसा व अहिंसा में समन्वय २०—अहिंसा में अलौकिक वीरत्व, २१—विरोधी हिंसा का पात्र, २२—क्रूर जन्तु शत्रु नहीं, २३—संयम का प्रयोजन शान्ति है लोकेषणा नहीं, २४—सर्व सत्व एकत्व, तथा सर्वसत्व मैत्री व प्रेमी।

१ दश प्राण

शान्ति प्राप्ति के उपाय के रूप संवर के अर्थ, अर्थात् विकल्पों के प्रशमनार्थ संवर के चौथे अंग संयम का कथन चलता है। इसके भी दो अंग बताये थे। एक इन्द्रिय संयम और दूसरा प्राण संयम। इन्द्रिय संयम की बात हो चुकी है। अब प्राण संयम की बात चलती है। प्राण संयम अर्थात् अपने जीवन की हर प्रवृति में सावधानी रखना, कि उसके द्वारा किसी के प्राण न पीड़े जायें, बाधित न हों। यहां प्राण शब्द का अर्थ भी समझ लेना योग्य है। प्राण दश भेदों में विभाजित किया जा सकता है। प्राणी की छूकर जानने की शक्ति अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय, चख कर जानने की शक्ति अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय, सूंघ कर जानने की शक्ति अर्थात् नासिका इन्द्रिय, देख कर जानने की शक्ति अर्थात् नेत्र इन्द्रिय, या चक्षु इन्द्रिय, तथा सुन कर जानने की शक्ति अर्थात् कर्णेन्द्रिय। विचारने की शक्ति अर्थात् मनो बल, बोलने की शक्ति अर्थात् वचन बल, व शरीर को हिलाने डुलाने की शक्ति अर्थात् काय बल, इस शरीर के एक निश्चित समय तक रहने की शक्ति अर्थात् आयु, तथा श्वास लेने की शक्ति अर्थात् श्वासोच्छ्वास। इस प्रकार कुल पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु व श्वासोच्छ्वास, यह दश शक्तियें जीव के प्राण कहलाते हैं। मेरी किसी भी प्रवृति से किसी भी प्राणी के इन दश प्राणों में से कोई एक भी प्राण विनाश को प्राप्त न हो, अथवा तनिक भी बाधित न हो, ऐसी सावधानी का नाम है प्राण संयम।

२ जीवों के भेद प्रभेद

प्राण संयम पालन करने के लिये मुझे इन प्राणों के धारी प्राणियों अर्थात् जीवों के भेद प्रभेद जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि बिना उनकी जाति के जाने मैं किन के प्रति सावधानी वर्तूंगा ? वर्तमान में यद्यपि मैं लोक में पाये जाने वाले प्राणियों की मनुष्य, गाय, कबूतर,

मछली आदि अनेक जातियों से परिचित हूं, फिर भी सर्व जातियों को मैं जानता हूँ, ऐसा नहीं है। प्राणियों को जानने की मेरी दृष्टि बहुत स्थूल है। उसमें सूक्ष्म प्राण धारी आते नहीं। उनकी पहिचान करने के लिये मुझे यह जानना चाहिये कि उपरोक्त दश के दश प्राणों का धारण करने वाला ही जीव हो ऐसा नियम नहीं। इनमें से कुछ प्राणों को धारण करने वाले तथा अन्य प्राणों को धारण न करने वाले जीव भी लोक में हैं। कुछ केवल ४ ही प्राणों को धारण करते हैं, कुछ ६ को, कुछ ७ को, कुछ ८ को, कुछ ९ को और कुछ दशों को। और इस प्रकार प्राण धारण की अपेक्षा जीवों के ६ भेद हो जाते हैं।

वे जीव जिनमें केवल छू कर जानने की ही शक्ति है, मात्र स्पर्शन इन्द्रिय को धारण करने वाले एकेन्द्रिय जीव हैं। उनको ४ प्राण हैं। एक स्पर्शन इन्द्रिय, एक कायबल, आयु व स्वासोच्छ्वास। वे जीव जिनमें छू कर जानने के साथ साथ चख कर जानने की शक्ति भी है, वे ६ प्राण के धारी दो इन्द्रिय जीव हैं। उनके हैं दो इन्द्रिय, स्पर्शन व जिह्वा, दो बल काय व वचन। क्योंकि जिह्वा का विषय चखना व बोलना दोनों हैं। आयु व स्वासोच्छ्वास। वे जिनमें उपरोक्त दो शक्तियों के अतिरिक्त एक तीसरी सूंघ कर जानने की शक्ति भी है। वे हैं सात प्राणों के धारी तीन इन्द्रिय जीव। इनकी उपरोक्त ६ इन्द्रियों में नासिका इन्द्रिय सम्बन्धी सातवां प्राण और बढ़ गया है। इसी प्रकार नेत्र सहित चार इन्द्रिय वाले जीवों में आठ प्राण, और कर्ण सहित पांच इन्द्रिय वाले जीवों में नौ प्राण होते हैं। क्योंकि उनमें उपरोक्त सात के अतिरिक्त भी एक नेत्र इन्द्रिय और दूसरी कर्ण इन्द्रिय प्रगट हो गई है। इन पांच इन्द्रिय के धारी जीवों के आगे भी कुछ ऐसे जीव हैं जिनको एक शक्ति विचारने की प्रगट हो गई है। अर्थात् उपरोक्त नौ प्राणों में मनो बल रूप प्राण की जिनमें और वृद्धि हो गई है। वे हैं दश प्राण के धारी जीव।

इन सर्व भेदों को दृष्टान्तों द्वारा समझाते हैं। प्राण के धारी एक इन्द्रिय जीवों में हैं पृथ्वी, पत्थर, कोयला, लोहा, सोना, ताँबा तथा अन्य खनिज पदार्थ, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, अर्थात् घास, फूस, फूल, पत्ता, वृक्ष, कोंपल व फल सब्जी आदि। ६ प्राणों के धारी दो इन्द्रिय जीवों के दृष्टान्त हैं रींग कर चलने वाले कुछ कीड़े गेंडवें आदि। ७ प्राण के धारी तीन इन्द्रिय जीवों के दृष्टान्त हैं छोटे छोटे अनेकों पावों पर चलने वाले चींटे, कान सलाई, कान खजूरे आदि। ८ प्राणों के धारी चार इन्द्रिय जीवों के दृष्टान्त हैं उड़ने वाले छोटे जन्तु, मच्छर, मक्खी, भंवरा, भिर्ड, ततैया आदि। ९ प्राणों के धारी पाँच इन्द्रिय जीवों के दृष्टान्त हैं कुछ विशेष जाति के सर्प, मछली आदि व कुछ विशेष जाति के पशु, पक्षी आदि जो कुछ कम देखने में आते हैं, क्योंकि जितने भी देखने में आते हैं उनके अधिक मनो बल के धारी १० प्राणों वाले जीव हैं। और दश प्राणों के धारी मन वाले पञ्चेन्द्रिय अर्थात् संज्ञी जीवों में हैं मनुष्य, गाय, बकरी, तोता, कबूतर, सर्प, नेवला, मगर मच्छ, मेंढक आदि। इनमें भी ऊपर ४ प्राण के धारी जीवों में बताई जाने वाली वनस्पति दो प्रकार की हैं। एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म। स्थूल वनस्पति तो वही हरित काय है जो नित्य प्रयोग में आ रही है तथा जिनके दृष्टान्त ऊपर दिये जा चुके हैं। पर सूक्ष्म वनस्पति वह है जो इस वायु मण्डल के कण कण पर अनन्तों की संख्या में बैठी हुई है। उसे निगोद जीव कहते हैं। इनकी आयु बहुत अल्प होती है इसी लिये एक सांस लेने में जितनी देर लगती है उतनी देर में यह १८ बार जन्म मरण धारण करते हैं। इस जन्म मरण की तीव्रता के कारण

ही वेदों में इनको "जायस्व म्रियस्व" का नाम दिया गया है। जो अन्वर्थक है। यह सूक्ष्म जीव तो किसी प्रकार भी, यहां तक कि किसी माइक्रोस्कोप के द्वारा भी, हमको दिखाई देने असम्भव है ही, परन्तु अन्य जीवों में भी कुछ, विशेषतया १, २, ३ व ४ इन्द्रिय जीव बड़ी व छोटी दोनों प्रकार की अवगाहना में पाये जाते हैं। बड़ी अवगाहना अर्थात् बड़े शरीर के धारी ये जीव तो साधारणतया हमारी नेत्र इन्द्रिय के विषय बन सकते हैं, परन्तु अत्यन्त छोटी अवगाहना के धारी ये जीव माइक्रोस्कोप के बिना नहीं देखे जा सकते। साधारणतया आंख से दीखने वाले जीवों में भी कुछ इतने छोटे होते हैं कि बड़े ध्यान से देखने से ही दीख पाते हैं। सुई की नोक या बाल के अग्र भाग से भी बारीक ऐसे जीव कभी कभी शरीर पर काटते हुवे अवश्य प्रतीत होते हैं।

आज का मानव जीवों के इन सर्व भेद प्रभेदों में से एक मनुष्य को ही जीव मानता है अन्य को नहीं। आज बकरी आदि तक को भी वह अपनी भोग की वस्तु समझता है। उनके भी प्राण हैं, उनको भी पीड़ा होती होगी, इस बात का उसे भान नहीं है। इससे आगे भी यदि बढ़ा तो मनुष्य व गाय दो को ही जीव मानने लगा, अन्य को नहीं। यदि बकरी आदि को जीव स्वीकार भी किया तो गाय की अपेक्षा उसमें प्राणों की कुछ कमी देखते हुए। और यही कारण है कि आज जहां मानव रक्षा के लिये प्रत्येक देश में शक्ति शाली राज्य स्थापित हैं वहां अन्य जीवों की रक्षा के लिये कोई समाज नहीं है। अधिक से अधिक कहीं दिखाई भी दी तो गऊ रक्षक समाज पर आकर बस हो गई। इससे भी आगे कोई बढ़ा तो पशु, पक्षी को जीव की कोटि में गिन लिया। इन बेचारे मक्खी, मच्छर, चींटी, भिर्ड, सर्प, बिच्छु, मेंडक, मछली आदि की बात पूछने वाला यहां कोई नहीं है। फिर भी यदि समझाने बुझाने पर कोई और कुछ आगे बढ़े भी, तो प्रत्यक्ष में चलते फिरते दीखने वाले इन स्थूल दो इन्द्रिय तक के जीवों को भले जीव स्वीकार कर ले परन्तु माइक्रोस्कोप से दीखने वाले छोटे शरीर के धारी उस ही जाति के जीवों को, तथा पांच भेद रूप पृथ्वी से वनस्पति पर्यन्त तक के एकेन्द्रिय जीवों को जीव कौन स्वीकार करता है ? इनको जीव कहना उनकी दृष्टि में मानों कुछ कपोल कल्पना सी लगती है। परन्तु ऐसा नहीं है। अपनी स्थूल दृष्टि के कारण ही वह ऐसा कहता है। भाई ! तू आया है शान्ति की खोज में। तू उन जीवों की अपेक्षा भिन्न रुचि लेकर आया है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञानियों द्वारा जानी गई इस सम्पूर्ण जीव राशि को स्वीकार कर। क्योंकि ऐसा स्वीकार किए बिना, तू अपने जीवन को संयमित न बना सकेगा। यदि केवल स्थूल चलते फिरते जीवों के सम्बन्ध में संयमित बनाया भी, तो आगे जाकर पूर्ण संयमित न हो सकेगा। इन सूक्ष्म व एकेन्द्रिय प्राणियों को बाधा न पहुँचाने का विवेक तुझ में जागृत न हो सकेगा। अविवेक के रहते शान्ति की पूर्णता कैसे कर सकेगा ?

३ स्थावर व सूक्ष्म जीवों की सिद्धि

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति, इन पांचों को स्थूल दृष्टि से देखने पर चैतन्य तत्व ग्रहण यद्यपि नहीं होता, जड़ वत् से भासते हैं। परन्तु इन पांचों में से वनस्पति शरीर धारी प्राणियों के सम्बन्ध में कुछ सूक्ष्म विचार करने से उनके प्राणधारी होने का विश्वास इस अल्प परोक्ष ज्ञान से भी हो सकना सम्भव है। तथा आज के विज्ञान ने भी उनमें प्राणों को स्वीकार किया है। तू भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा वनस्पति में प्राणों के चिन्ह देख सकता है। देख योग्याहार जल आदि के न मिलने पर वह भी बेचारे कुम्हला जाते हैं। पीड़ा को न सह सकने के कारण बेहोश हो जाते हैं, और आहार मिल जाने पर पुनः सचेत हो जाते हैं, और प्रसन्न होकर नाच उठते हैं। कुछ विशेष जाति की

माँस भक्षक वनस्पति, झाड़ियां व घास भी देखने में आती हैं। अफ्रीका के जङ्गलों में झाड़ियों के रूप में और भारत के वनों में घास के रूप में पाई जाने वाली यह वनस्पति कितने भयानक रूप से, पशु पक्षी या मनुष्य को पकड़ कर उसका खून चूस लेती है, यह बात सुनी होगी। नहीं सुनी हो तो सुन। इस जाति की झाड़ियां खूब लम्बे लम्बे बड़े मजबूत सूत सरीखे हरे भरे बालों के रूप में पाई जाती है। ऊपर की ओर को मुंह किये खड़ी रहती है। और इसी प्रकार से इसी जाति का घास भी। अपने शिकार को निकट आया जान वह एक दम सबकी सब बालें झुक कर ऊपर गिर पड़ती हैं और लिपट कर इतनी फुर्ती से उसके शरीर को बांध लेती हैं, कि वह बेचारा स्वयं यह जान नहीं पाता कि अकस्मात ही यह क्या आफ्त आ गई ? यहां तो कुछ भी नहीं दिखाई देता। पर वनस्पति में प्राण न स्वीकार करने वाला वह मानव यह न जानता था कि वनस्पति का रूप धारण किये हुये उसका भक्षक यहाँ विद्यमान है। उन बालों के अग्र भाग की नोकें उसके शरीर में प्रवेश करके कुछ ही देर में उसका रक्त चूस लेती हैं। और ढांचा मात्र शेष रह जाने पर उस कलेवर को छोड़ कर पुन: पूर्ववत ऊपर की ओर मुंह करके खड़ी हो जाती है। आहार या जल में विष मिला कर सिंचन किये जाने पर सर्व ही वनस्पतियों की मृत्यु होती देखी जाती है। इस प्रकार वनस्पतियों में मनुष्यों वत् ही आहार ग्रहण की क्रियायें व भावनायें स्पष्ट देखने में आती हैं।

यद्यपि अन्य चार में इस प्रकार स्पष्ट रीति से प्राणों की सिद्धि नहीं होती, जैसी कि वनस्पति में, परन्तु फिर भी खानों में पड़े सर्व ही खनिज पदार्थों के शरीरों की वृद्धि का होना, वहां उसके अन्दर जीवन को या प्राणों को दर्शा रहा है तथा खान में से निकल जाने पर वृद्धि का रुक जाना, उसकी मृत्यु को या प्राणों के निकल जाने को दर्शा रहा है। क्योंकि खान में पड़े पत्थर की भांति यह अब बढ़ता दिखाई नहीं देता। बाढ़ के समय जल का, व तूफान के समय वायु का और पवन से ताड़ित होकर अग्नि का प्रत्यक्ष दीखने वाला प्रकोप जिसके सामने मनुष्य की शक्ति हार माननी है, उन पदार्थों में जीवन का द्योतक है, प्राणों को सिद्ध करता है। और प्रत्यक्ष ज्ञानियों ने तो प्रत्यक्ष ही उनमें प्राणों को देखा है। इन सबको सुख दुख का वेदन करते हुये जाना है। जैसे कि कुछ व्यक्ति वर्तमान में भी वृक्षों के हाव भाव व हिलने जुलने से उसकी अन्तरंग पीड़ा या हर्ष के भावों को पहिचानने में समर्थ हैं। अत: विश्वास कर कि इन पांचों ही जाति के एकेन्द्रिय जीवों में प्राण हैं। उन्हें भी सुख दुख का वेदन होता है। उनमें भी कुछ इच्छायें या आकांक्षायें छिपी हैं। माइक्रोस्कोप से दीखने वाले दो इन्द्रिय आदि जीव प्रत्यक्ष ही चलते फिरते दिखाई देते हैं, और एकेन्द्रिय जीव बैक्टीरिया आदि बढ़ते हुये दिखाई देते हैं। विशेष प्रक्रियाओं के प्रयोग के आधीन प्रयोगशालाओं में ४ या ५ दिनों में ही उनका वृद्धि गत रूप कदाचित कुछ झाड़ियों के रूप में ऊपर भी प्रत्यक्ष दीखने लगता है। तथा सौभाग्यवश आज के विज्ञान ने भी उनको प्राण धारी स्वीकार किया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण जीव राशि को प्राणों की अपेक्षा विभाजित करने पर, मैं इन्हें ४, ६, ७, ८, ९, १० प्रकार में कह सकता हूं। इन्द्रियों की अपेक्षा भी विभाजन करने पर, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पांच इन्द्रिय असंज्ञि या मन रहित, और पांच इन्द्रिय संज्ञी या मन सहित, इस भांति ६ प्रकार के कह सकता हूं। एक स्थान पर स्थित रहने के कारण तथा भय कारण भी अपनी रक्षा करने के लिये इधर उधर भागने का प्रयत्न न करने के कारण पांचों प्रकार के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति जीवों को स्थावर तथा अपनी रक्षार्थ इधर उधर भागने दौड़ने वाले दो इन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस। इस प्रकार स्थावर व जंगम केवल इन दो कोटियों में

भी इन सर्व का समावेश कर सकता हूँ। तथा पांच भिन्न भिन्न जाति के शरीरों में पाये जाने वाले मांस अस्थि रहित शरीर वाले स्थावर, और रक्त मांस अस्थि आदि से निर्मित एक जाति के ही छोटे वड़े शरीरों में पाये जाने वाले त्रस, इस प्रकार शरीरों की जातियों की अपेक्षा सर्व जीव राशि को ६ प्रकार की कह सकता हूँ। पृथ्वी आदि पांच काय धारी व त्रसकायधारी।

दिनांक २८ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४५

शान्ति के अर्थ जीवन में प्राण संयम धारने के लिये जीवों के भेद प्रभेदों का कुछ अनुमान कल करा दिया गया। उन सब के प्राणों की रक्षा करने का अपनी ओर से पद पद पर विवेक रखना प्राण संयम कहलाता है। अब मुझे यह देखना है कि इन सबको मेरी किस किस प्रकार की प्रवृति से पीड़ा पहुँचती है। ताकि उन उन प्रवृतियों का जीवन में से शोध कर सकूं।

४ पांच पाप निर्देश

अपनी सर्व प्रवृतियों को प्राण पीड़ा की अपेक्षा में पांच कोटियों में विभाजित कर सकता हूँ। हिंसा के द्वारा, असत्य के द्वारा, चोरी करने के द्वारा, व्यभिचार सेवन के द्वारा, और संचय या Hoarding के द्वारा। इसी का नाम परिग्रह भी है। इन्हें आगम में पांच पाप कह कर भी बताया गया है। प्राणियों को पीड़ा के कारण होने से यह पोंचों जाति की मेरी प्रवृति पाप रूप हैं ही, इसमें क्या संशय है? अब पृथक पृथक इन पांचों पापों का विश्लेषण करता हूँ। तनिक ध्यान देना, क्योंकि इस विश्लेषण पर से यह वात ध्यान में आये विना न रहेगी कि अपनी जिन प्रवृतियों को मैं न्याय संगत माना करता हूं वे भी अन्याय रूप हैं, पाप रूप हैं। मुझे सर्व प्रवृतियों से वचना है। अपने जीवन को संकोच कर केवल निज शान्ति में केन्द्रित करना है। भोग विलास का यह मार्ग नहीं है।

५ हिंसा

स्थूल पशु पक्षी व मनुष्यों को तो वांध कर, पिंजरे में वन्द करके, या कैदखाने में डाल कर, अथवा उनका सर्वत: वध करके, अथवा किसी एक इन्दिय या शरीर के अंगोपांग को काट कर, छेद कर या भेद कर, अधिक भार लाद कर या उनकी शक्ति से अधिक या अधिक समय काम लेकर, अथवा क्रोध वश, द्वेष वश या प्रमाद वश उनको आहार पानी न देकर या कम देकर या समय पर न देकर, अथवा हिंसक पशु पाल कर, मैं पीड़ा पहुँचाया करता हूँ। तथा छोटे शरीर धारी, चींटी, पतंग आदि जीवों को विवेक हीनता वश या प्रमाद वश या अज्ञान वश मेरे द्वारा पीड़ा हो रही है। गमनागमन में सावधानी न रखने के कारण, पृथ्वी पर बराबर देखते हुवे जीवों को वचा वचा कर पग न रखने के कारण, वस्तुओं को उठाते व धरते समय यह न देखने के कारण, कि जहां रख रहा हूँ, या जहां से पकड़ कर उठा रहा हूं, वहां कोई छोटा सा जीव भी बैठा हो सकता है, देख भाल कर भोजन न करने के कारण, अथवा रात्रि को अन्धकार में चन्द्रमा व विजली के प्रकाश में भोजन करने के कारण, जिसमें कि रात्रि को संचार करने वाले छोटे जीव जन्तु या तो दिखाई ही न दें और प्रकाश में दिखाई भी दें तो भोजन में पड़ कर मेरा ग्रास वन जाने से रोका न जा सके। इसके अतिरिक्त भी छोटे व वड़े दोनों शरीर के धारी, मनुष्यों से वनस्पति पर्यन्त तक के जीवों को यथा योग्य रूप में, मन के द्वारा खोटे विकल्प उत्पन्न करके, अथवा वचनों द्वारा, कटू व व्यंगादि रूप वचन वोल कर कष्ट पहुँचाता हूं। प्राणों से मार कर ही नहीं वल्कि दशों प्राणों अर्थात् स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों को, मन को, वचन को व शरीर को काटने छांटने से, या उनके विषयों की प्राप्ति में वाधा डालने से, किसी को स्वासोच्छ्वास रोक कर या अन्य प्रकार वाधित करके भी, इन्हें मैं कष्ट

पहुँचाता हूँ। इन सब प्रकार की तथा अन्य भी अनेकों प्रवृतियों के द्वारा जो मैं स्थावर जंगम प्राणियों को शारीरिक पीड़ा पहुँचाया करता हूं, उसे हिंसा रूप प्रवृति कहते हैं।

६ असत्य — क्रोध वश कहे जाने वाले कटु व तीखे या गाली के शब्द, द्वेष वश कहे जाने वाले व्यंगात्मक शब्द, लोभ वश कहे जाने वाले छल कपट भरे शब्द, हंसी ठट्ठे वश कहे जाने वाले कुछ अनिष्टकारी शब्द, मान वश किसी पद के योग्य नहीं है, ऐसे शब्द। इस प्रकार के शब्द बोल कर मैं किसी के अन्तष्करण में दाह उपजाता हूँ। स्पष्ट अनिष्टकारी, सफेद झूठ बोल कर, चुगली के या निन्दा के, अनिष्टकारी या खुशामद के शब्द बोल कर, झूठे कागज़ व दस्तावेज़ आदि बना कर, किसी की धरोहर मेरे पास रखी हो और उसका स्वामी उसे भूल गया हो या पूरी याद न रख पाया हो और लेने आवे तो कमती मांगता हो, या उस समय उसे पूरी याद दिलाने में चुप खेंच कर, किसी का रहस्य स्वयं उसके द्वारा बताया हुआ अथवा अपने आप ही किन्ही अन्य साधनों से या उसकी मुखाकृति आदि भावों पर से जाना हुआ किसी पर प्रगट करके, इसी प्रकार के अन्य वचन सम्बन्धित अनेकों विकल्पों से मैं किसी के अन्तर प्राणों को अर्थात् मानसिक प्राणों को पीड़ा पहुँचाता हूँ। इस प्रवृति का नाम असत्य प्रवृति है। यहां असत्य का अर्थ केवल झूठ बोलना नहीं, बल्कि प्रत्येक अनिष्ट व कटु वचन वास्तव में असत्य है। सत्य भी वचन यदि अहितकारी है या कटु है वह यहां असत्य की कोटि में समझा जाता है।

७ चोरी — विभिन्न जाति के प्राणियों ने अपनी आवश्यकतानुसार पदार्थों का जो संचय किया हुआ है, वह वह पदार्थ उन उन प्राणियों का धन है। इस धन को भी जीव के बाह्य प्राण कहा जाता है क्योंकि इसमें तनिक सी बाधा आना भी यह प्राणी सहन नहीं कर सकता और कदाचित कदाचित तो इस धन के लिये अपने उपरोक्त दश प्राणों का भी यह कोई मूल्य न गिनते हुवे स्वयं आत्म-हत्या तक कर लेता है। यहां धन शब्द का अर्थ रुपया पैसा मात्र तक नहीं, बल्कि जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्राणियों का निज निज योग्य पदार्थ संचय है। इस धन का अपहरण करके, अथवा कुछ देर के लिये छोड़े गये शून्य किसो आवास आदि में ठहर कर, अथवा सबका स्वामित्व जहां हो ऐसी धर्मशाला आदि स्थानों में आवश्यकता से अधिक स्थान रोक कर, या अपने रोके हुवे स्थान में दूसरे को आने की आज्ञा न देकर, अथवा बिना किसी के दिये या देने की अन्तरङ्ग से भावना किये किसी अपने अपरिचित मित्र की कोई भी वस्तु को यह कहते हुवे लेकर, "कि यह तो मुझे अच्छी लगती है, मैं ले लूं।" क्योंकि शर्म लिहाज के मारे वह यदि बाहर से इन्कार नहीं कर सकता तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह उस वस्तु का विरह स्वीकार करता है, अथवा बिना दाता के भोजन ग्रहण करके, या अयोग्य आहार ग्रहण करके, अथवा साधर्मी जनों से वादविवाद के द्वारा उनकी शान्ति का अपहरण करके, मैं जीवों के मानसिक प्राणों का अपहरण करता हूँ। स्थूल व प्रसिद्ध चोरी करके, चोरी का माल लेकर चोरी करने सम्बन्धित उपाय अन्य को बता कर, चोरी करने के उपयुक्त हथियार बना कर या दूसरे किसी को देकर, चोर को आश्रय देकर, राज्य नियम के विरुद्ध काम करके, या टैक्स या रेल आदि का किराया बचा कर, कमती बढ़ती बाट, गज़ आदि तोलने व मापने के यन्त्र रख कर, किसी चालाकी से कम तोल कर या माप कर, अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिला कर, आज्ञा से अधिक सवारी मोटर में बैठा कर, चोर बाज़ार में माल बेच कर, इत्यादि अनेक ढङ्गों से भी मैं प्राणियों को पीड़ा दे रहा हूं। मेरी इस जाति की प्रवृति का नाम चोरी है।

८ अब्रह्म साक्षात् स्त्री संभोग के अतिरिक्त, स्त्री पुरुष संयोग सम्बन्धि बातें सुनने व कहने में आसक्त होकर, या तिर्यञ्चों का संभोग देख कर, या शरीर के विशेष मनोहर अंगोपांग की ओर दृष्टिपात करके, पूर्व में की गई मैथुन क्रियाओं को स्मरण करके, गरिष्ट व तामसिक भोजन करके, शरीर का ऐसा शृङ्गार करके जिसमें कि दूसरे का चित्त आकर्षित हो जाये, मैं सदा व्यभिचार सेवन करता हूँ। तथा दूसरों के पुत्र पुत्रियों के सम्बन्ध मिलवा कर, विवाहित या अविवाहित व्यभिचारी या सुशील स्त्रियों के घर पर जाकर, या एकान्त में उनसे वचनालाप करके, या अपने शरीर के अंग विशेषों का पुनः पुनः स्पर्श करके, अथवा अन्तरङ्ग में काम वासना उत्पन्न करके, तथा अन्य भी अनेकों ढंगों से मैं व्यभिचार सेवन किया करता हूँ। मेरी इस प्रवृति का नाम अब्रह्म, कुशील सेवन या व्यभिचार है। इस प्रवृति के द्वारा असंख्यात छोटे छोटे कीटाणुओं को पीड़ा पहुंचाने के अतिरिक्त मैं उन उन स्त्रियों व उनके स्वामियों या माता पिताओं के हृदय को भी अतीव वेदना पहुँचाता हूँ।

९ परिग्रह आवश्यकता से अधिक धन धान्य, कपड़ा व ज़ेवर, वर्तन व खेत तथा जायदाद, पशु, दास, दासी, आदि रख कर, अथवा उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करके, या अच्छे न लगने वाले पदार्थों से द्वेष करते हुवे उन्हें दूर करने की इच्छा करके, भी मैं अनेकों प्राणियों को पीड़ा पहुँचा रहा हूँ। मेरी इस प्रवृति का नाम है परिग्रह भाव। इसका सविस्तार विवेचन आगे के किसी प्रकरण में आयेगा। (देखो प्रवचन नं० ५०-५१, दिनांक ४-५ अक्तूबर १९५९)

१० प्राण पीड़न के १२९६० भंग इस प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, व परिग्रह इन पांच प्रकार की मेरी प्रवृतियों से नित्य ही इस विश्व के प्राणी किसी न किसी रूप में बाधित व पीड़ित हो रहे हैं। और मुझे यह खवर भी लगने नहीं पाती कि मैं कुछ अनर्थ किये जा रहा हूँ-अपने लिये व दूसरों के लिये। इतना ही नहीं यह पांचों ही पाप मैं मन के द्वारा अर्थात् केवल उन प्रवृतियों सम्बन्धी विकल्प मन में उठा कर, वचन के द्वारा अर्थात् इन प्रवृतियों के अनुरूप वचन बोल कर, और काय के द्वारा अर्थात् अपने शरीर से साक्षात् इन क्रियाओं में प्रवृत होकर, कर रहा हूँ। और आश्चर्य है कि मैं फिर भी वेखवर हूँ। इतना ही नहीं मन वचन काय के द्वारा इन क्रियाओं को मैं स्वयं करता हूँ, कभी दूसरों से कह कर या शरीर द्वारा इशारा करके कराता हूं या दूसरों को करता देख कर मन ही मन या वचनों के द्वारा भी या शरीर के हाव भाव के द्वारा भी प्रसन्न होकर अनुमोदन करता हूँ। और फिर भी मुझे यह पता नहीं कि मैं क्या कर रहा हूँ। मन वचन काय इन तीनों के द्वारा करने से, इन तीनों के द्वारा कराने से, तथा इन तीनों के द्वारा अनुमोदन करने से, मेरी प्रवृति के नौ भंग बन जाते हैं। इन नौ भंगों के आश्रय से मैं उन पांच प्रकार की प्रवृतियों सम्बन्धी कुछ प्रयत्न करता हूँ। इन्हीं नौ के आश्रय से उस प्रयत्न की सिद्धि में सहायक सामग्री विशेष को जुटाता हूं, तथा उन्हीं नौ विकल्पों से उन प्रवृतियों में जुट जाता हूँ। इस प्रकार नौ के २७ भंग बन जाते हैं। इन २७ भंगों के आश्रय पर मैं क्रोधावेश के कारण उन पांच पापों में प्रवृति करता हूँ। मान कषाय के आवेश के कारण प्रवृति करता हूँ, माया कषाय से दवा हुआ प्रवृति करता हूँ ? लोभ कषाय के आधीन होकर प्रवृति करता हूं। इस प्रकार मेरी अनर्थ सव पांचों प्रवृतियों में से प्रत्येक के १०८ भंग हो जाते हैं। अर्थात् पांचों पापों के कुल ५४० भंग हो जाते हैं। यह सर्व ५४० भंग कभी मनोरञ्जन के अर्थ संकल्प पूर्वक विना किसी गृहस्थ सम्बन्धी विशेष प्रयोजन के करता हूँ, कभी घर बार सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओं की पूर्ति के अर्थ अर्थात् खाने बनाने या घर की सफाई के अर्थ करता हूँ, कभी कारोवार या उद्योग धन्धों के अर्थ करता हूँ, और कभी अपनी

तथा अपने कुटुम्ब की या अपनी सम्पत्ति की वा अपने देश की रक्षार्थ किसी शत्रु आदि के विरोध के कारण करता हूँ। अतः इन ५४० प्रवृतियों के ही संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी व विरोधी यह चार चार भेद हो जाने से, मेरी अनिष्ट व प्राण पीड़ा कारक प्रवृतियों के २१६० भंग हो जाते हैं। यह २१६० भंग प्राणों के ६ भेदों के आधार पर पृथक पृथक लागू करने से १२९६० भंग बन जाते हैं।

११ हिंसा का व्यापक अर्थ — वास्तव में हिंसा या अहिंसा के दो शब्द जो आज प्रायः सुनने में आ रहे हैं, व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किये जाने योग्य हैं। किसी प्राणी को जान से मार देना तो हिंसा और उसे जान से न मार देना मात्र अहिंसा ऐसा नहीं है। इसका बड़ा व्यापक अर्थ है। इसलिये उपरोक्त सर्व १२९६० प्राण पीड़ा के भंग तथा अन्य भी सम्भव अनेकों विकल्प, जिनके द्वारा किसी भी प्राणी को शारीरिक, वाचसिक व मानसिक पीड़ा व बाधा हो, हिंसा में समावेश पा जाते हैं। सूक्ष्म रूप से देखने पर जो कार्य अहिंसात्मक दिखाई देते हैं उनमें भी किसी न किसी रूप में हिंसा पड़ी है। दृष्टान्त के रूप में मैं प्रयत्न पूर्वक चला जाता हूँ और कुछ पक्षी वहां बैठे हों जिनको मेरे निकट आ जाने से कुछ भय प्रतीत हो और वहां से उड़ जायें तो उस मार्ग पर उन कबूतरों के निकट मेरा जाना हिंसा होगा। चींटी प्राणों की रक्षार्थ उसे मार्ग में से हटा कर एक ओर सरका देना भी हिंसा है। क्योंकि ऐसा करने से सम्भवतः उसके उस आन्तरिक अभिप्राय को धक्का पहुँचा है, जिसको लिये हुए वह अमुक दिशा में जा रही थी। इत्यादि अनेकों प्रकार से हिंसा का व्यापक अर्थ है। कहाँ तक कहा जाये, और याद भी कैसे रहेंगे-इतने विकल्प ? अतः एक छोटी सी पहिचान बताता हूँ-यह जानने की कि कौन क्रिया हिसात्मक है और कौन अहिंसात्मक है। अपनी प्रत्येक क्रिया को इस कसौटी पर कस कर देखने के द्वारा बड़ी सरलता से हिंसा व अहिंसा की परीक्षा हो जायेगी। जो कुछ भी दूसरे किसी की अपने प्रति होने वाली क्रिया आपको अरुचिकर हो, बस वह क्रिया हिसात्मक है, और जो रुचिकर हो तो अहिंसात्मक। अर्थात् मैं कोई भी ऐसी क्रिया किसी छोटे या बड़े जीव के प्रति न करूं जो स्वयं मुझे अपने प्रति पीड़ा प्रदायक हो।

१२ सकल व देश प्राण संयम — ऐसी सर्व हिंसात्मक प्रवृतियों का अपने जीवन से पूर्णतया निरोध करने का नाम पूर्ण प्राण संयम या सकल प्राण संयम है। वह मुनियों व साधुओं का होता है। आंशिक रूप से यथा शक्ति निरोध का नाम एक देश प्राण संयम है। भले ही पूर्णतया मैं इन सब प्रवृतियों से मुक्त होने की वर्तमान में क्षमता न देखता हूँ, परन्तु शक्ति अनुसार इन सर्व १२९६० विकल्पों में से कुछ भंगों का पूर्ण त्याग और कुछ का एक देश या अल्प त्याग करने को इस अवस्था में भी अवश्य समर्थ हूँ।

दिनांक ३० सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४९

करता हुआ स्वयं अशान्त बना हुआ हूँ। मेरी किसी भी प्रवृति के द्वारा किसी भी बड़े या छोटे प्राणी को बाधा नहीं पहुँचनी चाहिये। ऐसी सावधानी वर्तना मेरा कर्तव्य है, इसी का नाम प्राण संयम है। परन्तु कुछ आलस वश, कुछ प्रमाद वश, कुछ मनोरञ्जन वश, और कुछ परिस्थिति वश मैंने इस कर्तव्य की परवाह न की। सदा निरर्गल प्रवृति से चलते मुझको केवल एक बात की ही चिन्ता रही, कि जिस किस प्रकार भी पञ्चेन्द्रिय विषय की पूर्ति द्वारा मेरा भोग विलास अक्षुण्ण बना रहे, चाहे अन्य जीव मेरे पड़ोसी मरे या जीयें, रोयें या हंसे।

१४ वर्तमान जीवन का चित्रण सम्भल भगवन् सम्भल ! तेरे जीवन का कुछ लक्ष्य है। उसे समझ। चिन्ताओं का भार लिये प्रातः ही बिस्तर से उठना, दो चार लोटे पानी के जल्दी से शरीर पर डाल, उल्टे सीधे कपड़े पहन मोटरकार पर सवार हो किसी एक दिशा को चल देना-घर में बीवी बच्चों तथा माता पिता को एक निराशा की उलझन में छोड़ कर। कुछ घण्टों में जल्दी जल्दी कभी इधर दौड़ और कभी उधर, आगे आगे दौड़ और पीछे पीछे छोड़ करता लगभग ३० मील का चक्कर लगा लिया। दस दफतरों में स्वयं जाकर हो आये, ३० से टेलीफोन पर बात करली, और दोपहर को खाना खाने के समय लौट आये घर पर कुटुम्बियों के चेहरे पर संतोष की धीमी सी रेखा खेंचते। खाना खाने बैठे दो, चार टुकड़े खाये, टेलीफोन की घण्टी बजी और खाना बीच में ही छोड़ भागे। पुनः वही मोटरकार वही सड़क वही दफतर। और घरमें बीवी बच्चे व माता पिता पुनः उदास। बिना खाये ही चले जो गये आप। दिन भर की दौड़ धूप से थके मांदे लौटे घर पर, रात्रि को ९ बजे बिलकुल सोने के समय। न बीवी से बात न बच्चे से हंसी, न माता पिता को सांत्वना के दो शब्द, सो गये। सो क्या गये रात बिता दी चिन्ताओं में, कि कल को यह करना और वह करना है। प्रातः हो गई। पुनः वही चक्र।

सोच तो सही कि क्या यही है मानव जीवन का सार ? क्या यही है तेरा भोग और विलास ? जो पुरुपार्थ तू सुख के लिये कर रहा है उससे उल्टा दुःखी हो रहा है। अधिकाधिक जाल में फंसता जा रहा है। अन्य जीवों के सम्बन्ध में अपना कर्तव्य विचारने की तो बात ही नहीं, तुझे तो अपने कुटुम्ब के प्रति भी अपना कर्तव्य सम्भवतः याद नहीं रहा। चिन्ता सागर में डूबा तू चला जा रहा है-किस ओर तुझे स्वयं खबर नहीं। सम्भल ! सम्भल ! तुझे गुरु देव प्रकाश दे रहे हैं। आंख खोल कर देख। कर्तव्य हीन बन कर तो देख लिया। निकली चिन्तायें व व्यग्रतायें। अब कुछ समय को कर्तव्य परायण भी बन कर देख। यदि अच्छा लगे तो बने रहना, नहीं तो छोड़ देना। जबरी नहीं है। करुणा पूर्ण प्रेरणा है।

१५ विवेक हीनता हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार व परिग्रह के १२९६० कुल भंगों के द्वारा जीवों के प्राणों को रोंदता मैं चला जा रहा हूं-किस ओर मुझे स्वयं खबर नहीं। अव्वल तो उनकी पीड़ा मेरे उपयोग में ही नहीं आती, और आवे भी तो इतना कह कर सन्तोष कर लेता हूँ, कि क्यों आये ये प्राणी मेरे मार्ग में ? या यह कह कर सन्तोष कर लेता हूं, कि मैं तो गृहस्थी हूं, इस सबके बिना मेरा काम न चलेगा। या यह कह कर अपनी निरर्गलता को पोषण कर लेता हूं कि यदि सर्व ही जगत संयमी बन जाये तो जगत का व्यवहार कैसे चले ? जगत का व्यवहार चलाना भी तो किसी का कर्तव्य है ही। बस वह कर्तव्य पूरा कर रहा हूं। या यह कह कर अपना स्वार्थ पुष्ट कर लेता हूँ। कि यह सर्व सृष्टि मेरे भोग के लिये

ही तो वनी है, इत्यादि । अनेकों घातक अभिप्राय, जिनके द्वारा साक्षात् मेरा अहित हो रहा है। मैं अशान्ति के सागर में डूवा जा रहा हूं। परन्तु वेखवर हूं ।

भगवन् ! छोड़ दे निर्विवेक विकल्पों को, एक क्षण के लिये। मेरे लिये नहीं, शान्ति की प्राप्ति के लिये। अन्य जीवों में और तुझ में वड़ा अन्तर है। अन्य क्षुद्र जीवों में तो ज्ञान नहीं। इसी वेचारे लिये आ जातेहैं मार्ग में। भूख जो सताती है उन्हें। आहार की खोजमें निकल आते हैं, इस ओर वेचारे, अन्धे की भांति। यदि वैठे रहते अपने निश्चित स्थान पर तो, तू ही वता, कौन देता खाना उन्हें ? जिस प्रकार तुझे खाने की चिन्ता है इसी प्रकार उन्हें भी तो अपने उदर पोषण की चिन्ता है। वह भी तो तुझ वत् प्राणी ही हैं। पर तुझे तो ज्ञान मिला है। वुद्धि मिली है। साधन मिले हैं। अन्धा मार्ग पर चला आता है और तुम भी उसी मार्ग पर चले जाते हो, तो वताओ तो सही कि वचना किस का कर्तव्य है ? अन्धे का या तुम्हारा ? उस वेचारे के नेत्र नहीं, वचेंगे कैसे ? वचना तो तेरा ही कर्तव्य है। आंख वाला, ज्ञान वाला जो ठहरा तू। तुझे ज्ञान, वुद्धि व साधन इसीलिये तो मिले हैं, कि तू अपनी रक्षा कर और दूसरों की भी। इन ज्ञानादि का मिलना तभी तो सार्थक है, जव कि इनका उपयुक्त प्रयोग हो। अन्यथा तुझे कौन कहेगा ज्ञानी। तथा इस ज्ञान से तेरा हित भी क्या होगा ?

कितना अच्छा हो ? कि तेरा सकल जगत के संयमी वनने का विकल्प पूरा हो जाये। यद्यपि यह वात असम्भव है, क्योंकि वर्तमान में जीवन के लिये अत्यन्त उत्तम समझा जाने वाला ऐन्जीनियरिंग लाइन का ग्रहण सर्व सम्मत के लिये आकर्षित होते हुये भी क्या यह सम्भव है कि सर्व ही एन्जीनियर वन जायें ? परन्तु यदि झूठी कल्पना इस प्रकार की वना कर यह फर्ज भी कर लिया जावे, कि सर्व जगत संयमी वन गया, तो इससे अच्छी वात ही क्या है ? जगत व्यवहार चलता रहे, इस वात की आवश्यकता ही क्या है ? तथा तुझको इस जगत व्यवहार को चलाने का ठेकेदार किसने वनाया ? सर्व जगत संयमी हो जायें तो न हों इच्छायें, न हों चिन्तायें, न हो दौड़ धूप, न हो द्वेष, न हो घृणा, न हो युद्ध, न हो एटम वम। हो केवल इस शान्ति का प्रसार इस धरातल पर। मानों यही मोक्ष स्थान है। वैकुण्ठ है। इससे उत्तम वात क्या हो सकती है ? क्या उपरोक्त इन चिन्ताओं आदि का अभाव भी नहीं भाता तुझे ? तेरे इस झूठे विलास ने तेरी इस वुद्धि को भी ढक दिया है। विचार तो सही ? तू स्वयं निश्चित होना चाहता है और जगत का निश्चित होना तुझे भाता नहीं, तो कैसे पावेगा निश्चिन्तता-तू स्वयं ?

१६ उद्योगी व आरम्भी हिंसा में यत्नाचार

ठीक है तू गृहस्थी है, पूर्णतया इन सर्व १२६६० विकल्पों का त्याग करके तुझे वर्तमान में न चल सकेगा, क्योंकि इतनी शक्ति ही नहीं है-तुझ में। परन्तु तुझ [illegible] जाना पुरुषार्थी का काम नहीं। यह कायरता है। तू वीर पुरुषों की सन्तान है जिन्होंने उस शत्रु को परास्त किया है जिससे वड़े वड़े चक्रवर्ती सम्राट भी हार मान गये, जिन्होंने समस्त विकल्पों का नाश किया और अत्यन्त निर्मल शान्ति में स्थिरता धर गये। तुझे शक्ति से अधिक करने के लिये नहीं कहा जा रहा है। जितना कहेंगे उतनी शक्ति अब भी तेरे अन्दर [illegible] है। [illegible]

वाधा कारक उपरोक्त १२९६० विकल्पों को पूर्णतया भले त्याग न सके, परन्तु इनमें से कुछ विकल्पों को त्यागने में तू अब भी समर्थ है।

जैसे कि, आरम्भी, उद्योगी व विरोधी सम्वन्ध में लागू होने वाले जो सम्भव विकल्प हैं उनको अवश्य तू वर्तमान परिस्थितिमें निज शरीर व कुटुम्व और सम्पत्ति आदि के मोहवश तथा शक्ति की हीनता वश नहीं त्याग सकता। परन्तु क्या निष्प्रयोजन व केवल मनोरञ्जन के अर्थ होने वाली अपनी प्रवृति के यथा योग्य भंगों को भी नहीं त्याग सकता ? अर्थात् शिकार खेलने के, या हिंसक जन्तु कुत्ते आदि के पालने आदि के त्याग के द्वारा कुछ परोक्ष (Indirect) रूप में तू अनेकों मूक पशु, पक्षियों के प्राणों को पीड़ा पहुँचाने से अपने को क्या नहीं रोक सकता ? क्या ऐसा करने से तेरे शरीर को या गृहस्थी को कोई भी वाधा होनी सम्भव है ?

तू शान्ति का खोजी वन कर निकला है। दूसरों के सुख व शान्ति की चिताओं पर अपनी शान्ति का प्रासाद वनाने का प्रयत्न न कर। क्योंकि कितने दिन टिका रहेगा वह प्रासाद ? इस प्रासाद में तू निर्भय न रह सकेगा। अत: संकल्प द्वारा विना प्रयोजन के तुझे ३२४० के ३२४० पूर्वोक्त विकल्पों द्वारा प्राण पीड़न का त्याग कर ही देना चाहिये। तथा शेष रही उद्योगी व आरम्भी व विरोधी हिंसाओं में भी तुझे निरगर्लता का त्याग करके उस दिशा में भी अपने को संयमी वनाना चाहिये। उद्योगादिक की उन उन क्रियाओं में होने वाली हिंसा से गृहस्थ में रहते हुवे तू सर्वत: नहीं वच सकता, परन्तु उन उन क्रियाओं में यत्नाचार व विवेक रख कर तू वहुत अधिक हिंसा से वच सकता है। जैसा कि अन्नादि शोधन करके उनमें से निकली जीव राशि को यदि मार्ग में न डाल कर किसी कोने में डाले तो वे उतनी जल्दी तथा रोंदे जाकर तो मरेंगे ही नहीं, परन्तु इसके अतिरिक्त भी सम्भवत: उनमें से कुछ ऐसे हों, जो कहीं इधर उधर छिप कर अपनी पूरी आयु पर्यन्त जीवित रह सकें। कोमल झाड़ू का प्रयोग करने से भी तू काफी हिंसा से बच सकता है। ऐसा करने से तूने उनकी शान्ति का सत्कार अवश्य किया ही किया, और इतने अंश में तू संयमी हुआ ही हुआ। जलादि वनस्पति पर्यन्त की तू पूर्ण रक्षा तो नहीं कर सकता, परन्तु केवल आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग करने से क्या प्रमाद वश उनके होने वाले अनावश्यक व्यय से भी तू न वच सकेगा ? जितने कम से कम पानी में काम चले चला, नल को खाली खुला न छोड़। रोज़ की आवश्यकता के अनुसार ही वनस्पति घर में ला, फालतू नहीं। धड़ियों वनस्पति न सुखा। पंखे को फालतू चलता हुआ न छोड़। अग्नि को आवश्यकतानुसार ही जला फालतू नहीं। तो काफी अंश में तू इन क्षुद्र व जंगम जीवों की हिंसा से वच सकता है। इसके अतिरिक्त चलते फिरते, वैठते उठते, वस्तुओं को उठाते धरते, मल मूत्रादि का त्याग करते, तथा अन्य भी दैनिक क्रियाओं को करते, यदि वरावर सावधानी रखे, कि तेरे पांवों के नीचे आकर या वस्तु के नीचे दव कर, या मल-मूत्रादि ऊपर पड़ जाने के कारण कोई क्षुद्र जन्तु वाधित तो नहीं हो रहा है, तो काफी अंश में तू इस उद्योगी व आरम्भी हिंसा से भी वच सकता है, और ऐसा करने से तेरी गृहस्थी में अथवा शारीरिक स्थिति में भी कोई वाधा नहीं आती।

(अहिंसा)

दिनांक १ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ४७

१७ अहिंसा कायरता नहीं

प्राण संयम की बात चलती है। उसके अन्तर्गत संकल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग और उद्योगी, आरम्भी हिंसाओं में भरसक यत्नाचार रखने के लिये कल बताया जा चुका है। अब चलती है विरोधी हिंसा की बात। गृहस्थ में रहते हुवे अपनी कुटुम्ब की व अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। ऐसा न करूं तो मैं कायर कहलाऊंगा, कर्तव्य विहीन कहलाऊंगा और ऐसा न करने से मेरा गृहस्थ जीवन अबाधित रूप से चल भी नहीं सकता। घर में कोई चोर या डाकू मेरी सम्पत्ति का अपहरण करने के लिये घुस आवे, तो मेरा कर्तव्य वहां से भाग जाना, या चुपके से जो मांगे दे देना नहीं है। ऐसा करना कायरता है। मेरी इज्जत पर कोई आक्रमण करने आया हो अथवा मेरे आश्रित बीबी बच्चों आदि के सम्मान पर कोई हाथ डालने को सामने खड़ा हो तो, यह सोच कर छिप जाना, कि मुकाबला करूंगा तो सम्भवतः यह मारा जाये और हिंसा हो जाये, कायरता है।

इसके अतिरिक्त मेरे देश पर, उस पर जिस पर कि मैं सुरक्षित रूप से निर्भय जीवन बिता रहा हूँ-स्वतन्त्रता के साथ, सम्मान के साथ; उस देश पर जिस पर कि मुझे हर सुविधा प्राप्त है, उस देश पर जिसमें रहने के कारण कि आज मैं विश्व में सभ्य मानव कहलाने का अधिकार रखता हूं, उस देश पर जिसका सीना चीर कर उत्पन्न की गई सम्पत्ति का सुख पूर्वक मैं उपभोग कर रहा हूं, जिस पर रहते हुवे मैं जो चाहे करूं, जो चाहे बोलूं, मुझे बाधा पहुंचाने वाला कोई नहीं; यदि कोई आक्रमण करने को उद्यत हुआ हो, अथवा किसी अन्य प्रकार से उसकी स्वतन्त्रता को पंगु बनाने की घात लगा रहा हो, या उसकी सम्पत्ति को अनेक मायावी ढंगों से लूट लेना चाहता हो, तो यह समझ कर, कि इस विरोधी का मुकाबला करने में अनेकों का लहू बह जायेगा, मैं हिंसक बन जाऊंगा, मुंह छिपा लेना कायरता है।

१८ अहिंसा में लौकिक वीरत्व

अहिंसा या प्राण संयम कायरता का नाम नहीं। अहिंसा वीरों का भूषण है। अहिंसा वीरों का धर्म है। अतुल बलधारी ही इसका पालन कर सकते हैं। अहिंसा के ठीक ठीक रूप से अपरिचित रहने के कारण ही आज का विश्व अहिंसा को कायरता का प्रतीक कह रहा है, इसको ही भारत देश के ह्रास का कारण कह रहा है। परन्तु क्या उसे अब भी [illegible] विश्वास नहीं हुआ अहिंसा के पराक्रम का, जबकि एक इसी हथियार के द्वारा मुकाबला किया गया तोपों का, टैंकों का, बमों का, तथा आधुनिक बड़े बड़े हथियारों का। और जीत हुई इसी के पक्ष की। [illegible] भारत स्वतन्त्र हो गया, बिना रक्त की एक बूंद गिराये। सम्भवतः विश्वास नहीं, फिर भी इसके महान पराक्रम पर।

तो देख और अनेक ढंगों से अहिंसा का पराक्रम। गृहस्थी पर या देश पर [illegible] अवसर आ पड़ने पर एक गृहस्थी अहिंसक का कर्तव्य है, अपनी व कुटुम्ब की तथा देश की रक्षा

करने के लिये बाज़ी लगा दे अपनी जान की। भले शत्रु प्रबल हो पर भिड़ जावे उससे। अहिंसक को अपमान के जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक प्रिय है। मृत्यु उसके लिये खेल है-बच्चों का। जैसे कि खिलौना लिया और टूट जाने पर दूसरा ले लिया। किस काम आयेगा फिर यह चमड़े का शरीर, जो आज मेरे सम्मान की रक्षा में भी इससे कोई सहायता न मिले। इतने दिनों से बराबर इसे पोपता चला आया हूं, आज अवसर आया है इसकी परीक्षा का। मेरी सेवा का मूल्य चुकाने का। और यदि आज इसने कृतघ्नता दिखाने का प्रयत्न किया तो फिर यह मेरा कैसा ? मित्र से उसी समय तक प्रेम होता है जब तक कि उसकी कृतघ्नता प्रगट नहीं हो जाती। या तो आज इसे सहर्ष अपना कर्तव्य निभा कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी होगी, या मेरे द्वारा इसे दण्ड भोगना होगा। दोनों दशाओं में इसे क्षति ही उठानी होगी। दोनों दशाओं में इसे मृत्यु का आलिंगन करना होगा। परन्तु एक दशा में होगी वीरों की मृत्यु और दुसरी दशा में कुत्ते की मृत्यु। बता कौन सी मृत्यु स्वीकार है. तुझे ? सोचने का अवकाश नहीं, शत्रु सामने खड़ा है।

यह होती हैं कुछ विचार धारायें, जो एक सच्चे अहिंसक के हृदय में ऐसे अवसरों पर उत्पन्न हुआ करती हैं। क्योंकि इस बात का दृढ विश्वास होता है उसे प्रत्यक्षवत्, कि वह अबाध्य व अघात्य, चिदानन्द भगवान आत्मा है। और शरीर उसका सेवक उसकी शान्ति की रक्षा करने के लिये। इसलिये वह बिल्कुल निर्भय होता है। शरीर चला जायेगा तो और मिल जायेगा, पर सम्मान चला जायेगा, धर्म चला जायेगा, साहस चला जायेगा, तो फिर न मिलेगा। तो मेरे अन्तरंग की सर्व सम्पत्ति ही लुट जायेगी। नहीं नहीं, यह सब कुछ उसे असह्य है। वह अपना सर्वस्व बलिदान कर सकता है एक शान्ति की रक्षा के लिये, सम्मान की रक्षा के लिये। कुत्तों वत् दूसरों के आश्रय पर जीना उसे स्वीकार नहीं।

और यही था भारत के वीरों का आदर्श, महाराणा प्रताप का आदर्श, शिवाजी का आदर्श, महारानी झांसी का आदर्श। एक अहिंसक का हृदय जो अन्य अवसरों पर मोम होता है, ऐसे अवसरों पर पाषाण से भी अधिक कठोर हो जाता है दूसरों के तनिक से कष्ट पर जो रो उठता है, ऐसे अवसरों पर सिंह वृति धारण कर लेता है। जिस प्रकार कि भारत की वीर ललनायें। जो अहिंसक अन्य अवसरों पर चींटी पर भी दया करता है, ऐसे अवसरों पर अत्यन्त क्रूर हो जाता है।

१६ विरोधी हिंसा व अहिंसा में समन्वय बात कुछ अटपटी सी लग रही होगी। अहिंसा और रक्त प्रवाह। दो विरोधी बातें कैसी ? जल व अग्नि का एक स्थान में निवास कैसा ? सर्प व नेवले की मित्रता कैसी ? परन्तु ऐसी बात नहीं है। सुन भाई ! बताते हैं। तेरे अन्तर में उत्पन्न होने वाले यह सर्व प्रश्न ठीक ही हैं। परन्तु यह तब ही तक तेरे हृदय में स्थान पा रहे हैं, जब तक कि अहिंसा का यथार्थ रूप जान नहीं पाया। क्रियाओं में अवश्य विरोध दीख रहा है पर अभिप्राय में विरोध नहीं है। हिंसक भी शत्रु से युद्ध करता है और अहिंसक भी। दोनों के द्वारा ही युद्ध में मनुष्य संहार होता है। परन्तु फिर भी हिंसक क्रूर और अहिंसक दयावान ही बना रहता है। इसकी परीक्षा बाह्य की इस क्रिया पर से नहीं हो सकती। अन्दर का अभिप्राय पढ़ना होगा। दोनों के अन्तर अभिप्राय में महान अन्तर है।

हिंसक के अन्दर है आक्रमण और अहिंसक के अन्दर है केवल रक्षा। हिंसक के हृदय में है द्वेष और अहिंसक के हृदय में कर्तव्य। हिंसक को होता है इस नर संहार को देख कर हर्ष और

अहिंसक को होता है पश्चाताप। और इसलिये हिंसक न्याय अन्याय के विवेक से शून्य होकर प्रहार करता है, हथियार रहित पर भी, सोते हुवे पर भी, या स्त्री, बूढ़े व बच्चों पर भी या घायल व अपहाज पर भी। दूसरी ओर अहिंसक का हृदय ऐसे विचार मात्र से भी कांपता है। किसी मूल्य पर भी यह विवेक बेचने को वह तैयार नहीं। उसे अपनी हार की चिन्ता नहीं, उसे अपनी मृत्यु की चिन्ता नहीं, चिन्ता है केवल न्याय व कर्तव्य की। और इस लिये कभी प्रहार नहीं करता, छिप कर, या हथियार रहित पर या सोते पर, या पीठ दिखा कर भागते पर या बच्चे व बूढ़े पर या घायल और अपहाज पर। हिंसक करता है अपनी ओर से पहल-दूसरे के घर पर जाकर, और अहिंसक करता है सामना अपने घर पर आये हुवे का। हिंसक घायल व अपहाज शत्रुओं पर करता है अट्टहास, और अहिंसक करता है उनसे मित्र वत् प्रेम। क्योंकि उसने युद्ध किया था केवल इस अभिप्राय से कि उसके सम्मान की रक्षा हो जाये, द्वेष से नहीं। और प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर अर्थात् रक्षा हो जाने पर, वह शत्रु आता है उसकी दृष्टि में एक सामान्य दुःखी जीव वत्, जिसका हृदय दुःखी है-अपनी हार पर। जो लज्जित सा कुछ दबा सा जा रहा है-स्वयं।

और इसलिये पुनः वही करुणा, पुनः वही प्रेम जो इस अवसर से पहले उस जीव पर था-उसे। शान्त सम्भाषण के द्वारा प्रयत्न करता है-उसे सांत्वना देने का। युद्ध के पश्चात् वह स्वयं करता है घायलों की सेवा, और हिंसक मारता है उनको ठोकर। हिंसक के हृदय में है बदले की भावना और अहिंसक के हृदय में है क्षमा। यह है दोनों क्रियाओं में अन्तर, जो अन्तरंग अभिप्राय विशेष वश ही होना सम्भव है। और इस अभिप्राय में अन्तर के कारण ही, एक है हिंसक और दूसरा है अहिंसक।

इस अभिप्राय पूर्वक बाहर में विरोधी हिंसा करने वाला गृहस्थ वास्तव में अन्तरंग से हिंसा करता ही नहीं, और इसलिये उसके प्राण संयम में बाधा आती ही नहीं-इससे। अतः विरोधी हिंसा को यदि आवश्यक समझता है—अपने लिये-इस परिस्थिति में, तो भी अभिप्राय में तो कुछ परिवर्तन कर ही सकता है। उससे तो कोई बाधा नहीं आती तेरी गृहस्थी को या तेरे शरीर को।

२० अहिंसा में अलौकिक वीरत्व

यह तो अहिंसा का है लौकिक वीरत्व एक गृहस्थी के लिये। परन्तु अहिंसक का एक अलौकिक वीरत्व भी है। वह वीरत्व जो एक योगी के जीवन में होता है। जिससे सम्भवतः आप परिचित न हों। वह वीरत्व जिसके सामने बड़े बड़े सम्राट भी नत मस्तक हो जाते हैं। ऊपर कही गई है लौकिक शत्रु को जीतने की बात, और यहां है अलौकिक शत्रु को जीतने की बात। उस शत्रु को जीतने की बात जिसके आगे बड़े बड़े योद्धा भी हार मान जाते हैं।

गृहस्थ दशा में अहिंसा की साधना का अभ्यास करते करते आज वह योगी उस चरम वृद्धि के शिखर पर पहुंच चुका है। उसकी शान्ति निश्चल हो चुकी है-सुमेरु की भांति। अब लोक की बड़े से बड़ी बाधा भी उसकी शान्ति में विघ्न डालने में असमर्थ है। अब उसका [illegible] बदल चुका है, क्योंकि उसका शरीर बदल चुका है। उसकी सम्पत्ति बदल चुकी है, उसका कुटुम्ब बदल चुका है, उसका देश बदल चुका है। आज शांति उसका शरीर है, निर्विकल्पता उसकी सम्पत्ति है, [illegible], [illegible],

उपेक्षा, वीतरागता, मधुरता, मैत्री व उल्लास उसका कुटुम्ब है। शांति ही उसका देश है। भौतिक सम्पत्ति आदि का तो उस वनवासी नग्न दिगम्बर साधु को प्रत्यक्ष ही त्याग हो चुका है। शरीर तक भी आज उसकी दृष्टि में उसका नहीं। इसकी बाधा भी आज उसकी बाधा नहीं। गृहस्थ दशा में समझे जाने वाले वह चोर, डाकू, अथवा कोई विदेशी आक्रमण करने वाला राज्य उसकी दृष्टि में शत्रु नहीं। क्योंकि उसकी सम्पत्ति को हरन करने में वह चोर, डाकू समर्थ नहीं है। अथवा उसके शांति राज्य पर विदेशी राजा आक्रमण करने को समर्थ नहीं है। उसके शान्ति रूपी शरीर पर चलने के लिए बाहर में कोई हथियार ही नहीं है। अतः बाहर के मनुष्य कृत, पशु पक्षी कृत, मक्खी मच्छर कृत, गर्मी सर्दी आदि प्रकृति कृत, बड़े से बड़ा उपसर्ग या भय भी उसके मुख मण्डल पर फैली उस मधुर मुस्कान को भेदने में असमर्थ है। और तो कुछ उसके पास है ही नहीं, जिसे उससे छीन लिया जाये। एक शरीर है, वह भी अलौकिक। इस शरीर के भी तिल तिल खण्ड करने को तैयार हो कोई, इसे कोल्हू में पेलने के लिये उद्यत हुआ हो कोई, इसे जीवित भस्म कर देने का भाव लेकर आया हो कोई, उसे कुत्तों के द्वारा नुचवा डालने के लिये उस पर दही छिड़कता हो कोई, उसे दिवार में चिनने लगा हो कोई, परन्तु उसे क्या? अपने द्वेष की आग जिस वस्तु पर जिस शरीर पर बुझाई जा रही है, वह उसका है ही नहीं अब, उससे ममत्व है ही नहीं जब, फिर उस विद्वेषी के प्रति इस योगी को द्वेष क्यों हो, घृणा क्यों हो, क्रोध क्यों हो, इससे मुकाबला करने की भावना क्यों हो, यह बेचारा रंक स्वयं नहीं जानता कि इस योगी के पास क्या है, जिसको छीनने से इसे कष्ट हो सकेगा। उनको तो दिखाई देता है यह चमड़े का शरीर, जिसे बाधा पहुंचने पर स्वयं उसे बाधा प्रतीत होती है। उसी तुला में तोलता है आज वह इस परम योगेश्वर की सम्पत्ति को, शान्ति को। और यदि पता भी हो तो इसके छीनने में बिल्कुल असमर्थ है। और इसलिये क्यों समझे वह योगी शत्रु उसे? वह तो बेचारा है रंक द्वेष की अन्तर दाह से स्वयं जला जा रहा है। अतः स्वयं है बहुत दुःखी। वह तो है उस योगी की करुणा का पात्र, विरोध का नहीं। उसके लिये भी उस योगी के मुख से निकलता है कल्याणात्मक आशीर्वाद, जैसे एक भक्त के प्रति।

अपनी शान्ति को बाधा पहुँचा सकता है उसका अन्तर का संस्कार, यदि वह कदाचित् विकल्प व भय उठाने में समर्थ हो जाये तो। परन्तु कैसे हो जाये वह सफल? उस पर काबू जो पा लिया है उस वीर ने। पद पद पर उससे सावधान जो चला जा रहा है वह वीर। और यदि वह संस्कार कदाचित आगे बढ़ने का प्रयत्न भी करे, कोई बन्दर भभकी भी दिखावे ऐसे अवसर पर, तो वह टूट पड़ता है उस पर, वैराग्य की १२ भावनाओं को लेकर-अपनी सर्व शक्ति से सर्व साहस से, सर्व बल से। वह सब कुछ सहन कर सकता है पर शान्ति में विघ्न नहीं। उस शान्ति में जिसकी उपासना करता वह आज यहां तक आ चुका है। जिसकी प्राप्ति के लिये उसे बड़ा परिश्रम करना पड़ा है। वह किसी मूल्य पर भी उस आदर्श मधुर मुस्कान का विरह सहन नहीं कर सकता।

अतः उसका वीरत्व, उसका पराक्रम चलता है, उस संस्कार पर, जिसके पाले सर्व जगत पड़ा हुआ है। भला कौन योद्धा है जो उसे जीत सका हो? अपने को बड़ा बली और वीर योद्धा मानने वाला भी किसी का मात्र कटु शब्द सुन लेने पर अपने अन्दर में उठे क्रोध को दबा सकेगा क्या? क्या किसी सुन्दर स्त्री के द्वारा फेंके हुवे एक तीखे कटाक्ष बाण के प्रहार को सहन कर सकेगा? विह्वल हो उठेगा-उसी समय वह। क्रोध के आधीन हो भूल जायेगा अपने को भी, या मैथुन संस्कार का मारा

लगेगा तड़पने, पानी से बाहर निकाल कर डाली गई मछली वत्। और पता चल जायेगा उसे कितना बड़ा वीर है वह, कितना बड़ा योद्धा है वह। हवा खाने चला जायेगा उसका सर्व पराक्रम, उसका सर्व वीरत्व, जिस पर था उसे इतना घमण्ड। खिल्ली उड़ा रही होगी उस समय सामने खड़ी उसके अन्तर संस्कार की शक्ति। "कि बस! हो लिये दम खम, इतने से ही। जा चूड़ियां पहन कर घर में बैठ जा। यह तो बहुत छोटा सा आक्रमण था-तेरे ऊपर। इसी से ही रो पड़ा? नपुंसक कहीं का?"

वीरत्व देखना है तो देखो उस सामने बैठे नंगे धड़ंगे योगी की ओर, जिसके शरीर की हड्डी हड्डी दीख रही है। एक थप्पड़ को भी सहन करने की शक्ति सम्भवतः जिसमें नहीं है। उपरोक्त छोटी छोटी बातों से तो क्या, यदि लोक की सर्व विकारी शक्तियां भी एकत्रित होकर आ जायें, तो उसके मुख मण्डल पर फैली यह आभा, यह तेज, यह मुस्कान, यह शान्ति बाधित करने में समर्थ न होगी। उसके अन्दर में क्रोध या मैथुन भाव की विह्वलता उत्पन्न करने में असमर्थ रहेगी। कहां तक गाई जाये महिमा उसके वीरत्व की। वह है पूर्ण अहिंसक। पूर्ण संयमी। हिंसा के सर्व १२६६० भंगों को परास्त कर दिया है जिसने, विनष्ट कर दिया है जिसने।

दिनांक २ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ४८

२१ विरोधी हिंसा का पात्र,

शान्ति प्राप्ति के उपाय में प्राण संयम अर्थात् अहिंसा की बात चलती है। अहिंसा का व्यापक रूप तथा उसकी अन्तर वीरता का प्रदर्शन किया जा चुका। रक्षार्थ विरोधी हिंसा यथा योग्य रूप में करना एक वीर अहिंसक गृहस्थ का कर्तव्य बताया गया है। परन्तु उस विरोध का पात्र कौन है, यह बात भी यहां जाननी आवश्यक है। क्योंकि यह जाने बिना, इसका विवेक किये बिना तो मैं जिस किसी को भी विरोधी की कोटि में गिनने लगूंगा। जहां तनिक किसी भी मनुष्य, तिर्यञ्च, कीड़े, मकोड़े आदि के द्वारा मेरी रुचि के विरुद्ध कोई कार्य हुआ, कि मैं समझ बैठा उसे विरोधी, और दौड़ पड़ा उसका नाश करने के लिये। यह तो संयम न कहलायेगा। ऐसा तो सर्व लौकिक जन ही करते हैं। फिर उनमें व तुझ में, एक संयमी में व एक असंयमी में क्या अन्तर रह जायेगा? नहीं, नहीं ऐसा करना ठीक नहीं, जिस किसी को अपना शत्रु मान लेना योग्य नहीं। तेरी इष्टता व अनिष्टता मित्र शत्रु की पहिचान नहीं। बुद्धि रखने वाले मानव! कुछ विवेक उत्पन्न कर।

शत्रु व मित्र की पहिचान वास्तव में तेरी रुचि नहीं बल्कि उन उन जीवों में वर्तने वाला कोई अभिप्राय विशेष है। पुत्र की या मुनीम की किसी गलती से [illegible] व्यापार में हानि हो जाने पर भी आप उन्हें अपना शत्रु नहीं मान लेते, परन्तु मुनीम की बेईमानी के कारण व्यापार में हानि पड़ जाने पर अवश्य उसे शत्रु समझते हो। डाक्टर के द्वारा किसी गलती से या असावधानी से अपने पुत्र की मृत्यु हो जाने पर आप उसे शत्रु नहीं मानते, परन्तु किसी [illegible]

से आपके पुत्र की मृत्यु हो जाने पर अवश्य उसे शत्रु समझते हो। इत्यादि। इन दृष्टान्तों पर से मित्र व शत्रु का लक्षण बना लेना यहां उपयुक्त है। "मित्र उसे कहते हैं जिसके अभिप्राय में मेरा हित हो प्रेम हो। और शत्रु उसे कहते हैं जिसके अभिप्राय में अहित हो द्वेष हो।" मित्र व शत्रु के अतिरिक्त एक तीसरी कोटि भी जीवों की है। और वह है उनकी जिन्हें कि मुझसे प्रेम है न द्वेष जैसे कि सर्व नगर वासी। शत्रु के उपरोक्त लक्षणों को भी कुछ और विशेषता से, कुछ और सूक्ष्मता से विचार करना योग्य है। हर वह प्राणी जिसके हृदय में मेरे प्रति अहित की भावना हो, मेरा शत्रु नहीं हो सकता। क्योंकि क्या विरोधी हिंसा के अन्तर्गत शत्रु से युद्ध करता वह आदर्श अहिंसक उस विरोधी का शत्रु कहा जा सकता है? नहीं-क्योंकि वह विरोधी यदि उसके सम्मान पर उसके देश पर स्वयं आक्रमण न करता तो उस अहिंसक के लिये वह तीसरी कोटि का एक सामान्य मनुष्य मात्र था। न था शत्रु और न था मित्र। क्या महात्मा गाँधी को अंग्रेजों का शत्रु कहा जा सकता है? नहीं, क्योंकि, "मेरे देश को छोड़ दो, और कुछ नहीं चाहिये मुझे तुम से", ऐसा अभिप्राय रखने वाला गांधी न उनका शत्रु था न मित्र। फलितार्थ यह निकला कि द्वेष दो प्रकार का है? एक स्वार्थ वश किया जाने वाला और एक अपनी रक्षा के अर्थ। केवल रक्षा के अर्थ किया जाने वाला द्वेष क्षणिक होता है तथा उसके पीछे पड़ी रहती है साम्यता व माध्यस्थता, जिसमें न शत्रु का भाव रहता है न मित्र का। और स्वार्थ वश किया जाने वाला द्वेष ध्रुव होता है, निष्कारण होता है। जब भी मौका देखता है तब ही निष्कारण हानि पहुँचाने का प्रयत्न करता है। यह हुई द्वेष की दो कोटियां। उपरोक्त दृष्टान्तों पर से यह सिद्ध होता है कि "रक्षार्थ क्षणिक द्वेप रखने वाला प्राणी शत्रु नहीं हो सकता, और स्वार्थ वश निष्कारण द्वेष रखने वाला प्राणी शत्रु है।"

२२ क्रूर जन्तु शत्रु नहीं, 	बस शत्रु के इस लक्षण पर से शत्रु का निर्णय कर लेने पर ही विरोधी हिंसा को गृहस्थी का कर्तव्य बताया गया है, निरर्गल हिंसा को नहीं। इस विवेक के अभाव में ही आज का मानव उन सर्व जीवों को, जो किसी भी अभिप्राय से उसके शरीर को बाधा पहुँचा रहे हों, अथवा जिनसे कदाचित् बाधा पहुँचने की सम्भावना हो, अपना शत्रु मान कर जिस किस प्रकार भी उनके विनाश के उपाय किया करता है। उदाहरण के रूप में सिंह, सर्प, बिच्छू, भिर्ड, ततैया सब उसके शत्रु हैं क्योंकि भले आज न सही पर कल उनसे अवश्य बाधा पहुँचने की सम्भावना है। और इसी कारण उस मानव का आज ऐसा अभिप्राय बन रहा है कि निष्कारण भी जहां कहीं उसे मिले मार डालो।

शत्रु का लक्षण घटित करने पर आपको आश्चर्य होगा कि जिसे शत्रु समझा जा रहा है वह वास्तव में माध्यस्थ वाली तीसरी कोटि का प्राणी है: क्योंकि उपरोक्त सिंह आदि कभी किसी पर निष्कारण आक्रमण नहीं करते, और मानव निष्कारण केवल द्वेष वश उन पर आक्रमण करते हैं। वे प्राणी यदि मानव को बाधा पहुँचाते हैं तो अपनी रक्षार्थ, और मानव उन्हें मारता है तो स्वार्थ वश, द्वेष वश निरपराध। यह बात सभी जानते हैं कि सर्प, बिच्छू, भिर्ड, ततैया आदि बिना दबे अर्थात् बिना अपने पर उपसर्ग जाने या बिना अपने पर प्रहार हुए कभी किसी पर प्रहार नहीं करते। करते अवश्य हैं पर अपनी रक्षार्थ, केवल उस समय जबकि उसे अपने पर बाधा आती प्रतीत हो।

अब रही सिंहादि उन जन्तुओं की बात जिन्हें क्रूर कहा जाता है। वहां भी यदि कुछ

गहराई से विचार करें तो पता चलेगा कि क्रूर कौन है सिंह, कि मानव जो कि उन क्रूरों के प्रति भी क्रूर है। जो उनको निष्कारण विना अपराध के शत्रु वन वैठा है। वास्तव में यदि देखा जाये तो जगत का सवसे अधिक क्रूर प्राणी मानव है, जिससे सर्व ही सृष्टि भय खाती है। जिसे ऐटम वमव द्वारा जगत में प्रलय मचाते भी कोई झिझक उत्पन्न नहीं होती। पर स्वार्थी मानव अपने को अपराधी कैसे वताये ? दृष्टि पर चढ़ा है स्वार्थ का चश्मा जिससे सब दिखाई देने हैं, शत्रु, व क्रूर।

विचारिये तो सही यदि सिंहदि क्रूर ही होते तो अपनी सन्तान का पालन कैसे करते ? कभी देखा है सिंहनी पर उछलते कूदते उसके वच्चों को, जो कभी खेंचता है उसका कान और कभी चढ़ जाता है उसकी गर्दन पर, कभी मारता है उसकी कमर पर दांत, और कभी नोचता है उसके वाल। क्या कभी क्रोध आता है सिंहनी को उसके ऊपर ? और क्रोध आवे भी क्यों ? उसे उनसे भय थोड़े ही है ? वह जानती है कि इनकी यह सव क्रीड़ायें प्रेम में भीगी हुई हैं। और क्या उन वच्चों को कभी भय होता है-उससे ? क्यों हो ? क्योंकि उन्हें विश्वास है उस प्रेम का जो सिंहनी के हृदय में उनके प्रति है। क्या सर्कस में या चिड़िया घर में अपने स्वामी के प्रति दुम हिलाता सिंह देखा सुना नहीं आपने ? क्या जयपुर के उस राज मन्त्री की कथा भूल गये, जिसने सिंह को मांस न देकर फलाहार कराना चाहा और तीन दिन तक वरावर उन फलों को सिंह के द्वारा स्वीकार न करने पर, तीन दिन के पश्चात् स्वयं उसके सामने छाती खोल कर लेट गया, इस अभिप्राय से कि यदि इसे माँस ही खाना है तो इस शरीर से अपनी क्षुधा शान्त कर ले। इस प्रकार मन्त्री के प्रेम का परिचय पाकर, मालूम है उस सिंह ने क्या किया ? तीन दिन के भूखे सिंह ने चुपके से फल खाना स्वीकार कर लिया पर मन्त्री को कुछ न कहा। जहां प्रेम है वहां क्रूरता कैसी ? हां वह क्रूर वन अवश्य जाता है जब कि उसके सम्मान पर या उसके आहार पर आक्रमण किया जा रहा हो। उनकी वह क्रूरता स्वार्थ वश नहीं है रक्षार्थ है।

यदि उसे मानव से इस प्रकार के आक्रमण की शंका न हो तथा उसके प्रेम के प्रति उसे विश्वास उत्पन्न करा दिया जाये तो आपको आश्चर्य होगा यह सुन कर कि वह बड़ा मधुर है, बड़ा स्वामी भक्त है और वड़ा कृतज्ञ है। मानव कृतघ्नी हो सकता है पर वह नहीं। मानव अपने उपकारी को भूल कर अपने उपकारी का स्वार्थ वश अनिष्ट कर सकता है, और कर रहा है, पर उसके द्वारा ऐसा होना सम्भव नहीं। सिंह की प्रेम वृति के प्रति दृष्टान्त दे दिया गया। अब उसकी [illegible] वृति व कृतज्ञता के दृष्टान्त भी सुनिये।

भारत वर्ष में आज के एक विख्यात शिकारी जोगबर सिंह की [illegible] है, जो उसने उन कई घटनाओं में से चुन चुन कर स्वयं लिखी है, जो कि भयानक जन्तुओं के [illegible] उसके अनुभव में आई हैं। शिकार का अत्यन्त प्रेमी वह जोगबर सिंह एक दिन [illegible] और न मालूम किन विचार धाराओं में डूबा चल पड़ा वन की ओर। [illegible] और न था उसका सहायक मित्र। चलते चलते घना वन आ गया। थक गया था। [illegible] आ रहे थे। वह एक वृक्ष के नीचे पड़ कर सो गया। कोई घण्टे भर के पश्चात् [illegible] उसको परिचित सी गन्ध आती हुई प्रतीत हुई, साथ ही कुछ [illegible]

और उसके आश्चर्य का ठिकान न था। क्या सिंहनी भी इतनी माध्यस्थ हो सकती है-मानव के प्रति ? उसे स्वयं विश्वास न आया, आंखें मली, पुनः देखा वही दृश्य। बिल्कुल निकट अपने बच्चों के साथ एक सिंहनी लेटी थी। आज प्रेम था उसकी आंखों में। निर्भीक ज़ोरावर सिंह को भय तो क्यों होता उससे ? अभ्यस्त था उन्हीं के बीच में रहने का, परन्तु सिंहनी की आंख से आंख मिलते ही आज दो अश्रु प्रगट हो गये थे उसकी आंखों में, प्रेम के अश्रु। यह है सिंह की माध्यस्थता का दृष्टान्त। यदि मानव स्वयं भय का कारण न बने तो सिंह उसके लिये क्रूर नहीं है।

हां एक दूसरी परिस्थिति और भी हो सकती है उसकी क्रूरता की। और वह है जबकि उसे भूख लगी हो। परन्तु ऐसे अवसरों पर मानव की बस्तियों से दूर घने वनों में रहने वाला वह क्या नगरों में आता है, मानव को अपना भोजन बनाने के लिये ? नहीं बल्कि मानव ही स्वयं जाता है उसकी बस्तियों में उसे अपना भोजन बनाने के लिये। भला क्रूर कौन हुआ, मानव या सिंह ?

अब सुनिये सिंह की कृतज्ञता। यूनान के एक दास एन्ड्रयोकल्यूज़ का विश्व विख्यात दृष्टान्त हर किसी को पता है। सच्ची घटना है कपोल कल्पना नहीं। घटना है उस ज़माने की जब यूनान में दास प्रथा बड़े ज़ोरों पर थी। मनुष्य पशु वत् बाज़ारों में बिकते थे, उनसे पशुओं का व्यवहार किया जाता था, और उस बेचारे को उफ करने का भी अधिकार न था। और यदि तङ्ग आकर बिना स्वामी की आज्ञा के घर से भागा तो राज्य की ओर से था उसके लिए मृत्यु दण्ड और वह भी बड़ी क्रूरता से। सारे नगर वासियों के सामने। एन्ड्रयोकल्यूज़ एक धनिक का दास था। स्वामी के व्यवहार से तङ्ग आकर घर से भागा। पुलिस के डर से राज्य मार्ग छोड़ कर वन की राह ली। चलते चलते वन में प्रवेश किया। एक हृदय भेदक गर्जना उसके कान में पड़ी। सहसा ही उसके पग रुके और वह घूम गया उस दिशा की ओर जिधर से कि वह पीड़ा मिश्रित गर्जना आ रही थी। आज उसे मृत्यु का भय न था। मृत्यु तो आनी ही है आज नहीं तो कल। राज्य के द्वारा दण्ड भी तो मृत्यु का ही मिलना है। फिर कर्तव्य से भी विमुख क्यों रहूँ ? सामने देखा एक सिंह जो बार बार अपने पांव ज़मीन पर पटक रहा था। एन्ड्रयोकल्यूज़ को यह जानते देर न लगी कि उसके पांव में असह्य पीड़ा हो रही है। निर्भय एन्ड्रयोकल्यूज़ आगे बढ़ा। उसके हृदय में था कर्तव्य, दया व प्रेम। सिंह ने पांव आगे कर दिया और दयालु दास ने उसके पांव से वह तीखा शूल खैंच कर फैंक दिया जो आधा उसके पंजे में घुस चुका था। जिसकी पीड़ा से कि वह बेचैन था। सिंह ने एक नज़र अपने उपकारी की ओर देखा और फिर पकड़ी अपनी राह।

पुलिस से बच कर कहां जाता बेचारा। पकड़ा गया। नगर वासी इकट्ठे किये गये। बीच में रखा था एक बहुत बड़ा जंगला। एन्ड्रयोकल्यूज़ उसमें खड़ा अपने जीवन की शेष घड़ियों को निराशा पूर्वक गिन रहा था। सिंह का पिंजरा लाया गया और छोड़ दिया उसे कटहरे में। लोग टिकटिकी लगाये देख रहे थे। चार दिन का भूखा सिंह अब खा जायेगा इस बेचारे को और वह भी था भयभीत। सिंह तेज़ी से आगे बढ़ा एक गर्जना के साथ। परन्तु हैं ? यह क्या ? क्या यह भी सम्भव है ? लोग आंखें मल मल कर देखने लगे पर विश्वास करना ही पड़ा। निकट आकर सिंह ने कुछ सूंघा और ज्यों

का त्यों शान्त वापिस लौट गया। उसे भूखा रहना स्वीकार था पर अपने उपकारी को अपना भोज्य बनाना स्वीकार न था। एक दो मिन्ट मात्र का ही तो सम्पर्क हुआ था उस वन में उन दोनों का। पर सिंह उसको न भूल सका, उस गन्ध को जो उसे उस समय आई थी, उस मनुष्य में से, जबकि उसने उसका कांटा निकाला था। यह है सिंह की कृतज्ञता का दृष्टान्त।

इसलिये भो मानव ! कुछ विवेक धर। हर किसी को निष्कारण अपनी गोली का निशाना न बना। ऐसा करने का नाम विरोधी हिंसा नहीं है। सांप, बिच्छु आदि को भी निष्कारण मारना विरोधी हिंसा नहीं है। प्रहार न करते हुए तो यह शत्रु है ही नहीं, परन्तु प्रहार करते हुये भी यह शत्रु कहे नही जा सकते। क्योंकि उनका इस प्रकार का पुरुषार्थ रक्षार्थ होता है। सबके साथ तू प्रेम करना सीख। तू दूसरों का रक्षक बन कर आया है भक्षक बन कर नहीं। दूसरों की रक्षा करना ही तेरा गौरव है, नहीं तो तू बता कि तुझ में और पशु में क्या अन्तर है ? निष्कारण उन्हें मारने वाले ! तेरा जीवन सम्भवतः उनसे भी नीचा है।

दिनांक ३ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ४९

प्राण संयम अर्थात् अहिंसा की बात चलती है। जिसके अन्दर अनेक प्रकार के छोटे बड़े जीवों के भेद प्रभेदों का ज्ञान करके शक्ति अनुसार उनकी रक्षा करने का अभिप्राय प्रगट किया जा चुका है। प्राण घात के अनेकों अभिप्रायों का प्रदर्शन करके यह विवेक उत्पन्न कराया कि प्राण संयम, अहिंसा या जीव-दया व रक्षा, कितने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हो रही है। तथा शत्रु व मित्र की पहिचान कराके विरोधी हिंसा को सीमित किया गया। सिंहादि क्रूर समझे जाने वाले, तथा सर्पादि अनिष्ट कर समझे जाने वाले प्राणियों के प्रति भी, दया व प्रेम करने का आदेश दिया गया। और अब बताई जाती है संयम की यथार्थता।

२३ संयम का प्रयोजन शान्ति है लोकेषणा नहीं.

आज संयम को अधिकतर लोकेषणा की पुष्टि के लिये किया जा रहा है। प्रतिष्ठा के लिये, ख्याति लाभ पूजा के लिये इस को धारण करने वाले आज कल देश में इस ओर बढ़े चले आ रहे हैं। परन्तु लोक कल्याण की बात तो दूर रही, क्या उनका अपना कल्याण भी इससे हो रहा है, यह विचारणीय है ? इस बात की परीक्षा है शान्ति जो संयम का वास्तविक प्रयोजन है। यदि फल स्वरूप, संयम से इसी जीवन में आपको शान्ति का उस उस भूमिकानुसार वेदन न हुआ तो उसका ग्रहण निरर्थक ही रहा। ऐसे संयम से इस अर्थ में कोई लाभ नहीं। संयम का अर्थ है विकल्प दमन। जो साक्षात् शान्ति स्वरूप है। इसलिये संयम की यथार्थता व अयथार्थता की परीक्षा है अन्तरङ्ग में विकल्प दमन से, न कि [illegible] क्रियाओं से।

जैसा कि देव पूजा आदि प्रकरणों में बराबर यह बताया जा रहा है कि लौकिक व अलौकिक सर्व प्रयोजनों में दो क्रियायें युगपत् चला करती हैं। एक बाह्य में दीखने वाली शारीरिक क्रिया तथा दूसरी अन्तरङ्ग में वेदन की जाने वाली कुछ अन्तरंग क्रिया। अन्तरङ्ग में विकल्पों के आंशिक अभाव अथवा शान्ति के वेदन रहित बाह्य की शारीरिक क्रिया प्रयोजन की सिद्धि करने में असफल रहने के कारण निरर्थक है। अतः यदि कुछ पुरुषार्थ करने को उद्यत हुआ है तो उसको यथार्थ रीति से कर, जिससे कि वह किया हुआ पुरुषार्थ व्यर्थ न जाने पावे।

इन्द्रिय संयम में इन्द्रिय विषयों का आंशिक त्याग, और प्राण संयम में यथा शक्ति अहिंसा का पालन, केवल इसी अभिप्राय से होना चाहिये, कि तत् तत् विषय सम्बन्धी रागद्वेषात्मक, इष्टानिष्ट विकल्प जाल हृदय में उत्पन्न होकर मुझे व्याकुल न बना दे। इस प्रयोजन के अर्थ ही पद पद पर इस बात की सम्भाल रख कर चलना है, कि प्रयोजन अर्थात् शान्ति का किसी अंश में भी क्या प्रवेश हो पाया है जीवन में ? वस्तु का त्याग करने के लिए त्याग नहीं, बल्कि विकल्प का, इच्छा का, आसक्तता का, या उस वस्तु विशेष के प्रति अन्तरंग झुकाव का, उससे वेदन होने वाली उस मिठास का, रुचि का त्याग करने के लिये त्याग है। वही सच्चा संयम है। इस प्रयोजन की सिद्धि, बिना अभिप्राय बदले नहीं की जा सकती। मनो इन्द्रिय सम्बन्धी संयम के प्रकरण में भी इसी बात पर ज़ोर दिया गया है। इन्द्रिय संयम व प्राण दोनों में यह ही प्रमुख है। और गृहस्थी की इस अल्प भूमिका में रहते हुए, इस अभिप्राय का अन्तरङ्ग से त्याग कर देने से, तेरे शरीर को, तेरे कुटुम्ब को, या तेरी सम्पत्ति को कोई भी बाधा होनी सम्भव नहीं है। ऐसा करने से तेरे अन्तर में उत्पन्न होगा एक उत्साह, एक बल, जीवन में एक मोड़, जो धीरे धीरे तुझे संयमित बनाता हुआ ले जायेगा, विकल्प सागर के उस ओर, जहाँ शान्ति खड़ी तेरी राह देखती है।

२४ सर्व सत्वएकत्व, तथा सर्वसत्व मैत्री व प्रेम

अन्तरङ्ग में प्राण संयम के अर्थ उपरोक्त सच्चा अभिप्राय बनाने के लिये, मुझे एक विशेष दृष्टि उत्पन्न करनी होगी। जिसके द्वारा देखने पर मेरे हृदय में एक स्वाभाविक मैत्री भाव प्रगट हो जाये विश्व के सर्व छोटे बड़े प्राणियों के प्रति। जिसमें होगा केवल प्रेम व भ्रातृत्व का भाव। समस्त विश्व होगा एक कुटुम्ब। जिसके द्वारा देखने पर दिखाई देगा, मुझे सर्वत्र अपना रूप। अपना ही निवास, एक अद्वैतता सी दिखाई देगी जहां।

अहो ! अलौकिक जनों की अलौकिक बातें। अनेकों भिन्न भिन्न शब्दों में उपरोक्त दृष्टि का सुन्दर चित्रण, अनेक ज्ञानी जनों ने किया है। परन्तु धिक्कार है इस साम्प्रदायिक विद्वेष को जिसने मेरे जीवन में विष घोल कर, मेरी दृष्टि को इतना विकृत बना दिया, कि उन चित्रणों की सुन्दरता में भी मुझे असुन्दरता दीखने लगी। उन चित्रणों में प्रवाहित प्रेम की धारा में भी मुझे द्वेष ही दीखने लगा, और कुछ अपनी उन विकृत साम्प्रदायिक कल्पना के आधार पर उन चित्रणों को इतनी कालिमा से पोत दिया, इतना विकृत बना दिया कि आज साधारण दृष्टि से उसको देखा जाना भी सम्भव नहीं है।

कितना सुन्दर है ईशावास्य उपनिषद् का प्रथम वाक्य :—

"ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्चि जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥"

अर्थात् इस पृथ्वी पर जो कुछ भी जगत दिखाई देता है वह सब ईश्वर का निवास स्थान है। अतः हे प्राणी ! तू इसे त्याग भाव से भोग, गृद्धता मत कर, क्योंकि यह भोज्य वस्तुयें तथा धन किसका है ? कितनी सुन्दर बात है ? पृथ्वी पर जो कुछ है चेतन या अचेतन, वह सब ईश्वर का निवास स्थान है। अहो ! कितनी विशाल है यह दृष्टि, साम्यता की जननी। यदि संकुचित दृष्टि को छोड़, मैं भी इस समस्त विश्व को वस्तु स्वरूप की विशाल व स्वतन्त्र दृष्टि से देखूं तो उपरोक्त बात की सत्यता प्रगट हो जायेगी। प्रभो ! तनिक इधर आ। मत झिझक इस बात से, कि यहां इस जैन मन्दिर में उपनिषद् की बात कैसी ? उपनिषद् की नहीं, यह वस्तु स्वरूप की बात है। विश्व का इससे अधिक सुन्दर चित्रण हो नहीं सकता।

तनिक ध्यान देकर विचार कि तू कौन है ? कहां कहां से आया है ? कहां जायेगा ? कैसे कैसे रूप तूने धारण किये हैं ? कैसे कैसे रूप और तूने धारण करने हैं ? आ, अब इधर आ, ज्ञान पर्वत के शिखर पर और दृष्टि डाल नीचे पड़े सर्व विश्व पर। क्या देखता है ? यहां देख। दूर दूर तक फैली दिखाई देने वाली यह वृक्षों की पंक्तियां। इनमें कौन निवास करता है, एक चैतन्य या कुछ और ? देख पृथ्वी पर गिरते व उड़ते छोटे छोटे कीटाणु व भिर्ड आदि, इनमें कौन वास करता है ? एक चैतन्य या कुछ और ? देख वन में, आकाश में चरते यह सिंह, कबूतर आदि पशु पक्षी, इनमें कौन बसता है ? एक चैतन्य या कुछ और ? और देख मनुष्यों की वह टोलियां, इनमें कौन बसता है ? एक चैतन्य या कुछ और ? इस खम्बे में कौन बसता था पहले, एक चैतन्य या कुछ और ? नये घर में चले जाने पर आज क्या तू अपने पुराने घर को अपना कहना छोड़ देता है ? देख इस विष्टा को देख, कौन बसता था कुछ देर पहले ? एक चैतन्य या कुछ और ? अब उसने छोड़ दिया इसे, इसलिये जड़ है यह। पर इतना होने से इसमें से इसका स्थान सर्वथा समाप्त तो नहीं हो गया ? क्योंकि नये घर में चले जाने पर पुराने घर को अपना कहना तो छोड़ दिया नहीं जाता। और इस प्रकार यह समस्त विश्व एक चैतन्य का निवास स्थान नहीं दीख रहा है क्या ? कुछ वर्तमान काल में और कुछ भूतकाल में। विचार तो सही कि तू कौन है ? तू भी तो एक चैतन्य है ? उनमें बसते चैतन्य में व तुझ में क्या अन्तर है ? अतः तू ही तो बसता है या बसता था इन सबमें ? और इस प्रकार यह सब तेरा ही तो निवास स्थान हुआ ? बस तू ही तो वह ईश्वर है, वह चैतन्य प्रभु है, वह ज्ञान ज्योति है, जिसका कि यह समस्त विश्व क्रमशः निवास स्थान रह चुका है, रह रहा है, और आगे आगे को रहता रहेगा। क्या अब भी इस जगत के सर्व पदार्थों को ईश्वर का निवास कहने में कोई शंका है-तुझे ? किसी प्राणी को बाधा पहुँचाना उसके निवास को बाधा पहुँचाना है, जो मैं सहन नहीं कर सकता। और इसी अभिप्राय का नाम है प्राण संयम।

अब इधर आ। देख इस विश्व का दूसरा सुन्दर चित्रण जिसमें [illegible] ईश्वर की सृष्टि बना कर दिखाया जा रहा है। ओह ! कितना अन्तर है यह ! इसे देख कर तो मानो मुझे अपना सारा पिछला इतिहास ही याद आ गया। वह दिन जब कि बाह्य जगत के [illegible] [illegible] वाता-वरण से अत्यन्त भयभीत हुआ मैं, घुस बैठा था एक ऐसी गुफा में, जिसमें प्रकाश आने के लिये कोई भी मार्ग न था। था एक अत्यन्त छोटा सा सुराख, जिसमें से [illegible] [illegible] की किरण बड़ी कठिनता से प्रवेश कर रही थी। अर्थात् सब के [illegible] [illegible] [illegible] ज्ञान के सर्व द्वार बन्द करके, मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान, खुला रख कर, जल, अग्नि, वायु, व वनस्पति आदि रूपों का

सृजन करता फिरता था-मैं। उस व्याकुलता से वचने के लिये, तथा शान्ति पाने के लिये। कुछ यहां रहते रहते, भय के कुछ मन्द पड़ जाने पर, इच्छा हुई दूसरा द्वार खोल कर, इस जगत की ओर स्पष्ट देखने की, और मैंने सृजन किया, लट गेंडवे आदि दो इन्द्रिय धारी शरीरों का। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर भय के अन्दर धीरे धीरे कमो होती चली गई। एक एक और द्वार अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये खोलता गया और सृजन करता गया तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय मन रहित व मन सहित शरीरों का। अधिक दिन किसी भी शरीर में रहना मेरे मन ने कभी स्वीकार न किया। नवीनता भाती थी-मुझे। और इसलिये नये नये ढंग के शरीरों का सृजन करता, उनमें कुछ दिन रहता, तबियत उकसा जाने पर, या सन्तुष्ट न होने के कारण, एक एक को छोड़ता, आज इस मनुष्य के आकार वाले शरीर में बैठा, अपने ज्ञान के सर्व द्वारों से इस विश्व को देख रहा हूँ। यहां कुछ भी तो ऐसा दिखाई नहीं देता, जो या जैसा, मैंने सृजन न किया हो कभी। यहां कुछ सृष्टि तो है,कि जिसको मैंने सृजन किया था, पर आज उसे छोड़ कर चला आया हूँ-मै। और वह कहलाने लगी है जड़। और कुछ ऐसी है, जिसमें मेरी जाति के मेरे ही सगे भाई, चैतन्य प्रभु वैठे इस जगत की रचना को आश्चर्य सहित देख रहे हैं, और अनेक कल्पनायें, इसके सम्वन्ध में वना रहे हैं। मै ही तो हूँ, जगत का रचियता वह ईश्वर। कौन पदार्थ ऐसा है जिसे मैंने नहीं वनाया। यहां दीखने वाला खम्वा मेरे द्वारा उस समय वनाया गया था, जव मैं पृथ्वी रूप शरीर में वैठा था। इस चौकी में प्रयुक्त लकड़ी का सृजन मैंने वनस्पति का शरीर धारण करके किया। यह सव मेरे मृत शरीर ही तो हैं। कितनी वड़ी महिमा है मेरी ! आज तक आंखें वन्द किये रहने के कारण जिसे स्वयं मैं जान न पाया। किसी भी प्राणी का नाश करना, अपनी ही सृष्टि का नाश करना होगा.। वस इसी अभिप्राय को तो कहते हैं प्राण संयम।

और भी देख यह तीसरा चित्रण जिसमें सारा जगत एक ब्रह्म दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। वाह-वाह कितना सुन्दर ! सो तो मैं ही हूँ, जितने भी विभिन्न जाति के शरीर हैं, वह सव मेरे द्वारा सृजन किये जाने के कारण तथा मेरे निवास स्थान रहने के कारण मेरे ही तो हैं ? वे सव मैं ही तो हूं ? भूत रूप से या वर्तमान रूप से।

इन सव में वही तो भावनायें उठ रही हैं, जो मुझमें, इन सव की वही तो इच्छायें हैं, जो मेरी ? यह सव उसी के लिये तो उद्यम कर रहे हैं, जिसके लिए कि मै ? छोटा है कि वड़ा, कीड़ा है कि हाथी, वनस्पति है कि मनुष्य, सव में शान्ति की इच्छा, आहार, मैथुन व परिग्रह की आकांक्षा, भय खाकर रक्षा करने की भावना, क्या एक सी ही नहीं है ? फिर इनमें और मुझमें क्या अन्तर है ? यह सव मानों मेरे अन्तष्करण का ही तो प्रतिविम्व है ? मैं ही तो प्रतिविम्वित हो रहा हूँ ? इसके अतिरिक्त और दीखता भी क्या है यहां ? जिसे अपनी या अपनी भावनाओं की खवर नहीं ऐसे विकारी दृष्टि वाले को ही सम्भवतः इन सव में और अपने में कुछ अन्तर दिखाई दे। अतः वह भेद भाव, वह द्वैत भाव तो भ्रम है। और यह जड़ पदार्थ ? यह भी तो मेरा ही शरीर होने के कारण, मैं ही हूं ? कौन सा पदार्थ ऐसा है, जो मुझे इस समय में, मैं रूप दिखाई नहीं देता ? मनुष्य भी मैं रूप, पशु पक्षी भी मैं रूप, पृथ्वी आदि भी मैं रूप। मेरा ही नाम तो ब्रह्म है। मैं ही पूर्ण चैतन्य प्रभु हूँ। सर्वत्र मैं ही मैं, ब्रह्म ही ब्रह्म ; और कुछ नहीं ! अहा हा ! कितना सुन्दर है रूप मेरा। सव मैं ही मैं कुछ नहीं, "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म-तत्वमसि" एक ब्रह्म ही ब्रह्म है दूसरा कुछ नहीं। यह ब्रह्म निश्चय से एक ही है, और वह तू ही तो है। कितनी सुन्दर वात है। साम्यता का उच्चतम आदर्श। किसी भी

प्राणी को पीड़ा देना, ब्रह्म को पीड़ा देना है। अपने को पीड़ा देना है। यही अभिप्राय तो है प्राण संयम।

और भी देख यह चौथा चित्रण, जिसमें सर्व विश्व एक कुटुम्ब दर्शाया गया है। मैं चैतन्य तथा यत्र तत्र जहां देखूं चैतन्य। जिस शरीर में देखूं चैतन्य। मेरी जाति का मेरी बरादरी का, मेरी समाज का ही, कोई भाई चैतन्य। ज्ञान के नाते, स्वरूप के नाते इच्छाओं के नाते, सब हैं मेरे ही भाई, सब एक चैतन्य की सन्तान। और यह सब जड़, उस ही चैतन्य के शरीर, उस ही के निवास। छोटे बड़े रूप में, सब चैतन्य मेरे भाई हो तो हैं? मेरे जैसे ही तो हैं? अतः यह सर्व विश्व तो है एक कुटुम्ब। अबकी प्रसन्नता है मेरी प्रसन्नता, और सबकी पीड़ा है मेरी पीड़ा। यही अभिप्राय है प्राण संयम।

इन चारों विख्यात दृष्टियों में कहाँ है वैमनस्य को स्थान, कहां है द्वेष को स्थान, कहां है घृणा को स्थान, कहां है क्रूरता को स्थान? जहां सर्वत्र मेरी ही सन्तान है, जहां सर्वत्र मेरा ही निवास है, वहाँ प्रेम के अतिरिक्त, और किसी बात को अवकाश नहीं, सर्व सत्व में मैत्री, सर्व प्राणियों से प्रेम, सर्व में साम्यता, जहां छोटा बड़ा कोई नहीं, कीटाणु व मनुष्य में भेद नहीं। वही तो है यह महान अन्तरङ्ग अभिप्राय, जो प्राण संयम का मूल है। यह दृष्टि हो तो अहिंसा का आदर्श है। "अहिंसा परमो धर्मः", साम्यता, वीतरागता, प्रेम, शान्ति व सर्वस्व।

इस विश्व प्रेम के भाव में से स्वतः ही निकल आयेगा, एक वह भाव, जिसकी आज राष्ट्रीय दृष्टि से भी इस विश्व को बड़ी आवश्यकता है। जो अहिंसा या प्राण संयम का एक महत्व पूर्ण, अङ्ग है, विशेषतः मानव समाज में। और वह है निष्परीग्रहता, जिसका कुछ संकेत हिंसा के दोषों वाले प्रकरण में आ चुका है। इस भाव का विस्तार करने की यहां बड़ी आवश्यकता है। अतः अब से वही बात चलेगी।

२७

—: निष्परिग्रहता :—

दिनांक ४ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५०

१—नग्नता के प्रति भक्ति, २—नग्नता के प्रति करुणा, ३—नग्नता के प्रति घृणा, ४—जीवन परिवर्तन की प्रेरणा, नग्नता के प्रति करुणा व ग्लानि का निषेध, ६—किंचित मात्र भी परिग्रह का निषेध, ७—निष्परिग्रहता व साम्यवाद, ८—विश्व की आवश्यकता निष्परिग्रहता, ९—निष्परिग्रहता का विश्व के प्रति उपकार, १०—निष्परिग्रहता का अर्थ, ११—आंशिक निष्परिग्रहता का उपदेश, १२—परिग्रह दुःख के रूप में, १३—निष्परिग्रही ही धनवान व सुखी है।

१ नग्नता के प्रति भक्ति

भवार्णव के संताप से विह्वल हुआ मैं, आज परम सौभाग्य से शान्ति के प्रतीक वीतरागी गुरुओं की शीतल शरण को प्राप्त करके, अपने को धन्य मानता हूं, सन्तुष्ट व कृत-कृत्य सा अनुभव करता हूँ। मानों आज मुझको गुरुओं का वह प्रसाद प्राप्त हुआ है, जिसकी खोज में कि मैं कहां कहां नहीं भटका ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व हरित काय के शरीरों में रह रह कर मैंने जिसकी खोज की, लट, चींटी, मक्खी, गाय, कबूतर व मछली आदि के शरीरों में रह रह कर मैंने जिसकी खोज की; अनन्त बार मनुष्यों के शरीरों में रह रह कर जिसकी मैंने खोज की, और देवों के शरीरों में रह रह कर जिसकी मैंने खोज की ; परन्तु इतना करने पर भी, जिसे मैं न पा सका। निराश सा गर्दन झुकाये चलते चलते-हैं ! यह आज अकस्मात् ही मैं कहां आ गया हूं, किनको देख रहा हूँ-अपने सामने ? एक शान्त छवि को धारण किए, रोम रोम से शान्ति का संचार करते, यह कौन हैं ? एक मधुर व शान्त मुस्कान के द्वारा, मेरा हृदय मुझसे छीनने का प्रयत्न करने वाले, यह महर्षि कौन हैं ? धागे का एक ताना मात्र भी अपने शरीर पर न रखते हुए भी, अत्यन्त प्रसन्नचित्त, यह महात्मा कौन हैं ? किस देश के वासी हैं यह ? कैसा विचित्र है जीवन इनका ? कैसी आकर्षक है आभा इनकी ? यह सब स्वप्न तो नहीं है ? नहीं नहीं। पुनः पुनः आंख मल मल कर देखने पर भी यह वही तो हैं। यह धोखा नहीं सत्य है। परम सत्य है।

२ नग्नता के प्रति करुणा

यह है वह योगी, जो राज्य घरानों में पले हैं, जिन्होंने कभी मखमल के गद्दों से पांव नीचे न उतारा, जिनको एक चने का दाना भी विस्तर पर पड़ा न सुहाया, जो रत्नों के प्रकाश में पले। परन्तु आज ! कुछ दुःखी से लगते हैं न तुझे ? कुछ निर्लज्ज से प्रतीत होते हैं न तुझे ? कुछ असभ्य से प्रतीत होते हैं न तुझे ? इस नग्न शरीर पर अग्नि वरसाती तथा वनों में दावग्नि उत्पन्न

करती, ज्येष्ठ की लू व धूप, पोष माघ की सर्दी का बड़े बड़े वृक्षों को फूंक डालने में समर्थ तुषार, बरसात का मुसलाधार पानी, सैंकड़ों मच्छरों के तीखे डंकों द्वारा एक दम किया गया आक्रमण, मक्खियों की अठखेलियों के कारण होने वाला उत्पात, और क्या नहीं ? इन सब प्राकृतिक प्रकोपों को सहने के कारण, अरे रे ! इनसा दुःखी आज कौन है ? शरीर पर जमी मैल बता रही है, कि वर्षों से स्नान भी सम्भवतः इनको हुआ नहीं । इस मैल के कारण उत्पन्न हुई खुजली से अवश्य बहुत व्याकुल हो रहे होंगे यह ? घर बार के बिना इस खुले आकाश के नीचे, बीहड़ वनों में भयानक जन्तुओं की चीत्कारों से इनको अवश्य भय लगता होगा । पेट भर खान पान के लिए भी तो इनके पास कोई साधन नहीं । अरे रे ! कितने दुःखी हैं बेचारे । चलूं इनसे पूछूं तो सही, कि क्या चाहिये इन्हें ? आज तो मैं सर्व समर्थ हूं । जो चाहिये सो दूंगा । मैं इन्हें इस दशा में देख नहीं सकता । दया से मानों हृदय पिघल कर बह निकला है मेरा ।

३ नग्नता के प्रति घृणा

और फिर नंगे धड़ंगे, स्त्रियों के बीच में, इस प्रकार बैठे रहना, व नगर में विहार करते हुए, नग्न रूप में इस प्रकार स्त्रियों के सामने से निकलना, बिना स्नान के मैला कुचैला रहना, कुछ अच्छा भी तो नहीं लगता । कोई क्या विचारेगा । नहीं, नहीं, यह पुरुषों का अपमान है । यह मनुष्य मात्र के नाम पर कलंक है । मैं यह सहन न कर सकूंगा । इन्हें मेरी बात माननी ही होगी, यदि इनके पास कुछ नहीं है, तो मैं इनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करूंगा । अरे ! परन्तु इनसे यह तो पूछूं, कि यह कौन हैं, और यहां खाली बैठे क्या करते हैं ? पुरुष का महत्व पुरुषार्थ में है । इस प्रकार ठाली बैठे रहना ही यदि इनका लक्ष्य है, तो अवश्य यह जीवन में आवश्यक तथा योग्य व्यापार धंधे के कर्तव्य से पराङ्मुख होकर पुरुषार्थ से घबरा कर, भागा हुआ कोई नपुंसक है । इतनी कायरता ? पुरुष का रूप धारे, क्या इसे इस कायरपने से लज्जा नहीं आती ? तू कहां तक ऐसों ऐसों की सहायता करता फिरेगा ? जो अपने कर्तव्य को भूले हैं, वह मनुष्य तो हैं ही नहीं, पर तिर्यञ्च भी नहीं हैं । यह पृथ्वी के ऊपर भार हैं । देश के कलंक हैं । इनको अवश्य कुछ न कुछ करना ही चाहिये । स्वयं न करें तो भी इन्हें बलात् करना पड़ेगा । अपाहिज भी तो नहीं हैं । हृष्ट पुष्ट शरीर और फिर यह कायरता ? आज जबकि विश्व आगे बढ़ा जा रहा है, भारत में ऐसे फकीरों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिये । यह घृणा के पात्र हैं, भारत सरकार को अवश्य इनको काम पर लगाने का प्रबन्ध करना चाहिये ।

४ जीवन परिवर्तन की प्रेरणा

और इसी प्रकार भक्ति-दया व घृणा के हिंडोले में झूलते हुए, तू क्या क्या सोच गया है — इनके सम्बन्ध में ? परन्तु यह क्या ? विचार धारा में बहते हुए [illegible] उस मधुर मुस्कान के अलौकिक आकर्षण को, व उस महात्मा के मस्तक पर प्रगटे तेज को [illegible] । कहां जा रहा है तू ? देख एक बार पुनः उसी दृष्टि से उस शान्त छवि की ओर, और [illegible] अन्तरंग से प्रगटे उस तूफान से उनके अन्तरंग में बहते हुए शान्ति सुधा [illegible] आवेश में तूने क्या क्या विचारा, और व्याकुल चित्त से [illegible] वही शान्ति, वही मुस्कान, वही आकर्षण । [illegible] किंचित् भी तो, क्षण मात्र भी तो क्षोभ या भय की [illegible] नहीं देती [illegible] चित्त, निराकांक्ष, [illegible], निज शान्ति में मग्न, [illegible]

तेरी व्यथा पर करुणा करके तुझे इस शान्ति का रसास्वादन कराने के लिए अपने जीवन से प्रेरणा दे रहे हैं कि :—

भो चेतन ! अन्तर उद्वेग को एक क्षण के लिए शान्त करके सुन तो सही, कि मैं क्या कहता हूँ। यह तेरे कल्याण की बात है। शान्त चित्त करके सुनेगा, तो अवश्य तुझे कुछ अच्छी लगेगी। अपने कल्याण की बात, और अपने हित को बात, अपने सुख की बात, सुन कर कौन ऐसा है, जो उसकी अवहेलना करेगा ? अपनी शान्ति से भटका हुआ, व्याकुल चित्त मे झुंझलाहट के कारण भले ही तू अनेक इष्टानिष्ट तथा अहितकारी व संताप जनक विकल्प जाल का निर्माण करता हुआ, स्वयं उसमें उलझा जा रहा हो, परन्तु अब भी इस दशा में भी, मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, कि उस शान्ति के प्रति तेरे चित्त में प्रथम क्षण उत्पन्न हुआ, वह आकर्षण अब तक भी विलीन नहीं हो पाया है। उस आकर्षण को, उस जिज्ञासा को अपने हृदय में टटोल कर, उसके बहुमान पूर्वक एक बार तो मेरी बात सुन।

भो चेतन ! कभी भक्ति, कभी दया और कभी घृणा के जो अनेक विकल्प इस थोड़ी सी देर में तेरे चित्त में उत्पन्न होकर, स्वयं तुझे व्याकुल बना तेरी शान्ति तुझ से छीन कर ले गए, तेरे घर में डाका डाल कर तेरा सर्वस्व हरण करके ले गए, तुझको भिखारी व दुःखी बना गए, उनका कारण तेरी ही अपनी कोई भूल है, कोई दूसरा नहीं। वह भूल, जिसके कारण कि तू अनादि से इसी विकल्प सागर के थपेड़े सहता चला आ रहा है। आज सौभाग्य वश तुझे यह तख्ता दिखाई पड़ा, अब इसको मत छोड़। उस अपनी भूल के कारण आज तुझे यह भी याद नहीं रहा, कि जिसको अपने सामने देख कर तू भक्तिवश नत मस्तक हो गया था,वह कोई और नहीं,वह है वही तेरा पुराना साथी,जिसके साथ प्रेम सहित तू खेला करता था, तथा द्वेष के वश जिसे तू चिड़ा चिड़ा कर तङ्ग किया करता था। स्पर्शन इन्द्रिय से संतप्त हो अनेकों बार जिसके शरीर को तूने खड्डी पर बुना, भट्ट में पकाया। जिह्वा इन्द्रिय की मार को न सह सकने के कारण, जिसके शरीर को अनेकों बार तूने कोल्हू में पेला, छुरी से काटा, बन्दूक की गोली से छेदा व कढ़ाई में तला। नासिका इन्द्रिय का दास हो जिसके शरीर को तूने अनेकों बार भभके में डाल कर उबाला। नेत्र इन्द्रिय के द्वारा मूर्छित हो जिसके शरीर को तूने अनेकों बार भूसा भर भर कर अपने कमरे को सजाया। कर्ण इन्द्रिय से जीते गए तूने जिसके शरीर को अनेकों बार जन्त्री में को खींचा, छेदा व भेदा, तथा और भी क्या नहीं किया ? परन्तु घबरा नहीं, भय म कर, आज मैं तुझ से बदला लेने को नहीं आया हूँ, मेरे हृदय में अब किसी के प्रति भी द्वेष नहीं है। वह पहले की बातें अब मैं बिल्कुल छोड़ चुका हूँ, मुझ पर विश्वास कर, यदि पहले की भांति द्वेषादि भाव बनाए रखे होता तो तुझे आज मुझ में इस शान्ति के दर्शन न हो पाते, यह शान्ति ही तुझे मेरी सच्चाई की गवाही दे कर विश्वास दिलाने को पर्याप्त है। मैं किसी और देश को निवासी नहीं। उसी लोक का निवासी हूँ तथा था, जिसका कि तू है। तू स्वप्न नहीं देख रहा है। जो देख रहा है वह सत्य है। परम सत्य है।

"परन्तु यह महान अन्तर कैसा ?" "तू इतना शान्त और मैं वैसा का वैसा ?" तेरे

अन्तर में उत्पन्न होने वाला वह प्रश्न स्वाभाविक ही है। क्योंकि अन्तर स्पष्ट है। इस अन्तर को देख कर यदि मेरी इस शान्ति में तुझे कुछ सार दिखाई देता हो, तो तू यह पूछ, कि क्या किसी प्रकार तुझे भी यह प्राप्त हो सकती है ? हां हां अवश्य हो सकती है। ध्यान पूर्वक विचार, तेरे द्वारा बराबर हने जाने वाले तथा बाधित किये जाने वाले, निःशक्त व बलहीन तेरे साथी ने, जब उसे प्राप्त कर लिया, तो इस ऊंची व सर्व समर्थ, तथा बुद्धि शाली, मनुष्य अवस्था में स्थित, क्या तेरे लिए इसका प्राप्त करना कठिन है ? नहीं ! तेरे लिये तो बड़ा सहल है। मुझको तो उपाय बताने वाला भी कोई न था, और तुझको तो मैं उपाय बता रहा हूँ। वही उपाय जिसको मैंने अपने जीवन में अपनाया था, उसी उपाय का अनु रण करके, अपने जीवन में मेरे कहे अनुसार कुछ फेर फार कर। भूल व भ्रम को छोड़, धैर्य रख, साहस कर, तथा आज ही से उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न कर। प्रत्येक जीव बराबर की समर्थ नहीं रखता। किसी में शक्ति अधिक होती है। तथा किसी में कम। यदि तुझ में शक्ति की हीनता है, तो भी मत घबरा, बड़ा सहज उपाय बताऊंगा, जिनको अल्प शक्ति का धारी भी पाल सकता है। परन्तु एक बार लक्ष्य अवश्य ऐसा होने का बनाना होगा, जैसा कि मैं हूँ।

लक्ष्य पूर्णता का होता है और उपाय क्रम पूर्वक। लक्ष्य एक क्षण में कर लिया जा सकता है, परन्तु प्राप्ति शनैः शनैः, हीनाधिक समय में. लक्ष्य बनाने से जीवन में बाधा नहीं आती और उपाय से जीवन में कुछ परिवर्तन लाना होगा। उपाय प्रारम्भ करने से पहले, मार्ग पर प्रथम पग रखने से पहले, लक्ष्य बना पूर्णता का, जीवन के उस आदर्श का, जिसे तू मुझ में देख रहा है। अर्थात् सर्व सङ्ग विमुक्तता, निष्परिग्रहता, निरीहता का।

५ नग्नता के प्रति करुणा व ग्लानि का निषेध

डर मत ! जिस नग्नता में तुझे कष्ट व दुःख दिखाई दे रहा है, वहां दुःख है ही नहीं। वहां तो है शान्ति। विकल्पों का अभाव। इच्छाओं का निरोध। [illegible]।

शान्ति के उस मधुर आस्वाद में, बाहर की इन तुच्छ बाधाओं की क्या गिनती ? गर्मी, सर्दी, बरसात, मच्छर, मक्खी, मैल व खुजली आदि की बाधायें, उसी समय तक [illegible] कि, शान्ति रस का आस्वाद आता नहीं। तेरे हृदय में उत्पन्न हुआ यह करुणा का भाव, तेरे [illegible] ही है, क्योंकि उस मधुर स्वाद की अनुपस्थिति में लौकिक जीवन की यह बाधायें [illegible] दिखाई दिया करती हैं। परन्तु स्वाद के क्षण में ऐसा नहीं हुआ करता। [illegible] के बन्द होने की बाधा को उस समय गिनता है ? प्रकाश पर [illegible] उस समय घबराता है ? मार खाते हुए भी क्या बिल्ली, अपने पंजे में [illegible] मैथुन सेवन के समय, पर स्त्री गामी मनुष्य उसके स्वामी की आवाज सुन लेने पर भी, [illegible] वाले भय को गिनता है ? तथा किसी सौदे में बहुत बड़ा लाभ [illegible] क्या टांग की पीड़ा से भय खाता है ? कन्या के विवाह के अवसर पर [illegible] या गर्मी लगती है क्या ? तो भला इस अलौकिक आनन्द के वेदन में [illegible] आदि बाधाओं की क्या गिनती ? वहां इनका नाम भी [illegible]। [illegible] भाव निरर्थक है। तू भी इन बाधाओं से भय खाकर [illegible]। [illegible] शान्ति मिलेगी, दुःख नहीं।

नग्नता को देख कर तेरे अन्दर जो लज्जा भाव प्रगट हुआ है, वह भी इस आस्वादन में निःस्सार है। नग्नता में लज्जा को अवकाश उसी जगह है जहाँ मन के अन्दर विकार हो। मन विकृत होने पर नग्न रहने वाले को स्वयं लज्जा प्रतीत होगी, और उसे देखने वाले को भी। परन्तु जहां लज्जा का स्थान शान्ति व साम्यता ने लिया, जहां जीवों में पुरुष व स्त्रीपना देखने का भेद भी वन्द हो गया, जहां मनुष्य-तिर्यञ्च, देव व नारकी में कोई भेद न रहा। जहां सर्वत्र निज जाति स्वरूप चैतन्य का ऐश्वर्य स्वरूप दृष्टिगत होने लगा, वहां द्वैत भाव का विनाश हुआ, स्त्री व माता का भेद मिट गया, पिता व पुत्र एक दीखने लगे, एक ब्रह्म ही मानों सर्वत्र व्यापक रूप से दीखने लगा, वहां कहां अवकाश है चित्त विकार को, तथा नग्नता सम्बन्धी लज्जा को ? और ऐसे साम्य भाव के मन्दिर, रोम रोम से शान्ति प्रवाहित करते उस निष्परिग्रहता के आदर्श स्वरूप नग्न शरीर को देख कर, देखने वाले की दृष्टि उसकी नग्नता पर जाएगी ही क्यों ? वह तो दर्शन करेगा उसमें अपनी अभीष्ट शान्ति के।

एक दृष्टान्त है-भागवत पुराण का। एक ऋषि पुत्र अपने पिता से रुष्ठ हो शान्ति की खोज में निकल भागा। पिता भी उसको पकड़ने के लिए पीछे दौड़ा। आगे आगे पुत्र और पीछे पीछे पिता दौड़े जा रहे हैं। परन्तु पिता वृद्ध होने के कारण उसे पकड़ नहीं पा रहे हैं। पुत्र का हृदय केवल एक भाव के अतिरिक्त सर्वतः शून्य है। वहां है केवल एक भाव शान्ति की पवित्र उपासना। दशों दिशाओं में मानों उसे शान्ति ही शान्ति दिखाई दे रही है, और कुछ नहीं। अपनी धुन में उसे इतनी भी होश नहीं कि भागते समय उसकी धोती तन से उतर कर पीछे ही रह गई है। पिता की धोती भी भागते भागते ढीली हो चुकी थी। एक नदी के किनारे जहां कुछ स्त्रियें स्नान करती थीं उसकी धोती खुल गई। लज्जा सहित धोती को सम्भालते हुए उसको यह देख कर आश्चर्य हुआ, कि स्त्रियां उससे कुछ शर्मा गई थीं, तथा अपने शरीर को ढकने का प्रयत्न कर रही थीं। क्रोध से भरे ऋषि वोले, कि निर्लज्ज ! मुझ बूढ़े खूसट को देख कर शर्मा रही हो, और वह पच्चीस वर्ष का युवक मेरा पुत्र विल्कुल नग्न तुम्हारे सामने से भागा चला गया, तव तुम्हें कुछ न हुआ ? स्त्रियों ने उत्तर दिया, कि ऋषि क्रुद्ध न हूजिये, आपसे लज्जित होने का कारण स्वयं आपके हृदय में छिपा वह विकृत भाव है, जिसके आश्रय पर आपने हमारी ओर लक्ष्य करके हमारी लज्जा को ताड़ लिया, और आपके पुत्र से लज्जा न करने का कारण, उसके हृदय की वह निर्मलता थी, जिसके कारण कि वह सम्भवतः यह भी न जान पाया कि उसके अतिरिक्त यहां और भी कोई है।

दूसरे ढङ्ग से भी क्या, आपने आज से ३० वर्ष पूर्व स्वयं १० वर्ष तक के नग्न वालकों को उस ही अवस्था की नग्न वालिकाओं के साथ खेलते नहीं देखा ? उस समय उन वालक वालिकाओं को तथा आपको भी उस नग्नता को देख कर लज्जा नहीं आती थी ? परन्तु आज क्या ऐसा देख सकना आप गवारा कर सकते हैं ? नहीं ! कारण कि १० वर्ष तक के वालकों में भी अव विकार उत्पन्न हो चुका है। आपके हृदय भी आज उतने पवित्र नहीं हैं। तभी तो आज नव जात शिशु को भी लंगोट लगाने की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु जिनका हृदय इन विकृत भावों से सर्वतः पवित्र हो चुका है, तथा साम्यता का जिनके हृदय में वास हो चुका है, उन्हें लज्जा से क्या प्रयोजन ?

तन के मैल को देख कर ग्लानि उत्पन्न होना भी तेरे मन का विकार है। जिनकी दृष्टि में शरीर की अपवित्रता प्रत्यक्ष भासी है, उन्हें स्नान करने से क्या प्रयोजन ? विष्टा के घड़े को ऊपर से धोने से क्या लाभ ? इसका पवित्र होना तो असम्भव है। इस शरीर रूप मन्दिर की पवित्रता तो है

इसके अन्दर बैठे देव की पवित्रता से। यह सुगन्धित है उसकी सुगन्धि से। अर्थात् आत्म शान्ति, सरलता व साम्यता ही इसका वास्तविक स्नान है। जो नित्य ही इस अनुपम गंगा में स्नान करते हैं, उन्हें इस स्नान से क्या प्रयोजन ? तथा शरीर ही जिनके लिए परिग्रह बन चुका है, इसमें जिनको पृथकत्व भासने लगा है, यह जिनको अपने लिए कुछ भार दीखने लगा है, वह उनकी सेवा में अपना समय व्यर्थ क्यों खोयें ? स्नान के लिए जल आदि मांग कर लाने आदि के विकल्प द्वारा चित्त में अशान्ति क्यों उत्पन्न करें ? उनको तो भोजन करना भी बेगार सरीखा दीखता है। वह बराबर उस समय की प्रतीक्षा में हैं, जब कि वह निराहार ही रह सकें। और इसी लिए महीनों महीनों के उपवास करके भी अपनी शान्ति से विचलित नहीं होते। इसी प्रकार अन्य अनेकों विकल्प भी खड़े नहीं रह सकते, यदि शान्ति व वीतरागता का मूल्य समझ लिया जाए तो।

६ किञ्चित् मात्र भी परिग्रह का निषेध

"लंगोटी रख लें तो क्या हर्ज होता है ? छोटी सी तो बात है ? कोई विशेष हानि भी तो नहीं है ?" ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। भाई ! तेरी दृष्टि शरीर को ही देख पा रही है। उस शान्ति पर वह अब तक न पहुँच सकी। यदि पहुँच पाती तो यह प्रश्न ही न होता, तू लंगोटी मात्र ही को न देख कर-देखता उस लंगोटी की रक्षा सम्बन्धी विकल्पों को, जो उसके होने पर चित्त में उत्पन्न हुए विना नहीं रह सकते। इस सम्बन्धी वह कथा आप सबको याद है जिसमें एक लंगोटी की रक्षा के लिए, साधु महाराज को पहले बिल्ली, फिर कुत्ता, फिर बकरी और गाय बाँधने की नौबत आई, और गाय के एक खेत में घुस जाने पर महाराज को जेल के दर्शन करने पड़े। अन्य भी एक दृष्टान्त है उस साधु का जो घर घर से एक एक रोटी मांग कर खाता था, तथा इसी प्रकार अपना पेट भर लिया करता था। हाथ में ही किसी से पानी मांग कर पी लेता था। परन्तु जिसे एक कटोरी रखना भी गवारा न था। एक भक्त के कहने पर उसने बहुत सस्ती सी एक एल्यूमीनियम की कटोरी पानी पीने के लिए स्वीकार कर ली। एक दिन संध्या के समय जंगल में जाते समय कटोरी शिवालय के बाहर पड़ी रह गई। जिसकी याद उसको उस समय आई जबकि शिवालय से एक मील दूर बैठा वह संध्या कर रहा था। बस फिर क्या था। संध्या सम्बन्धी शान्ति भंग हो गई। इसका स्थान ले लिया कटोरी सम्बन्धी विकल्पों ने। कोई उसे उठा ले गया 'तो' ? हाय हाय ! इसका दिल तो डरा, संध्या छोड़ दी और दौड़ा हुआ शिवालय के द्वार पर आया। कटोरी वहीं पड़ी थी। तब चैन आया। यदि कटोरी न होती तो शांति काहे को भंग होती। अपनी भूल पर पछताया और कटोरी को तोड़ कर फेंक दिया। उसी के कारण तो उसकी शान्ति भंग हुई थी ना ? तो भाई ! शान्ति का मूल्यांकन हो जाने पर, यह सब वस्तुयें यहां तक कि लंगोटी मात्र भी व्याकुलता का घर दिखाई देने लगता है। शान्ति की रक्षा के लिए वह सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार है।

दिनांक ५ अक्तूबर १९५९

जा रही है। जिसको इतने बड़े महाराष्ट्र चीन ने अपनाया, जिसकी ओर कि धीरे धीरे हमारा भारत देश भी अब बढ़ रहा है। इतना ही नहीं बल्कि समस्त विश्व का अन्तष्करण आज जिसको स्वीकार कर रहा है। तथा शीघ्रातिशीघ्र जिसके प्रचार की प्रतीक्षा की जा रही है। वह दृष्टि है साम्यवाद (Communism) की, अर्थात् समान अधिकार-वाद की। शान्तिके उस पुजारी के हृदयमें, जिसको आज तू अपने आदर्श रूप में, अपने सामने देख रहा है, तथा भ्रम वश जिसको तूने अकर्मण्य व पृथ्वी का भार मान लिया था, स्वयं एक क्रान्ति उत्पन्न हुई। जिस प्रकार ४ व्यक्तियों के अपने कुटुम्ब की आवश्यकताओं को पूरी कर देने के पश्चात् ही आप अपनी आवश्यकता का विचार करते हैं। जिस प्रकार अपने कुटुम्ब की प्रसन्नता से ही आप अपनी प्रसन्नता मानते हो, उसके सुख में ही अपना सुख समझते हो, तथा उसके लिए अपना सर्वस्व त्याग कर भी आपको सन्तोष ही होता है; उसी प्रकार वह योगी जिसकी दृष्टि में साम्यता ने वास किया है, सर्व ओर से निराश हुई शान्ति ने जिसका आश्रय लिया है, जिसको सर्वत्र अपना ही रूप दिखाई देता है, जिसके लिए सर्व सृष्टि एक ब्रह्म स्वरूप दिखाई देती है, जिसको सर्व प्राणी ईश्वर के आवास भासते हैं, जिसके लिए समस्त विश्व उसका कुटुम्ब है, जिसके लिए उस कुटुम्ब में से किसी एक की भी पीड़ा उसकी अपनी पीड़ा है, किसी एक का सुख भी उसका अपना सुख है, यदि वह इस विश्व के लिए अपना सर्वस्व त्याग दे तो क्या आश्चर्य है? तेरी दृष्टि संकुचित है। इसी से उसके अन्तर परिणामों का परिचय पाने में असमर्थ है। वह विश्व का पिता है। अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को, विश्व की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बलिदान कर देने में उसे प्रसन्नता ही है। क्योंकि उसने यह कार्य किसी के दबाव से नहीं किया है। स्वयं विश्व के प्रति अपने कर्तव्य को पहिचान कर किया है। भला ऐसा विश्व पिता, क्या पृथ्वी का भार हो सकता है? यह शब्द कहना तो दूर, सुनते हुए भी कलेजा कांप उठता है। जिसने विश्व के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया, वह पृथ्वी का भार नहीं बल्कि पृथ्वी का गर्व है। पृथ्वी के पापों का, इसके अपराधों का, व शापों का भार दूर करने वाला है।

८ विश्व की आवश्यकता निष्परिग्रहता

आज विश्व भौतिक दृष्टि से उन्नति के पथ पर प्रगति करते हुए भी शान्ति की दृष्टि से अवनति को ओर जा रहा है। चारों ओर त्राहि त्राहि मची है। नित्य की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य पर्याप्त सामग्री के अभाव में असन्तोष बढ़ता जा रहा है। एक दूसरे की ओर संशित दृष्टि से, भय की दृष्टि से, देख रहा है। एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति की ओर, ललचाई ललचाई दृष्टि से देख रहा है। आकाश पर छाये हुए युद्ध के बादलों ने अन्धकार कर दिया है। विश्व जीवन व मृत्यु के झूले में झूल रहा है। जीवन निराश सा अकेला खड़ा अपने दिन गिन रहा है। दूसरी ओर अट्टहास करती मृत्यु अपनी अनेकों शक्तियों को साथ लिए भय का प्रसार कर रही है। जीवन भार बन चुका है। विश्व स्वयं अपने लिए भार बन चुका है। कैसी दयनीय अवस्था है इसकी आज। निष्परिग्रहता ही इसका प्रतिकार है अन्य कुछ भी नहीं।

९ निष्परिग्रही का विश्व के प्रति उपकार

वीतरागी व शान्त मुद्रा इन योगी जनों को पृथ्वी का भार बताने वाले ओ कृतघ्नी मानव। अब भी सम्भल, यदि जीवन चाहता है तो, अपनी भूल पर पश्चाताप कर, जगत के भार को हरने वाले उन योगियों के अभाव के कारण ही वास्तव में आज जगत का भार बढ़ गया है। यदि अपने वचनों को वापिस लेकर, तूने पश्चाताप न किया तो अवश्य यह डूबे बिना

असन्तोषी जीवन विताने वाले निर्धन जन निष्परिग्रही कहलायेंगे। परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि यह परिग्रह निषेध वास्तव में पदार्थों के लिए या आदर्श की नकल के लिए नहीं कहा जा रहा है। बल्कि उनके ग्रहण की इच्छा के निषेध के लिए कहा जा रहा है। वह भी इसलिए की यह इच्छायें ही अशान्ति व असन्तोष की जननी हैं ? और इनका अभाव ही सन्तोष व शान्ति है ? जिसे शान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये, उसके हृदय में कैसे अवकाश पा सकती हैं यह इच्छायें ? और इच्छाओं के अभाव में कैसे हो सकता है सम्पत्ति का ग्रहण व संचय ?

सरकारी नियम के दवाव में नहीं, वल्कि अपने हित के लिए, स्वयं अत्यन्त हर्ष व उल्लास पूर्वक, इन इच्छाओं के त्याग की वात है। किसी के दवाव से किया गया त्याग वास्तव में त्याग नहीं। इस परिग्रह अर्थात् संचय की इच्छा के कारण, कितने प्राणों की तुझ से अनेकों प्रकार की पीड़ायें पहुँच रही हैं ? इसके आधार पर उपजे संकल्प विकल्प के जालों में फंस कर तू, क्या कुछ अनर्थ नहीं कर रहा है ? हिंसा का एक वड़ा भाग इसी इच्छा की महान उपज है। अतः परिग्रह हिंसा की जननी है। यह महान हिंसा है। संयम का प्रकरण चलता है। जीवन को संयमित वनाने व हिंसा से बचने के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। इसके विना सर्व संयम निर्मूल्य है।

११ आंशिक निष्परिग्रहता का उपदेश

अहो कैसी उल्टी वात चलती है ? लोक आते हैं प्रभु की पूजा को-इसलिए कि धर्म होगा, जिसके कारण अधिक धन मिलेगा। प्रभु पर छत्र चढ़ाते हैं इसलिए कि धन मिलेगा। परन्तु यहां वतलाया जा रहा है यह, कि प्रभु का दर्शन करो इसलिए कि उसका आदर्श जीवन में उतर जाए। जैसा निष्परिग्रही वह है वैसा ही मैं भी वन जाऊं। विचित्र वात है। परन्तु आश्चर्य न कर। वही वस्तु दी जा सकती है जो कि किसी के पास हो। इस निष्परिग्रही आदर्श के पास धन है ही कहां, जो तुझे दे देगा। इससे धन की याचना करना भूल है। इसके पास है निष्परिग्रहता, वीतरागता। वह ही यह दे भी सकता है, और दे रहा है। रोम रोम से वीतरागता की किरणें फूटी पड़ती हैं ; कोई लेने वाला चाहिये। तू इस परम सौभाग्य से वंचित न रह। इस वर्तमान गृहस्थ दशा में भले ही एक दम, इस आदर्श वत्, पूर्ण निष्परिग्रही वनने में असमर्थ हो। पर धीरे धीरे त्याग का अभ्यास करते रहने से, क्या तेरे अन्दर वैसी ही शक्ति उत्पन्न न हो जाएगी ? अवश्य हो जाएगी। आवश्यक वस्तुओं का न सही, पर अनावश्यक वस्तुओं का त्याग तो सहन ही कर सकता है। और इससे तेरे गृहस्थ में कोई वाधा भी तो नहीं आती। गृहस्थ को चलाने के लिये आवश्यकतानुसार धन उपार्जन का न सही, पर आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन का तो त्याग कर सकता है। और धीरे धीरे अपनी आवश्यकताओं के संकोच द्वारा उसमें भी क्रमशः कमी की जा सकती है।

१२ परिग्रह दुःख के रूप में

परिग्रहता की भावनाओं में अन्धा हुआ तू, दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य को भूला तो भूला, परन्तु यह भी भूल गया कि जिसके ग्रहण के पीछे तू सुख के लिये दौड़ रहा है वही तेरे लिये दुःख का कारण वन वैठा है। जिसका संचय तू अपनी रक्षा के लिए करता है, वह स्वयं तेरा हनन कर रहा है। तेरी शांति का घात कर रहा है। तू साक्षात् इसमें दुःख देखता हुआ भी नहीं देखता, यह महान आश्चर्य है। देख भाई ! मैं दर्शाता हूं तुझे इस परिग्रह का स्पष्ट दुःख। तनिक ध्यान दे इन सुन्दर वस्त्रों की ओर जिनको तूने शरीर की रक्षा के लिए ग्रहण किया, परन्तु जिनकी रक्षा तुझे करनी पड़ रही है। थकावट अनुभव करते रहते भी, तथा वैठने की इच्छा होते हुए भी वैठ नहीं सकता।

आनन्द न आयेगा, जैसा कि उसे स्वयं भोगने से ? इस प्रकार देखने से तू ही बता कि दोनों में कौन अधिक धनवान प्रतीत होता है ? हींग लगे न फटकरी रंग चोखा ही चोखा। बिना धन कमाने के विकल्पों में फंसे तथा बिना अशान्ति में पड़े तीन लोक का अधिपति बनने की बात है। और इस प्रकार वास्तव में सर्वस्व त्यागी ही यथार्थ धनिक है। भौतिक धन का भी, तथा सन्तोष धन का भी।

वैसा बनने का लक्ष्य बना है, तो क्यों इन दो चार ठीकरों की चमक में अन्धा हो अपनी शान्ति का गला घोंट रहा है। क्यों अपना कर्तव्य भूल बैठा है ? क्यों स्व व पर प्राणों का हनन कर रहा है ? समझ, इधर आ, सन्तोष धार, जीवन की आवश्यकताओं को सीमित कर, तथा उस सीमा से अधिक संचय करने का प्रयास छोड़ दे। आगरे के पं० बनारसी दास जी व पं० सदा सुखदास जी का जीवन याद कर। वह भी गृहस्थी थे। जिन्होंने शान्ति के लिए अपने ऊपर प्रसन्न हुए डिप्टी से, बजाय यह मांगने के कि उसका वेतन बढ़ा दिया जाय, यह मांगा था कि उसका वेतन ८ रुपये की बजाय ६ रुपये कर दिया जाये। और काम बजाये ८ घण्टे के छः घण्टे कर दिया जाये। जिससे कि वह शेष दो घण्टे में अपनी शान्ति की उपासना कर सके। यह उसी समय सम्भव हुआ जबकि उसकी दैनिक आवश्यकताएं बहुत कम थीं। उनका जीवन सीमित था। भौतिक धन से कहीं अधिक उनकी दृष्टि में सन्तोष धन का मूल्य था। वैसा ही तू भी बनने का प्रयत्न कर और तू अनुभव करेगा साक्षात् रूप में, अपने जीवन में धीरे धीरे प्रवेश करती उस शान्ति रानी के सुगन्धित श्वास का। यदि निष्परिग्रही आदर्श की शरण में आया है, यदि वीर प्रभु का व दिगम्बर गुरुओं का उपासक कहलाने में अपना गौरव समझता है, तो अवश्य अपने जीवन में उपरोक्त रीति से कुछ न कुछ सन्तोष उत्पन्न कर। सन्तोष धन ही वास्तविक धन है। यह प्रत्येक जीव के स्वामित्व में पृथक पृथक, अपना अपना ही उत्पन्न होता है। किसी अन्य के द्वारा बटवाया नहीं जा सकता। अतः इच्छा की पूर्ति अर्थात् अभाव हो जाने के कारण यहां ही सुख सम्भव है। तथा सोना, चांदी, रुपया, पैसा, घर जायदाद, कपड़ा, बर्तन, तथा तांगा, मोटर, पशु आदि वस्तुओं का व सजावट की वस्तुओं का परिमाण व सीमा बांध कर अपने जीवन को कुछ हल्का बना। आदर्श की शरण प्राप्ति का फल यही है।

अनिष्टता की कल्पनाओं के आधार पर प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाला, तथा स्पष्ट अनुभव में आने वाला, इष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट के विच्छेद सम्बन्धी विकल्प समूह, मेरे अन्तर में चिन्ता की एक दाह सी उत्पन्न कर देता है। बस क्षण क्षण व नवीन होने वाला यह विकल्प समूह ही शान्ति का बाधक है, यह तत्व आगम भाषा में 'आस्रव' नाम से पुकारा जाता है। जिस जाति के विकल्प आज किये हैं, इसी जाति के पहले भी अनन्तों बार कर चुका हूँ, जो अब तक संस्कार रूप से मेरे अन्दर पड़े हैं। यह नवीन नवीन आस्रव रूप विकल्प, संस्कार रूप से पूर्व में पड़े हुवे उस उस जाति के विकल्पों के साथ मिल कर एकमेक होते रहते हैं। अर्थात् मेरे उस जाति के पूर्व कृत्यों का पोषण करते रहते हैं। और इस प्रकार निर्माण हो जाता है एक पुष्ट संस्कार का, (एक Instinct का), जो आगे आगे के मेरे जीवन में, स्वतः ही मुझे प्रेरित किया करता है-पुनः पुनः नवीन नवीन विकल्पों रूप उस अपराध को दोहराने के लिये। और इस चक्र में मैं सदा से अपनी शान्ति का घात करता चला आ रहा हूं। इस संस्कार पोषण का नाम ही आगम में बन्ध तत्व कहा है। इस प्रकार आस्रव व बन्ध तत्व भी पहले सविस्तार समझाया जा चुका है।

ऊपर बताये अनुसार निज शान्ति प्रगट करने के लिए इन बाधाओं को अर्थात् नवीन विकल्पों की उपज को जिस किस प्रकार भी दबाते हुए, तथा संस्कारों को धीरे धीरे बल पूर्वक नाश करते हुए, एक दिन उन संस्कारों से रहित अत्यन्त पवित्र अबाधित व शाश्वत् अपनी शान्ति में स्थित पाया जाना शक्य है। नवीन विकल्पों के इस दमन का नाम ही 'संवर' है। और संस्कारों को धीरे धीरे काटने या झाड़ने का नाम है 'निर्जरा'। संस्कारों रहित मेरी पूर्ण शान्त दशा को ही आगम कारों ने मोक्ष शब्द का वाच्य बनाया है। इन संवर निर्जरा व मोक्ष तत्वों में से संवर का प्रकरण आज पिछले कई दिनों से चल रहा है।

संवर के प्रकरण में केवल कुछ उन साधनों का कथन किया गया है, जिनमें प्रवृत्त हो जाने से कुछ समय के लिये इस जाति के बाधक विकल्प एक बड़े अंश में दब जाते हैं। और मैं उतने समय के लिये किसी दूसरे लोक की सैर करने लगता हूँ, अर्थात् जितने समय तक देव प्रतिमा में शान्ति व वीतरागता के दर्शन करता हुआ-अथवा गुरु के रोम रोम से व विशेषतः उसकी मुखाकृति से तथा उसके जीते जागते जीवन से कुछ प्रोत्साहित सा होता हुआ, मैं कुछ देर के लिए अपने को स्वयं अपने उन विकल्पात्मक कृत्यों के लिए निन्दने लगता हूँ और मानों एक क्षण के लिए मेरा जीवन भी उसी प्रकार शान्त बन गया है ऐसा सा अनुभव करने लगता हूँ, उस प्रकार के वेदन के प्रति बहुमान उत्पन्न करता हूँ, उतने समय के लिये मैं भूल जाता हूँ अपने दैनिक जीवन को तथा उन विकल्पों को। मैं होता हूँ उस समय शान्ति सुधा में स्नान करता हुआ, किसी दूसरे लोक में, देव व गुरु के अत्यन्त निकट। यही हालत उनकी वाणी का श्रवण करते व मनन करते अर्थात् स्वाध्याय करते हुए भी किंचित् समय के लिये होती है। और इस प्रकार मैं उतने समय के लिये बाधक विकल्पों का दमन अर्थात् संवरण करने में कुछ सफल अवश्य होता हूँ। इसलिये इस अवस्था में अत्यन्त उपादेय रूप देव पूजा, गुरु उपासना व स्वाध्याय की क्रियायें संवर हैं।

इनके अतिरिक्त अपने शेष जीवन से भी, यद्यपि मुख्यतः नहीं फिर भी किञ्चित् मात्र.

दौड़ता है ? तथा उन्हें ललकार ललकार कर गुफाओं से बाहर निकालता है। और एक एक का विनाश करता हुआ, तब तक चैन नहीं लेता, जब तक कि ऐसी अवस्था में न पहुँच जाए कि उसकी ललकार सुनने वाला कोई न रहे। उसी प्रकार शान्ति नगर का राजा यह भगवान आत्मा आस्रव तथा बन्ध तत्वों से अर्थात् नवीन नवीन विकल्पों व पूर्व संस्कारों से सावधान होकर, उन्हें पराजित करने के लिए-भले पहले संस्कारों को छोड़ने की बजाय-नवीन विकल्पों को परास्त करे, अर्थात् संवरण करे। परन्तु संवरण करने पर भी वह चैन से नहीं बैठ जाता, सन्तुष्ट नहीं होता। बल्कि तुरन्त ही उन संस्कारों पर दौड़ता है। और क्रम क्रम से एक एक को ललकार कर उससे युद्ध ठानता है। तब तक चैन नहीं लेता जब तक कि उनका मूलोच्छेदन न कर दे।

तथा जिस प्रकार नवीन जल प्रवेश के मार्ग को रोक देने मात्र से, जोहड़ में भरे गन्दे पानी के कीटाणुओं से सम्भावित, रोग प्रसार का भय दूर नहीं हो जाता, बल्कि भय मुक्त होने के लिए उस सम्पूर्ण जल को सूर्य किरणों द्वारा सुखाना आवश्यक है। उसी प्रकार नवीन विकल्पों के प्रवेश को रोक देने मात्र से, अन्तरंग में पड़े संस्कारों से सम्भावित विकल्पों के प्रसार का भय दूर नहीं हो जाता, बल्कि विकल्प मुक्त होने के लिये इन सम्पूर्ण संस्कारों का, अन्तर दृढ़ता, बल व साहस के द्वारा विनाश करना आवश्यक है।

और यह बात आप सबके अनुभव में भी आ रही है। मन्दिर के अनुकूल वातावरण में प्रातः की इस गुरु वाणी का श्रवण करते हुए, एक घण्टे के लिये भले ही कुछ शान्ति सी, कुछ हल्कापन सा, कुछ अनोखा सा प्रतीत होने लगता है। कि अरे! क्या रखा है इस गृहस्थ जंजाल में, जिस किस प्रकार भी बस अब इसे छोड़ दे। इतनी तीव्र जिज्ञासा भी कदाचित् उत्पन्न हुई होगी, कि यदि गुरुदेव होते तो अवश्य उनकी शरण को छोड़ अब मैं घर न जाता। परन्तु मन्दिर से निकलते ही गृहस्थ के प्रतिकूल वातावरण में गये, और वही हाल। कहाँ गई शांति और कहां गये वह विचार, कुछ पता नहीं चलता? वही विकल्प जाल, वही अशान्ति। कौन शक्ति है जो मेरी बिना इच्छा के मुझे धकेल कर यह सब कुछ करने पर बाध्य करती है? वास्तव में अनादि के पड़े वे दुष्ट संस्कार अर्थात् बन्ध ही वह शक्ति है जिससे मुझे विकल्प करने की प्रेरणा मिल रही है। इन संस्कारों के प्रति बल व साहस धार कर युद्ध ठानना ही योग्य है। तू वीर की सन्तान है, स्वयं वीर बन। इस अध्यात्मिक युद्ध से मत घबरा।

३ तप की प्रेरणा आज तेरे पास शक्ति है, उस प्रकाश की, उस ज्ञान की, उस जिज्ञासा व भावना की, उस आन्तरिक प्रेरणा की, जो कि गुरु वाणी सुनने से सौभाग्य वश तेरे अन्दर उत्पन्न हुई है। अब भी यदि इन संस्कारों को न ललकारा, और इनके साथ युद्ध करके अपना पराक्रम न दिखाया, तो कब दिखायेगा? क्या उस समय जबकि काल चक्र द्वारा एक ऐसे वातावरण में फेंक दिया जायेगा, कि जहां न होगी गुरु वाणी, न होगा देव दर्शन, न होगी आज की भावना, न होगा यह ज्ञान व प्रकाश, परन्तु तू होगा इन संस्कारों के प्रकोप का शिकार, बहता हुआ होगा इन विकल्पों के ऐसे तीव्र वेग में, कि जहां तेरे हाथ पांव मारने भी निरर्थक होंगे। याद रख, कि यह दुष्ट संस्कार बड़े प्रबल हैं? तथा सदा ही अपनी रक्षा के प्रति सावधान रहा करते हैं। कभी भी प्राणी में ज्ञान का प्रकाश नहीं होने

क्योंकि कौन ऐसा है जो घर में बैठा दिवारों से लड़ता हो, या निष्कारण ही किसी राहगीर से छेड़ छाड़ करता हो ।

एक घटना है पूज्य वर्णी जी के जीवन की। एक दिन वर्णी जी अपनी माता चिरोंजा बाई से कहने लगे, "माता ! मैं अब बहुत शान्त हो गया हूं ।" माता जानती थी कि यह इनका भ्रम था, परन्तु जब तक सिद्ध न कर दे, कैसे कह सकती थी ? अतः बोली कि बहुत अच्छी बात है बेटा। और परीक्षा के लिए अवसर की परीक्षा करती रही। अवसर आ गया। एक दिन खीर की चाह हुई वर्णी जी को। माता से स्वीकृति ली, दूध आदि का प्रबन्ध किया, तथा प्रसन्न थे कि आज खीर मिलेगी खाने को। माता ने खीर बनाई, पर साथ में मलहड़ी भी अर्थात् छाछ में चावल उबाल कर नमकीन खीर भी। खाने बैठे तो परोस दी मलहड़ी। उतावली में अत्यन्त आसक्तता पूर्वक खाने को वर्णी जी ने हाथ बढ़ाया तो माता बोली "बेटा ! जरा ठण्डी करके खाना, कहीं मुंह न जल जाये। गरम है यह।" पर वर्णी जी को कहां था अवकाश उसे ठण्डी करने के लिये। उतकण्ठा थी तीव्र। पहला चमचा मुंह में डाला। पर हैं। यह क्या ? यह कैसी खीर ? इतनी मेहनत की, दूध लाया, प्रतीक्षा की घड़ियां गिनी और यह खीर ? क्रोध आ गया माता पर। थाली फेंक कर मारी। और लगे चलने। माता सब कुछ देखती तो थी ही बोली "कहां जाते हो ? कहती न थी कि ठण्डी करके खाना। लो और परोसती हूँ अब की बार गरम न खाना। और अब की बार परोसी खीर। खाकर चित्त प्रसन्न हो गया-वर्णी जी का। पर वह फेंकी हुई थाली अब भी उनकी शान्ति की खिल्ली उड़ा रही थी, माता बोली "तुम तो शांत हो गये थे बेटा।" और अब सम्भले वह। "भूल गया था माता। क्षमा करना ! वास्तव में शांति अभी दूर है।" बस इस प्रकार अपनी साधना की सफलता तब समझो जब कि प्रतिकूल साधनों के उपस्थित हो जाने पर भी शांति में भङ्ग न पड़े। इस प्रयोजन के लिये किया जाता है तप। जिसमें जानबूझ कर, प्रतिकूल ~~धास्सात्रों~~ को निमंत्रित किया जाता है, प्रतिकूल वातावरण में प्रवेश किया जाता है, और वहां जाकर भी इस बात की सावधानी रखी जाती है कि शांति से विचलित न होने पाऊं। कदाचित् अन्तरङ्ग में क्षोभ आदि प्रगट होने भी लगे, तो उसे अन्दर में ही दबाने का प्रयत्न किया जाता है। और इस प्रकार अभ्यास करते हुये एक समय वह आ जाता है कि स्वतः भी कभी ऐसी प्रतिकूलतायें आ पड़ें, तो शान्ति निर्बाध रहे, मस्तक पर बल न पड़े, मुस्कराहट भंग न हो। बस अब जानों कि प्रतिकूलता सम्बन्धी संस्कार टूट चुका है। इसी प्रकार सर्व जाति के संस्कारों के साथ युद्ध करके बल पूर्वक उनकी प्रलय करने का नाम तप है।

दिनांक ७ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५३

५ आंशिक तप की सम्भावना

तप शब्द सुन कर कुछ डर सा लगता होगा तुझे। परन्तु डर मत। योगियों के द्वारा किये जाने वाले महान तपश्चरण की बात नहीं कर रहे हैं यहां। केवल तप के उतने मात्र अंश की बात है, जिससे तुझे किसी प्रकार के शारीरिक कष्ट का वेदन करना न पड़ेगा। जिसे तू

वड़ी सरलता से वर्तमान के गृहस्थ जीवन में भी उतार सकता है। तप का मुख्य अङ्ग तो साधु सम्बन्धी निर्जरा अर्थात् तप के प्रकरण में बताया जाएगा। वह मुख्यतया योगियों के जीवन में ही देखा जाता है। तप करने के लिए वास्तव में वड़े बल की आवश्यकता है। और सम्भवतः वह बल आज मुझ में नहीं है। परन्तु इतना वल अवश्य है कि तप के यहां बताये जाने वाले अङ्ग को तू धारण कर सके। तप की वृद्धि को प्राप्त, योगी जनों को भी उस वल का स्वामित्व एक दम प्राप्त नहीं हुआ था। बल्कि तेरी जैसी ही अवस्था से इस अल्प शक्ति के योग्य तप को धारण कर करके ही उन्होंने धीरे धीरे बल को बढ़ाया था। इसी प्रकार बल के बढ़ जाने पर उस उत्कृष्ट तप को धारण करके योगी कहलाये हैं। तू भी अपने योग्य तप को धारण करने के प्रति कुछ उल्लास उत्पन्न कर। इससे तुझे महान लाभ होगा। जो स्वयं तेरे अनुभव में आयेगा, और कुछ महीनों में यह देख कर तू आश्चर्य करेगा, कि तेरे जीवन में एक अन्तर आ रहा है-एक महान अन्तर-ज़मीन आसमान का अन्तर-रात दिन का अन्तर। एक परिवर्तन आ रहा है, जिसने तुझे किसी अन्ध कूप से निकाल कर सूर्य के प्रकाश में ला खड़ा किया है।

६ संस्कार तोड़ने का उपाय शाँति प्राप्ति की दिशा में पूर्व संस्कार को तोड़ने के लिए, तप के द्वारा वर्तमान अल्प स्थिति में अपनाई जाने वाली, उन क्रिया विशेषों को बताने से पहले इस स्थान पर यह वतला देना आवश्यक है कि किसी भी अच्छे या बुरे लौकिक संस्कार को बनाने का क्रम बताया जा चुका है (देखो अध्याय नं० १६ प्रकरण नं० ४) बस उससे उल्टा क्रम संस्कार तोड़ने का होना चाहिये। यद्यपि संस्कार तोड़ने के इस क्रम को आप सब जानते हैं, क्योंकि यह आपके अनुभव में आया हुआ है, परन्तु विश्लेषण न कर सकने के कारण वह जाना हुआ भी न जाने के समान है। क्योंकि बिना विश्लेषण किये एक दीखने वाली क्रिया के क्रमिक अङ्गों के भान बिना नवीन रूप से उस क्रिया का प्रारम्भ करके उसके अन्तिम फल को प्राप्त करना असम्भव है। मैं आपको यहां कोई नई बात बताने वाला नहीं हूँ। यह वात वही है जिसे आप सब जानते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि आप विश्लेषण रहित जानते हैं, और मैं उसी का विश्लेषण करके दिखा रहा हूं।

वन्ध तत्व में संस्कार को बनाने के क्रम का विश्लेषण करते हुये यद्यपि चोर का दृष्टांत दिया गया है। परन्तु सुलभता से समझाया जा सके, इस प्रयोजन से यहां गाली के संस्कार को तोड़ने का दृष्टाँत दिया जा रहा है। आपकी दृष्टि से बहुत से व्यक्ति ऐसे गुज़रे होंगे, जो हर वात में किसी गाली रूप अश्लील वचन का प्रयोग कर जाते हैं, पर स्वयं यह नहीं जान पाते कि उन्होंने कोई भी अयोग्य वचन कहा है। एक लम्बे अभ्यास वश आज वह क्रिया उनकी अबुद्धि पूर्वक की कोटि में जा चुकी है। इसी को लोक में तकिया कलाम कह कर पुकारा जाता है। स्वयं न जान पाने की वात तो रही दूर, आपके द्वारा संकेत करने पर भी उन्हें आपकी बात पर विश्वास नहीं आता, और कह वैठते हैं कि, "नहीं, नहीं ! मैंने तो कोई अश्लील वचन नहीं कहा है। इतना पुष्ट हो गया है उनका वह संस्कार कि उनके विवेक को सर्वतः ढक डाला है। दोष करके भी उसका स्वीकार करने को तैयार होते नहीं-वह। दृष्टांत में उनके संस्कार को तोड़ने का क्रम बताया है। इसको तोड़ने के लिये साधक को उत्तरोत्तर अनेकों वृद्धिरूप स्थितियों में से गुज़रना पड़ेगा।

पहली स्थिति तो वही अविवेक पूर्णता को ऊपर कही हुई स्थिति है, जहाँ कि उसको

दोष का स्वीकार ही नहीं होता । यह तो है पुरुषार्थ हीनता की स्थिति । इसलिये इसका नाम।शेष तो अभीष्ट मार्ग में हो ही न सकेगा । हां, इससे आगे की दूसरी स्थिति से मार्ग प्रारम्भ होता है । जबकि आपके सुझाने पर वह विचारने लगे कि, "ठीक ही होगा, गाली अवश्य मेरे मुंह से निकली होगी, नहीं तो यह मुझे क्यों टोकते । इनको मुझ से कोई द्वेष थोड़े ही है । और इस प्रकार आपके कहने पर केवल विश्वास के आधार पर अपने अपराध को स्वीकार कर ले ।

इससे आगे तीसरी स्थिति वह है । जबकि कदाचित् कदाचित् अपने मुंह से निकली गाली पर स्वतः ही उसका उपयोग चला जाने पर, वह पहले का अन्धविश्वास निर्णय की कोटि को स्पर्शने लगे, अर्थात उसे यह भान होने लगे, कि हां, " गाली निकलती तो अवश्य है । मेरे मित्र ठीक ही कहा करते हैं ।।" चौथी स्थिति वह है जब कि उसको अपने मुंह से निकली उस गाली की अनिष्टता का भान होने लगे कि " तेरी यह आदत अच्छी नहीं है । सभ्य व्यक्तियों को यह शोभा नहीं देती, इसे अवश्य त्यागना चाहिये" । अर्थात अब अपराध सम्बंधी निन्दा व उसे छोड़ने की तीव्र जिज्ञासा उसमें जागृत हो जाए । पांचवीं स्थिति वह है कि आपके द्वारा सावधान किये जाने पर तत्क्षरण ही वह उसके मुंह से निकला शब्द उसके उपयोग में आ जाए, और अन्तरंग में अपने उस कृत्य पर पछताने लगे । छठी स्थिति वह है जब कि बिना आप की सहायता के स्वतः ही कह चुकने के पश्चात, उसे भान होने लगे कि वह शब्द उसके मुंह से निकल चुका है । तथा अपने उस कृत्य पर पछताने लगे । यहां उसकी यह क्रिया अबुद्धि से बुद्धि की कोटि में आ चुकी है । सातवीं स्थिति वह है जब कि आधा शब्द निकला है और आधा शब्द निकलने को ही था, कि उसने उसे बल पूर्वक रोक लिया । तथा हो चुकने वाले आधे कृत्य पर वह अन्दर ही अन्दर अपनी निन्दा कर रहा है । आठवीं स्थिति वह है जबकि अन्दर में बोलने के प्रति अभी प्रयत्न या चंचलता हुई ही थी कि उसे इसका पता चल जाता है और वहीं उसे दबा देता है । बाहर में बिलकुल प्रगट होने नहीं देता, और अन्तर में भी क्यों प्रगट हुआ उसकी चिन्ता करने लगता है । और नवमी स्थिति यह है जब कि अन्दर में वह चंचलता होनी ही बन्द हो जाती है । बस अब उस का वह संस्कार टूटा जानो ।

गाली का संस्कार तोड़ने का एक लम्बे समय तक चलने वाला वह पुरुषार्थ, विश्लेषण द्वारा नौ कोटियों में विभाजित करके दर्शाया गया । इस का यह अर्थ नहीं कि सर्वत्र नौ ही कोटियां बनाने की आवश्यकता है । तत्व को समझने से मतलब है । यहां ऊपर की नौ स्थितियों में हम स्पष्ट देख रहे हैं कि प्रत्येक आगे आगे की स्थिति अभीष्ट की सिद्धि में पहली पहली से कुछ ऊंची है । क्योंकि आगे आगे संस्कार की शक्ति में कुछ हानि देखी जाती है । यदि ऐसा न हुआ होता तो पुरुषार्थ का आगे बढ़ कर अन्तिम फल को प्राप्त कर लेना असम्भव था । बस जितने अंश में, प्रति स्थिति, संस्कार की शक्ति में क्षति आई है, उतने अंश में उस संस्कार की निर्जरा है । पूर्ण क्षति का नाम पूर्ण निर्जरा या संस्कार से मुक्ति है । क्रोध के संस्कार को तोड़ने का भी यही नियम है । अर्थात किसी भी दूषित संस्कार को तोड़ने का यही क्रम है । (१) अपराध का स्वीकार (२)अपराध का अनुभव (३) उसे तोड़ने की जिज्ञासा व उस कृत्य की निन्दा (४) किसी अन्य की सहायता से उसका अबुद्धि से बुद्धि की कोटि में आना तथा तत्सम्बन्धी पछतावा करना (५) बिना किसी की सहायता के बुद्धि की कोटि में आना तथा अपने कृत्य पर अपने को धिक्कारना (६) आधा अपराध होने पर आधे को रोक लेना और पछताना (७) सम्पूर्ण

को वाहर प्रगट होने से रोक लेना तथा अन्तर में उठे तत्सम्बंधी विकल्प को धिक्कारना (८) अपराध सम्बंधी अन्तर जल्प को भी रोक लेना।

७ तप में प्रतिकूल वातावरण का महत्व

बस यही क्रम है, उन पुष्ट संस्कारों को तोड़ने का जिनके कारण मैं अपनी इच्छा के बिना भी अपने अतिरिक्त अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों में इष्टना अनिष्टता कर बैठता हूँ और व्यकुलता जनक विकल्प जाल में फंसकर अशान्त हो जाता हूं। परन्तु उपरोक्त दृष्टान्त पर से यह वात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि उपरोक्त क्रम सम्बन्धी पुरुषार्थ प्रतिकूल वातावरण में ही हो सकता है, अनुकूल वातावरण में नहीं। क्या घर के एकान्त कमरे में बैठ कर गाली के संस्कार को तोड़ने का प्रयत्न किया जा सकता है। जहां कोई दूसरा व्यक्ति ही न हो और वोलने का अवसर ही न मिले तो कैसे चलेगा उस का पुरुषार्थ कैसे पहुंचेगा ऊपर ऊपर की स्थिति में वहां गाली का शब्द ही न होगा, किस को लायेगा बुद्धि की कोटि में ? किसके प्रति करेगा पश्चाता ? अर्थात क्रम चलना असम्भव हो जायेगा। यह क्रम तभी चल सकता है जब कि उसके सामने कोई अन्य व्यक्ति हो, जिस से वात करने का अवसर उसे प्राप्त हो, और गाली का शब्द उसके मुंह से निकलता हुआ हो।

इसी प्रकार उन उन पदार्थों में इष्टता अनिष्टता सम्बन्धी संस्कार भी तभी तोड़े जाने सम्भव हैं। जवकि वह पदार्थ इन्द्रियों के विषय बन रहे हों, और विकल्प उठ रहे हों। मन्दिर में बैठ कर यह संस्कार विच्छेद सम्बन्धी पुरुषार्थ किया नहीं जा सकता। क्योंकि जहां पदार्थ भी नहीं और विकल्प भी नहीं, वहां किसको बुद्धि की कोटि में लायेगा ? किस के प्रति करेगा पश्चाताप ? अपने किस कृत्य को धिक्कारेगा ? अर्थात् घर गृहस्थ के प्रतिकूल वातावरण में रह कर ही यह पुरुषार्थ किया जाना सम्भव है। और वह वातावरण सहज ही आपको प्राप्त है।

८ संवर में निर्जरा

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि मन्दिर में आने से व संवर अधिकार में वताई गई चार विशेष क्रियाओं से उस पुरुषार्थ की विल्कुल सिद्धि नहीं होती। कुछ अंशमें यह देव पूजा, गुरु उपासना स्वाध्याय व संयम की संवर के अंग रूप क्रियाओं से भी इन संस्कारों की क्षति होती है। और उसे आप सव अनुभव कर रहे हैं। क्योंकि यदि ऐसा न हुआ होता तो आप आज उपरोक्त क्रम की चौथी कोटि में वैठे हुए न होते। अर्थात इस प्रवचन द्वारा प्रेरित हो कर अपने अपने दोषों का स्वीकार अपने जीवन में उन का अनुभव उन के प्रति घृणा उन को तोड़ने की जिज्ञासा तथा यहां वताए जाने पर उन दोषों की उपयोग में पकड़ व उन के प्रति निंदा, जो इस समय आपके हृदय में उथल पुथल मचा रही है, कदापि प्रगट न हो सकती।

९ संवर निर्जरा में अन्तर

अतः यह वात स्वीकार्य है कि जहां संवर होता है वहाँ निर्जरा भी अवश्य होती है। जहां कुछ समय के लिए अनुकूल वातावरण में रह कर विकल्पों के दवाने का पुरुषार्थ होता है। वहां संस्कार भी अवश्य क्षीण होते हैं। परन्तु यहां है प्रकरण निर्जरा की मुख्यता से, अर्थात् संस्कार के प्रावल्य के विच्छेद की मुख्यता से, जो संस्कार कि प्रतिकूल वातावरण में मुझे सव

कुछ भुला देता है, सुने व सीखे सब पर पानी फेर देता है। तो फिर संवर व निर्जरा में अन्तर ही क्या रहा ? दोनों एक ही तो हैं ? नहीं, ऐसा नहीं है। दोनों में होने वाला पुरुषार्थ यद्यपि एक ही जाति का है, अर्थात विकल्प के रोकने का ही है। तथापि संवर अनुकूल वातावरण में रह कर विकल्पों के दबाने का नाम है और निर्जरा प्रतिकूल वातावरणमें रहकर विकल्पों को उत्पन्न ही न होने देने के प्रयत्न का, अर्थात् उत्पन्न होते हुए विकल्पों को उपरोक्त क्रम से रोकने का नाम है। यही इन दोनों में अन्तर है। संवर में भी पुरुषार्थ लगाना होता है, बुद्धि पुर्वक कुछ करना होता है, और निर्जरा में भी। परन्तु संवर में थोड़े बल से भी काम चल जाता है। निर्जरा में अधिक बल की आवश्यकता है। क्योंकि अनुकूल वातावरण की अपेक्षा प्रतिकूल वातावरण में रह कर कोई काम करना अधिक कठिन है।

अनुकूल वातावरण में रह कर संवर के साथ साथ होने वाली निर्जरा करने का बल तो हमारे अन्दर है ही। परन्तु प्रतिकूल वातावरण अर्थात गृहस्थी में रह कर निर्जरा करने के अर्थात संस्कारों की शक्ति अधिकाधिक क्षीण करने के बल से भी आज सौभाग्य वश हम शून्य नहीं हैं। उसको न छिपा कर वर्तमान में उस का इस दिशा में प्रयोग करना कर्तव्य है।

दिनांक ८ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५४

६अ संवर व निर्जरा में अन्तर

शान्ति प्राप्ति के मार्ग में उन संस्कारों को तोड़ने की बात चलती है, जिनसे प्रेरित होकर न चाहते हुए भी मैं विकल्प सागर में गोते खाने लगता हूँ, और व्याकुल हो जाता हूँ। जिसके कारण मन्दिर से निकलते ही गृहस्थ सम्बन्धी विकल्प समूह मुझे घेर लेता है, और भुला देता है सब सुना व देखा। अर्थात् वातावरण बदला और मैं बहा। मन्दिर के अनुकूल वातावरण में जिस किस प्रकार उद्यम करके, जिन विकल्पों से कुछ समय के लिए किञ्चित् मात्र मुक्ति प्राप्त की थी, गृहस्थ के प्रतिकूल वातावरण में वही विकल्प अपने पराक्रम द्वारा मुझे वह बात याद करने तक का अवसर आने नहीं देते' इसलिए मेरा कर्तव्य हो जाता है, कुछ पुरुपार्थ और करने का, और अधिक बल लगाने का, प्रतिकूल वातावरण में रहते हुए।

अनुकूलताओं में किये गए पुरुषार्थ की अपेक्षा प्रतिकूलताओं में किये गए पुरुषार्थ में स्वाभाविक रीति से ही अधिक बल की आवश्यकता होती है। यह बात सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं चाहिये, पूर्वजों की छोड़ी सम्पत्ति के स्वामित्व में व्यापार करने के लिए जितना पुरुपार्थ लगाना होता है उससे सैंकड़ों गुणा पुरुषार्थ खाली हाथ व्यापार करने के लिए लगाना पड़ता है, यह बात सब के अनुभव में आई है। बस यही है अन्तर संवर व निर्जरा या तप में। संवर में अनुकूल वातावरण में रहने के कारण कम बल की आवश्यकता होती है। और तप में प्रतिकूल वातावरण में अधिक बल की। यद्यपि दोनों दशाओं में की जाने वाली क्रियायें लगभग समान ही हैं। जितना बल लगाया जाएगा कार्य भी उतना ही होगा, यह सिद्धान्त है। अत: अधिक बल के प्रयोग के कारण तप रूप उन क्रियाओं से होने वाली निर्जरा अर्थात् संस्कारों की शक्ति में क्षति अधिक है।

और कम बल प्रयोग के कारण संवर रूप उन क्रियाओं से होने वाली निर्जरा कम है। यही है दोनों में अन्तर।

१० तप की आवश्यकता क्यों

जब संवर से ही निर्जरा का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। भले थोड़ा ही सही, तो तप के द्वारा निर्जरा करने की क्या आवश्यकता ? ठीक है भाई ! परन्तु तूने इतना न सोचा कि संस्कार हैं अनादि काल के पुष्ट किये हुए बड़े प्रबल, और उनकी क्षति के लिये मेरे पास समय है थोड़ा। केवल मनुष्य आयु मात्र। इसलिए जब तक इनकी क्षति वेग के साथ न होगी, तब तक इतने कम समय में ही उनसे मुक्ति मिलना असम्भव है। अगले भव में कौन जाने यह ज्ञान और यह उत्साह मिले कि न मिले। परन्तु यदि इसी भव में इनकी शक्ति को तप द्वारा अत्यन्त क्षीण कर दिया जायेगा, और अपनी शक्ति में वृद्धि कर ली जायेगी, तो अगले भव में भी यह मेरे मार्ग में बाधा डालने में समर्थ न हो सकेंगे। यही कारण है कि इस मार्ग में तप अत्यन्त आवश्यक है। दूसरी बात यह भी तो है,कि वर्तमान में ही प्रतिकूल वातावरण में जाकर जिस व्याकुलता का वेदन मुझे करना पड़ता है, उससे भी तो किसी अंश में बच जाऊंगा मैं। और वर्तमान का ही मेरा सम्पूर्ण जीवन शान्ति मय बन जाएगा। इस बात की सिद्धि क्या उस समय तक सम्भव है, जब तक कि उस प्रतिकूल वातावरण में रह कर भी मैं कुछ उद्यम न करूं, उस अशान्ति से बचने का ? बस इस उद्यम का नाम ही तो तप है।

११ तप द्वारा शक्ति में वृद्धि

संस्कारों की क्षति का क्रम कल बताया जा चुका है। तप द्वारा उनकी क्रमिक क्षति होते हुए, जीव किस गति से और कैसे भावों से आगे बढ़ता है। आज यह बात बतानी है। हम यह देखते हैं कि प्रारम्भिक दशा में किसी भी कार्य को प्रारम्भ करते हुए प्राणी को कुछ झिझक सी कुछ भय सा हुआ करता है। लौकिक कार्य में या अलौकिक कार्य में, सब में यह बात देखने में आती है। आस्रव व बन्ध प्रकरण में चोरी के कार्य सम्बन्धी दृष्टान्त दिया था। वहां भी प्रारम्भ में चोरी करने वाले उस बालक के हृदय का चित्रण किया था और दिखाया था, कि उस समय कितना भय था उसमें। ज्यों ज्यों वह इस कार्य में अभ्यस्त होता गया, इसमें हानि होती गई, चोरी के प्रति उसका साहस बढ़ता गया, और एक दिन वह पूरा चोर बन गया।

यहां भी एक व्यापारी का दृष्टान्त ले लीजिये। पहले दिन ही जब किसी व्यापारी पुत्र को देशावर जाने को कहा जाता है माल लाने के लिए, तो कैसी होती है उसके हृदय की स्थिति, सब जानते हैं। कुछ झिझक सी: कुछ भय सा, "कैसे करूंगा सौदा, कहां भोजन करूंगा ? प्रबन्ध बने कि न बने ? और भाव में लुट गया तो ?" खैर जाना तो पड़ेगा ही। व्यापार प्रारम्भ जो करना हैं। पहले सौदे में नुकसान भी रहा तो क्या हुआ ? इससे कुछ सीख जाऊंगा। धन हानि भले हो जाए पर अभ्यास लाभ तो हो ही जाएगा "इत्यादि विकल्पों के जाल में उलझा वह चल देता है माल खरीदने। अपनी ओर से पूरी चतुराई दिखाता है कि किसी सौदे में नया होने के कारण लुट न ज ए। माल ले आता है। यदि दूसरों की अपेक्षा कुछ ज्यादा दाम दे भी आया हो, तो कोई चिंता नहीं। पहला अवसर ही तो था। दूसरी बार जायेगा तो यह गलती न करेगा और इसलिए दूसरी बार झिझक व भय नहीं होता। होता है तो कम। अब की बार होता है उसके साथ कुछ उत्साह, कुछ पहली बार के तजुर्बे का, अतः इस

बार धोखा नहीं खाता। खाता है तो पहले से कम। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर तीसरी व चौथी बार अधिक अधिक उत्साह के साथ जाता है। और एक दिन कुशल व्यापारी बन जाता है।

अलौकिक कार्य सम्बन्धी दृष्टांत में भी यही क्रम है। उपवास करने में डर लगता है किसी को, अनन्त चौदस आई, उसके साथियों ने उपवास रखा, उसे भी प्रेरणा की गई कि उपवास रखे। परन्तु डरता है, "कैसे रखू ं, आज तक उपवास करके देखा नहीं कैसा लगता होगा ? भूख तो सतावेगी ही ? कैसे सहन करूंगा ? नहीं, नहीं ! मुझ से न होगा।" और अगले ही क्षण कुछ उत्साह के साथ "अरे ! इतना क्यों डरता है। यह छोटे छोटे बच्चे भी तो करते हैं। क्या तू इनसे भी गया बीता है ? और फिर थोड़ी बाधा हुई भी तो क्या हो जाएगा ? एक ही दिन की तो बात है। सहन कर लीजियो, मरेगा तो नहीं ?" इत्यादि अनेकों भय पूर्ण विकल्पों में उलझा साहस करके धर ही लेता है-उपवास। कुछ थोड़ी बाधा हुई तो अवश्य, परन्तु इतनी नहीं जितनी कि वह सोचता था। फलत: "अरे ! कोई अधिक कठिन तो नहीं है। दिन बीत गया शास्त्रादि सुनने में। पूजादि कार्य क्रम में खाना खाने के प्रति का ध्यान ही कब आया ? आया भी तो अत्यन्त अल्प। योंही घबराता था। अब मत घबराना। प्रति वर्ष उपवास करना।" इन विचारों के साथ एक उत्साह उत्पन्न हो गया उसमें, और अब प्रतिवर्ष क्रमश: अधिक अधिक उत्साह के साथ उपवास करता है और एक रोज़ बच्चों का खेल बन जाता है, यह उपवास उसके लिए।

किसी क्रिया करने के क्रम का व उससे प्राप्त फल के क्रम का विश्लेषण करके बना लिया जाता है, एक सिद्धान्त, जिसे किसी भी तत्सम्बन्धी दिशा में लागू करने से, (Apply करने से), निकाला जा सकता है एक नवीन आविष्कार और यही है आज के वैज्ञानिक मार्ग का मूल। एक फिलास्फर किसी भी प्रत्यक्ष व अनुभूत विषय पर से उसके क्रम का विश्लेषण करता है, 'क्या' और 'क्यों' के द्वारा और बना डालता है एक सिद्धांत। जिसको वैज्ञानिक लागू करता है अपनी कल्पनाओं की दिशा में और बना डालता है एक आश्चर्यकारी पदार्थ। यह मार्ग भी वैज्ञानिक मार्ग है। अन्तर है केवल इतना कि वह भौतिक विज्ञान है, और यह अध्यात्मिक।

बस तो एक फिलास्फर की भांति उपरोक्त दृष्टांतों पर से मुझे किसी एक सिद्धान्त का निर्माण कर लेना चाहिये, जिसको कि अपने अभीष्ट संस्कारों के विनाश रूप में, मैं लागू कर सकू ं। दृष्टान्तों पर से यह स्पष्ट है कि (१) किसी भी कार्य के प्रारम्भ में होती है एक झिझक, भय, व कायरता (२) एक बार अन्य से प्रेरित होकर ज़बरदस्ती कुछ कष्ट सह कर भी यदि प्रवृति कर भी ली जाये-उस ओर, तो वह झिझक हो जाती है कुछ कम, और उसके स्थान पर आ जाता है कुछ साहस, कुछ उत्साह। (३) ज्यों ज्यों पुन: पुन: दोहराता है-उस कार्य को, साहस व उत्साह में उत्तरोत्तर होती है वृद्धि, और भय होता है उत्तरोत्तर कम। एक दिन हो जाता है पूर्ण अभ्यस्त और निर्भय।

बस तप में भी इसी प्रकार समझना। (१) प्रतिकूल वातावरण में रहने के कारण शान्ति का उद्यम मैं कर नहीं सकता, इस प्रकार का भय है आज। (२) गुरु के उपदेश व जीवन से प्रेरित होकर करूं कुछ उद्यम, तो भले अधिक सफलता न मिले पर झिझक हो जायेगी कुछ कम, साहस में हो जायेगी

कुछ वृद्धि । (३) पुनः पुनः उस नवीन उपार्जित साहस को लेकर उत्तरोत्तर अधिक अधिक उत्साह के साथ करूंगा इस दिशा में उद्यस, तो साहस व अन्तर बल में होगी उत्तरोत्तर वृद्धि तथा झिझक में हानि । और (४) एक दिन होऊंगा मैं भी उस योगी की दशा में जिसका वल अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो चुका है, जिसके कारण कि अनेकों शारीरिक क्षुधा, तृषा, गर्मी, सर्दी, मच्छर, मक्खी आदि के तिर्यञ्च कृत, प्रकृति कृत अथवा मनुष्य कृत उपसर्ग आ पड़ने पर भी, इसकी शांति में बाधा नहीं पड़ती । उसके मुख पर विकसित मुस्कराहट भङ्ग नहीं होती । उसके अन्तर में पीड़ा वेदन सम्बन्धी अनिष्ट आर्तध्यान उत्पन्न नहीं होता । वह बराबर रहता है अपनी शांति में मग्न । परन्तु ऐसी अवस्था आयेगी क्रम पूर्वक चलने से ही । एक दम वैसा वनने का प्रयत्न करूंगा तो फल होगा उल्टा पीड़ा होगी, उससे आर्तध्यान और उससे कुगति । हर एक कार्य ज्ञान के आधार पर करना चाहिये । नकल करके नहीं ।

१२ तप में सफलता का क्रम

'उस क्रम का प्रारम्भिक पद क्या है, जिसे मैं वर्तमान में अपने जीवन में घटित कर सकूं ?' यह प्रश्न है । सुन भाई ! उसे ही बताते हैं, संयम के प्रकरण में विशेषतः संयम के अन्तर्गत इन्द्रियों के विषयों के व जीव हिंसा के दो दो भाग किये गये हैं । एक वह भाग जिसको त्यागने से मेरे शरीर को, मेरी गृहस्थी को तथा मेरे धनोपार्जन को धक्का लगता है । तथा दूसरा वह भाग, जिस को त्याग देने पर उपरोक्त तीनों बातोंमें कुछ बाधा नहीं आती । बाधा है तो केवल अन्तरंग की कुछ आसक्तता में व प्रमाद में । इसी प्रकार यहां भी तप सम्बन्धी प्रकरण में भी, प्रतिकूल वातावरण के कीजिये-दो भाग एक भाग है क्षुधा, तृषा, गर्मी, सर्दी, गृहत्याग, एकान्त वास, आतापन योग आदि सम्बन्धी वातावरण, जिसे मै वर्तमान में सहन नहीं कर सकता । ऐसे वातावरण में पुरुषार्थ करना तो रहा दूर, मैं जाने का साहस भी नहीं कर सकता । इस प्रकार के वातावरण में जा कर पुरुषार्थ कर सकते हैं केवल योगी जन, जिन का वल अभ्यास करते करते आज वृद्धि को प्राप्त हो चुका है । दूसरा भाग है वह जो घर में, बाल बच्चों में खेलते, दुकान पर व्यापार करते, तथा भोजन करते आदि समयों में हुआ करता है । इस में रह कर मैं योग्य पुरुषार्थ बराबर कर सकता हूँ, बिना शरीर को या गृहस्थी को या व्यापार को बाधा पहुँचाये ।

अब यह प्रश्न होता है कि इस वातावरण में रह कर किया जाने वाला वह पुरुषार्थ क्या है जो मुझे वर्तमान में करना चाहिये ? सो भी सुन । बहुत सरल है वह । देख यदि दुकान पर वैठे वैठे ही कुछ कुछ अन्तरालों के पश्चात, इस प्रातःकाल की मन्दिर में अनुभव हुई कुछ बातों को याद करने का प्रयत्न करे, तो क्या याद न आयेंगी ? और इन को याद करने मात्र से तुझे क्या कुछ बाधा पहुँचेगी ? ग्राहक आ जाये तो उससे वात कीजिये । छोड़ दीजिये उस याद करने सम्बन्धी वात को । पर जव ग्राहक चला जाये और कुछ खाली वैठे हो, उस समय बजाय इधर उधर की वातें करने या विचारने के, यह विचार भी तो कर सकते हो कि "अरे फिर भूल गया सुवह वाली वात, क्या सुन रहा था सुवह वहां? कैसी शान्ति सी प्रतीत हो रही थी वहां ? इत्यादि ।" बस यही वह पुरुषार्थ है जिस की ओर कि संकेत किया जा रहा है ।

इस पुरुषार्थ में तेरे किसी भी बहाने को अवकाश न मिलेगा । साहस बटोर, कुछ उद्यम कर, पामरता त्याग । यह तेरे कल्याण की बात है । ऐसी भावना करते समय अवश्य तुझे कुछ शान्ति का

वेदन होगा,जिसके फल स्वरूप इस भावना के प्रति अगले अगले अवसरों में उत्तरोत्तर बढ़ा हुआ बहुमान व झुकाव उत्पन्न होगा, जिज्ञासा में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। याद करने का उत्साह भी उत्तरोत्तर बढ़ेगा ? और इसी कारण संस्कारों की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जायेगी। भावना करने का अन्तराल उत्तरोत्तर कम होता जायेगा, पहले दो घण्टे के पश्चात् ऐसा-समय आता था, फिर एक घण्टे, फिर आगे जाकर आध घण्टे के पश्चात्, और इसी प्रकार आगे भी। भावना की विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी। और एक समय आयेगा जबकि तू बाहर में ग्राहक को सौदा तोलता होगा और अन्तरङ्ग में शान्ति में स्नान करता होगा। इसी दशा का नाम है भोग भोगते भी वैरागी, जैसा कि अनेकों ज्ञानियों ने बताया है।

दिनांक ६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५५

१३ संस्कारों के प्रति सावधानी

तप का प्रकरण चलता है। अर्थात् उन संस्कारों के विनाश की या निर्जरा की बात चलती है, जो कि मन्दिर से निकलते ही गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते ही, मेरे अन्दर मेरी विना इच्छा के भी कुछ ऐसे विकल्प उत्पन्न कर देते हैं, जिनमें ग्रस्त होकर मैं व्याकुल हो उठता हूं। इस रागात्मक वातावरण रूपी पवन को प्राप्त हों जो भड़क उठते हैं और मेरे अन्दर चिन्ताओं की अतीव दाह उत्पन्न करके मुझे भस्म करने लगते हैं। धन्य है आज का अवसर कि मुझे यह तो खबर चली, कि गृहस्थी में उठने वाले विकल्प भी कोई वस्तु हैं। जिसे मैं नहीं चाहता और यदि कोई उपाय हो तो हर मूल्य पर इनसे बचने को तैयार हूँ। इससे पहले तो किसी अन्धकार वश, बुद्धि के किसी विकार वश, मुझे इस दाह में भी कुछ मिठास सी ही प्रतीत होती थी, और किसी मूल्य पर भी मैं इससे छूटना नहीं चाहता था। एक महान अन्तर पड़ गया है आज मेरे अभिप्राय में। चूम ले इस अभिप्राय को। बहुमान प्रगट कर इसके प्रति, हर प्रकार रक्षा कर इसकी। यहाँ अनेकों चोर हैं इस अभिप्राय के, इस जिज्ञासा के, देख कहीं निकल न जाये तेरी तिजोरी से यह-तीन लोक की सम्पत्ति से भी अधिक मूल्यवान जिज्ञासा।

यह सब किसका प्रसाद है ? कहां से आई यह मेरे अन्दर ? यह सब है उन गुरुओं का प्रसाद, उस वीतराग वाणी का प्रसाद, जिनकी उपासना कि मैं संवर के अर्थ में पहले कर चुका हूँ। कितना महान फल मिला है मुझे उस उपासना का, बिल्कुल प्रत्यक्ष तथा आज ही। कल की प्रतीक्षा करने की भी आवश्यकता न पड़ी। यह है उस निर्जरा का प्रताप, जो संवर के साथ साथ धीमे धीमे हुई है। गुरुओं का प्रसाद प्राप्त करके आज मुझसे अधिक सौभाग्यशाली कौन होगा ? अत्यन्त मूल्यवान इस शांति की जिज्ञासा को प्राप्त करके मुझसे अधिक धनवान कौन होगा ?

१४ गृहस्थ वातावरण में भी शान्ति के पुरुषार्थ को अवकाश

यद्यपि मन्दिर के अनुकूल वातावरण में रहते हुए मैं उस शान्ति का तनिक वेदन कर आया हूँ, परन्तु गृहस्थी के उस वातावरण में आकर जबकि मैं घर होता हूँ, बीवी बच्चों से बातें करता या भोजन करता होता हूँ, दुकान पर ग्राहक से बातें करता, या माल बेचता या खरीदता होता हूँ, दफतर में अपने स्वामी से सलाह करता या अपने आधीन को कुछ आज्ञा देता होता हूँ मोटर या रेल में यात्रा करता होता हूं, मार्ग में गमन

करता होता हूँ तब वह शान्ति कहाँ चली जाती है ? मै नहीं जानता। वहां रहते हुए भी उसको कैसे स्थायी रखी जा सके, और विशेषतया ऐसी स्थिति में, जब कि मैं उस उपरोक्त वातारण को अनिष्ट जानते हुए भी, तथा उसको छोड़ना चाहते हुए भी, छोड़ने में समर्थ नहीं हूँ अथवा जब कि मैं उस प्रकार की कठिन तपस्या करने को समर्थ नहीं हूं, जैसा कि योगी जन करते हैं। वह कौन सा तप है जो मैं ऐसी स्थिति में रहते हुए भी कर सकूं और किंचित् मात्र अपने जीवन में सफल हो सकूं।

निराश मत हो प्रभु ! भय भी मत कर। तुझे वह सब योगियों वाला, क्षुधादि बाधाओं को जीतने वाला, तप करने को नहीं कहा जाएगा। कुछ ऐसा तप बताया जायेगा। जो तू सुविधा पूर्वक कर सकेगा। केवल शक्ति को न छिपा कर वैसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है जिससे कि तेरी गृहस्थी को, तेरी सम्पत्ति या तेरे शरीर को भी कोई बाधा न होगी।

देख उस गृहस्थी वातावरण का विश्लेषण करके मुझे यह बता, कि क्या उसमें बीतने वाला तेरा सारा का सारा समय किसी आवश्यक कार्य करने में ही व्यतीत होता है, या बीच बीच में कभी ऐसे अन्तराल भी आ जाते हैं, जब कि तू न बीवी बच्चों से बातें करता हो, न ग्राहक से, अर्थात् कोई भी आवश्यक कार्य न करता हो ? बिल्कुल खालो या तो बैठा हो, या अकेला कहीं चला जा रहा हो, या लेटा हुआ हो। ओह ! ऐसे अवसर तो एक दो नहीं अनेकों आते हैं, सारे दिन में। कोई छोटा होता है और कोई बड़ा, अर्थात् कभी अन्तराल ५ मिण्ट का होता है और कभी घण्टों का भी।

भला यह तो बता कि तू क्या काम किया करता है इन अन्तरालों में ? कुछ विशेष कार्य नहीं, केवल कुछ कल्पनाएं, कुछ चितायें इस जाति की जो तुझे व्याकुलता के वेग में वहा कर ले जाती हैं। भाव घट गया है माल का (५००००) पचास हजार का माल पड़ा है घर में। क्या होगा ? कोई आशंका सी ? यदि यह सत्य हो गई, "तो ?" ब्लड प्रैशर का रोग बता दिया है डाक्टर ने। बड़ा भयानक है यह। हार्ट फेल करने का कारण। एक आशंका सी ? यह सत्य हो गई "तो ?" और इसी प्रकार की अनेकों निराधार कल्पनायें, जिन का आधार है केवल अनुमान व संशय। और यदि कोई सौभाग्य वश आ कर बीच में टोक दे मुझे, अर्थात मेरे उपयोग को इधर से हटा कर खींच ले अपनी ओर तो मैं बड़ा ही कुछ प्रसन्न सा हो जाता हूं। अच्छा ही हुआ यह ग्राहक आ गया। क्या अच्छा होता कि हर समय ही ग्राहक खड़े रहते मेरे पास, और मुझे ऐसी कल्पनायें करने का अवसर ही न मिल पाता। अर्थात् करता हूँ इस आशंका जनित "तो" सम्बन्धी चिन्तायें, जिन के न आने को ही अपना सौभाग्य मानता है।

तब तो बहुत सरल हो गया तेरे लिये किसी आवश्यक काय को छोड़ने की या उस में बाधा डालने की आवश्यकता नहीं। केवल उन फ़ालतू वाले अंतरालों का दुरुपयोग न करके सदुपयोग कर। किस प्रकार,सो सुन। यह पहले बताया जा चुका है कि अभिप्राय या लक्ष्य पूर्णता का होता है परंतु अभिप्राय के साथ साथ कार्य भी पूर्ण हो जाय यह नियम नहीं। हां यह नियम अवश्य है, कि कार्य करने के प्रति पुरुषार्थ अवश्य प्रारम्भ किया जाता है-यदि उपाय संबंधी कुछ जानकारी हो तो। तुझ में भी इस वातावरण

में रहते रहते शान्त रहने का सच्चा व दृढ़ अभिप्राय तो बन चुका है। और जीवन में उस अभिप्राय की किञ्चित् मात्र पूर्ति के पुरुषार्थ करने को भी उद्यत हुआ है। परन्तु उपाय का भान न होने के कारण तेरा यह अभिप्राय कुछ बेकार सा ही पड़ा है। ले तो वही उपाय बताते हैं।

१५ एक नवीन संस्कार की आवश्यकता

किसी शत्रु का विनाश करने के लिये, नीतिज्ञ व्यक्ति उसके मुकाबले में उसके अन्य शत्रु को भड़का कर खड़ा कर दिया करते हैं, और इस प्रकार बिना स्वयं आफ़त में पड़े अपने प्रयोजन की सिद्धि कर लिया करते हैं। बस तू भी यदि बिना उपसर्गादि सहे इन संस्कारों का विनाश करना चाहता है तो, इनके सामने ही किसी इनके विरोधी अन्य संस्कार को लाकर खड़ा कर दे, अर्थात प्रयत्न कर कि तेरे अन्दर एक नवीन जाति का कोई विशेष शुभ संस्कार उत्पन्न हो जाये, जिस का झुकाव हर समय शान्ति के अभिप्राय को प्रेरित करना हो, जिस प्रकार कि वर्तमान संस्कारों का झुकाव भोगों आदि सम्बन्धी अभिप्राय को प्रेरित करना रहा करता है।

१६ नवीन संस्कार का उत्पत्ति क्रम

किसी भी संस्कार को उत्पन्न करने का उपाय आस्रव बन्ध तत्व प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है। बस वही प्रयोग इस अभीष्ट संस्कार को उत्पन्न करने के लिए भी लागू करना है। वैज्ञानिक ढंग यही है किसी कार्य को करने का, कि अनुभूत कार्य का विश्लेषण करके "वह किस प्रकार तथा किस क्रम से करने में आया है।" यह जाना जाये, और उस क्रम को एक सिद्धान्तिक रूप दे दिया जाये, हर कार्य पर लागू करने के लिए। पूर्व संस्कार को उत्पन्न करने के क्रम में बताया गया था, बुद्धि पूर्वक की कोटि से प्रारम्भ करके उसका अबुद्धि पूर्वक की कोटि में चले जाना। यहां भी यह नवीन संस्कार पहले पहले बुद्धि पूर्वक बल लगा कर प्रारम्भ करना होगा, और इस बुद्धि के प्रयोग को तब तक चालू रखते रहना होगा जब तक दृढ़ व पुष्ट हो कर वह अबुद्धि की कोटि में न चला जाये।

क्या है यह बुद्धि का प्रयोग, यही अब बताता हूं। मैं जीवन में कुछ ऐसा प्रयत्न रखूं कि भले ही काम के अवसरों में न सही, परन्तु उन फालतू अवसरों में तो मुझे वह बात जो प्रातःकाल मन्दिर में देखी थी, सुनी थी, विचारी थी, व धारी थी, उपयोग में आ ही जाये। अर्थात् उन अवसरों में यदि कल्पनायें ही करनी हैं तो बजाए उपरोक्त कल्पनाओं के, कुछ अन्य जाति की कल्पना क्यों न करूं। उस जाति की कल्पनाएं, जिससे कि वह अवसर उतने अपने काल के लिए स्वयं सुन्दर बन जाये, शान्त बन जाये, तथा अगले अवसरों को भी वैसा बनने की प्रेरणा दे। और इस प्रकार उन फालतू अवसरों को उपयोगी बना लूं। यह ठीक है कि पहले पहले उन सर्व ही फालतू अवसरों को उपयोगी बनाने में मैं सम्भवतः सफल न हो पाऊं, परन्तु यदि प्रयत्न करूं तो क्या यह भी सम्भव नहीं, कि उन सर्व अवसरों में से कोई एक या दो अवसर कदाचित् कदाचित् मैं उपयोगी बना सकूं? ऐसा हो जाना अवश्य सम्भव है। उपयोगी बने हुये उस अवसर में, स्वभावतः ही अनुभव में आई कोई अलौकिक शान्ति, मेरे पूर्व के अभिप्राय को और पुष्ट कर देगी। कल के प्रवचन में बताये अनुसार विरोधी संस्कार को किञ्चित् क्षति पहुँचायेगी। सफलता के प्रति मेरे अन्दर में पड़े संशय को दूर कर देगी कुछ साहस में वृद्धि करेगी। और मैं और और उद्यमी बन कर शेष रहे अन्य अवसरों में भी, उन बातों को उपयोग में लाने का प्रयत्न करूंगा। तथा एक दिन सफल हो जाऊंगा उन सर्व फालतू अवसरों को उपयोगी बनाने में।

इतने पर ही बस न होगा। इस बात का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं, कि उत्पन्न हुई उस शान्ति से प्रेरित होकर यह मेरा पुरुषार्थ बराबर आगे बढ़ता चला जायेगा-इस दिशा में-कि धीरे धीरे उन उपयुक्त अवसरों की गिनती में वृद्धि होने लगे, और अब कदाचित् कदाचित् ग्राहक आदि से बातें करते या अन्य कोई आवश्यक कार्य करते हुए भी थोड़ी देर के लिए, मेरे उपयोग में वह बात आ जाये। केवल बुद्धि पूर्वक का पुरुषार्थ ही नहीं, पूर्व का अभ्यास भी अबुद्धि पूर्वक इस कार्य में मेरी सहायता करता रहेगा। आगे आगे उपयोगी अवसरों की गिनती में ही वृद्धि न होगी, बल्कि उनके काल में भी बराबर वृद्धि होती चली जायेगी। और इस प्रकार बराबर दो दिशाओं में वृद्धि होते होते, एक दिन ऐसा आ जायेगा, जब कि यह सर्व अवसर मिल कर एक धार बन जायेंगे। अर्थात् उस प्रकार का उपयोग बराबर अन्दर में बना रहेगा। चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते, पीते, नहाते, सोते, हर समय ही वह उपयोग अन्दर में छिपा हुआ, कुछ हल्की हल्की चुटकियां लिया करेगा। मैं बाहर में तो सौदा तोलता हुआ हूँगा ग्राहक को, और अन्दर में वेदन करता हूँगा उन हल्की हल्की चुटकियों का। अब वह बात उस वातावरण में भी मैं भूल न पाऊंगा, जैसा कि पहले हो जाया करता था, और यही तो था मेरा प्रयोजन, जिसकी सिद्धि क्रम पर चलने से हो गई।

१७ अबुद्धि पूर्वक का नवीन संस्कार जिस प्रकार अभ्यस्त हो जाने के पश्चात् कोई बुद्धि पूर्वक का विशेष पुरुषार्थ उस दिशा में करना नहीं पड़ता है, वह कार्य थोड़े से इशारे मात्र में ही स्वयं चलता रहता है। जिस प्रकार बड़े परिश्रम से बुद्धि पूर्वक पद विक्षेप का अभ्यास करने वाला बालक अभ्यस्त हो जाने पर मात्र थोड़े से इशारे से दौड़ने तक लगता है। उसे अपनी बुद्धि को विशेषतया उस दिशा में लगाने की आवश्यकता नहीं होती। पाँव से चलते हुए भी वह बुद्धि से कुछ और और विचारने का ही काम लिया करता है। इसी प्रकार उपरोक्त अभ्यस्त दशा हो जाने पर उस साधक गृहस्थ की बुद्धि भले ही बाहर में किसी और दिशा का कार्य करती रहे, पर अन्तरङ्ग का वह प्रयोजनीभूत कार्य अबुद्धि पूर्वक की कोटि में आकर एक संस्कार का रूप धारण कर चुका है वह संस्कार जो कि पूर्व अनेकों संस्कारों को परास्त करने में समर्थ है। जिसका विश्वास हो जाता है उस महान अन्तर की प्रतीति से, जो हमारे पूर्व की अशान्ति व वर्तमान की किञ्चित् शान्ति के बीच साक्षात् अनुभव में आ रहा है।

१८ नवीन संस्कार की उत्पत्ति के पश्चात् भी किंचित् पुरुषार्थ अबुद्धि पूर्वक का तात्पर्य यहां यह न समझ बैठना कि बिना किसी भी पुरुषार्थ के वह अवस्था बराबर बनी रहेगी, नहीं कुछ पुरुषार्थ अवश्य लगाना होगा। उस धारा को बराबर प्रवाहित करने के लिये। यह बात अवश्य है कि उस पुरुषार्थ में लगाये जाने वाला बल प्रारम्भ में लगाये जाने वाले बल से बहुत कम है। जिस प्रकार कि लोटे में पानी भर कर उसमें डोरी बाँध कर घुमाएं तो, पहले चक्कर में झटका देते समय कुछ अधिक बल लगाना पड़ता है। और सावधानी पूर्वक लगाना पड़ेगा, कि कहीं पानी बिखर न जाये, परन्तु एक चक्कर खा लेने के पश्चात् आगे भी उसे घुमाता रखने के लिये भले ही उतना बल व उतनी सावधानी न रखे। परन्तु प्रत्येक चक्कर के साथ अंगुली का एक धीमा सा संकेत तो देना ही पड़ेगा। कार्य प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् उसे चालू रखने के लिए जो यह थोड़ा सा बल लगाना पड़ता है। इसे आज के वैज्ञानिक इन्जीनियर एक्सीलिरेशन (Acceleration) के नाम से कहते हैं। तथा गणित के द्वारा

भी व लोग इस प्रक्रिया विशेष में प्रयुक्त वल को (Acceleration Power को) प्रारम्भ में प्रयुक्त वल की (Starting Power की) अपेक्षा कई गुणी हीन सिद्ध कर रहे हैं। मोटर स्टार्ट (Start) करते समय सैकिंड गीयर (Second Gear) पर चलाया जाता है। और एक वार चलने के पश्चात् अन्तिम गीयर पर डाल दी जाती है। फस्ट या सैकिण्ड गीयर पर उसकी गति भी धीमी होती है और पट्रोल भी अधिक खाती है, और अन्तिम गीयर पर उसकी गति भी तीव्र हो जाती है और पट्रोल भी वहुत कम खाती है। अर्थात् आरम्भ में अधिक वल लगा कर भी कम काम कर पाती है। और चालू हो जाने के पश्चात् कम वल लगाने से भी अधिक काम कर पाती है। यही वैज्ञानिक सिद्धान्त सर्वत्र लागू हुआ जानना।

दिनांक १० अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५६

१९ कर्तव्य रूप छः क्रियाओं का निर्देश, अनादि काल से पुष्ट हुए उन दुष्ट संस्कारों को, जो कि मेरे न चाहे भी मुझे उस गृहस्थ के वातावरण में जाने पर, मानों ज़वरदस्ती खींच कर व्याकुलता के सागर में धकेल देते हैं, उसे नाश करने के उपाय, अर्थात् निर्जरा के उपाय तप का प्रकरण है। इस अल्प भूमिका में रहते हुए, किस प्रकार यथा योग्य तप किया जाना सम्भव है? और किस प्रकार, क्यों, और किस क्रम से, वह वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, खण्डित रूप से एक धारा रूप वना जाता है। तथा किस प्रकार मेरे अन्दर शान्ति अंकुर उगता है, व साहस तथा वल में वृद्धि करता है। यह बातें कल के प्रकरण में चल चुकी हैं। आज वह प्रक्रिया विशेष चलती है जिनको कि जीवन के पूर्व संकेतित खाली अवसरों में मुझे अपने जीवन का प्रयोग क्षेत्र वनाना है। वह प्रक्रिया वाह्य में नहीं अन्तरङ्ग में ही करनी होगी, केवल चिन्ताओं में, केवल नवीन जाति की कुछ कल्पनाओं में करनी होगी। क्योंकि वाह्य क्रिया करने की शक्ति वर्तमान में मुझ में नहीं है। इस प्रक्रिया को छः भागों में वांटा जा सकता है। (१) विनय, (२) वैयावृत्य, (३) स्वाध्याय, (४) त्याग, (५) सामायिक, (६) प्रायश्चित। क्रम पूर्वक उन छः वातों को वताते हैं।

२० विनय प्रात: काल मन्दिर में दर्शन करते समय और गुरु की प्रत्यक्ष व परोक्ष भक्ति करते समय, जिस शान्ति के दर्शन किये थे, उनमें जिस वीतरागता का दर्शन किया था, उनमें से जिस मुस्कराहट का वह मधुर शान्ति वरसाती आकृति का प्रवेश हुआ था-मेरे हृदय में, जिस साम्यता का संचार देखा था उनके अन्तस्थल में, निन्दक व वन्दक में समानता का जो विचित्र भाव देखा था उनके जीवन में, जिसके कारण दीखती थी उनमें निश्चलता, निश्चितता व निर्विकल्पता, जिसके कारण वह रही थी मानों शान्ति की शीतल गङ्गा, जिसके कारण हो रही थी मानों समस्त विश्व पर शान्ति सुधा की वर्षा, ऐसी ही उनकी शान्ति के दर्शन करने का मैं प्रयत्न करूं-उन प्रतिकूल वातावरण में पड़े खाली अवसरों में। और तत्क्षण स्वयं वेदन में आने वाली शान्ति के प्रति उत्पन्न करूं एक उत्कण्ठा जिसके कारण कि उत्पन्न हो जाये मेरे अन्दर एक क्षणिक कृत कृत्यता, और फल स्वरूप उसके प्रति का व उन देव व गुरु का स्वाभाविक तीव्र वहुमान, भक्ति व विनय। इस प्रक्रिया का नाम है "विनय तप"। यथार्थ विनय तप तो होता है गुरुओं को, उन योगियों का जीवन ही इन सर्व गुणों मयी वन गया है। परन्तु आंशिक

रूप से तथा कुछ क्षणों के लिये ऐसे विचारों में निमग्न होने के कारण, उस समय मेरा जीवन भी रङ्गा जायेगा उसी रङ्ग में। इसलिए इसका नाम तप कहने में अतिशयोक्ति न होगी।

२१ वैयावृति तप इस प्रकार क्षणिक शान्ति का वेदन अपने जीवन में कर लेने के पश्चात्, जब मैं संस्कारों के द्वारा प्रेरित किया गया च्युत हो जाऊंगा-इस अवस्था से, तो क्या होगी मेरी दशा, यह बात अनुमान में आ जाती है। एक उस पक्षी वत् जो जा रहा हो आकाश में ऊंची ऊंची उड़ाने भरता, और किसी व्याध के तीर से घायल हुआ, गिर पड़े पृथ्वी पर फड़फड़ाता हुआ। अवकाश पाकर पुनः वही उद्यम, पुनः वही शान्ति की उड़ान, और फिर संस्कारों के द्वारा घायल। और इसी प्रकार बार बार गिरा दिया जाकर भी, मेरा पुरुषार्थ रहेगा पुनः पुनः उसी अवस्था को प्राप्त करने का, और यह क्रिया कृत्रिम न होगी बल्कि स्वाभाविक होगी जिसे उस रसास्वादन के द्वारा प्रेरणा मिलती रहेगी। इस प्रकार शान्ति और अशान्ति के झूले में झूलते मेरा प्रयत्न बराबर यह रहेगा कि वहां से च्युत न होने पाऊं, अधिक से अधिक देर वहां ठहर सकूं। इस पुरुषार्थ का नाम ही अपनी वैयावृत्ति व अपनी सेवा है, जो अशान्ति रूपी रोग से अपनी रक्षा करने के लिए, अथवा रोग आ पड़ने पर उसे दूर करने के लिए मुझे स्वभावतः होगी ही। इस प्रकार की वैयावृति तो होती हैं वास्तव में योगी जनों को, जिन पर संस्कार का ज़ोर चलना ही बन्द हो गया है, जो कि उस शांति से च्युत ही नहीं होते। परन्तु उन्हीं का प्रतिबिम्ब होने के कारण मेरा यह पुरुषार्थ भी वैयावृति नाम का तप है। अपने जीवन में इस जाति की वैयावृति हो जाने पर, क्या मैं स्वभावतः ही उन दूसरे जीवों को शान्ति से च्युत होते हुए व तड़फते हुए देख सकूंगा, जिनको पूर्ण रूपेण व आँशिक रूपेण उसका रसास्वाद हो रहा हो ? क्या मुझसे यह सहन हो सकेगा ? उनको देखकर यदि मेरे हृदय में स्वाभाविक तड़फन न हो जाये तो उसका यह अर्थ होगा कि मुझे शान्ति के प्रति आन्तरिक बहुमान नहीं है। अतः उनको अर्थात् मुनि को, उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य श्रावक को, अथवा उस गृहस्थ को जिसे निज स्वरूप की शान्ति रूप अवस्था का साक्षात्कार हुआ है, ऐसी अवस्था में देख कर स्वभावतः ही मेरे अन्दर एक तड़फ उत्पन्न हो जायेगी-जिसके कारण, इस अभिप्राय से, कि जिस किस प्रकार भी इसकी दुर्लभ शान्ति पुनः उसे लौट आये, मैं जुट जाऊंगा उसकी बाह्य व अभ्यन्तर सेवा में, बाह्य से अपने शरीर द्वारा या धन द्वारा उसके शरीर की सेवा, रोग का प्रतिकार आदि, अथवा उसकी आर्थिक स्थिति के सुधार सम्बन्धी और अभ्यन्तर से उपदेश आदि देकर पुनः उसमें धैर्य व साहस उत्पन्न कराने सम्बन्धी। और यह कहलाएगी पर की वैयावृति।

२२ स्वाध्याय तप प्रातः मन्दिर में बैठ कर स्वाध्याय में जो पढ़ा था, अथवा प्रवचन में जो सुना था, तत्सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें जो विषद रीति से समझ में न आ पाईं, आपको उन अपने खाली अवसरों में विचारनी चाहियें कि इनका यथार्थ अर्थ क्या हो सकता है ? उस वाक्य व शब्द का आपकी शान्ति की सिद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि कुछ नहीं तो वास्तव में अर्थ ही ठीक नहीं हुआ। शास्त्र में लिखा एक एक शब्द शान्ति का द्योतक है। उसको ठीक रीति से समझना चाहिये, नहीं तो वह इस मार्ग में अनुपयोगी ही रहेगा। शास्त्र तो स्वयं बोल कर बता नहीं सकता। उसमें लिखे शब्द अवश्य संकेत कर रहे हैं, किसी ऐसी दिशा में, जिधर आपकी शान्ति का निवास है। उस दिशा का अनुमान लगाना तथा उस अनुमान की परीक्षा अनुभव के आधार पर करना आपका काम है। अथवा कुछ ऐसी भी बातों का जो विशद रूप से समझ में आ गई थी, बहुमान पूर्वक व हृदय के उस दिशा में बहाव पूर्वक

भी व लोग इस प्रक्रिया विशेष में प्रयुक्त बल को (Acceleration Power को) प्रारम्भ में प्रयुक्त बल की (Starting Power की) अपेक्षा कई गुणी हीन सिद्ध कर रहे हैं। मोटर स्टार्ट (Start) करते समय सैकिंड गीयर (Second Gear) पर चलाया जाता है। और एक बार चलने के पश्चात् अन्तिम गीयर पर डाल दी जाती है। फस्ट या सैकिण्ड गीयर पर उसकी गति भी धीमी होती है और पट्रोल भी अधिक खाती है, और अन्तिम गीयर पर उसकी गति भी तीव्र हो जाती है और पट्रोल भी बहुत कम खाती है। अर्थात् आरम्भ में अधिक बल लगा कर भी कम काम कर पाती है। और चालू हो जाने के पश्चात् कम बल लगाने से भी अधिक काम कर पाती है। यही वैज्ञानिक सिद्धान्त सर्वत्र लागू हुआ जानना।

दिनांक १० अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५६

१६ कर्तव्य रूप छः क्रियाओं का निर्देश, अनादि काल से पुष्ट हुए उन दुष्ट संस्कारों को, जो कि मेरे न चाहे भी मुझे उस गृहस्थ के वातावरण में जाने पर, मानों जबरदस्ती खींच कर व्याकुलता के सागर में धकेल देते हैं, उसे नाश करने के उपाय, अर्थात् निर्जरा के उपाय तप का प्रकरण है। इस अल्प भूमिका में रहते हुए, किस प्रकार यथा योग्य तप किया जाना सम्भव है? और किस प्रकार, क्यों, और किस क्रम से, वह वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, खण्डित रूप से एक धारा रूप बना जाता है। तथा किस प्रकार मेरे अन्दर शान्ति अंकुर उगता है, व साहस तथा बल में वृद्धि करता है। यह बातें कल के प्रकरण में चल चुकी हैं। आज वह प्रक्रिया विशेष चलती है जिनको कि जीवन के पूर्व संकेतित खाली अवसरों में मुझे अपने जीवन का प्रयोग क्षेत्र बनाना है। वह प्रक्रिया बाह्य में नहीं अन्तरङ्ग में ही करनी होगी, केवल चिन्ताओं में, केवल नवीन जाति की कुछ कल्पनाओं में करनी होगी। क्योंकि बाह्य क्रिया करने की शक्ति वर्तमान में मुझ में नहीं है। इस प्रक्रिया को छः भागों में बांटा जा सकता है। (१) विनय, (२) वैयावृत्य, (३) स्वाध्याय, (४) त्याग, (५) सामायिक, (६) प्रायश्चित। क्रम पूर्वक उन छः बातों को बताते हैं।

२० विनय प्रातः काल मन्दिर में दर्शन करते समय और गुरु की प्रत्यक्ष व परोक्ष भक्ति करते समय, जिस शान्ति के दर्शन किये थे, उनमें जिस वीतरागता का दर्शन किया था, उनमें से जिस मुस्कराहट का वह मधुर शान्ति बरसाती आकृति का प्रवेश हुआ था-मेरे हृदय में, जिस साम्यता का संचार देखा था उनके अन्तस्थल में, निन्दक व वन्दक में समानता का जो विचित्र भाव देखा था उनके जीवन में, जिसके कारण दीखती थी उनमें निश्चलता, निश्चितता व निर्विकल्पता, जिसके कारण बह रही थी मानों शान्ति की शीतल गङ्गा, जिसके कारण हो रही थी मानों समस्त विश्व पर शान्ति सुधा की वर्षा, ऐसी ही उनकी शान्ति के दर्शन करने का मैं प्रयत्न करूं-उन प्रतिकूल वातावरण में पड़े खाली अवसरों में। और तत्क्षण स्वयं वेदन में आने वाली शान्ति के प्रति उत्पन्न करूं एक उत्कण्ठा जिसके कारण कि उत्पन्न हो जाये मेरे अन्दर एक क्षणिक कृत कृत्यता, और फल स्वरूप उसके प्रति का व उन देव व गुरु का स्वाभाविक तीव्र बहुमान, भक्ति व विनय। इस प्रक्रिया का नाम है "विनय तप"। यथार्थ विनय तप तो होता है गुरुओं को, उन योगियों का जीवन ही इन सर्व गुणों मयी बन गया है। परन्तु आंशिक

रूप से तथा कुछ क्षणों के लिये ऐसे विचारों में निमग्न होने के कारण, उस समय मेरा जीवन भी रङ्गा जायेगा उसी रङ्ग में। इसलिए इसका नाम तप कहने में अतिशयोक्ति न होगी।

२१ वैयावृति तप   इस प्रकार क्षणिक शान्ति का वेदन अपने जीवन में कर लेने के पश्चात्, जब मैं संस्कारों के द्वारा प्रेरित किया गया च्युत हो जाऊंगा-इस अवस्था से, तो क्या होगी मेरी दशा, यह बात अनुमान में आ जाती है। एक उस पक्षी वत् जो जा रहा हो आकाश में ऊंची ऊंची उड़ाने भरता, और किसी व्याध के तीर से घायल हुआ, गिर पड़े पृथ्वी पर फड़फड़ाता हुआ। अवकाश पाकर पुनः वही उद्यम, पुनः वही शान्ति की उड़ान, और फिर संस्कारों के द्वारा घायल। और इसी प्रकार बार बार गिरा दिया जाकर भी, मेरा पुरुषार्थ रहेगा पुनः पुनः उसी अवस्था को प्राप्त करने का, और यह क्रिया कृत्रिम न होगी बल्कि स्वाभाविक होगी जिसे उस रसास्वादन के द्वारा प्रेरणा मिलती रहेगी। इस प्रकार शान्ति और अशान्ति के भूले में भूलते मेरा प्रयत्न बराबर यह रहेगा कि वहां से च्युत न होने पाऊं, अधिक से अधिक देर वहां ठहर सकूं। इस पुरुषार्थ का नाम ही अपनी वैयावृत्ति व अपनी सेवा है, जो अशान्ति रूपी रोग से अपनी रक्षा करने के लिए, अथवा रोग आ पड़ने पर उसे दूर करने के लिए मुझे स्वभावतः होगी ही। इस प्रकार की वैयावृति तो होती हैं वास्तव में योगी जनों को, जिन पर संस्कार का ज़ोर चलना ही बन्द हो गया है, जो कि उस शांति से च्युत ही नहीं होते। परन्तु उन्हीं का प्रतिबिम्ब होने के कारण मेरा यह पुरुषार्थ भी वैयावृति नाम का तप है। अपने जीवन में इस जाति की वैयावृति हो जाने पर, क्या मैं स्वभावतः ही उन दूसरे जीवों को शान्ति से च्युत होते हुए व तड़फते हुए देख सकूंगा, जिनको पूर्ण रूपेण व आँशिक रूपेण उसका रसास्वाद हो रहा हो ? क्या मुझसे यह सहन हो सकेगा ? उनको देखकर यदि मेरे हृदय में स्वाभाविक तड़फन न हो जाये तो उसका यह अर्थ होगा कि मुझे शान्ति के प्रति आन्तरिक बहुमान नहीं है। अतः उनको अर्थात् मुनि को, उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य श्रावक को, अथवा उस गृहस्थ को जिसे निज स्वरूप की शान्ति रूप अवस्था का साक्षात्कार हुआ है, ऐसी अवस्था में देख कर स्वभावतः ही मेरे अन्दर एक तड़फ उत्पन्न हो जायेगी-जिसके कारण, इस अभिप्राय से, कि जिस किस प्रकार भी इसकी दुर्लभ शान्ति पुनः उसे लौट आये, मैं जुट जाऊंगा उसकी बाह्य व अभ्यन्तर सेवा में, बाह्य से अपने शरीर द्वारा या धन द्वारा उसके शरीर की सेवा, रोग का प्रतिकार आदि, अथवा उसकी आर्थिक स्थिति के सुधार सम्बन्धी और अभ्यन्तर से उपदेश आदि देकर पुनः उसमें धैर्य व साहस उत्पन्न कराने सम्बन्धी। और यह कहलाएगी पर की वैयावृति।

२२ स्वाध्याय तप   प्रातः मन्दिर में बैठ कर स्वाध्याय में जो पढ़ा था, अथवा प्रवचन में जो सुना था, तत्सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें जो विषद रीति से समझ में न आ पाई, आपको उन अपने खाली अवसरों में विचारनी चाहियें कि इनका यथार्थ अर्थ क्या हो सकता है ? उस वाक्य व शब्द का आपकी शान्ति की सिद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि कुछ नहीं तो वास्तव में अर्थ ही ठीक नहीं हुआ। शास्त्र में लिखा एक एक शब्द शान्ति का द्योतक है। उसको ठीक रीति से समझना चाहिये, नहीं तो वह इस मार्ग में अनुपयोगी ही रहेगा। शास्त्र तो स्वयं बोल कर बता नहीं सकता। उसमें लिखे शब्द अवश्य संकेत कर रहे हैं, किसी ऐसी दिशा में, जिधर आपकी शान्ति का निवास है। उस दिशा का अनुमान लगाना तथा उस अनुमान की परीक्षा अनुभव के आधार पर करना आपका काम है। अथवा कुछ ऐसी भी बातों का जो विशद रूप से समझ में आ गई थी, बहुमान पूर्वक व हृदय के उस दिशा में बहाव पूर्वक

विचारना चाहिये। इनके अतिरिक्त किसी जिज्ञासु को उन समझे हुए अर्थों का ठीक रीति से कल्याण भावना पूर्वक उपदेश देने को भी स्वाध्याय नाम का तप कहते हैं। क्योंकि यह प्रक्रिया प्रतिकूल वातावरण में रह कर आश्रय रहित की जा रही है। यथार्थ स्वाध्याय तप तो योगियों को ही होता है। जो जीवन के प्रति क्षण निज शान्ति के वेदन रूप स्व-अध्ययन ही किया करते हैं। परन्तु उतने मात्र अवसर के लिए आपको भी उसी भाव का आंशिक वेदन हो जाने के कारण, आपकी अल्प भूमिका में यह स्वाध्याय नाम का तप ही कहलायेगा। (स्वाध्याय का विशेष स्वरूप देखो अध्याय नं० २३ में)

२३ त्याग तप चौथा तप व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग नाम का तप है। यथार्थ व्युत्सर्ग तो योगियों को ही होता है, जिन्होंने इस गृहस्थ के सर्व जंजालों से मुंह मोड़ लिया है। यहां तक कि साथ साथ रहने वाले इस शरीर से भी अन्तरङ्ग में नाता तोड़ दिया है, इस पर अनेकों बाधायें, क्षुधादि की, या मनुष्य कृत, तिर्यञ्च कृत, देव कृत, प्रकृति कृत, उपसर्गों की आ पड़ने पर भी, जो कुछ परवाह नहीं करते। धीर वीर बने अपने आन्तरिक सुख में बराबर मग्न रहते हैं। परन्तु इस अल्प भूमिका में यह तप एक गृहस्थी को भी होता है। इन्द्रिय संयम के प्रकरण में बताये अनुसार यथा योग्य विषयों के त्याग के अतिरिक्त (देखो अध्याय नं० २५) वह त्याग करता है दान के रूप में, जिसकी बात आगे आगे आ जाएगी दान के प्रकरण में।

२४ सामायिक तप और पांचवें तप का नाम है सामायिक। सामायिक का स्वरूप ज़रा स्पष्ट रूप से समझना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में बहुत भ्रम है, और यह मेरी इस शान्ति प्राप्ति की मूल बात है। जो कुछ भी किया जा रहा है या बताया जा रहा है या जिसका अब तक अभ्यास कराया गया है, सब इसकी सिद्धि के लिये। यही वह पुरुषार्थ है जो तत्क्षण शान्ति प्रदायक है। सामायिक अर्थात् समता, राग द्वेषादि मिश्रित विकल्पों का अभाव, शान्ति में स्थिति, वीतरागता। इस लक्षण के अन्तरंग में प्रगट हुए बिना कोई भी धार्मिक बाह्य कार्य सामायिक नहीं कही जा सकती, और इस प्रयोजन के अन्तरङ्ग में प्रगट होने पर लौकिक कार्य भी सामायिक कही जाती है।

बड़ी विचित्र बात सुन रहे हैं। आज तक तो ऐसा सुनते रहे कि मन्दिर में बैठ कर, शरीर को निश्चित करके, हाथ में माला ले, अथवा अंगुलियों पर, १०८ बार क्रमशः गिनते हुए मुख से णमोकार मन्त्र का उच्चारण धीरे धीरे कर देने से जो जाप किया, या कोई भक्तामर आदि का पाठ किया, वही सामायिक है। इसके अतिरिक्त और क्या ? आपको आश्चर्य होगा, जबकि बड़ी निर्भीकता से इसको सामायिक न कह कर ढोंग कहा जायेगा। परन्तु घबराइये नहीं सामायिक का यथार्थ स्वरूप सुन कर तर्क पूर्वक इस बात की सत्यता का अनुमान भली भांति लगा सकोगे।

उपरोक्त वक्तव्य का यह अर्थ नहीं कि णमोकार मन्त्र उच्चारण का या भक्तामर आदि के पाठों का निषेध किया जा रहा है। बल्कि यहां तो सामायिक का प्रकरण है। यदि इन क्रियाओं से भी सामायिक का प्रयोजन साम्यता व शान्ति सिद्ध हो जाये, तो बेशक यह क्रियायें भी सामायिक की कोटि में गिनी जायेंगी। और कोई ज्ञानी व अनुभवी जन इन्हीं क्रियाओं के रूप में सच्ची सामायिक करते भी हैं। उसका निषेध नहीं है। निषेध है उस क्रिया का जो कि अन्तरङ्ग प्रयोजन से निरपेक्ष वर्तते

रही है। कुछ अभ्यस्त बन जाने के कारण यह मन्त्र व पाठोच्चारण वास्तव में आज संस्कार की कोटि में जा चुके हैं। इनको उच्चारण करते समय बुद्धि का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह क्रिया कुछ मैकेनिक (Mechanic) सी हो गई है, अर्थात् मन कहीं भी घूमता रहे, कैसे भी विकल्पों का निर्माण करता रहे, परन्तु ग्रामोफोन के रिकार्ड वत् मुंह अपना काम करता ही रहेगा, और हाथ अपना। मुझे स्वयं को इतना भी पता न चल पायेगा, कि किस प्रयोजन को लेकर मैं यहाँ बैठा हूँ। अन्तरंग घूमता है राग द्वेष के संसार में और वाह्य में यह बगले जैसा रूप। भला ढोंग न कहें तो क्या कहें इसे ? यह क्रिया जब कभी पहले करनी प्रारम्भ की थी, तब तो बुद्धि की कोटि में रह कर ही की थी, परन्तु तब तो इसका यथार्थ प्रयोग किया नहीं, और अब जबकि स्वयं वह अबुद्धि की कोटि में जा चुकी है। बुद्धि लगा कर भी मेरे प्रयोजन की सिद्धि कर नहीं सकती यह, अतः वेकार है।

तो सामायिक किस प्रकार की जाये ? यह प्रश्न है। लीजिये, छोड़ दीजिये इस मैकेनिक प्रक्रिया को या किसी भी रटे हुए पाठ आदि के आश्रय व उच्चारण को, और स्वतन्त्र रूप से अपनी बुद्धि का प्रयोग करके उठाइये कुछ विचार अपने अन्तरंग में, गद्य में या पद्य या मात्र अपने जल्प में। देखिये कितना पुरुषार्थ करना पड़ेगा आपको इस क्रिया में। बुद्धि या उपयोग का कार्य एक दिशा में चल सकना सम्भव होने के कारण इस प्रक्रिया के करते हुए आपके मन को जबरदस्ती उन विचारों में ही केन्द्रित रहना पड़ेगा। वह अपनी इच्छा से इधर उधर न भाग सकेगा। फलतः लौकिक रीति के मेरे तेरे आदि विकल्प रुक जायेंगे। वीतरागता, निर्विकल्पता, व शान्ति का वेदन होने लगेगा। बस हो गई सामायिक के प्रयोजन की सिद्धि। अतः बुद्धि पूर्वक कुछ विशेष जाति के विचार या विकल्प उत्पन्न करने का नाम ही सामायिक है।

२५ सामायिक में उपयुक्त कुछ विचारणायें

वे विचार क्या हैं जो इस अवसर पर उत्पन्न किये जायें ? सुन ! बताते हैं ? वास्तव में तो किसी भी पदार्थ सम्बन्धी यहां तक कि धन सम्पत्ति अथवा शरीर कुटुम्ब सम्बन्धी भी विचार, यदि मेरे-तेरे, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, अच्छा-बुरा आदि कल्पनाओं से रहित हों, तो इस प्रक्रिया में इष्ट हैं। ज्ञान धारा में रंगी सर्व विचारणायें सामायिक रूप हैं और कर्म धारा में रंगी णमोकार मन्त्र की जाप तक भी सामायिक नहीं कही जा सकती (ज्ञान व कर्म धारा के लिए देखो अधिकार नं० १७ प्रकरण नं० ५) क्योंकि पदार्थ का जानना अनिष्ट नहीं, अपराध नहीं, अशान्ति का कारण नहीं, यह कल्पनायें ही अपराध हैं, अशान्ति की कारण हैं। परन्तु सम्भवतः इस प्रथम भूमिका में अभ्यास न होने के कारण उन पदार्थों सम्बन्धी विचार की उत्पत्ति के साथ साथ वे कल्पनायें भी उत्पन्न हुए बिना न रह सकेंगी। अतः उनके विचार करने के लिये आपको कहा न जायेगा। इतनी शक्ति योगी व अधिक अभ्यस्त जनों को ही प्राप्त है कि रागोत्पाद पदार्थों सम्बन्धी विचार करते हुए भी वे रागात्मक विकल्प उत्पन्न न होने दें। केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र रूप से उन्हें जाने।

कूप मण्डूक बन कर यह उपरोक्त विचार नहीं किये जा सकते। इनके लिए कुछ सर्व व्यापक दृष्टि, विश्व प्रसारित दृष्टि करनी होगी। जैसे कि धन के सम्बन्ध में विचार करते समय एक गृहस्थी अपनी आर्थिक परिस्थिति, (Economy) जो कि केवल ५ व्यक्तियों तक सीमित है, के आधार

पर ही अपनी हानि लाभ का भाव वनाता है। इन ५ व्यक्तियों में यह धन रहे या यह ही इसका भोग करें तो सार्थक हुआ, परन्तु इन ५ से वाहर अन्य कोई इसका भोग करे तो कुछ नुकसान हुआ। शोक का व द्वेप का कारण हुआ। जवाहर लाल इसी वात को देश की अर्थ व्यवस्था के आधार पर विचारता है। भले आपको टोटा पड़े या लाभ हो जाये, आप रोवें या हंसे, यदि धन देश में ही रहते हुये आपके पास से मेरे पास आ गया तो कोई नुकसान नहीं हुआ, परन्तु यदि अमेरिका को भेजना पड़े तो वड़ा नुकसान हुआ। द्वेप तथा शोक का कारण होगा। और यदि एक विश्व दृष्टि इस वात का विचार करे, तो व्यक्ति रोवे या हंसे, किसी देश से आये या किसी देश से निकले, परन्तु कोई हानि होनी न लाभ। विश्व का ही है और विश्व में ही रहा। स्थान परिवर्तन मात्र से विश्व में कोई हानि नहीं पड़ी। द्वेप व शोक को अवकाश ही न रहा और इसी कारण विश्व प्रसारित दृष्टि के द्वारा देखने वाला पदार्थों को देखता है एक अजायवघर में रखी वस्तुओं वत्, केवल ज्ञाता दृष्टा वन कर। परन्तु संकुचित दृष्टि वाला देखता है उन्हीं वस्तुओं को दुकानों व अपने घर में सजी वस्तुओं वत्, उनके ग्रहण व भोग की भावना सहित, रागी द्वेपी होकर। अतः विश्व दृष्टि का उन्हीं पदार्थों सम्वन्धी विचार करना सामायिक है, और संकुचित दृष्टि का वही विचार रागात्मक।

१—इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों विचार हैं, जिनमें राग की उत्पत्ति को अवकाश नहीं। परन्तु यह उसी समय सम्भ्व है जव कि मेरी दृष्टि या तो अत्यन्त संकुचित हो जहां कि मुझे मेरी शान्ति या स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई ही न दे। और या हो अत्यन्त विस्तृत ज़हां युगपत् समस्त विश्व दिखाई दे। मध्यवर्ती सव दृष्टियां रागात्मक हैं। यहां दृष्टि का तात्पर्य श्रुत ज्ञानात्मक विचार दृष्टि है, केवल ज्ञानात्मक न समझना। संकुचित दृष्टि में तो "मैं एक अकेला, सर्व विकल्पों तथा चार कोटि के पर पदार्थों से रहित, ज्ञान ज्योति भगवान आत्मा, यह यहां अनुभव में वैठा साक्षात् दीख रहा हूं" इस प्रकार के विचार की सहभावी अलौकिक शान्ति में तन्मयता हो जाती है। यह ही एक विचार है दूसरा नहीं।

२—विस्तृत दृष्टि में किये जाने वाले अनेकों विचार हैं, उन्हें वताता हूँ। पहला विचार आज्ञा विपय कहलाता है। अर्थात् आज तक जीवादि तत्व सम्वन्धी वातें सुन व समझ कर जो हिताहित सम्वन्धी विवेक वुद्धि प्रगट हुई, उसके अवधारण पूर्वक, संवर निर्जरा प्रकरण में वताये अनुसार किञ्चित् उद्यम करने के कारण प्रगटी जो शान्ति, उसके साथ जोड़ वैठाते हुये गुरु की जीवादि तत्वों सम्वन्धी देशना का विचार। जैसे "मैं चैतन्य हूँ, भूल कर आज तक शरीर को मैं माना, नवीन नवीन विकल्प उत्पन्न करके रागात्मक संस्कार वांधे, और व्याकुल वना रहा। आज सौभाग्य से गुरु देव की देशना प्राप्त हुई, कर्तव्य अकर्तव्य जाना, हिताहित पहिचाना। देव पूजादि संवर सम्वन्धी व विनयादि निर्जरा सम्वन्धी कुछ उद्यम जीवन में प्रगट किया। फलतः कुछ शान्ति मिली, जिसे पाकर आज मैं कृत्य कृत्य हुआ जाता हूँ, यह सव गुरुदेव की देशना का ही तो प्रताप है।" और इसी प्रकार के वहुमान सम्वन्धी विचार आज्ञा विपय कहलाते हैं।

३—दूसरा उपाय विपय नाम का विचार है। इसमें यह विचारा जाता है कि आज तक मैं कितना अभागा रहा कि शान्ति के दर्शन भी न कर पाया? मेरा अभाव तो कभी हुआ न था

चला तो अनादि काल से ही आ रहा हूँ, परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि आज तक इसकी ओर की जिज्ञासा ही मेरे अन्दर हुई नहीं। कितना अभागा था मैं ? और यह सर्व जगत भी इसी हालत में पड़ा है। कितने दुःखी हैं यह सर्व जगत के प्राणी, बेचारे को यह भी पता नहीं कि वह दुःखी हैं कि सुखी। बेहोश पड़े हैं मानों, कितने अभागे हैं बेचारे ? इत्यादि।

३- तीसरा विपाक विषय नाम का विचार है इसमें यह विचारा जाता है "कि कितने दुष्ट तथा प्रवल हैं यह संस्कार, कि जिनके पाले पड़े आज तक मुझे हित की बुद्धि ही नहीं उपजी। तथा यह सर्व जगत के प्राणी भी तो उसके आधीन हुए नाच रहे हैं आज। पर सावधान रहने की आवश्यकता है इनके प्रहार से। इनको जड़मूल से उखाड़ना ही मेरा कर्तव्य है। आज मुझको प्रकाश मिला है गुरुदेव से। अब इन्हें छोड़ना ही पड़ेगा मेरा देश। इनके एक बच्चे को भी आज्ञा न मिलेगी यहां रहने की। आज तक इसके परतंत्र रहा, पर अब न रहूँगा। इत्यादि।

४—चौथा है संस्थान विषय नाम का विचार। इसका बहुत अधिक विस्तार है, अर्हंत देव के, व सिद्ध प्रभु के शान्त चैतन्य व अमूर्तिक आकार का विचार करते हुए, तथा गुरु देव की शान्ति में स्नान करती आकृति को सामने रखते हुए, पंच परमेष्ठी का स्मरण व चिंतवन। शब्दों मात्र का नहीं बल्कि गुणों का। या गुणों सहित उनके वाचक शब्दों का। गुणों में भी शरीर के गुणों का नहीं बल्कि चैतन्य के वीतरागता, साम्यता व शान्ति आदि गुणों का। यह भी संस्थान विषय है। अथवा विनय तप में बताया गया विचार भी इसी में समावेश पा सकता है।

विशाल दृष्टि के अन्तर्गत भी अनेकों विचार हैं। सृष्टि का सुन्दर चित्रण जैसा कि प्राण संयम के अन्तर्गत चार प्रकार से करने में आया है। (देखो अध्याय नं० २६ प्रकरण नं० २४) समस्त विश्व को ईश्वर के अर्थात् मेरे निवास स्थान के रूप में विचारना, सर्व विश्व को ईश्वर के अर्थात् मेरे द्वारा सृजन की हुई ईश्वरीय सृष्टि के रूप में देखना, सर्व विश्व को एक ब्रह्म अर्थात् एक चैतन्य या सर्वत्र 'मैं' के रूप में देखना, इनके अतिरिक्त समस्त विश्व को एक अजायबघर के रूप में देखना, जहां अनेकों चित्र विचित्र जड़ व चैतन्य पदार्थ, अनेकों पृथ्वीएं किस सुन्दरता के साथ सजाई गई हैं। एक प्रदेश पर की सुन्दर रचना को देखना, सर्व पदार्थ हैं, हैं और हैं। सदा से स्थित। स्थित रहते हुए भी किस प्रकार से अटखेलियां कर रहे हैं। जैसे सागर में मछली। कभी रूप बदल कर तथा कभी स्थान बदल कर। इस प्रकार वस्तु के उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप को देखना।

और भी विश्व को देखना एक अपने विराट रूप में, मेरे द्वारा सृजन की गई यह सृष्टि जिसका चित्रण प्राण संयम के अन्तर्गत करने में आया है, मानों मेरे अन्दर से निकल निकल कर मुझ में ही समाई जा रही है, क्योंकि जितने भी यह रूप दिखाई दे रहे हैं यहां, यह सर्व मेरी ही तो अवस्थायें हैं। मेरे द्वारा अनेकों बार धारण की गई हैं-भूतकाल में, तथा सम्भवतः अनेकों बार धारण करनी पड़े भविष्यत् काल में। अपनी रुचि के अनुसार मैं इनका निर्माण करता व संहार करता चला आ रहा हूँ, अथवा उस ही में उनमज्जन व निमज्जन करती जल कल्लोलों से कल्लोलित यह कोई महान सागर है, जहां उत्पत्ति व विनाश होते हुये भी न कुछ उत्पन्न हो रहा है न विनाश। यह या कृष्ण जी के द्वारा

अर्जुन को गीता में दर्शाया गया 'मेरा' अर्थात् 'मैं' का स्वरूप। लोक गीता में कथित 'मैं' का अर्थ कृष्ण समझ कर भूल खा बैठते हैं। वह बेचारे यह नहीं जानते कि अध्यात्म भाषा में 'मैं' का प्रयोग होता है, उस अर्थ में जिसमें कि मैं स्वयं पिछले दो महीने से कर रहा हूं। अर्थात् सर्व प्राणियों में अपना अपना "अहं प्रत्यय"। सर्व प्राणियों में से उठने वाली अपनी अपनी "मैं" ऐसी पुकार। और इस प्रकार गीता का वह विराट रूप तथा ईश्वर के निवासादि अनेकों चित्रण कृष्ण जी का नहीं, बल्कि है सबका, प्रत्येक प्राणी का अपना अपना, चैतन्य सामान्य का रूप, अर्थात् मेरा रूप। अपने सम्पूर्ण अनादि काल से अब तक के जीवन को, अपने सामने फैला कर एक दम देखूं तो सही, इसके अतिरिक्त दिखाई भी क्या देगा ? अनेक रूपों का निर्माण व उसी में लीनता। और मैं अब भी ज्यों का त्यों। चैतन्य का चैतन्य। शान्ति का पुञ्ज।

और भी अनेकों विचार इसी जाति के किये जा सकते हैं। मन्दिर या किसी एकान्त स्थान में जाकर, एक निश्चित समय के लिए, तथा जीवन के उन फालतू अवसरों में। यह है सामायिक का स्वरूप। साम्यता व शान्ति की जननी सामायिक है-इस मार्ग का प्रमुख द्वार तथा परम कर्तव्य। जिसके द्वारा गृहस्थी में कोई वाधा पड़े विना भी मैं कहीं से कहीं पहुँच सकता हूँ।

दिनांक ११ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५७

अशान्ति की ओर खींचने वाले अनादि के पुष्ट दुष्ट संस्कारों को तोड़ने की वात चलती है। वाहर में कुछ नहीं करना है। करना है सव कुछ अन्तरङ्ग में, अपने परिणामों में, अपने विचारों में। और इतना मैं इस गृहस्थ दशा में भी कर सकता हूं। देव, गुरु व अपनी शान्ति के प्रति विनय, स्वयं या दूसरा कोई शान्ति से च्युत हो जावे तो पुनः वहीं स्थित करना या कराना रूप वैयावृति, शान्ति के अर्थ या विकल्पों से उपयोग को घुमाने के अर्थ शास्त्र में या प्रवचन में सुने सिद्धांतों का अर्थ-मनन चिंतवन रूप स्वाध्याय, और अनेकों विचारणाओं व कल्पनाओं के आधार पर की जाने वाली साम्यता की जननी सामायिक, इन चार की वात चल चुकी।

२६ प्रायश्चित् की महत्ता व क्रम

अव चलती है तप के पांचवें अङ्ग पश्चाताप व प्रायश्चित् की वात। संस्कारों को तोड़ने का यही मुख्य उपाय है। यद्यपि इनका भी विनयादि सर्व अंगोंवत् सामायिक में अन्तर्भाव हो जाता है। पर इसकी विशेषता व इसकी इस मार्ग में महत्ता जानना आवश्यक है। यह वह उपाय है जिसके करने से सम्भवतः कुछ महीनों में नहीं तो एक वर्ष के भीतर तो अवश्य ही जीवन में वरावर निभाए जाने से, स्वयं आपको अपने जीवन में एक महान अन्तर पड़ता दिखाई देगा। ज़मीन आसमान का अन्तर। मानों कि आप कोई और ही वन गये हों। परन्तु भाई ! इसे रुचि पूर्वक निभाने की, और उस प्रकार जीवन में लाने का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है ? अव प्रमाद को छोड़-प्रभु ! इधर आ। देख समय वहुत कम है। आयु वीत चुकी है। इस समय में भी न करेगा तो कव

करेगा ? तेरे हित की बात है, अवश्य कर। कब तक हाय रुपया, हाय रुपया करता रहेगा ? अपनी निधि को सम्भालने का अवसर आया है। साहस ठान और उठ।

इस पांचवी बात को नाम है पश्चाताप। लौकिक गाली के संस्कार को तोड़ने के क्रम में यह सिद्ध किया जा चुका है कि संस्कार को तोड़ने के लिये तीन बातों की आवश्यकता है। अपराध का स्वीकार, उसे दूर करने की सच्ची जिज्ञासा, तथा अपने कृत्य पर पश्चाताप। गुरुओं के समझाने से अपराध का स्वीकार आपको हुआ है, उसे दूर करने की जिज्ञासा भी है। बस अब पश्चाताप की कमी है। यहां पश्चाताप का अर्थ है अपने किये हुए किसी राग द्वेषोत्पादक कार्य के प्रति अपने को धिक्कारना। "मैंने यह कार्य किया क्यों ?" इस प्रकार अपनी निन्दा करना। "मैं वड़ा कृतघ्नी हूँ।" इत्यादि प्रकार आत्म ग्लानि करना। "कब करूंगा इसे दूर", इस प्रकार ग्रहण करना। जान बूझ कर अपराध करके "Sorry" कहने का तात्पर्य नहीं है। यह आत्मग्लानि स्वाभाविक होनी चाहिये। वैसी ही जैसी कि माता को अपने पुत्र को पीटने पर उत्पन्न होती है।

अपराधों के प्रति सावधान बने रहने के लिये पद पद पर इस पश्चाताप या आत्म-ग्लानि को बनाये रखने की आवश्यकता है। इस वात का अभ्यास करना होगा। इस अभ्यास करने के लिए तीन बातों को ध्यान में रखना चाहिये। पहले तो अपने परिणामों को पढ़ने का अभ्यास, दूसरे दिन भर में उत्पन्न हुए विभिन्न परिणामों का हिसाब पेटा, तीसरे गुरु की साक्षी में उनके प्रति का निन्दन।

२७ परिणामों के भेद प्रभेदों का पढ़ना

परिणामों को पढ़ने के सम्वन्ध में यह जानना आवश्यक है, कि मुख्यत: जीव के परिणाम ग्यारह जातियों में विभाजित किये जा सकते हैं, क्रोध भाव, अभिमान भाव, मायाचारी का भाव, लोभ का भाव, हंसी ठट्टे का भाव, भोगों आदि के प्रति आसक्तता का भाव, अरुचिकर पदार्थों में अदेखसका सा भाव, या शोक करने का भाव, या प्रसन्न होने का भाव, भय खाने का भाव, किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थों के प्रति ग्लानि का भाव, मैथुन का भाव। इन सर्व परिणामों में, क्रोध, लोभ, मान व माया के परिणामों का कुछ स्वरूप तो आगे दश लक्षण धर्म के प्रकरण में आने वाला है। (देखो अध्याय नं० ३३)। आसक्तता अनासक्तता सरल है तथा इन्द्रिय संयम के अन्तर्गत पंचेन्द्रिय विषयों को बताते समय इनका कुछ संकेत किया भी जा चुका है ? (देखो अध्याय नं० २५) हंसी, शोक, भय, मैथुन के भाव सर्व परिचित हैं। ग्लानि भाव विष्टा आदिक पदार्थों में घृणा रूप से तथा जीवों में दोष ग्रहण रूप से जानने में आता है (इसका कथन पीछे सम्यक्त्व के अङ्गों की व्याख्या करते हुए निर्विचिकित्सा गुण के अन्तर्गत किया जायेगा। देखो अध्याय नं० ४६) वह सर्व ही परिणाम राग व द्वेष में गर्भित हो जाते हैं। इन दोनों में भी प्रत्येक के दो दो भेद हो जाते हैं। शुभ राग, अशुभ राग, अशुभ द्वेष, शुभ द्वेष। गुणी जनों के प्रति का या दुखियों के प्रति का सेवा भाव रूप राग शुभ है, शराब आदि पदार्थों के प्रति का या हिंसक पशु व मनुष्यों के प्रति का राग अशुभ है। इसी प्रकार मांसादि के प्रति का द्वेष शुभ है और गुणी व अन्य किसी जीव के प्रति का द्वेष अशुभ है इत्यादि। जैसे क्रोध, मान, अरुचि, शोक, भय व ग्लानि यें वह तो द्वेष भाव हैं और माया, लोभ, हास्य आसक्तता, और मैथुन भाव वह पांच राग भाव हैं। सर्व जीवन में सूक्ष्म रूप से या स्थूल रूप से इन दो राग द्वेष भावों का ही नृत्य हो रहा है। कुछ परिणाम, तो बुद्धि लगाने पर जाने जा सकते हैं, कि ये राग रूप हैं या द्वेष रूप, तथा इन

भेदों में भी क्रोध रूप है या मान रूप इत्यादि, अथवा शुभ है कि अशुभ। ऐसे परिणाम स्थूल कहलाते हैं। और वे परिणाम जिनका आपकी बुद्धि के द्वारा विश्लेषण किया जाना शक्य न हो, यहां सूक्ष्म कहे जा रहे हैं। परिणाम उत्पन्न हो जाने पर उसका उपरोक्त प्रकार विश्लेषण करके उसकी जाति को जानने का नाम ही परिणामों का पढ़ना है।

२८ परिणामों का हिसाब पेटा

जिस प्रकार एक व्यापारी सांझ को बैठ कर दिन में हुए लेन देन के हिसाब का खाता मिलाता है। "प्रातः उठा था, अमुक स्थान पर गया था, वहां अमुक मद्दे इतना खर्च किया था, फिर वहां गया था, यह खर्च किया था, फिर दुकान खोली, अमुक ग्राहक को इतना माल इस भाव दिया इतनी उधार रही, दोपहर को मंगते को एक पैसा दिया।" इत्यादि प्रकार से एक एक पाई को याद कर करके रोकड़ में चढ़ाता है, और अन्त में बाकी निकाल देता है। इस प्रकार आज के लाभ व हानि का अनुमान कर लेता है। उसी प्रकार प्रातः से उठ कर अमुक अमुक स्थान पर जाते हुए, अमुक अमुक व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हुए, क्रम पूर्वक जो कुछ भी राग रूप व द्वेष रूप, शुभ व अशुभ परिणाम हुए, उनका सांझ को बैठ कर पेटा भिड़ाना दूसरी आवश्यकता है। यद्यपि सर्व परिणामों का पेटा भिड़ाया जाना प्रारम्भ में सम्भव न हो सकेगा। सूक्ष्म परिणाम पकड़ में न आने के कारण, तथा उस उस परिणाम को उस समय पकड़ में न आने के कारण, और सांझ पड़े भूल जाने के कारण। फिर भी जितने कुछ भी याद आ सकें खूब बुद्धि लगा कर याद करना चाहिए।

२९ प्रायश्चित में गुरु साक्षी का महत्व

तीसरी आवश्यकता है गुरु। यद्यपि यह उपरोक्त कार्य आप अपनी दुकान या मकान पर अकेले बैठ कर भी कर सकते हो, परन्तु किसी के सामने दोषों को कहने व उनके प्रति आत्म ग्लानि का भाव प्रगटने की महत्ता है। क्योंकि ऐसा करने से शीघ्र ही वह दोष दूर हो जाता है। इसका कारण भी यह है कि किसी के सामने दोष स्वीकार करने में अधिक बल की आवश्यकता पड़ती है। जो सब विचार सकते हैं। जिसकी निन्दा की है, उसी से जाकर स्वयं कहना कि मैंने आज तेरी निन्दा की थी, बहुत कठिन है, अपेक्षा इसके कि घर में बैठ कर विचारा जाये कि आज मैंने अमुक की निन्दा करके बहुत बुरा किया। अतः उपरोक्त कार्य किसी वीतरागी गुरु की साक्षी पूर्वक करना अधिक उपयोगी है। साधारण व्यक्ति के सामने करना भी योग्य नहीं, क्योंकि ऐसा करने से उस रागी मनुष्य के द्वारा तेरी निन्दा जगत में फैल जाएगी। जिसे तू सहन न कर सकने के कारण सम्भवतः ऊपर उठने की बजाय नीचे गिर जाये।

दुर्भाग्य वश ऐसे वीतरागी गुरुओं का सम्पर्क प्राप्त नहीं है। तब भी मन्दिर में विराजमान अन्तरंग से चैतन्य रूप में दीखने वाले और बाह्य में जड़ ऐसे देव आज भी सौभाग्य वश हमें प्राप्त हैं। अतः यह उपरोक्त कार्य प्रतिदिन सांझ को मन्दिर में जाकर देव की साक्षी पूर्वक करना चाहिये। अकेले में करने की अपेक्षा देव की साक्षी में करने से भी बड़ा भारी अन्तर पड़ता है। जैसे कि स्वतः ली प्रतिज्ञा कदाचित् भङ्ग हो जाती है, पर देव की साक्षी में ली प्रतिज्ञा भंग नहीं होने पाती। प्रातः की भांति सांझ को भी कम से कम १५ मिन्ट इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ निकालने चाहिये। पहले के प्रकरणों में बताई गई इतनी क्रियाओं में यह क्रिया सब से अधिक प्रमुख है।

यह क्रिया साँझ को तो अवश्य ही करनी चाहिये, प्रातः को भी करें तो बहुत अच्छा है। परन्तु प्रातः मात्र में कर लेना पर्याप्त नहीं, क्योंकि दिन गुज़रे हुए परिणामों का सांझ को याद आ जाना कदाचित् सम्भव है, पर रात बीत जाने पर प्रातः को उनका याद आना प्रारम्भिक को सम्भव नहीं।

और इस प्रकार विनय, वैयावृति, स्वाध्याय, त्याग, सामायिक व पश्चाताप इन छः कार्यों को जीवन में यथार्थ रीतिया उन खाली अवसरों में तथा मन्दिर आदिक एकान्त स्थानों में करने का बराबर प्रयास करना व इसके अभ्यास को बराबर बढ़ाते रहना, संस्कारों को तोड़ने का उपाय अर्थात् निर्जरा का उपाय तप है।

२६

—: दान :—
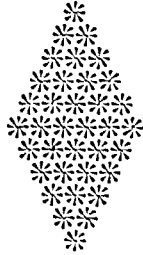
दिनांक १२ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ५८

१—सर्व पदार्थों में दान शक्ति, २—दान के भेद प्रभेद, ३—पात्र के भेद प्रभेद, ४—स्व पर हित की मुख्यता, ५—दातार व उनके अन्तरंग अभिप्राय, ६—दान की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता का विवेक।

१ सर्व पदार्थों में दान शक्ति

शान्ति पथ गामी को वाधक संस्कारों से मुक्ति पाने का क्रमिक सहल उपाय वताया जा रहा है। उसके अन्तर्गत तप का प्रकरण पूरा हुआ और अब चलता है दान का प्रकरण। वास्तव में दान का अन्तर्भाव भी व्युत्सर्ग या त्याग नाम के तप में हो जाता है। और इसलिए दान भी एक तप है, परन्तु सर्व साधारण व्यक्तियों के लिए इसकी वहुत महत्ता होने के कारण इसका पृथक निर्देश किया गया है।

दान का तात्पर्य है देना। हमें विचार इस वात का करना है कि हम आज किसी को कुछ दे रहे हैं या नहीं ? तथा इस दान को हमारा कर्तव्य क्यों वताया जा रहा है ? यह दो प्रश्न हैं प्रथम प्रश्न पर विचार करते हुये यह वात प्रतीत होती है कि धनादि कोई वाह्य सामग्री देने के अतिरिक्त मैं प्रति क्षण कुछ और भी दे रहा हूँ-इस लोक को। मै ही क्या इस लोक के सर्व पदार्थ ही दे रहे हैं-कुछ न कुछ। पदार्थो का परस्पर का यह दान प्रदान वरावर चल रहा है। जीव ही क्या जड़ भी दे रहे हैं कुछ। देखिये इस घड़ी की सूई अभी साढ़े सात पर आई, और हमारे चित्त को कुछ उतावल सी देने लगी। 'उपदेश का समय आ गया' यह सूचना देने लगी। देखो भगवान की जड़ प्रतिमा हमको शान्ति दे रही है। देखो सुभाष का चित्र हमें साहस दे रहा है। देखो यह विष्टा हमें घृणा दे रही है। देखो यह शब्द जो मैं वोल रहा हूं, कुछ सन्तोष दे रहे हैं। देखो मानसिंह डाकू हमें दूर वैठा भी भय दे रहा है। वन में विराजे वीतरागी गुरु हमको ही नहीं वल्कि समस्त विश्व को शान्ति व सन्तोष दे रहे हैं। उनका अभाव हो जाने के कारण ही उनके द्वारा दिया जाने वाला दान वन्द हो गया है, विश्व असन्तुष्ट हो गया है। और एटम वम का जन्म हुआ है। संशय और भ्रम के झूले में झूलते जगत को आज शान्ति का दान देने वाले वीतरागी गुरुओं की वहुत आवश्यकता है। किस किस का नाम लेकर वताएं प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ दे रहा है। शान्ति या अशान्ति, भय या अभय।

मैं भी इसी प्रकार कुछ दे रहा हूँ। किसी एक दो व्यक्ति को नहीं बल्कि सर्व विश्व को : वास्तविक दान तो वीतरागी गुरु ही दे सकते हैं, जो कुछ न देते हुए भी सब कुछ दे रहे हैं। जिसका मूल्य तीन लोक की सम्पदा भी चुका नहीं सकती। एक हाथ से नहीं बल्कि रोम रोम से दे रहे हैं। एक व्यक्ति को नहीं बल्कि सर्व विश्व को दे रहे हैं। तिर्यञ्चों व वनस्पति तक को दे रहे हैं। शान्ति का दान-अपने जीवन से। मैं भी तो उन्हीं की सन्तान हूँ, उन्हीं के पथ पर चल रहा हूँ, मुझे भी वही कुछ देना चाहिए, जो वह दे रहे हैं। अर्थात् मेरा जीवन भी ऐसे सांचे में ढल जाना चाहिये, कि जिससे सर्व विश्व को नहीं तो मेरे सम्पर्क में आने वाले छोटे बड़े प्राणियों को तो, अधिक नहीं तो कम शान्ति अवश्य मिले। यह है वास्तविक अन्तरङ्ग तथा आदर्श धन जो कि स्वतः ही प्रतिक्षण दिया जाना सम्भव है, यदि पूर्व कथित रूप से अपने जीवन का निर्माण करे।

२ दान के भेद प्रभेद अब लीजिये बाह्य दान। लोक विख्यात दान। अर्थात् धनादि वस्तुओं का निज पर कल्याणार्थ व्युत्सर्ग या त्याग करना। इस लक्षणमें धनका त्याग एक आवश्यक अंग है। पर "निज पर कल्याणार्थ" इस विशेषण के बिना वह निरर्थक है। हम सब धन का दान तो नित्य कर रहे हैं। उसमें कोई कमी नहीं है। और सम्भवतः इस समाज में होने वाली दान की प्रवृति अन्य सर्व समाजों से अधिक हो। परन्तु क्या निज पर कल्याण वाला विशेषण उसमें घटित किया जा सकता है, यह देखना है। यदि वह घटित नहीं होता तो वह दिया दिलाया भी बेकार है।

इस विशेषण की खोज करने के लिये हमें दान को चार भागों में विभक्त कर लेना चाहिये। एक वह भाग जो किसी साधारण व असाधारण व्यक्ति को भोजन के रूप में दिया जाता है, एक वह जो किसी साधारण व असाधारण व्यक्ति को औषध के रूप में दिया जाता है। एक वह जो किसी साधारण व असाधारण व्यक्ति को तन ढ़ापने के रूप में अथवा अन्य बाधाओं से उसकी रक्षा करने के लिए मकान धर्मशाला या उपाश्रय आदि के रूप में दिया जाता है ? तथा चौथा वह जो किसी साधारण व असाधारण व्यक्ति को ज्ञान के रूप में या ज्ञानार्जन में सहायता के रूप में दिया जाता है। यह चारों ही भाग स्व पर के हित के लिए समान मूल्य रखते हैं।

३ पात्र के भेद प्रभेद उपरोक्त चारों दानों के पात्र को भी दो कोटियों में विभाजित किया गया है। एक साधारण व्यक्ति तथा दूसरा असाधारण व्यक्ति। यहां असाधारण व्यक्ति से तात्पर्य वे व्यक्ति हैं, जिनके जीवन में उस पूर्वोक्त चौथी कोटि की शान्ति हीनाधिक रूप में या तो उत्पन्न हो चुकी है, और या उनके हृदय में उसका वास है अर्थात् उनका जीवन उस दिशा में प्रगति कर रहा है। जिन्हें भोगों के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा, और जो उस शान्ति के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिये तैयार हैं। और उनके अतिरिक्त शेष सर्व भोगाकांक्षा से संतप्त लोक साधारण की कोटि में आता है। शान्ति का पुजारी स्वाभाविक रीति से इन दोनों पात्रों में से किस पात्र के हित को अधिक महत्व देगा यह कहने की बात नहीं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का झुकाव उधर ही हुआ करता है जिस दिशा में कि उसकी रुचि हो। अतः उसकी दृष्टि में असाधारण पात्र ही अधिक महत्व रखते हैं ? यद्यपि साधारण

व्यक्तियों को भी यथा योग्य दान देने का वह निषेध नहीं करता और देता भी है, पर जितना मूल्य असाधारण व्यक्ति को देने का है उतना उसे देने का नहीं। क्यों स्व पर हित को वह शान्ति की तुला में तोलता है।

४ स्व पर हित की मुख्यता

उपरोक्त चारों प्रकार का दान धन के रूप में या परिश्रम के रूप में दिया जा सकता है। दोनों का समान मूल्य है। उपरोक्त चारों प्रकार का दान अभिप्रायों की विभिन्नता के कारण अनेक प्रयोजनों से दिया जा रहा है। साधारण पात्रों को केवल साधारण करुणा के अर्थ, अर्थात् शारीरिक पीड़ा से उनकी रक्षा के निमित्त दिया जाता है। या ज्ञान दान के द्वारा उनका लौकिक गृहस्थ जीवन कुछ उज्जवल व सुखमय बनाने के निमित्त दिया जाता है। यहां उनके लौकिक दुःख की निवृति तो पर हित हुआ और उसका यह अभिप्राय कि वह स्वयं अपना गृहस्थ जीवन सुखी रखना चाहता है स्वहित हुआ। यदि अपने दुःखी जीवन के प्रति वेदना न होती तो दूसरे का दुःख दूर करने का भाव न आता। तथा असाधारण पात्रों को दिया जाना है। असाधारण करुणा के अर्थ, अर्थात् उनकी उस पारमार्थिक शांति के अर्थ जो बड़े परिश्रम व सौभाग्य से उनको प्राप्त हुई है, और तनिक सी ठेस लगने पर खण्डित हो सकती है। यहां उन असाधारण जीवों के प्रति शाँति भावना तो पर हित की भावना हुई, और स्वयं शांति प्राप्ति का या प्राप्त शाँति का रक्षा का वह अभिप्राय जिसके कारण कि उनके प्रति उसको स्वाभाविक करुणा उत्पन्न हुई है, स्व हित का अभिप्राय है क्योंकि ऐसे अभिप्राय के अभाव में उसे उन जीवों की शांति में बाधा पड़ते हुए भी कोई दुःख न होगा।

५ दातार व उनके अन्तरंग अभिप्राय

उपरोक्त चारों दानों को देने वाले व्यक्ति अर्थात् दातार भी पात्रों वत् दो प्रकार के है। एक साधारण और एक असाधारण। स्वभावतः साधारण दातार का झुकाव भी साधारण करुणा के प्रति अधिक रहेगा और असाधारण दातार का झुकाव असाधारण करुणा के प्रति। इनका कारण उनके अन्तरंग अभिप्रायों की विभिन्नता ही है। साधारण दातारों का स्व व पर हित साधारण ही है, असाधारण पात्रों का असाधारण। जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है।

साधारण दातार देता है शारीरिक सुख के लिये, और असाधारण देता है आत्मिक सुख के लिये। साधारण देता है विषय भोगों की प्राप्ति की इच्छा से, और असाधारण देता है शांति प्राप्ति की इच्छा से, साधारण देता है धन लाभ के लिये, असाधारण देता है धन त्याग के लिए। साधारण देता है रागी बन कर, और असाधारण देता है उदासीन बन कर। साधारण देता है अन्य का उपकारी बन कर और असाधारण देता है निज कर्तव्य समझ कर। साधारण देता है पर कल्याण के लिए, और असाधारण देता है स्व कल्याण के लिये। साधारण देता है लोक प्रशंसा पाने के लिए और असाधारण देता है निज दोष से निवृति पाने के लिये। इस प्रकार दोनों के अभिप्रायों में महान अन्तर है। और इसी लिये इनके फलों में भी महान अन्तर है। साधारण का फल परम्परा में धन व स्वास्थादि लाभ है और असाधारण का फल केवल शांति।

अब हमें यह विचारना है कि हमें कौन सा फल चाहिए, ताकि अपने लिए दान के अभिप्राय का कोई निर्णय किया जा सके। हम शांति के उपासक बने हैं। अतः निःसंशय शांति के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये हमें। तब तो अवश्य ही हमें दान देते हुये साधारण अभिप्रायों का त्याग करके

असाधारण अभिप्राय बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। तथा ऐसी वस्तु का दान देना चाहिये, जिसका फल शांति हो भोग विलास नहीं।

अभिप्राय सुधारने के सम्बन्ध में यद्यपि ऊपर बताया जा चुका है, परन्तु एक और बड़ा दोष है जो आज के दातारों में देखा जा रहा है। उसके प्रति सावधान करा देना आवश्यक है। वह दोष है लोकेषणा। आज के युग में यद्यपि दान काफी दिया जाता है पर उसमें एक ही भाव मुख्यतः छिपा रहता है। और वह यह कि इस दान के द्वारा मेरा नाम, मेरे पिता, पितामह का नाम, मेरी स्त्री व माता का नाम चिरस्थायी बना रहे। और लोगों के हृदय में यह अंकित हो जाये, कि मैं बड़ा दानी हूं धनाढ्य हूँ और धर्मात्मा हूं। यह अभिप्राय शाँति के उपासक के लिए विष है। उसमें अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। भो पुरुषार्थी ! विचार तो कर, कि क्या करेगा इस नाम को लेकर ? इसे खायेगा या बिछायेगा ? लौकिक व अलौकिक दोनों रीति से इसका लाभ ही क्या है ? एक कषाय का पोषण है अर्थात् दान देने में लाभ की बजाय हानि हो रही है। राग का संस्कार काटने के लिये दान दिया था, और कर बैठा राग का पोषण अर्थात् दिया दिलाया खत्ते में डाल दिया, विचारिये तो सही बाजार में रुपया दिया और अपनी आवश्यकतानुसार माल ले लिया। मैंने क्या लिया ? क्या इसका नाम दान है ? नहीं यह तो सौदा है। इसमें किसी की क्या पीरी ? इसी प्रकार दान पैसे का दिया और हाथ की हाथ प्रशंसा थैले में डलवा कर घर ले आया। बताइये तो सही कि क्या दिया ? क्या इसी का नाम दान है ? नहीं यह तो सौदा है इसमें किसी की क्या पीरी ? प्रभु ! सम्भल। और इन दुष्ट संस्कारों से अपनी रक्षा कर।

६ दान की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता का विवेक

अब लीजिये दूसरी बात। दान कैसी वस्तु का दिया जाये। इस विषय पर विचारने से भी बड़ी भारी भूल का पता चलता है। किसी भूखे को या शांति के उपासक को क्षुधा निवृत्ति या शांति की रक्षा के निमित दिया जाने वाला आहार भी कदाचित् लौकिक व अलौकिक दृष्टि से सार्थक है। क्योंकि इसमें स्व पर हित निहित है। इसी प्रकार औषध व उपाश्रय या वस्त्रों आदि का दान भी लौकिक व अलौकिक दोनों दृष्टियों से सार्थक है। परन्तु आज के युग का सर्वोत्तम समझा जाने वाला यह आधुनिक ज्ञान का दान कहां तक सार्थक है, यह विचारणीय है।

लौकिक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञान एक दिशा में सार्थक है और दूसरी दिशा में हानिकारक दिखाई दे रहा है। सार्थक इस अर्थ में कि उससे गृहस्थ जीवन में बड़ी प्रगति मिलती है। इसके अभाव में एक गृहस्थ का जीवन एक जंगली के जीवन वत् ही रह जाता है। और हानिकारक इस अर्थ में कि उसकी उपज है स्वार्थ व विलास, आवश्यकताओं की बाढ़ व चिंताओं का साम्राज्य, दया व सहानुभूति का ह्रास और क्रूरता का विकास, धर्म व शांति का अनादर और एटम बम का उत्पादन। और अलौकिक दृष्टि से देखने पर तो किसी भी प्रकार सार्थक दीखता ही नहीं। सब दोष ही दोष। क्योंकि यहां तो किसी भी बात के खरे खोटे पने की कसौटी शांति है। जिसकी कि स्पष्ट शब्दों में उस ज्ञान के द्वारा अवहेलना की जाती है। अपमान किया जाता है। भला विचारिये तो सही कि ज्ञान का यह विकट रूप किस प्रकार सर्वोत्तम दान कहा जा सकता है ? यह सर्वोत्तम दान अवश्य था, लेकिन उस समय जब कि इसकी साथ साथ अध्यात्म के प्रवेश को भी अवकाश था। उसके अभाव में सर्वोत्तम कहने का तो कोई प्रश्न ही नहीं, सम्भवतः इसे दान भी न कहा जा सके, क्योंकि इसमें स्व व पर हित का स्वाभाविक विशेषण लागू नहीं होता। यहाँ यह न समझिये कि इस आधुनिक ज्ञान का निषेध किया जा रहा है।

वल्कि यह समझिये कि इसमें सुधार करने की प्रेरणा की जा रही है। तथा अध्यात्म की अवहेलना के मुकावले में इसकी अवहेलना करने को कहा जा रहा है।

सौभाग्य से अध्यात्म शिक्षण केन्द्र भी आज हमको उपलब्ध है। जिनके प्रति दिया गया दान सबसे अधिक निकृष्ट समझा जाता है। वह है मन्दिर व शास्त्र भण्डार आदि। जहां के छात्रों की संख्या भले कम हो, परन्तु उस शिक्षण में जो वहां से मिलती है, लौकिक व पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से स्व पर हित का विशेषण घटित होता है। क्योंकि वहां से स्व व पर को एक मात्र शांति की शिक्षा मिलती है, जो सर्व लोक को कल्याणकारी है। अतः सर्व निकृष्ट समझा जाने वाला यह मन्दिर प्रतिमा आदि के निर्माण का दान वास्तव में सर्वोत्तम है। अभिप्राय ठीक वनाकर, योग्य स्थान में, योग्य पात्र को, योग्य दान देना, वट बीज वत्, शांति के महान फल का कारण है। अतः भो शांति के उपासको! कुछ विवेक बुद्धि वना कर न्याय से कमाई इस सम्पत्ति को योग्य दान के द्वारा शांति मार्ग में कुछ सार्थक वना डालो, नहीं तो सब यहीं छोड़ जाना होगा।

VII संवर निर्जरा

(वैरागी सम्बन्धी)

३०

—: वैराग्य :—

दिनांक ११ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५९

१—वैराग्य का प्रेरक शान्ति का संस्कार, २—वैराग्य का प्रेरक शान्ति का वेदन, ३—वैराग्य का बल अभ्यास ।

१ वैराग्य का प्रेरक शान्ति का संस्कार

शान्ति का उपासक गृहस्थ उपरोक्त प्रकरणों में बताये विस्तार के अनुसार, अपने जीवन को इस नवीन दिशा की ओर घुमा कर, नये साँचे में ढालने का अभ्यास करते हुए, कुछ ही वर्षों में एक नई उमङ्ग, एक नए उल्लास का अनुभव करने लगता है। एक जागृति सी तथा एक प्रकाश सा अन्तरंग में प्रगट भासने लगता है। जिसके उजाले में आज वह इस योग्य हो जाता है कि अपने वातावरण में छिपी हुई उस अशान्ति को स्पष्ट देख पाये। यद्यपि पहले से भी किंचित् मात्र किसी विश्वास के आधार पर उसमें उसे अशान्ति का भान हुआ करता था, परन्तु इस दिशा में अभ्यस्त हो जाने, तथा उसके फल स्वरूप शांति में वृद्धि हो जाने तथा साथ साथ अन्तरंग में कुछ दृढ़ता व शक्ति के संचार का अनुभव हो जाने पर, आज जिस जंजाल रूप से इसे देखने लगता है, उस प्रकार से पहले कभी देख न पाया था, विचार करते समय कुछ कुछ हटाव सा अवश्य वर्ता करता था। पर उस भोग विषयक सामग्री का साक्षात्कार हो जाने पर उस हटाव को भूल कर वह जाया करता था-उसकी रौ में। इतने वर्षों के अभ्यास के कारण आज इतनी विशेषता उत्पन्न हो जाती है, कि उनके साक्षात्कार के अवसरों में भी उसका वही भाव बना रहता है, जो कि विचारणा के अवसरों में उसने बुद्धिपूर्वक बनाया था। अर्थात् संस्कार निर्माण के पूर्व कथित क्रमानुसार इस हटाव का बुद्धि पूर्वक प्रारम्भ किया गया संस्कार आज अबुद्धि की कोटि में प्रवेश कर जाता है। और पूर्व में पड़े हुए शान्ति के घातक संस्कारों के साथ युद्ध करने के लिए उन्हें ललकारने लगता है। यह ललकार ही उस बल की परीक्षा है। जिसके सम्बन्ध में कि कहा जा रहा है।

२ वैराग्य का प्रेरक शांति का वेदन

इतने तीर्थंकर व अन्य वीतरागी व योगी जन समस्त राज पाट व देवों वत् की विभूति को छोड़ कर वन को चले गये। क्या आकर्षण था उस वन में? क्यों छोड़ा उस

आकर्षक तथा मधुर सामग्री को, जिसको छोड़ने की बात तो रही दूर, जिसके त्याग सम्बन्धी बात भी आज मुझको सुहाती नहीं। अन्तरंग में तो उसके प्रति की मिठास पड़ी है। भले ही गुरु जनों के कहने पर मैं यह कहने लग गया हूँ कि इस सम्पत्ति में सुख नहीं दुःख है। पर क्या अन्तरंग में इसके प्रति का इस प्रकार का भाव उठता प्रतीत होता है? नहीं अन्तरंग में तो उसके प्रति की मिठास पड़ी है। अन्तरंग में तो यह बात सुन रहा हूं कि इनके भोगने में आनन्द है। बड़ी आकर्षक है यह। बड़ी मधुर तथा सुन्दर। यह देखिये मेरा ड्राइङ्ग रूम कितना सुन्दर सजा हुआ है। दिवारों पर ईरानी कालीन टंगे हैं। यत्र तत्र काशमीर की कारीगरी व काष्ट का आर्ट टंगा हुआ है। मानों प्रकृति को समेट लाया है इस कमरे में। फर्श पर बिछे इस मोटे गुदगुदे भारतीय कालीन ने मानों कोमल कोमल घास हो बिछा दी है इस कमरे में। और यह सुन्दर सोफा सैट मानों राज्य सिंहासन की भी खिल्ली उड़ा रहा है। इधर रखा है चाइना आर्ट। और न जाने क्या क्या? कितना आकर्षक है यह? मुझे गर्व होता है अपने किसी मित्र को इसमें बिठा कर। कैसे कह सकते हैं कि इसमें दुःख है? नहीं नहीं, यह तो योगियों की बातें हैं। मेरे लिये तो यही सुखदायक है, कृत्रिम रूप से इसमें दुःख व अशान्ति देखने का प्रयत्न करते हुये भी स्वाभाविक रूप से तो इसमें सुख व शान्ति सी ही भासती है। कैसे त्यागूं इसे?

"इनके क्या कहने। यह तो महान आत्माएं हैं। तीर्थंकर देव हैं। छोड़ कर चल दिये। कष्ट सह सह कर ही तो कर्मों को खिपाएंगे। तपश्चरण के बिना मुक्ति किसे मिली है? उस मुक्ति की साधना के लिये इतनी आकर्षक व सुख प्रद सामग्री को भी छोड़ कर चल दिये। धन्य है वह।" कुछ ऐसी आवाजें उठा करती हैं-भावुकता वश। बस यह आवाजें ही इस बात की परीक्षा है कि मैं भले शब्दों में योगी जनों को महान कहूँ या सुखी, पर उन्हें अन्तरंग से दुःखी ही समझता हूँ। कोई भी सुख का साधन नहीं उनके पास। कैसे हो सकते हैं वह सुखी? हां, भविष्य में मोक्ष जाकर हो जायें तो हो जायें, परन्तु अब तो दुःखी ही हैं बेचारे'

नहीं प्रभु! भूलता है वास्तव में यह जो उपरोक्त आवाजें अपने अन्दर से उठती सुनाई दे रही हैं, उनका कारण केवल यही है कि उस अलौकिक चौथी कोटि की शान्ति का साक्षात्कार अभी कर नहीं पाया। इसी से नाम मात्र की उस शांति के प्रति अन्तरंग से बहुमान व उल्लास जागृत नहीं हुआ है जिसके अभाव में वह पहला विषय सुख ही सुख भासा करता है। उस ही की महिमा गाया करता है। उन योगियों की दशा तुझ से कुछ भिन्न प्रकार की है। उन्होंने केवल भावुकता वश, किसी मोक्ष की या किसी भावी काल्पनिक सुख की अभिलाषा वश यह महान त्याग किया हो, ऐसा नहीं है। किसी बाहर के दबाव या भय वश, या किसी लोकेषणा वश त्याग किया हो ऐसा भी नहीं है। एक शक्ति है जो अन्तरंग से उन्हें प्रेरणा दे रही है। उनके अन्दर एक उल्लास सा, एक उत्साह सा उत्पन्न कर रही है-यह बात करने के लिए। और वह शक्ति है शान्ति का उत्तरोत्तर अधिकाधिक वेदन, उसमें तृप्ति व उसके प्रति का बहुमान। भला एक भिखारी को जिसके पल्ले एक सूखी ज्वार की रोटी बंधी है। यदि आप पेट भर खीर परोस दें तो क्या वह ज्वार की रोटी खायेगा? क्या उसे फैंक न देगा? बस तो अलौकिक शांति के अत्यन्त मधुर व सुगन्धित व्यञ्जन के अनुभव में क्या उसके हृदय में इस धूल का मूल्य रह जायेगा? क्या इसे भोगेगा? क्या इसे त्याग न देगा? क्या उसके त्यागने में दुःख होगा उसे?

किसी भावी सुख के, या मोक्ष नाम के किसी पदार्थ के, या सर्वज्ञता के, लालच से छोड़ देता हो उसे, यह भी असम्भव है। क्योंकि भविष्य के सुख की आशा के आधार पर वर्तमान का सुख छोड़ना मूर्खता है। मूर्खता क्या, छोड़ा ही नहीं जा सकता। "कल को दिवाली है। बड़े बड़े स्वादिष्ट व्यञ्जन खाने को मिलेंगे।" इस इच्छा के कारण क्या कोई भी ऐसा है जो आज का भोजन छोड़ दे? "तुम्हारी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हुआ। यह महल मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम्हीं ले लेना। लो वसीयत किये देता हूँ।" किसी सेठ के ऐसा कहने पर, क्या कोई भिखारी भी अपनी कुटिया में तुरत आग लगा देने को तैयार है? चलो तुम्हें बी० ए० की डिग्री दिला देता हूँ, परन्तु आज सोना न होगा।" ऐसा सुन कर क्या कोई भी सोना त्याग देगा? वे कोई दूसरे देश के वासी या कोई अलौकिक जन हों, और त्याग करना उनके गले मढ़ दिया गया हो, क्योंकि मुक्त बनने का सर्टीफिकेट प्राप्त कर चुके हैं, इस लिये त्यागना पड़ता है उन्हें, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि बाह्य में तो ऐसी शक्ति कोई दिखाई नहीं देती, और अन्तरंग से इस प्रकार छूटना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार किसी राजा की आज्ञा मात्र से कोई अपना घर छोड़ने को तैयार नहीं। हाथ का एक छोड़ कर वृक्ष पर के दो की इच्छा करना बुद्धि-मानों का काम नहीं। और फिर तीर्थंकर प्रभु? वह तो कभी ऐसी मूर्खता कर ही नहीं सकते? गृहस्थ में रहते रहते हुये ही उन्हें किसी अनोखी शान्ति का वेदन होने लगता है-पूर्व अभ्यास वश। जिस शान्ति के अलौकिक आकर्षण के सामने इस बाह्य राज्य आदि सम्पदा का तेज मन्द ही नहीं पड़ जाता, बल्कि कटु लगने लगता है, वह सब वातावरण अन्दर से कोई जंजाल सा दीखने लगता है। वह साक्षात् कुछ ऐसा भासने लगता है कि मानों काटने को दौड़ रहा हो। बस इसी शक्ति की प्रेरणा पर आधारित है उनका त्याग।

३ वैराग्य का बल अभ्यास

तीर्थंकर व महात्मा होने के कारण वह किसी दूसरे देश के वासी हों, दूसरी जाति के हों, ऐसा भी नहीं है। मेरे ही चैतन्य देश के वासी तथा मेरी ही जाति के हैं। जो काम वह कर सकते हैं वह मैं भी कर सकता हूं। परन्तु उनके त्याग को देख कर मुझे जो घबराहट होती है, उसका कारण यही है कि मैं यह समझ बैठता हूँ, कि उन्होंने अकस्मात् ही इतना बड़ा साहस कर लिया है, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा उनका केवल वर्तमान भव ही देख पाता हूँ। इस वर्तमान के साहस के साथ, भूतकाल में अर्थात् पूर्व भवों में किया गया कितना अभ्यास है वह नहीं देख पाता। यह बिल्कुल मुझ जैसे गृहस्थ थे कभी, और सम्भवतः मुझ से भी हीन अवस्था में थे-अपने पूर्व भवों में। वहां से ही इन्होंने धीरे धीरे अन्तरङ्ग में विरक्तता उत्पन्न करके, अभ्यास प्रारम्भ किया था। आज वह जो अकस्मात् त्याग करता दिखाई दे रहा है वही सिद्धहस्त जीव है। अतः भाई! तू भी मत डर। साहस करके यदि ऊपर के प्रकरणों अनुसार धैर्य पूर्वक अभ्यास करना प्रारम्भ करे, तो अपने भविष्यत् में, अपने आने वाले भवों में अवश्य ही तू भी अकस्मात् त्याग करने की शक्ति को उत्पन्न कर लेगा। कटड़ी को उठाते उठाते भैंस उठाई जा सकती है, इसी से अभ्यास की इस मार्ग में बड़ी महत्ता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि "भविष्य में कर लूंगा। आज के निकृष्ट काल तथा हीन संहनन में तो करना ही सम्भव नहीं", ऐसे विचारों द्वारा शक्ति को छिपाया जाये। यदि आज कुछ न करेगा तो भविष्य में भी कुछ न कर सकेगा, भले संहनन बढ़ जावे पर उसका प्रयोग तो अधोगति में जाने के प्रति ही होगा।

इस प्रकार अन्तरंग से विषय भोगों सम्बन्धी सामग्री के प्रति यदि विरक्तता करता

हुआ साहस पूर्वक धीरे धीरे उनका त्याग करने का अभ्यास करता रहे, तथा प्राण संयम में कथित हिंसा के विकल्पों (अध्याय नं० २६) का भी त्याग करने का अभ्यास करता रहे, तो एक दिन ऐसा आयेगा, कि तेरे मन की वह घुण्डी खुल जाये, जो दृढ़ता पुर्वक त्याग करने का साहस तुझ में उत्पन्न होने नहीं देती। अर्थात् उन्हीं क्रियाओं को व्रत रूप से तुझे अंगीकार करने नहीं देती, व्रत अर्थात् उन उन बातों से अन्तरंग में विरक्तता, उदासीनता व हटाव तथा बाह्य में उनके प्रति प्रवृति करने में ब्रेक लगाने का प्रयत्न। जब तक अन्तरंग से वह घुण्डी या ग्रन्थी नहीं खुलती तब तक भले ही अभ्यास रूप से सब कुछ भी त्याग कर दे, व्रती नहीं कहला सकता। और व्रत के बिना आगे बढ़ा नहीं जा सकता। सो ही आगे दर्शाता हूँ।

३१
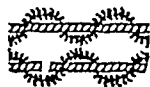
—: व्रत व शल्य :—

दिनांक २४ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६०

१—शल्य का स्वरूप, २—अणुव्रती, ३—योगियों का पराक्रम, ४—परीषह जय, ५—महाव्रती, ६—गृहस्थी को व्रतों व मुनियों की बात बताने का प्रयोजन।

१ शल्य का स्वरूप व्रत धारण करने में बाधक शल्य की बात चलती थी, वह घुण्डी या शल्य क्या है? इसको स्पष्ट करता हूँ, देखिये आज तक आपने मांस खाकर नहीं देखा। आगे भी खाने की सम्भावना नहीं। परन्तु उसको त्यागने के लिये कहा जाये तो अनेकों विकल्प सामने आकर खड़े हो जाते हैं। यदि कल को बीमार हो जाऊं और डाक्टर बतादे मांस खाना तो? व्रत आज तक धारण किया नहीं, अतः यदि भङ्ग हो गया तो? और इसी प्रकार अन्य सर्व विषय सम्बन्धी त्याग की बात आ पड़ने पर यह 'तो' का भाव बिना किसी के बताये अन्तरंग में उत्पन्न हो जाता है। और मेरा कार्य रोक लेता है। मुझे प्रतिज्ञा लेने या व्रत धारण करने को आज्ञा नहीं देता। यह 'तो' ही वह ग्रन्थी है, जिसका नाम आगम भाषा में शल्य है।

यद्यपि छोटी सी बात दीखती है, परन्तु देखिये कितनी घातक है कि व्रत लेकर आगे बढ़ने ही नहीं देती। त्याग रहते हुए भी त्याग करने नहीं देती, यही तो अन्तर है एक व्रती गृहस्थ व अव्रती गृहस्थ में। परन्तु अभ्यास करते करते जब यह विश्वास हो जाता है कि इतने दिन तक इस विषय का प्रयोग जीवन में नहीं किया। कोई विशेष बाधा तो आई नहीं, और यदि थोड़ी बहुत आई भी तो उसको जीतने में सफल रहा। फिर यदि इस त्याग को व्रत रूप से ग्रहण करले तो कोई कठिनाई न आयेगी। तब एक साहस उत्पन्न होगा, और अन्तरंग की 'तो' को उल्लङ्घ कर उसी अभ्यास रूप त्याग को व्रत की कोटि में ले आयेगा। व्रती को भी अव्रती बनाये रखने वाली इस ग्रन्थी को तोड़ने में बड़े बल की आवश्यकता है। वह बल जिसके प्रगट हो जाने पर कि उसमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि प्राण जाये तो जाये, लोक की सारी बाधायें व पीड़ायें एकत्रित होकर आ जायें, तो भले आ जायें, इस दिशा विशेष में कदापि प्रवृति न करूंगा। देखिये कितना महान अन्तर पड़ गया है इस एक छोटी सी घुण्डी के खुलने से। इसी लिए थोड़ा भी त्याग करने वाला निःशल्य व्रती है। और बहुत अधिक त्याग रखने वाला भी शल्यवान अव्रती है।

२ अणुव्रती अव्रती से इस प्रकार अभ्यास वश व्रती की कोटि में आकर गृहस्थ अहिंसा, सत्य, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य व धन संचय त्याग इन पांच व्रतों को आंशिक रूप से ग्रहण कर लेता है अर्थात् अहिंसा के सर्व भेदों में से चलने फिरने वाले जीवों की पीड़ा सम्बन्धी यथा योग्य हिंसा, झूठ,चोरी व्यभिचार व धन संचय का क्रम से त्याग करने लगता है। अर्थात् पहले संकल्प पूर्वक हिंसा के विकल्पों के त्याग का व्रत लेता है, फिर विरोधी सम्बन्धी का भी व्रत ले लेता है, और फिर क्रम से उद्योगी सम्बन्धी व आरम्भी सम्बन्धी हिंसा के त्याग का भी व्रत ले लेता है। रुपये पैसे का, घर, दुकान व ज़मीन का, सोना चांदी का, कपड़े जेवर का, बर्तन व फ़र्नीचर का, और भी सर्व परिग्रह का परिमाण बांध लेता है। अर्थात् "अमुक अमुक वस्तु इससे अधिक न रखूंगा। प्रति दिन इतने समय से अधिक व्यापार न करूंगा। इतने क्षेत्र से बाहर व्यापार करूंगा न कराऊंगा। चिट्ठी पत्री भी न लिखूंगा। प्रतिदिन इतने से अधिक न कमाऊंगा प्रति रुपया इतने से अधिक नफ़ा न कमाऊंगा।" इत्यादि। और इस प्रकार विषय भोगों की लालसा व दैनिक आवश्यकतायें कम हो जाने के कारण, बड़ा सन्तोषी जीवन बिताने लगता है। यहां इस गृहस्थ का नाम अणुव्रती या श्रावक रख दिया जाता है।

यहां भी वह रुकता नहीं। बराबर बढ़े चले जाता है-पूर्णता पर लक्ष्य रख कर। अधिक अधिक उपवास करने का अभ्यास करके क्षुधादि बाधाओं को किञ्चित् जीत लेता है। अधिक अधिक समय सामायिक या आत्म चिन्तन में लगाता हुआ, अन्य प्राकृतिक बाधाओं को भी किंचित् जीत लेता है। भोगों सम्बन्धी नित्य प्रयोग में आने वाली खाद्य व अन्य सामग्री के ग्रहण की सीमा को संकोचता हुआ, इन्द्रियों को भी किंचित् जीत लेता है। पर-स्त्री का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब स्व-स्त्री का भी त्याग करके मैथुन को भी जीत लेता है। उद्योग को पूर्णतया छोड़ देता है। परिग्रह तथा घर बार छोड़ कर मन्दिर में रहने लगता है। अन्य लोगों से बात करनी भी बहुत कम कर देता है। तथा रात्रि भोजन का पूर्ण त्याग, सचित पदार्थों के ग्रहण का त्याग आदि अनेकों व्रत और भी धारण कर लेता है। यहां तक कि अभ्यास बढ़ता बड़ता ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है, जबकि पहनने के लिये एक लंगोटी और ओढ़ने के लिए एक चादर से अधिक कुछ भी पास नहीं रखता। पैसे को छूना भी पाप समझता है। माता पिता आदि से कोई नाता नहीं रखता, अर्थात् मुनि वत् हो जाता है। इस दशा में वह श्रावक की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

यहां भी नहीं रुकता। और आगे बढ़ता है। क्योंकि लक्ष्य पूर्णता पर है। उससे कम पर सन्तोष आने वाला नहीं है। बल बहुत बढ़ चुका है। शरीर को भी हट जाने के लिए ललकारता है। परन्तु जब यह देखता है कि यह पीछा छोड़ने को तैयार नहीं, तो अन्तरंग से स्वयं इसे त्याग देता है, अर्थात् इसे कह देता है कि देख मैं शान्ति पथ पर बहुत आगे बढ़ा जा रहा हूँ। गर्मी, सर्दी, मच्छर व भूख प्यास आदि की अनेकों बाधायें आयेंगी। ऐसे अवसरों पर अब पहले के समान मैं तेरी सेवा न करूंगा। अब मैं तेरा सेवक नहीं। तुझे मेरा सेवक बन कर रहना होगा।

३ योगियों का पराक्रम

देखिये तो योगियों की वीरता। इसी से तो यह मार्ग वीरों व क्षत्रियों का है, भोगों में आसक्त, तथा उन योगियों को कायर बताने वाले कायर जनों का नहीं। किस का साहस है इस प्रकार शरीर को दास बनाने का। इस वीरता को प्राप्त वह श्रावक लंगोटी व चादर भी छोड़ देता है और निर्भीक सिंह वृति को धार कर ग्राम ग्राम विचरण करने लगता है। बिल्कुल

अपरिचित वातावरण में जाकर रहता है, शरीर पर क्षुधादि की बाधायें आये तो उनको गिनता नहीं। धन्य है वह योगी।

यदि कदाचित् क्षुधा की तीव्र वेदना इतनी बढ़ जाये कि पूर्ण वीरता की कुछ कमी के कारण, अपनी शान्ति को स्थिर रखने में अपने को समर्थ न पाये, तो इस शान्ति की रक्षार्थ इस शरीर को रिश्वत देने अर्थात् आहार देने के लिये कदाचित् तैयार भी हो जाता है। तो भी विवेक को हाथ से जाने नहीं देता। याचना का भाव चित्त में नहीं लाता। केवल चुपचाप चला जाता है गली मोहल्लों में या घर की किसी ड्योढ़ी में भी। मुख से कुछ नहीं कहता। यदि स्वतः ही किसी गृहस्थ को उनका शान्त स्वरूप देख कर उनके प्रति कुछ भक्ति उमड़ आवे और "उनको आहार देने से मैं कृतार्थ हो जाऊंगा। आज मेरा जीवन सफल हो जायेगा। मैं आज धन्य हूँ कि इस शान्त मूर्ति ने मुझ अधम का स्थान पवित्र किया।" कुछ इस प्रकार के भाव अन्तरंग में उत्पन्न हो जावें। और आकर उनसे प्रार्थना करे कि प्रभु! आहार ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कीजिये। तब ही उस गृहस्थ के यहां आहार ग्रहण करते हैं अन्यथा नहीं। उसके हाव भाव से तथा उसके वचनालाप से यदि इस बात का भास हो जाये कि यह गृहस्थ किसी लोभ वश, या किसी श्राप आदि के भय वश, या समाज में मान हानि वश, मुझे आहार देना चाहता है। तो कदापि ग्रहण नहीं करता।

कहां तक वर्णन करूं उन योगियों की महिमा। देखिये उनकी करुणा बुद्धि। एक महीने का भूखा हो तो भी, यदि उस गृहस्थ के द्वार पर कोई कुत्ता आदि जन्तु या कोई फक़ीर आदि भोजन की आशा लेकर खड़ा हुआ दिखाई दे जाये, तो तुरत लौट आते हैं उसके द्वार सें। यह विचार कर कि मेरे कारण सम्भवतः यह गृहस्थ इन बेचारों को भोजन न दे। इनको पीड़ा पहुँचा कर मैं भोजन करूं यह कदापि नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त भी यदि यह अनुमान में आ जाये कि उसके कारण गृहस्थ को कोई भी ऐसी वस्तु विशेष जुटानी पड़ी है जो स्वयं वह आज प्रयोग में लाने वाला न था, या यह भोजन उसके लिए ही विशेषतया बनाया गया प्रतीत होता है, तो भी बिना खाये लौट आते हैं उसके द्वार से। इतना ही नहीं बल्कि भोजन देख कर यह अनुमान में आ जाये कि कोई भी पदार्थ इसकी रसोई में ऐसा बना हुआ है जिसमें त्रस जीव का घात अवश्य हुआ होगा तो भी बिना खाये लौट आते हैं तथा और भी यदि खाते खाते बीच में कोई मरा हुआ छोटा जीव जन्तु आदि या बाल आदि कोई शरीर का अंग पड़ा दिखाई दे जाये तो भी बीच में ही भोजन छोड़ कर चले आते हैं। क्योंकि वह जानते हैं कि इस प्रकार का अयोग्य भोजन लेने से उनकी शान्ति की रक्षा न हो सकेगी, बल्कि परिणामों में कुछ विकार आ जाएगा। शान्ति का उपासक किसी मूल्य पर भी शान्ति में बाधा डालने को तैयार नहीं।

४ परीषह जय कोटि जिह्वा भी उन महर्षियों की महिमा व सामर्थ्य का बखान करने में समर्थ नहीं है। बालों को अपने ही हाथों से नोंच कर फैंक देते हैं। इसलिए कि कहीं इस शरीर के प्रति फिर मुझे ममत्व उत्पन्न न हो जाये। कभी कभी सर्दी की कड़कड़ाती रातों में खुले आकाश के नीचे नदी किनारे जा ध्यान धरते हैं। कभी कभी अग्नि बरसाते सूर्य की किरणों के नीचे ज्येष्ठ की गर्मी में पर्वत की चोटी पर जा योग धरते हैं। कभी कभी बरसात की मूसलाधार वर्षा में वृक्ष के नीचे जा आत्म मग्न होकर निज शांति का आस्वादन करने लगते हैं। कितने भी मच्छर काटे उन्हें परवाह नहीं। केवल इसलिए कि कहीं यह शरीर उच्छृंखल न हो जाये। कितना पराक्रम है ऐसे महावीरों का।

शारीरिक ही नहीं मानसिक बाधाओं को भी जो तुच्छ मात्र समझते हैं। किसी को भी कभी श्राप नहीं देते, भले ही उनको गाली देता हो, या उनका तिरस्कार करता हो, या उन्हें मारने को उद्यत हुआ हो। अनेकों ऋद्धियां व दैवी शक्तियां होते हुए भी अपने ऊपर आये हुए बड़े बड़े उपसर्गों व पीड़ाओं को दूर करने का कभी प्रयत्न नहीं करते। ज्ञान आदि अपने गुणों की वृद्धि न हो पाई हो, तो भी केवल एक शांति मात्र के उपासक वे योगी कभी इस बात की चिन्ता नहीं करते, कि "देखो अमुक व्यक्ति तो बिना तपश्चरण किये या अल्प मात्र तपश्चरण करके भी कितना अधिक विद्वान है। कितने चमत्कार दिखाता है। और इतना तपस्वी व धैर्यवान होते हुए भी मुझे कोई भी शक्ति चमत्कार दिखाने की उत्पन्न न हुई। उसे तो भविष्य सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो गया है। पर मुझे अब तक भी नहीं हुआ है। इसकी तो ख्याति फैल रही है, पर मेरा कोई नाम भी नहीं लेता।" सर्व के प्रति सर्वदा कल्याण की भावना ही उत्पन्न हुआ करती है-ऐसे योगियों के भीतर। तथा अन्य भी बहुत कुछ। मैं तो कहने में असमर्थ हूं। ऐसे परम पवित्र पूर्ण त्यागी, यहां तक कि शरीर के भी त्यागी,अत्यन्त पराक्रमी वे नग्न दिगम्बर साधु महाव्रती कहलाते हैं। क्योंकि उनको व्रतों की पूर्णता उपलब्ध है।

५ महाव्रती वे चलने फिरने वाले जीवों के प्रति ही नहीं बल्कि पृथ्वी आदि वनस्पति पर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के प्रति भी दया रखते हैं। उन्हें भी अपने किसी कार्य से बाधा होने नहीं देते। कदापि भी अमिष्ट व अहितकारी शब्द उनके मुख से निकलता ही नहीं। मिट्टी मात्र का ग्रहण भी बिना दिये करते नहीं। स्त्री के साये से भी दूर रहते हैं। वस्त्र का ताना मात्र भी जिनके पास नहीं है। भोजन भी खड़े होकर केवल दिन में एक बार अपने हाथ में रखवा कर खा लेते हैं। फिर पानी भी पीने का विकल्प आने नहीं देते। इत्यादि अनेकों गुण प्रगट हो गये हैं उनमें। तभी तो उनके प्रभाव से उनके आस पास के क्षेत्र में पड़ा दुरभिक्ष भी टल जाता है। बे मौसम भी धान्य पक जाते हैं। सर्प नेवला आदि विरोधी जीव भी उनकी शान्त मुद्रा देख कर अपना वैर भूल कर शान्त हो जाते हैं। और कहाँ तक कहूँ। मुझ कीट में इतनी शक्ति ही कहां है कि उनके गुणों का वर्णन कर सकूं। शत इन्द्र भी आकर एक एक हज़ार जिह्वाओं से वर्णन करने लगें तो कर न सकें।

उपरोक्त महिमा सुनकर कुछ घबराया सा क्यों प्रतीत होता है? सम्भवतः विचारता हो कि इतने कष्ट का जीवन कैसे विताते होंगे। और जैसा कि आगे कहा जाने वाला है यदि मुझे भी वैसा करना पड़ा तो कैसे कर सकूंगा। इतना कठिन व कष्टप्रद मार्ग मुझ से न बनेगा। परन्तु घबरा नहीं। (पञ्च महाव्रतों का स्वरूप देखो उत्तम संयम अध्याय नं० ३८) तू भी उसी सिंह की सन्तान है, जिसकी महिमा उपर वर्णन की गई है। जब तक क्रम पूर्वक बढ़ता हुआ स्वयं वहां नहीं पहुँच जाता, तब तक ही घबराहट है। वहां पहुँचने के पश्चात आनन्द ही आनन्द, शान्ति ही शान्ति है। भला विचार तो सही वह भी तो तेरे जैसा ही मनुष्य है। उसका शरीर भी चाम हाड़ का बना हुआ है लोहे का नहीं। कष्ट हुआ होता तो कैसे टिकता ऐसी अवस्था में? रणक्षेत्र में अपने शत्रु को पीछे धकेलते क्षत्री योद्धा के शरीर में अनेकों बान लगे हों, लहू बह रहा हो, परन्तु उस समय उसको पीड़ा होती है क्या? सर कट जाने पर भी सात व्यक्तियों का घात कर देने की सामर्थ्य है उस योद्धा में। तो यह योगी तो अलौकिक वीर है, उपरोक्त सर्व उपसर्ग व परीषह सहने में उसे कष्ट नहीं होता। क्योंकि उसका उपयोग एक शान्ति को अनुभव करने में केन्द्रित रहता है।

६ गृहस्थी को व्रतों व मुनियों की वात वताने का प्रयोजन

इस प्रकार उपयोग को केन्द्रित करने तथा किञ्चित बाधाओं को जीतने का अभ्यास श्रावक अवस्था में यह अच्छी तरह कर चुका है। अतः तू भी यदि धीरे २ अभ्यास करता चले और शक्ति को न छिपाये, तो क्रम से पहले अव्रणुती श्रावक बनकर उसकी जघन्य स्थिति से उत्कृष्ट महिमा पूर्ण श्रेणी में पदार्पण करेगा। ऐसा निश्चय है। भय छोड़। शान्ति का उपासक बना है तो शरीर से ममत्व हटा। इस पर्याय में आने वाली बाधाओं से न घबरा। व्रतों में अनेकों दोष लग जाने सम्भव हैं। सम्भवतः इतने वड़े कि जो एक पापी को भी न लग सकें। उन पर से साहस न हार जाना। अभिप्राय की रक्षा करते हुए, बराबर दोष टालने का प्रयत्न करते रहना। अवश्य सफल होंगे। व्रतों में लगने वाले दोष अभिप्राय की सत्यता के कारण दोष गिनने में नहीं आते। और अभिप्राय की विपरीतता के कारण छोटे से छोटा दोष भी महान बन जाता है। इसका स्पष्टीकरण आगे 'अतिचार' के प्रकरण में किया जायेगा।

उपरोक्त व्रतों व परीषह जय की वात तुझे अभी व्रत आदि धारण करने की प्रेरणा के लिए नहीं कही जा रही है। वल्कि यह वताने के लिये कही जा रही है कि शान्ति का मार्ग उतने मात्र पर समाप्त नहीं हो जाता जितना कि तुझे गृहस्थ में रहते रहते करने के लिये कहा गया है। यदि उतने ही मात्र में सन्तोष धार लेगा तो शान्ति की पूर्णता न हो सकेगी। और पूर्णता की प्राप्ति के अभाव में सम्भवतः तुझे मार्ग पर ही अविश्वास हो जाये। अतः पूर्ण मार्ग जानना आवश्यक है। भले ही शक्ति हीनता वश उसका अंश मात्र ही जीवन में उतारा जाये, इसलिये यह जानना, आवश्यक है कि तेरे वाली उस प्रथम श्रेणी के अतिरिक्त, जिसका अब तक संवर निर्जरा के प्रकरणों में कथन चला आ रहा है। संवर और निर्जरा की दो और श्रेणियां भी हैं। जो तेरे वाली से उत्तरोत्तर ऊंची हैं। वल की वृद्धि हो जाने के पश्चात्, ही धारी जानी सम्भव हैं। उनमें से प्रथम की नं० २ श्रेणी तो श्रावक की है। जिसे वानप्रस्थ भी कहते हैं। और दूसरी नं० ३ वाली श्रेणी साधु की है जिसे तपस्वी, योगी, मुनि, ऋषि, साधु, सन्यासी आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

श्रावक व साधु का किञ्चित् स्वरूप इसी प्रकरण में आज वताया गया है। साधु का और कुछ विस्तार आगे के प्रकरणों में कहा जाने वाला है। या यों कह लीजिये कि साधु की संवर निर्जरा रूप उत्कृष्ट क्रियाओं का रूप वताया जाने वाला है। ऐसे जीवन से परिणत यह साधु जन ही वास्तव में गुरु कहलाये जाते हैं। जिनकी भक्ति व उपासना सम्बन्धी वात गृहस्थ सम्बन्धी संवर के प्रारम्भिक क्रम में वताई गई थी। इसका यह अर्थ भी न समझ लेना कि साधुओं की क्रियायें सर्वथा आपके करने की नहीं हैं। और गृहस्थ की क्रियायें सर्वथा साधु को करने की नहीं हैं। बल्कि यह समझना कि यह क्रियायें मुख्यतया साधुओं को और आंशिक रूप से गृहस्थ को भी होती हैं। आगे चल कर आप स्वयं जान जाओगे कि अब तक जो क्रियायें आपको करने के लिये कहा गया है, वे उन्हीं क्रियाओं का अल्प रूप हैं। और इन क्रियाओं के अतिरिक्त भी यह सब वताई जाने वाली क्रियायें गृहस्थ के द्वारा आंशिक रूप में पाली जानी शक्य हैं। और उसके जीवन के प्रयोजन सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थियां सुलझाने वाली हैं। अतः ध्यान से सुन।

३२

—: साधु सम्बन्धित संवर :....

दिनांक १५ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६१

१—गृहस्थ व साधु की क्रियाओं में अन्तर, २—साधु धर्म के सात मुख्य अंग गुप्ति आदि, ३—समिति, ४—गुप्ति।

१ गृहस्थ व साधु की क्रियाओं में अन्तर

शान्ति पथ पर धीरे धीरे प्रगति करते हुए जब मैं इस तीसरी श्रेणी में पदार्पण कर जाऊंगा। अर्थात् साधु बन जाऊंगा तब मेरा जीवन कैसा होगा यह बात चलती है। अर्थात् साधु व गुरु का जीवन किस ढ़ङ्ग का होता है वह बात है। यद्यपि अत्यन्त उत्कृष्ट दशा को प्राप्त उस योगी की महिमा कल वाले प्रकरणों में कुछ आ चुकी है। परन्तु उतनी उत्कृष्ट व कष्ट प्रद सी दीखने वाली अवस्था में वह स्थिति कैसे पाता है, वह कैसी विचार श्रेणियां हैं। जिनके आधार पर कि वह इस दशा में भी शान्ति का ही वेदन करता है, तथा वह किस जाति का पुरुषार्थ है जो कि वह करता है, यह अनेकों प्रश्न उपस्थित हैं। अतः उसकी जीवन प्रवृति की एक हल्की सी रूप रेखा खेंचने का प्रयत्न करता हूँ।

साधु को मुख्यतः अन्तरङ्ग का पुरुषार्थ अधिक वर्तता है। आपको भी इस गृहस्थ दशा में मुख्यतः अन्तरंग का पुरुषार्थ करने को ही कहा गया है, परन्तु दोनों के प्रयोजनों में कुछ अन्तर है। आपको तो मुख्यत. अन्तरंग का करने को इसलिए कहा जा रहा है कि आप बाह्य के अधिक त्यागादि करने को असमर्थ हैं, और साधु को अंतरंग के पुरुषार्थ की मुख्यतः इसलिए है कि उसे बाह्य का सर्व त्याग हो चुका है। और कुछ करने को रहा नहीं, हां, बीच की श्रावक वाली भूमिका में, अन्तर व बाह्य दोनों पुरुषार्थों की मुख्यतः रहती है। यद्यपि संवर और निर्जरा तत्व की बात चल चुकी। परन्तु उसमें गृहस्थ के योग्य ही संवर व निर्जरा आई। अब से आगे के सर्व प्रकरणों में साधु सम्बन्धी संवर निर्जरा की बात आनी है।

साधु के संवर निर्जरा व गृहस्थ के संवर निर्जरा में वास्तव में कोई अलौकिक भेद नहीं है। केवल जघन्यता व उत्कृष्टता का भेद है। जो क्रियायें आपको जघन्य रूप में बताई गई वही क्रिया या विचार साधु उत्कृष्ट रूप में करता है। इसलिए साधु का धर्म जुदी जाति का हो और गृहस्थ का दूसरी जाति का, ऐसा नहीं होता। प्राण संयम के प्रकरण में आपको संकल्पी हिंसा के अतिरिक्त अन्य हिंसाओं की ओर यत्नाचार वर्तने को कहा गया था। यहां यद्यपि उद्योगी आदि हिंसाओं का पूर्ण त्याग

श्रावक दशा में ही वह साधु पूर्ण कर चुका है। इसलिए उन हिंसाओं का तो प्रश्न ही नहीं है। परन्तु इस शरीर के साथ रहने के कारण उसे जो कुछ भी किञ्चित् मात्र क्रियायें वाहर में करनी पड़ती हैं ? उनमें भी उसे अत्यन्त उत्कृष्ट यत्नाचार वर्तता है। यत्नाचार का नाम समिति है ? तथा इस शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण का प्रयत्न करता हुआ, वचन व काय की क्रियाओं को भी अपने काबू में करता है।

२ साधु धर्म के सात मुख्यतः अङ्ग गुप्ति आदि

इसके अतिरिक्त अन्तरङ्ग में भी शान्ति में पूर्ण स्थिरता अभी प्राप्त नहीं हो पाई है, अतः कुछ शुभ रागात्मक विकल्प कभी कभी आ हो जाते हैं। पर नियन्त्रण पाने के लिए भी अत्यन्त उत्कृष्ट यत्नाचार वर्तते हुए मन को काबू में करता है। इन मन वचन काय की क्रिया को काबू में करने को ही गुप्ति कहते हैं। यद्यपि अभ्यास करते करते क्रोध, मान माया व लोभ कषायों को इतना क्षीण कर दिया हैं कि कोई दूसरा यह नहीं जान सकता कि इस साधु में उनकी रेखा मात्र भी शेष रही हो। कदाचित् व किञ्चित् भी वे कषायें उसके वचनों के द्वारा अथवा मुखादि शारीरिक विकारों के द्वारा वाहर में प्रगट नहीं होने पाती। परन्तु फिर भी वह स्वयं उन्हें अवश्य अपने मन में कभी कभी उत्पन्न होते हुए अनुभव करता है। पूर्व कथित संस्कार विच्छेद के क्रम में उसकी इस समय की स्थिति आठवें नम्वर की है। जहां कि अन्तर में दोप उत्पन्न होते ही, वह उसे वहां ही दबा देने का प्रयत्न करता है। और वाहर में वह प्रगट होने नहीं पाता। इनके अतिरिक्त इन्द्रिय व प्राण संयम सम्बन्धी भी कुछ सूक्ष्म दोषों से वचने के लिए उसे कुछ विशेप विचारणायें अन्तरङ्ग में ही उत्पन्न करनी पड़ती हैं। इन विचारों को मुख्यतः दश श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। इन १० प्रकार की विचार की श्रेणियों को दश लक्षण धर्म कहते हैं।

बिल्कुल नग्न खुले आकाश के नीचे अकेले व किसी की भी सहायता से निरपेक्ष, जीवन बिताने के लिए उसे कितनी शारीरिक व मानसिक वाधायें सहनी पड़ती होंगी। यह यद्यपि गिनाई नहीं जा सकतीं पर फिर भी अनुमान में आ जाने के कारण उनको वाईस कोटियों में विभक्त करके बताया जाता है। इन वाईस प्रकार की वाधाओं को परीषह कहते हैं। इन अत्यन्त असह्य पीड़ाओं को शान्ति पूर्वक झेलने की सामर्थ्य उनको कौन प्रदात करता है ? वह है उस ही की अपनी अन्तरंग विचारणायें, जो वारह कोटियों में विभाजित की जा सकती हैं। इनको वारह अनुप्रेक्षा व वारह भावनायें कहते हैं। तथा उनका शान्ति व साम्यता में रङ्गा हुआ जीवन चारित्र कहलाता है। उस चारित्र में वाधक संस्कारों को तोड़ने के लिए वह जो अत्यन्त उत्कृष्ट पुरुपार्थ करते हैं उसका नाम तप है।

इस प्रकार १ समिति, २ गुप्ति, ३ दस धर्म, ४ परीपह विजय, ५ अनुप्रेक्षा, ६ चारित्र, व ७ तप यह सात उसके जीवन के मुख्य अंग है। इन अंगों के पहले के छः मे संवर की, तथा अन्तिम में निर्जरा की मुख्यतः है। यहां संवर का प्रकरण है अतः क्रम से उपरोक्त छः अङ्गों का वर्णन किया जाएगा :—

३ समिति

इनमें पहला अंग है समिति (अर्थात् सम + इति) जिन का अर्थ है अन्तरङ्ग में निज शान्ति की प्राप्ति के प्रति, और वाहर में अन्य जीवों की शान्ति की रक्षा के प्रति, प्रयत्न करते हुए सम्यक् प्रकार गमन करना। अतः वास्तविक समिति तो उसे उतनी ही देर रह सकनी सम्भव है, जितनी देर कि वह

निज शाँति में स्नान करता ध्यानस्थ अवस्था में स्थित रहता है। क्योंकि पूर्णतया शांति की प्राप्ति व अन्य जीवों की रक्षा तभी सम्भव है, अन्य शारीरिक क्रियायें करते हुए नहीं। परन्तु अधिक समय उस अवस्था में स्थिति पाने की सामर्थ्य न होने के कारण वह उस दशा से च्युत हो जाता है और कुछ शारीरिक व वाचसिक क्रियाओं में प्रवृति करने लगता है। यद्यपि अन्य लौकिक प्रयोजनों से तो यह क्रियायें आज होनी असम्भव है, क्योंकि उस वातावरण से, अन्तर व वाहर से पूर्णतया नाता टूट चुका है। परन्तु शरीर के साथ लगे रहने के कारण इसे भोजन देने के लिये, या शौचादि क्रियाओं के लिए कदाचित् गमनागमन करना पड़ता है। कभी कभी जिज्ञासु जीवों पर करुणा करके उपदेश देने का भाव भी जागृत हो जाता है। यद्यपि अन्य सर्व परीग्रह का त्याग कर चुका है, अव भी शौचादि निवृति के लिए, एक कमण्डल, च्युत दशा में मन स्थिर रखने के लिए दो चार शास्त्र, छोटे छोटे जीव जन्तुओं की रक्षा के लिए केवल एक पिछी वह रखता है। इन वस्तुओं को तथा शरीर को उठाने, धरने, सुलाने, वैठाने आदि की क्रियायें भी इसलिए उसे करनी पड़ती हैं। इन सर्व शारीरिक व वाचसिक क्रियाओं में उसे अत्यन्त यत्नाचार वर्तता है। च्युत दशा में यत्नाचार की यह प्रवृति ही अन्य जीवों की रक्षा के निमित्त होने के कारण समिति कहलाती है ?

पृथ्वी पर गमन करते हुए वह वरावर चार हाथ आगे दृष्टि करके चलता है कि कहीं कोई चींटी आदि छोटा जन्तु उसके पांवों के नीचे आकर या शरीर के किसी भी अंग से आघात पाकर मर न जाये, पीड़ित न हो जाये। यहाँ तक कि उसके मार्ग में कुछ प्राणी ऐसे वैठे हों कि जो उसके अस्कमात् निकट पहुंचने पर उससे डर कर भागने लगे, तो उस मार्ग को ही छोड़ देता है। ऊपर बताई गई अपने से सम्वन्धित किसी भी वस्तु को उठाते, धरते, सुलाते या वैठते भी उस वस्तु तथा स्थान को कोमल पिछी से अच्छी तरह शोध या झाड़ कर हो रखता उठाता है कि कहीं ऐसा न हो कि उस वस्तु के नीचे आकर या उसका आघात पाकर कोई छोटा जन्तु, जिसका उस स्थान पर आ उस वस्तु पर उस समय वैठा हुआ होना सम्भव है मर न जाये या पीड़ित न हो जाये। मल मूत्र क्षेपण करते समय भी यह यत्न वरावर वना रहता है। और इसलिए किसी साफ मैदान में ही अच्छी तरह देख कर या शोध झाड़कर मल क्षेपण करता है। नाली आदि में नहीं। क्योंकि ऐसे गन्दे स्थानों में वड़ी जीव राशि पड़ी हुई होती है। जो कि इस मल से मर जानी या वाधित हो जानी सम्भव है। अपने वैठने उठने के स्थान से यथा योग्य दूरी पर ही क्षेपण करता है। क्योंकि निकट करने से मल की दुर्गन्धि के कारण स्वयं उसे अथवा उसके शिष्यादि को वहां वैठना भी दूभर हो जाये। तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिए ऐसा करना अच्छा भी प्रतीत नहीं होता। कितनी दूर पर क्षेपण करे इसका निश्चय मल की जाति पर से होता है। विष्टा का क्षेपण वहुत अधिक दूर मूत्र का क्षेपण अपने से कुछ दूर तथा कफ आदि के क्षेपण अपने से थोड़ा दूर पर कर देना ही पर्याप्त है। परन्तु तीनों ही अवस्थाओं में गुप्त स्थान होना चाहिये। इन गमना-गमन व उठाने-धरने, या मल क्षेपण की क्रियाओं के अतिरिक्त, उपदेश देते समय या अपने किसी शिष्य या अन्य साधु से वात करते हुए भी उसे यह यत्नाचार वरावर वना रहता है, कि उसके मुख से कोई भी शव्द ऐसा न निकलने पाए कि श्रोता के लिए अहितकारी हो, अथवा उसे कुछ वुरा लगे। भोजन ग्रहण करते समय भी वरावर यह यत्नाचार वर्तता है कि भोजन किसो ऐसी वस्तु से अथवा किसी ऐसी रीति से न वनाया गया हो कि उसके कारण किसी छोटे या वड़े जीवों को पीड़ा पहुँची हो, अथवा पहुँचने की सम्भावना हो। या भोजन ले लेने से किसी अन्य की उदर पूरण में तो वाधा आने की सम्भावना नहीं है। इस दातार पर तो भोजन वनाते समय कोई विशेष भार नहीं

पड़ा है, या पड़ना सम्भव नहीं है इत्यादि। इस प्रकार उत्कृष्ट यत्नाचार में प्रवृत होता हुआ उसका जीवन पूर्ण व्रती जीवन है। पूर्ण संयमी जीवन है।

४ गुप्ति मन वचन काय को पूर्ण नियन्त्रित रखने का नाम गुप्ति है। वास्तव में तो इसकी पूर्णता भी ध्यानस्थ अवस्था में ही सम्भव है, जहां शरीर निश्चल, वचन मौन, मन से भी अन्तर्जल्प रूप वचनों का अभाव और मन की शान्ति में एकाग्रता पाई जाती है। पर वहां से हट जाने पर वह योगी बराबर यह प्रयत्न रखता है कि, "अव्वल तो शरीर को हिलाने जुलाने का काम न करूंगा। करूंगा तो थोड़ा करूंगा। और वह भी समिति में बताये अनुसार यत्नाचार पूर्वक करूंगा। अव्वल तो मौन रहूँगा और यदि बोलना भी पड़ा तो थोड़ा बोलूंगा और उसमें भी शान्ति व स्व-पर हित सम्बन्धी बात ही बोलूंगा, वह भी निष्प्रयोजन न बोलूंगा, प्रयोजन वश भी अत्यन्त मिष्ट भाषा में बोलूंगा। क्रोधादि से रंगे शब्दों को तो गृहस्थ दशा में ही त्याग कर चुका था। मन द्वारा केवल निज शान्ति के अतिरिक्त कुछ सोचूंगा नहीं। यदि सोचना भी पड़े तो अधिक देर तक नहीं सोचूंगा। बीच बीच में लौट कर पुनः पुनः शान्ति को स्पर्श करता रहूँगा। कुछ देर भी सोचने में लौकिक विकल्प न आने दूंगा। शान्ति की प्रेरणा सम्बन्धी ही आने दूंगा" इत्यादि। इस प्रकार हमारी भांति स्वयं मन वचन व काय के आधीन न रह कर उनको अपने आधीन बना लेता है। जो काम वह चाहेगा वही उन तीनों को करना पड़ेगा। जो वह न चाहेगा, उसे वह न कर सकेंगे। जो वह कहेंगे उसे वह साधु न करेगा। हमारी भांति वह योगी उनका दास न होगा। बल्कि वह तीनों होंगे उसके दास। और इसलिए यह योगी त्रिगुप्ति गुप्त कहलाता है। कितना महान है उनका पराक्रम व बल।

३३
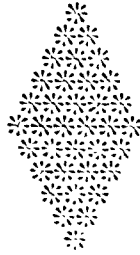
—: उत्तम क्षमा :—

दिनांक १५ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ६२

१—दश धर्मों में एकत्व, २—क्षमा, व क्रोध का अर्थ ३—आदर्श गृहस्थ की क्षमा, ४—साधु के अन्तरंग शत्रु, ५—चार विकट परिस्थितियों में उठने वाले परिणाम, ६—गृहस्थ को भी ऐसा करने की प्रेरणा।

१ दश धर्मों में एकत्व वीतरागी साधु की बात चलती है। अन्तरङ्ग में किसी भी जाति की कषाय उत्पन्न हो जाने का अवसर हो जाने पर स्वभावत: ही उसमें किस जाति के विचार उत्पन्न होते हैं, यह प्रकरण है। उन परिणामों को मुख्यता से दश जातियों में विभक्त किया जाता है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। यह दशों परिणाम क्रमश: क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, जगुप्सा, रति, अरति, चोरी और मैथुन रूप कषायों के विरोधी हैं। यह दशों कोई पृथक पृथक धर्म हों ऐसा नहीं है। एक ही जीवन में यथा योग्य अवसरों पर स्वभावत: जो परिणाम उत्पन्न हुआ करते हैं, उन परिणामों का विश्लेषण करके ही यह दश भेद किये गये हैं। वास्तव में एक ही धर्मी जीव के यह सर्व चिन्ह हैं, लक्षण हैं। इसी कारण इनको दश लक्षण धर्म कहा है। अन्तर मुख साधु जनों को ही मुख्यत: इतने उत्कृष्ट परिणाम वर्तते हैं। पर किसी धर्मी गृहस्थ के जीवन में इस जाति के परिणाम उठते ही न हों ऐसा नहीं है। कुछ जघन्य अंश में वहां भी इस जाति के परिणाम उन उन अवसरों पर हुआ करते हैं। पहले बताये गए गृहस्थ सम्बन्धी संवर निर्जरा तत्वों में, इनका कथन पुनरुक्ति के भय से नहीं किया गया है। वास्तव में वहां भी इनको यथा सम्भव रूप में लागू कर लेना। अर्थात् यथा शक्ति उन पूर्व क्रियाओं के अतिरिक्त इनको भी अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करना। अशान्ति से आपकी रक्षा करने के लिए यह विशेष रूप में सहायी होंगे। इन दशों भावों के साथ उत्तम विशेषण लगा कर निर्देश किया है। इसका अर्थ यह है कि परिणामों का आधार कोई भी लौकिक तत्व नहीं है। बल्कि जीव अजीव तत्व में कथित वस्तु स्वभाव व स्व पर भेद विज्ञान है। शांति का आश्रय है, लौकिक भोग सामग्री का आश्रय नहीं है।

२ क्षमा व क्रोध का अर्थ प्रथम उत्तम क्षमा की बात चलेगी। क्रोध अग्नि को बुझाने के लिये क्षमा के अतिरिक्त और कोई शीतल धारा नहीं है। क्षमा का अर्थ ही शान्ति है। परिणामों में क्रोध न आना ही क्षमा है। वास्तविक क्रोध है वह भूल, जिसके कारण अपनी महिमा, अन्तरंग में जागृत होती

नहीं। भोगादि सामग्री में अपने सुख का आभास करके, अविनाशी शान्ति की अवहेलना करना अनन्ता क्रोध है। "पर पदार्थों का मैं कुछ कर सकता हूँ, और पर की सहायता के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता", ऐसी धारणा के द्वारा अपनी शक्ति का तिरस्कार करना, उसके प्रति अनन्त क्रोध है। प्रभो! अपनी शक्ति को पहिचान। दूसरे की ओर देखना छोड़। अपने लिए प्रयास कर। अपनी शक्ति से प्रयास कर। दूसरे से सहायता मांग कर भिखारी मत बन।

गृहस्थ व साधु के जीवन में महान अन्तर है। इसलिए उनकी क्षमा में भी महान अन्तर है। गृहस्थ अवस्था में रहते हुए व्यक्ति को अनेकों अवसर क्रोध के आ जाते हैं, साधु को इतने नहीं आते। अल्प दशा के कारण गृहस्थ को तीव्र क्रोध भी आ जाता है। परन्तु साधु को अव्वल तो ऐसा कोई संयोग ही प्राप्त होता नहीं जो तीव्र क्रोध में निमित्त पड़े। और यदि कदाचित् आ भी पड़े तो वह उसे बाहर प्रगट होने नहीं देता। अन्दर ही अन्दर उसे शान्त कर देने का प्रयत्न करता है? क्रोध बाहर में प्रगट हुआ तो साधु काहे का?

अब पहले सुनिये गृहस्थ की उत्तम क्षमा। क्षमा कई प्रकार की हो सकती है। एक वह क्षमा जो किसी प्रतिद्वन्दी के द्वारा किसी भी प्रकार अपनी क्षति हो जाने पर, उससे बदला लेने की शक्ति का अभाव होने के कारण, चुप साध कर करली जाती है। परन्तु अन्तरंग में अभिप्राय यह पड़ा रहता है। "कि यदि शक्ति होती तो मजा चखा देता, बच्चू को। अच्छा, अब न सही, फिर देख लूंगा।" इस प्रकार अन्तरंग में कटु द्वेष की ज्वाला में भुनते हुए भी, बाहर से कह देना कि जा तुझे क्षमा किया। इसी के अन्तर्गत वह क्रोध भी आ जाता है, जो अन्तरंग में न जाने कब से चले आये द्वेष के रूप में पड़ा रहता है, और बाहर में उस व्यक्ति से खूब मित्रता सरीखी दिखाता है, सहानुभूति दर्शाता है, इत्यादि। इसको कीन्हा कहते हैं। इस प्रकार के दिखावटी भाव को तो लोक में भी क्षमा नहीं कहते, यहां तो कैसे कहें। वह तो प्रगट क्रोध से भी अधिक घातक है। क्योंकि बहुत लम्बे समय तक बराबर अन्तर में द्वेष बना रहता है।

दूसरी प्रकार की भी क्षमा है। जो प्रतिद्वन्दी को खूब मार पीट कर अपने अरमान निकाल लेने के पश्चात् उसे छोड़ कर तथा "जा माफ किया, फिर ऐसा न करना" ऐसा करने में आती है। वह भी सच्ची क्षमा नहीं है। कहने मात्र की है। क्योंकि शक्ति अनुसार जो कुछ करना था वह कर लिया। क्रोध निकाल लिया। फिर क्षमा क्या किया? यह भी द्वेष की कोटि में आ जाती है। परन्तु पहले के द्वेष और इस द्वेष में महान अन्तर है? पहले द्वेष की अपेक्षा इस द्वेष की शक्ति कम है। क्योंकि यह उतने मात्र समय के लिये रह कर समाप्त हो जाता है। पीछे मिलने पर उस व्यक्ति से कोई विशेष घृणा नहीं आती।

१ आदर्श गृहस्थ की क्षमा

असली क्षमा वह है जिसमें द्वेष का नाम न हो। गृहस्थ को यह कैसे सम्भव है? देखिये कर्तव्य परायण गृहस्थी के लिए अपना कर्तव्य निभाते हुए भी द्वेष करने की आवश्यकता नहीं। प्राण संयम के अन्तर्गत विरोधी हिंसा की बात आई है। (देखो प्रकरण नं० २६ प्रकरण नं० ३१) जो कि संयमी गृहस्थ अवसर आने पर कर गुजरता है। परन्तु गौर करके देखने पर वहां आपको द्वेष दिखाई न देगा। विरोधी हिंसा में जैसा कि बताया जा चुका है, शत्रु से युद्ध द्वेष वश नहीं किया जाता

वल्कि आत्म रक्षा या निज सम्मान की रक्षा वश किया जाता है। और इसलिए यदि कदाचित् शत्रु जीत लिया जाये. तो उसे तंग नहीं किया जाता। वल्कि शान्ति पूर्वक समझा बुझा कर तथा कुछ उपयोगी शिक्षायें देकर तुरत छोड़ दिया जाता है। उसकी दृष्टि केवल आत्म रक्षा थी, वह हो गई। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये था, इसलिए वह अवसर बीत लेने के पश्चात् वह व्यक्ति पहले की भांति ही दीखने लगता है। यदि पहले मित्र था तो अब भी मित्र दीखता है। यदि पहले सामान्य मनुष्य दीखता था, अर्थात् न उसमें शत्रु का भाव था न मित्र का तो अब भी वैसा ही दीखता है। यह गृहस्थ की सच्ची क्षमा है।

भारत के वीरों का यही आदर्श रहा है। भगवान राम ने रावण पर चढ़ाई की। परन्तु अन्तिम समय तक यही प्रयत्न करते रहे कि किसी प्रकार युद्ध न करना पड़े तो ठीक। शक्ति की कमी हो इसलिए नहीं, वल्कि इसलिये कि अन्तरंग में रावण के प्रति कोई द्वेप न था। उन्हें अपने सम्मान की रक्षा के लिए सीता दरकार थी। और कुछ नहीं। उन्हें रावण की स्वर्णमयी लंका की विल्कुल इच्छा न थी। और इसलिए अन्तिम समय तक यही सन्देश भेजते रहे-रावण के पास, कि सीता लौटा दो तो हम युद्ध न करेंगे, हमें तुमसे कोई शत्रुता नहीं है। पर रावण न माना तो क्या करे। सम्मान की रक्षा तो उस समय कर्तव्य थी ही। यदि तव उस समय उस कर्तव्य को पूरा न करते तो कायर थे। मुनि का यह कर्तव्य नहीं है। क्योंकि उस दशा में सीता व रावण समान हैं? उनका आत्म सम्मान शान्ति मात्र है। शान्ति में वाधक उनके अपने परिणाम ही उनके शत्रु हैं। इसलिये यदि युद्ध करते हैं तो अन्तर परिणामों से, वाहर के किसी व्यक्ति से नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टि में कोई शत्रु है ही नहीं। वह यदि वाहर में किसी व्यक्ति से युद्ध करें तो कायर हैं। दशा भेद हो जाने से कार्य में भेद पड़ जाता है। अपना कर्तव्य पूर्ण करने को वह (राम) यद्यपि रावण से लड़ा, परन्तु जीत लेने के पश्चात् उससे अनुचित् व्यवहार न किया। उसका सम्मान किया। लक्ष्मण को उसे गुरु स्वीकार करने की आज्ञा दी। सीता मात्र को लेकर वापिस आ गये। लंका की एक वस्तु भी न छूई। उन्हें आवश्यकता ही न थी किसी पदार्थ की। वताइये क्या राम को द्वेप था रावण से? यह थी एक गृहस्थ की क्षमा।

सिकन्दर ने पोरस को जीता। पर उससे द्वेष न रखा। उससे मित्रता कर ली। उसका देश भी उसे लौटा दिया। मित्र स्वीकार किया। और सम्मान किया। क्या सिकन्दर को द्वेप था? यह थी एक गृहस्थ की क्षमा।

पृथ्वीराज ने सात वार मुहम्मद गौरी को युद्ध में वन्दी वनाया। परन्तु हर वार उसे समझा कर छोड़ दिया। उसका कुछ भी न छीना। आत्म रक्षा करनी अभीष्ट थी-हो गई। आगे कुछ नहीं। मुहम्मद गौरी से कोई द्वेप न था। पृथ्वीराज वीर था। क्षमा उसका भूषण था। उसे अपने वल पर विश्वास था। अपनी क्षमा के कर्तव्य को भूल कर वह कायर वनना नहीं चाहता था। यह था भारत के वीरों का आदर्श। क्षमा कायरों को शोभा नहीं देती। यह वीरों का भूषण है। भले ही आज का युग उसे भ्रम वश पृथ्वीराज की भूल वताता हो। और उसके इस महान कृत्य को भारत की पराधीनता का कारण वताता हो। परन्तु जगत की यह वात स्वार्थ में से निकल रही है, कर्तव्य में से नहीं। पामरता में से निकल रही है वीरता में से नहीं। जिस क्षमा को कायरता कहा जाता है वह सच्ची वीरता थी।

भारत का ह्रास पृथ्वीराज की इस क्षमा के कारण नहीं हुआ, वल्कि हुआ जयचन्द की स्वार्थता के कारण से, कर्तव्य शून्यता के कारण से। दोषी की दृष्टि में दोप नहीं दीखता। वह गुण में से दोप निकालने का प्रयत्न करता है। आज के स्वार्थी कायर जगत की दृष्टि भी दोष खोजने के लिये पृथ्वीराज की ओर जाती है, पर जयचन्द की ओर नहीं, जो कि वास्तव में दोषी था।

४ साधु के अन्तरंग शत्रु

यह हुई गृहस्थ की उत्तम क्षमा। अव सुनिये साधु की क्षमा। उपरोक्त प्रकार किसी से युद्ध ठानने की स्थिति से वह निकल ही चुका है, और न उसके पास कोई पदार्थ ऐसा है, जिसका अपरहरण करने के लिये कोई उसे तंग करे। इसलिए क्रोध के वहुत ही कम अवसर उसे प्राप्त होते हैं ? यहां उन साधु नाम धारी व्यक्तियों का कथन नहीं, जो अपने शिष्यों पर या अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों पर वात वात में रुष्ट हो जाते हैं। उसे तो हम साधु कहते ही नहीं हैं चाहे नग्न क्यों न हो। संज्वलन कषायोदय के आधार पर अपने इस क्रोध की पुष्टि करना भी शोभा नहीं देता। क्योंकि संज्वलन कषाय वहुत मन्द होती है ? वह कभी वाहर में प्रगट होने ही नहीं पाती, क्योंकि गृहस्थ दशा में ही कषायों के संस्कारों का वहुत अंशों में विनाश कर चुका है ? एक साधक गृहस्थ को भी, वात वात पर क्रोध या अन्य कषाय उत्पन्न नहीं होती, तो साधु के तो कहने ही क्या ?

परन्तु फिर भी आहार आदि के अर्थ चर्या करते हुए कदाचित् नगर में जाना पड़े, और कोई अज्ञानी जन कृत या पशु कृत उपसर्ग या वाधा आ पड़े, तो हो सकता है कि क्रोध आ जाये। और उस महान योगेश्वर में तो शक्ति भी अतुल है। भले ही शरीर से निर्वल दीखता हो। पर वड़ी वड़ी ऋद्धियों का स्वामी है। चाहे तो एक दृष्टि डाल कर भस्म करदे उसे। या शाप देकर उसे कष्ट सागर में डुवा दे। परन्तु सच्चे योगियों का यह कर्तव्य नहीं। यदि अपनी ऋद्धियों का प्रयोग वाहर में किसी प्राणी पर करता है, तो वह योगी नहीं कायर है। योगी किसी को शाप नहीं दिया करते। ऋद्धियां होते हुए भी प्रयोग नहीं किया करते। स्व व पर कल्याण के लिए यदि करना भी पड़े तो कदाचित् कर भी ले। परन्तु किसी प्राणी को, दोषी को व निर्दोषी को, किसी भी उचित व अनुचित कारण वश, वह पीड़ा नहीं पहुंचाते, भले प्राण चले जायें। वह सिंह वन कर निकले हैं : शरीर को ललकार कर निकले हैं। इन प्राणों का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। वह लौकिक नहीं अलौकिक युद्ध लड़ते हैं, जो वड़े से वड़ा योद्धा भी लड़ने में समर्थ नहीं। वह अलौकिक शत्रुओं को जीतते हैं, जिन्हें कोई जीतने में समर्थ नहीं। उन कायरों पर क्या वार करे, जिसे कर्तव्य, अकर्तव्य व हित व अहित का भी विवेक नहीं। उसके शत्रु वाहर दीखने वाले मनुष्य व पशु नहीं हैं। चाहे साक्षात् शरीर को भक्षण क्यों न करते हों, इसको अग्नि में क्यों न डालते हों, उवलते हुए तेल के कढ़ाये में क्यों न फैंकते हों, वालों को क्यों न नुचवाते हों, शरीर को कितनी भी वड़ी से वड़ी पीड़ा क्यों न पहुंचाते हों, वे उन्हें शत्रु भी भासते नहीं। और भासे भी कैसे ? जिसे वह क्षति पहुंचा रहे हैं, वह शरीर उस योगी का है ही कव ? और जो उसका है वह उसे क्षति पहुंचा ही कव सकते हैं ?

उसके शत्रु तो अन्तरंग के उसके वे परिणाम हैं, जो उसे आनन्द में क्षति पहुंचा सकते हैं, अर्थात् उसकी शान्ति को भंग कर सकते हैं। अर्थात् स्वयं उसके कषायानुरंजित परिणाम ही उसके

वास्तविक शत्रु हैं ? उस योगी का वल कायर व्यक्तियों पर नहीं चलता, इन अत्यन्त सुभट शत्रुओं पर चलता है। क्या किसी क्षत्रिय की खड्ग किसी स्त्री पर या नपुंसक पर उठती है ? भले उसके प्राण चले जायें, पर क्या वह इनके प्रति युद्ध ठानता है, इनको अपना पराक्रम दिखलाता है ? धन्य हैं वह। उनकी दृष्टि विलक्षण है। वे व्यक्तियों को या प्राणियों या वस्तुओं को, उस दृष्टि से नहीं देखते, जिससे कि हम देखते हैं, और इसीलिये आश्चर्य होता है उनके साहस पर। वह सर्व को वस्तुपने की दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि में वह चैतन्य है और शरीर जड़ जिससे उनका कोई नाता नहीं। उनकी दृष्टि में लोक की कोई शक्ति उन्हें वाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं। क्योंकि वह अच्छेद्य हैं, अविनश्वर हैं, अदाह्य हैं, अर्थात् वह जल नहीं सकते। जब वे छिद भिद सकते ही नहीं, जल सकते ही नहीं, तो कोई कैसे उन्हें छेदे भेदे या जलाये ? छेदना भेदना तो रहा दूर, उसे कषायादि उत्पन्न कराने की शक्ति भी किसी अन्य में नहीं है। वह स्वयं क्रोधादि करें तो करें, कोई अन्य न करायेगा। यही तो है वस्तु की स्वतंत्रता, जो स्व पर भेद के प्रकरण में दर्शायी जा चुकी है। (देखो अध्याय नं० १२) विचारिये तो सही कि यदि आप मुझे गाली दें या मारें, और मैं क्रोध न करूं, तो क्या आप ज़बरदस्ती मुझे कह सकते हैं, कि मुझे क्रोध करना ही पड़ेगा ? आप मुख चीर सकते हैं पर क्रोध नहीं करा सकते।

देश भक्तों को अंग्रेजों ने जेल में ठोका, अनेकों कष्ट दिये, परन्तु क्या उनमें इतनी सामर्थ्य थी, कि उनसे जवरदस्ती उनकी अन्तरंग देश भक्ति के भाव को छुड़ा देते ? मानतुंग आचार्य को अड़तालीस तालों के अन्दर वन्द किया। परन्तु क्या उसके अन्दर जागृत हुई प्रभु भक्ति पर प्रतिवन्ध लगा सका कोई ? आज यदि मैं आपको कहूँ कि आपको क्रोध करना पड़ेगा, तो क्या आप करेंगे ? महात्मा बुद्ध को एक व्यक्ति ने खूव गालियां सुनाईं। सुनते रहे वह मुस्कराते २, शान्त भाव से। व्यक्ति चुप हो गया तो बोले कि "भाई ! यदि कोई वस्तु मैं तुम्हें दूं और तुम न लो, तो वह वस्तु किसकी ?" "जिसने दी उसकी।" तो वस आपने मुझे जो शब्द दिये, मैंने तो उन्हें लिया नहीं। क्योंकि मुझे क्रोध आया नहीं। क्रोध आ जाता तो सम्भवतः कह दिया जाता कि, मैंने उन्हें स्वीकार किया है। तो वताओ यह शब्द किसके ? आपके या मेरे ?" व्यक्ति शर्मिन्दा हो गया। शब्दों में यदि शक्ति होती तो उन्हें क्रोध आ जाता। परन्तु वह शक्ति उनमें थी ही कव ? ऐसी दृष्टि में कोई अन्य उन्हें वाधा पहुंचा सके, यह शक्ति किसी में कहां ? अपनी ही किसी कमजोरी के कारण कदाचित् क्रोधादि आते हैं। अतः वह कमजोरी ही उनका शत्रु है। उसके प्रति ही उनका युद्ध है। उनको ही अपना पराक्रम दिखाता है।

दिनांक १६ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ६३

५ चार विकट परिस्थितियों में उठने वाले परिणाम

(१) उत्तम क्षमा की वात चलती है। वह महा भाग्य दिव्य चक्षु योगी जन अपने अन्दर के शत्रुओं को कैसे जीतते हैं। देखिये अलौकिक जीवों के अलौकिक विचार। यदि कदाचित् उनका नग्न वेश देख कर कोई अज्ञानी कटु वचनों के वान चलाने लगे,

"देखो बैल सरीखा निर्लज्ज पशु कैसे चला जा रहा है। असभ्य कहीं का। नाम मात्र को मनुष्य है। मूढ़ बुद्धि। ढ़ोंग रचे फिरता है। देखो तो कितना भोला दीखता है ऊपर से, लुच्चा कहीं का", इत्यादि अनेकों वचनों द्वारा तीखे बाण ही फैंक रहा हो मानों। कलेजे को छलनी करते निकले चले जा रहे हों। तो वे परम योगेश्वर किस प्रकार विचार करते हैं? "अरे चेतन! क्यों कल कलाहट सी हो गई है तेरे अन्दर? क्या इन शब्दों को सुनने मात्र से? बस इसी विरते पर निकला है संस्कारों से युद्ध करने? अभी तो तुझे कुछ पीड़ा भी होने नहीं पाई। शरीर पर भी कोई आघात हुआ नहीं। यह व्याकुलता सी क्यों? बता तो सही कहां लगे हैं यह वचन तुमको? दांये, बांये, ऊपर नीचे किधर भी तो चिपके दिखाई नहीं देते। कैसे मानता है अपने को घायल? तू चैतन्य, ब्रह्म, अछेद्य व अभेद्य। उसका घायल होना तो असम्भव ही है, परन्तु यहां तो यह शरीर भी घायल हुआ नहीं। तुझे पीड़ा क्यों होने लगी? क्या शब्दों में इतनी शक्ति है कि बिना आघात पहुँचाये तुझे पीड़ित कर दें। परन्तु ऐसा होना तो असम्भव है। ऐसा माने तो तेरे में और लोक के अन्य जीवों में अन्तर ही क्या रहा? तू किस प्रकार अपने को शान्ति पथ का पथिक कह सकता है?

केवल इन दो चार शब्दों मात्र से तू क्यों अपनी शान्ति को अपने हाथ से लुटा रहा है? इतनी दुर्लभता से प्राप्त करके, इसे मुफ्त में ही दिये जा रहा है। कहां गई तेरी बुद्धि? कहां गया तेरा विवेक? अपने हित को क्यों नहीं देखता? इस समय विश्व में सर्वत्र ही तो किसी न किसी के द्वारा कोई न कोई शब्द बोला जा रहा है। उनके द्वारा क्यों विह्वल नहीं हो रहा है? यह भी तो विश्व में रह कर ही बोल रहा है। उन असंख्यात शब्दों में एक यह भी सही। जब उनके द्वारा तुझे बाधा नहीं हो रही, तो इसी के द्वारा क्यों हो? जहां यह कटु शब्द बोले जा रहे हैं, वहां इस विश्व में कहीं न कहीं मिष्ट व प्रशंसा के शब्द भी तो बोले जा रहे है। यदि सुनना ही है तो उनको क्यों नहीं सुनना?"

और फिर वह झूठ भी तो नहीं कह रहा है। दोष तुझमें होंगे तभी तो कहता है। वह तो बड़ा उपकार कर रहा है। तुझे तेरे दोष दिखा कर सावधान कर रहा है। कितना दयालु है वह? निष्कारण तेरा रोग दूर करने की भावना करता है? और यदि अनहोने दोष कह रहा है तो भी तो अच्छा ही है। भविष्य में वह दोष उत्पन्न न हो जायें; ऐसी भावना द्वारा, पानी आने से पहले ही पुल बांधने को कह रहा है। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है?" ऐसा और भी अनेकों इसी जाति के शीतल विचारों द्वारा, उस अवसर में अपने को शान्त रखता है। क्रोधाग्नि को उठने से पहले ही शमन कर देता है। यह है योगी की उत्तम क्षमा।

(२) यदि कदाचित् ऐसा अवसर आ भी पड़े कि कोई उसके शरीर को पीटने लगे, थप्पड़ मुक्के मारने लगे, तो भी वह वीर शान्ति को हाथ से नहीं देता। विचारता है कि "अरे चेतन! क्या हुआ? क्यों पीड़ा होती है? क्या कोई बाधा पहुँची है तुझे? तू तो अब भी अपनी सर्व शक्तियों को समेटे पूर्ण गुप्त अपने ज्ञान दुर्ग में बैठा है। क्या तुझे भी कहीं थप्पड़ लगा है? लगा है तो कहां, कहां पीड़ा हो रही है तुझे? क्या ज्ञान में? पर ज्ञान में पीड़ा होने का क्या काम, वह तो जानना मात्र है। कहां चोट लगी है तुझे? क्या शरीर की चोट को अपनी चोट समझ बैठा है? अरे! कहां चला गया तेरा विवेक? यदि शरीर की चोट को चोट माने तो, इस स्कन्ध पर पड़ी चोट को भी अपनी चोट

माननी चाहिये। क्या अन्तर है शरीर में तथा इस खम्बे में ? वह भी जड़ और यह भी जड़। यदि क्रोध आ जाता तो अवश्य माना जा सकता था, कि तुझे चोट लगी है। पर क्रोध उत्पन्न करने वाला तो तू स्वयं ही है। ये बेचारे प्राणी तुझको क्रोध कैसे उत्पन्न करायें ? कौन सा ऐसा हथियार है इनके पास ? और फिर यदि शरीर को कुछ बाधा पहुँची भी तो क्या हुआ, इसका विनाश तो न हुआ ? तेरे संयम में तो बाधा न पड़ी ? तेरा मार्ग तो न रुक पाया ? जितने दिन भी यह है उतने दिन तक तो तू पुरुषार्थ कर ही सकता है ? क्यों इतने मात्र से निराश सा हुआ जाता है ? इत्यादि अनेक प्रकार के विचारों द्वारा क्रोध पर प्रतिबन्ध लगा देता है। उठने से पहले ही उसे दबा देता है। यह है योगी की उत्तम क्षमा।

(३) और यदि कदाचित् ऐसा अवसर भी आ जाये कि कोई प्राण ही लेने को उद्यत हुआ हो। करोंत से चीरने को तैयार हो, बन्दूक ताने सामने खड़ा हो, अन्ध कूप में धकेलने को तैयार हो, आधा ज़मीन पर गाड़ कर दही छिड़क दी गई हो शरीर पर-उसे कुत्तों से नुचवाने के लिए, पकते हुए तेल के कढ़ाये में धकेलने को तैयार हो, कोल्हू में डाल दिया हो इस शरीर को, तो भी वह निर्भीक सिंह विचारता है कि "अरे चेतन ! क्या हुआ है ? क्यों सोच रहा है ? क्यों भयभीत सा दिखाई देता है ? क्या इसलिये कि मृत्यु आने वाली है ? अरे तो आने दे, कौन बड़ी बात है ? मृत्यु आना तो स्वभाव ही है। और फिर इस जर्जरित शरीर को छीन कर एक नये शरीर को प्रदान करने वाली मृत्यु से भय काहे का ? इसमें अनिष्टता काहे की ? यह तो तेरा सबसे बड़ा मित्र है, जो नवीन शरीर प्रदान करके तुझे तेरी साधना में सहायता देने को उद्यत हुआ है। कितना बड़ा उपकार कर रहा है यह तेरा ? यदि मृत्यु से ही डर लगता है तो अपनी वास्तविक मृत्यु से क्यों भय नहीं खाता ? जो क्षण क्षण प्रति तुझे हो रही है। एक कषाय हट कर दूसरी, दूसरी हट कर तीसरी और तीसरी हट कर चौथी। क्षण प्रति क्षण जो तेरी शान्ति का घात कर रही है। तेरा शरीर तो शान्ति है, यह चमड़ा तो नहीं। इसकी मृत्यु तेरी मृत्यु कैसे हो सकती है ? शान्ति की मृत्यु तो यह करने को समर्थ नहीं है। वह तो तू स्वयं ही है। यदि तू क्रोध करे तो तेरी मृत्यु अवश्य हो जायेगी। पर वे बेचारे रंक तो इतना करने को समर्थ नहीं हैं। वह तो स्वयं तू ही है। यह तेरे घातक कैसे हो सकते हैं ? जो तुझे जानते ही नहीं वे बेचारे तेरा घात क्या करेंगे ? और तुझे जो अविनश्वर ज्ञान पुञ्ज जानते हैं वह तेरा घात क्या करेंगे ? वे बेचारे अज्ञानी स्वयं नहीं जानते कि वह क्या करने जा रहे हैं। इन पर द्वेष कैसा ? क्या बालकों की अजान क्रिया पर से बालकों पर भी कभी द्वेष हुआ करता है ? ये भी तो बालक ही हैं, जिन्होंने अभी आंख खोल कर देखा ही नहीं, जो यह भी जान सकते कि वह स्वयं कौन हैं।

"और फिर यदि इन्हें यह कार्य करने से प्रसन्नता ही मिलती हो तो, इसमें तेरा क्या हर्ज है ? लोक तो बड़ा २ दान देकर, बड़ी २ सेवाएं करके, बड़े २ कष्ट झेल कर, किसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया करते हैं। और यह बिना कुछ किये सहज ही इस शरीर के साथ खेल खेलकर प्रसन्न हो रहे हैं। तो इससे अच्छी बात क्या है ? लोक तो किसी को प्रसन्न करने के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने तक को तैयार हो जाते हैं। और यह बेचारा तो फोकट में ही प्रसन्न हुआ जा रहा है। तेरा सर्वस्व तो शान्ति है। उसे हरण करने को तो यह समर्थ ही नहीं। और फिर भी प्रसन्न हुआ जा रहा है। तो इससे अच्छी बात और क्या है ?"

"क्या विचारता है कि यह तेरा शत्रु है ? परन्तु भो चेतन ! कहां गई तेरी बुद्धि ? क्या हो गया है आज तुझे ? क्या नींद आ रही है ? अरे तुझे कोई बड़ा रोग हो जाये, तू सड़क के किनारे पर पड़ा हो, और कोई अपरिचित पथिक तुझे देख कर अपनी मोटर में बैठा कर हस्पताल में ले जाये। डाक्टर से कहे कि "डाक्टर साहब मेरा सर्वस्व ले लीजिये, पर इसे अच्छा कर दीजिये।" तो बता उस व्यक्ति से तुझे द्वेष होगा कि प्रेम ? बस कषायों से पीड़ित तू एक रोगी, ये दयालु जीव निःस्वार्थ सेवी, अपना सर्व पुण्य लुटाकर भी तुझे इस रोग से मुक्ति दिलाने आया है। तेरा सर्व भार अपने सर पर लेने आया है। भला द्वेष का पात्र है या करुणा का ?

(४) और भी ! यदि घर में तेरे पुत्र को बौरान हो जाये, और पागल पने में तेरे कान काटने लगे, तो उस पर तुझे दया आयेगी या द्वेष ? बस ये बेचारे बौरान से ग्रसित जीव स्वयं इस रोग से पीड़ित हैं। स्वयं अपने द्वेष व क्रोध में जले जा रहे हैं। यदि रोग की तीव्रता से पागल होकर वे इस शरीर को काटते हैं, तो करुणा के पात्र हैं या द्वेष के ? जरा तो विवेक कर। अपने उपकारी के प्रति द्वेष करते क्या तुझे लाज नहीं आती ? कृतघ्नी बनना चाहता है ? और फिर यह बेचारे तुझे कुछ कह भी तो नहीं रहे हैं। इस खिलौने से खेलते हैं। बालक जो ठहरे। खिलौने ले लेकर तोड़ना तो बालकों का स्वभाव ही है। यदि यह इस शरीर रूपी खिलौने को तोड़ने आदि का खेल खेल रहे हैं तो इनका दोष भी क्या है ? खेलने दें इन्हें, तुझे क्या ? तेरी शान्ति तो तेरे पास है ? उसे तो छीनते नहीं बेचारे।" और इस प्रकार के अनेकों विचारों द्वारा क्रोध को जीतता है। प्रगट होने से पहले ही छिपा देते हैं। यह है योगी की उत्तम क्षमा।

और यदि कदाचित् ऐसा अवसर आ जाये कि शिष्य मण्डली में से या अन्य सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में से कोई एक शिष्य या व्यक्ति अनुकूल न चले, या आज्ञा का उलंघन करे, या अभिप्राय से विपरीत कार्य करने लगे। अथवा कोई जड़ पदार्थ अपने अनुकूल न बन सके तो कुछ कुछ हृदय में सन्ताप सा उत्पन्न होने लगता है। "अरे यह मेरी आज्ञा से बाहर जा रहा है। अरे ! जिस प्रकार मैं कहता हूँ उस प्रकार क्यों नहीं करता। अपनी मर्जी से क्यों करता है ? इत्यादि।" तो ऐसे अवसरों पर वह योगी इस प्रकार विचारने लगता है, कि "भो चेतन ! कहां खो आया आज बुद्धि ? किसको अपने अनुकूल चलाना चाहता है ? अपने को या इसको ? इसको अपने आधीन करना तो तेरी सामर्थ्य से बाहर है। क्या पहले निर्णय नहीं कर चुका है ? (देखो अध्याय नं० १२) स्व पर भेद ज्ञानी कहलाता है, और फिर भी दूसरे को अपने अनुकूल करना चाहता है ? लोक में सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं। तू उनको परतन्त्र बनाना क्यों चाहता है ? अपने आधीन क्यों करना चाहता है ? तू भी स्वतंत्र है, यह भी स्वतंत्र है जिस प्रकार चाहे करें। तू इन्हें रोकने वाला कौन है ? इन पर तेरा क्या अधिकार है ? यदि अनुकूल ही परिणमाना है तो अपने को क्यों नहीं परिणमाता ? अपने ऊपर तो तेरा पूरा अधिकार है। क्यों अपनी शान्ति के प्रतिकूल इस क्रोध के आवेश में बहा जा रहा है ? रोक ! रोक ! बस अब इन परिणामों को रोक। इसके प्रति तो इतना ही कर्तव्य था कि इसके कल्याणार्थ कोई हित की बात इसे बता दी। सो तेरा कर्तव्य पूरा हुआ। अब यह चाहे जैसा करे इसकी मर्जी। लोक में अनन्तानन्त जीवराशि भरी पड़ी है, किस किस को अपनी आज्ञा में चलायेगा ?

६ गृहस्थ को भी ऐसा करने की प्रेरणा — परम धैर्य के धारी अत्यन्त पराक्रमी इन योगियों को तो यह विकट कठिन कठिन अवसरों पर आते ही हैं, अतः उन्हें तो उत्कृष्ट क्षमा है ही। परन्तु यह क्षमा धारना उनका ही काम हो और आपका न हो ऐसा नहीं है। यथा योग्य अवसरों पर आप भी कुछ

हीन रूप में सही, आपको भी इस अन्य गृहस्थ अवस्था में, इसी प्रकार के विचारों द्वारा अपने क्रोध को दवाने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी से भी द्वेष करना शान्ति के उपासक का काम नहीं। और यदि आज भी आपका किसी बड़े या छोटे से द्वेष है, तो इस उत्तम क्षमा की बात को सुनकर उसके उगलने का प्रयत्न करना चाहिये। आपको अपना कर्तव्य देखना है, दूसरों का नहीं। अतः "वह तो बराबर मेरे साथ बुराई किये जा रहा है, मैं कैसे उसके प्रति माध्यस्थ हो जाऊं ? कैसे द्वेष त्याग दूं ?" इस प्रकार के विचारों को त्याग कर, अपने हित के लिये उपरोक्त क्षमा वर्धक परिणामों के आश्रय पर, अपने शत्रु को भी आज आपको क्षमा कर देना योग्य है। मत विचारिये, कि वह आपको क्षति पहुँचावेगा। बल्कि यह विचारिये कि यह आपका द्वेष या आपकी कीन्हा ही आपको क्षति पहुंचा रही है। प्रतिवर्ष क्षमावणी का दिन मनाते हैं। "क्षमा क्षमा सब गहो रे भाई" का राग अलापते हैं। मानों दूसरों को सुनाते हों। प्रभो ! स्वयं सुनने का प्रयत्न कीजिये, दूसरे को सुनाने का नहीं। दूसरा कुछ भी करे, उधर मत देखिये। देखिये कि आप क्या करते हो। शान्ति का मार्ग लौकिक दृष्टि से विपरीत है। उस दृष्टि में इसका रहस्य आ ही नहीं सकता। साधारण जन क्या जाने इसकी महिमा ?

३४
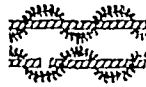
—: उत्तम मार्दव :—

दिनांक १७ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ६४

१—पर की महिमा का निषेध और अपनी महिमा की प्रेरणा, २—आठ मदों के आधार पर पृथक पृथक मार्दव परिणाम, ३—लोकेषणा दमन सम्बन्धी विचारणायें ।

शान्ति सरोवर भगवान आत्मा ! आज अत्यन्त सौभाग्य वश शान्ति सागर वीतरागी गुरुओं की शरण को प्राप्त होकर भी यदि कषायोद्रेक में ही जलता रहा, तो क्या लाभ उठाया इस महान व दुर्लभ अवसर से ? अब जिस किस प्रकार भी अन्तर दाहोत्पादक इन कषायों से युद्ध कर । उत्तम मार्दव से आक्रमण कर । घबरा नहीं । इस हथियार का सामना करने की शक्ति इन कषायों में नहीं है । इनकी एक झलक मात्र से यह गीदड़ टोली दुम दबा कर भागती दिखाई देगी । एक बार तो देख इसका पराक्रम । और यह हथियार तेरे पास न हो, ऐसा भी नहीं है । तेरी आयुध शाला में ऐसे हथियारों की कमी नहीं । किसी से मांग कर लाने की आवश्यकता न पड़ेगी । इनका प्रयोग करने मात्र की ही देर है । विश्वास कर और साहस पूर्वक एक बार प्रहार कर । तेरे पराक्रम की परीक्षा का अवसर आया है । वीरता को कलंकित न करना ।

१ पर की महिमा का निषेध और अपनी महिमा की प्रेरणा

मार्दव अर्थात् मृदु परिणाम, कोमल परिणाम, अभिमान का विरोधी परिणाम । आज तक तो पर पदार्थों को अपना मानता हुआ कुल, जाति, रूप, धन, बल, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान इत्यादिक की महिमा को गिनता हुआ, इनमें से रस लेता हुआ, इनके कारण ही अपनी महानता मान मान कर गर्व करता हुआ चला आ रहा है । झूठा गर्व जिसका कोई मूल्य नहीं, कोई आधार नहीं । इन पर पदार्थों से अपनी महिमा व बड़प्पन की भिक्षा मांगने में ही गर्व करता आ रहा है । "इनका मैं स्वामी हूँ, इनको मैं करता हूं, मेरे द्वारा ही इनका काम चल रहा है । यह सब मेरे लिए ही काम कर रहे हैं, यह सब मुझ में से ही अपना बल लेते हैं, यदि मैं न हूँ तो यह किसी काम के नहीं, मेरे आधार पर ही यह टिके हुए हैं, इनको मैं भोगता हूँ, यह मेरा बड़ा बड़ा काम साधते हैं । इनके द्वारा ही मेरी महिमा हो रही है । इनके लिये ही मैं इतना परिश्रम कर रहा हूँ, इनमें से ही मुझे आनन्द मिलता है, इनके आधार पर ही मेरी सर्व महत्ता है । लोग मेरी इस विभूति को देख कर नत मस्तक हो जाते हैं, मेरी महिमा का बखान करते हैं ।" इस प्रकार झूठी मान्यताओं के अन्धकार में आज तू अपनी वास्तविक महिमा को भूल बैठा है । अपनी विभूति को न निरख [illegible]

बन बैठा है। अपने कुल को, अपनी जाति को, अपने रूप को, अपने धन को, अपने बल को, अपने ऐश्वर्य को, अपने तप को, अपने ज्ञान को तथा अन्य अनेकों बातों को बिलकुल भुला बैठा है। अपनी इस महिमा की अवहेलना करके दूसरों की महिमा में अपनी महिमा मानना अनन्त अभिमान है। अपनी महिमा के प्रति अत्यन्त कठोरता है। एक दृष्टि भी अन्तर की ओर जाये तो अपनी विभूति के दर्शन हो जायें। अपनी महिमा का भान हो जाये। उसके प्रति बहुमान प्रगट हो जाये। पर द्रव्यों का अभिमान हट जाये। निज का अभिमान हो जाये। अपनी पूर्ण महिमा का साम्राज्य प्राप्त हो जाये। यह भिखारी पना जाता रहे।

लोक में भी दो प्रकार के अभिमान कहने में आते है। एक स्वाभिमान और दूसरा सामान्य अभिमान अर्थात् पराभिमान। "मैं उत्तम कुल का हूँ क्योंकि मेरा पिता बड़ा आदमी है। इत्यादि" तो पराभिमान है। क्योंकि पिता आदि पर की महिमा में झुठा अपनत्व किया जा रहा है। परन्तु "मेरा यह कर्तव्य नहीं, क्योंकि मेरा कुल ऊंचा है।" यह स्वाभिमान है। क्योंकि अपने कर्तव्य की महिमा का मूल्याङ्कन करने में आ रहा है। पर-अभिमान निन्दनीय और स्व-अभिमान प्रशंसनीय गिनने में आता है। इसलिए वास्तविक अभिमान करना है तो स्वाभिमान उत्पन्न कर। अर्थात् निज चैतन्य विलास के प्रति महिमा उत्पन्न कर। जितनी चाहे उतनी कर।

२ आठ मदों के आधार पर पृथक पृथक मार्दव परिणाम

"मैं उच्च कुलीन हूँ। मैं सूर्य वंशी हूँ। वह महान वंश जिसमें भगवान आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने अवतार लिया। जिसमें पट् खण्ड स्वामि भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए। जिसमें यम विजेता महान तपस्वी बाहूबलि उत्पन्न हुए। इसलिए सबको मेरा सम्मान करना उचित है। मैं भगवान की सन्तान हूँ। आप सबसे ऊंचा हूँ।" अरे रे! क्यों अपने कुल के प्रति इतना कठोर हो गया है तू? तनिक तो दया कर। बिलकुल रंक बन गया है। भगवान की सन्तान होने का गर्व करता है, पर भगवान होने का नहीं? तू चिदानन्द ब्रह्म पूर्ण परमेश्वर स्वयं भगवान है। उसकी महिमा उसकी उच्चता स्वीकार न करके, दूसरों से अपनी उच्चता स्वीकार कराने चला है। साक्षात् भिखारी बन कर भगवान के कुल को लान्छन लगाने वाले भो चेतन! तू उच्च कुलीन है कि नीच कुलीन? स्वयं तू ऋषभ है। पट् खण्ड का ही नहीं त्रिलोक का अधिपति है। सर्व विभावों का विनाश करने की शक्ति रखने वाला तू स्वयं यम है। इन अल्प मात्र मनुष्यों से ही नहीं तू त्रिलोक वन्द्य है। तू स्वयं भगवान है। अपनी महिमा के प्रति गर्व कर। कठोरता छोड़। उसका और अधिक अपमान मत कर। स्वयं अपना सम्मान करना सीख। तब बनेगा वास्तव में उच्च कुलीन।

"मेरी जाति बहुत ऊंची है। मेरे मामा की आज्ञा अनेकों देश स्वीकार कर रहे हैं। मेरे नाना इतने दानी थे। मेरी माता बड़ी विदुषी है।" अरे! तो क्या हुआ? तेरी माता तेरे मामा और नाना बड़े थे तो तुझे क्या? यह देख कि तू कौन है? उन्होंने बड़े कार्य किये तो वह बड़े कहलाये। तू बड़ा कार्य करेगा तो बड़ा कहलायेगा। नीचे काम करने से कौन ऊंचा बन सकता है? अपने प्रभुत्व को ठुकरा कर नाना मामा से अपने प्रभुत्व की भिक्षा माँगने वाले भो चेतन! तनिक विचार तो कर कि तू महान है कि भिखारी? भगवती सरस्वती जिस की माता हो, वह तुच्छ बुद्धि मानुपियों को अपनी माता बनाये, आश्चर्य है। सहज आनन्द जिसका मामा हो, वह चिन्ता की चिताओं में जलते इन मनुष्यों को

मामा समझे, खेद है। भगवन ! आंख खोल। अपनी ज्ञान चेतना जाति को पहिचान। उसके प्रति बहुमान उत्पन्न कर। कठोरता छोड़। चेतन जाति पर गर्व कर। जितना चाहे कर।

"मैं बड़ा रूपवान हूँ। गली में मुझे जाता देख कर स्त्रियां अपना सर्व काम छोड़ कर बरामदों में आकर खड़ी हो जाती हैं, राह चलने वाले पथिक रुक जाते हैं।" अरे रे ! कौन से रूप की बात कहता है ? इस चमड़े के रूप की बात ? तब तो अवश्य ही तू बड़ा रूपवान है। ले एक बार इस दर्पण में मुंह देख ले। इसमें १० साल आगे का रूप दिखाई दे जायेगा। देख कितना सुन्दर है ? क्यों, डर क्यों गया ? तेरा ही तो रूप है न ? इसी पर गर्व करता था ? ज़रा मक्खी के पंख समान की पतली सी इस झिल्ली को उतार कर देख इसका रूप। क्यों कैसा लगता है ? ज़रा शौच गृह में जाकर देख इसका रूप। कैसा मन भाता है ? भोले प्राणी ! अपने सच्चिदानन्द रूप को भूल कर इस चमड़े पर लुभाते क्या लज्जा नहीं आती ? आ यदि अपना सौन्दर्य देखना है, तो देख यहाँ। जहां विश्व मोहिनी यह शान्ति सुन्दरी तेरे गले में वर माला डालने को तैयार खड़ी है। इसका अपमान करके तू कैसे अपने को रूपवान कह सकेगा ? प्रभु ! अन्य ओर से दृष्टि हटा। कठोरता तज। इस सुन्दरी को मृदुता से स्पर्श कर। यह है तेरा असली रूप। इस पर अभिमान कर। जितना चाहे कर।

"मैं बड़ा धनवान हूँ। बड़े बड़े व्यापारी मेरे द्वार पर मस्तक रगड़ते हैं। सारी मण्डी का भाव मेरे हाथ में है। मेरे पास ५०० गांव हैं। यह देखो करोड़ों के हीरे जवाहरात। खजाना भरा पड़ा है। कुबेर भी मुझ से शर्माता है।" अरे रे ! किस पर गर्व करता है ? इस धूल पर ? जो कल ही न जाने कहां को विलय हो जाने वाली है। अपने वास्तविक चैतन्य धन को भूल कर इस धूल से क्या अपने बड़प्पन की भिक्षा माँगते लाज नहीं आती तुझे ? जाग चेतन जाग ! इधर देख इस चैतन्य कोष को, जिसके एक कोने में सम्पूर्ण लोक समाया हुआ है। लक्ष्मी के सेवक में सब भिखारी, तेरे ऋणी हैं। तीन लोक की सम्पूर्ण विभूति को एक समय में ग्रस जाने की शक्ति रखने वाले ओ ज्ञान पुञ्ज ! इस अपने ज्ञान की महिमा को स्वीकार कर। धूल की महिमा को पकड़ छोड़। इसी का नाम है मृदुता या मार्दव परिणाम। उस आन्तरिक स्वानुभव ज्ञान के प्रति बहुमान उत्पन्न कर। चाहे जितना कर।

"मैं बड़ा बलवान हूँ। बड़े बड़े पराक्रमी वीर मेरा लोहा मानते हैं। मेरे एक इशारे पर आज विश्व कांप उठता है। किसकी शक्ति है कि मुझको जीत सके ?" अरे ! हंसी आती है तेरी बात पर। पामर कहीं का। 'मेरी माता वन्ध्या थी।' ऐसा सुनकर कौन न हंस पड़ेगा। साक्षात् एक इस शरीर से अभिमान के द्वारा जीता हुआ तू, आश्चर्य है कि विश्व विजयी होने का दावा करता है ? अपने अन्दर तो झांक कर देख। काल की विकराल दाढ़ में बैठा हुआ तू भले हंस रहा हो, पर कितनी देर के लिये ? अभी जबाड़ा बन्द हो जायेगा और तेरा यह अभिमान सर्व जगत पर स्वतः प्रगट होकर यह घोषणा करेगा कि कितना बली है तू ? शर्म कर। काल की पहुँच से दूर अपने यथार्थ बल को भूल कर इस शरीर से मांगे हुए बल पर फूला फिरता है ? कहां गई तेरी बुद्धि ? उधर देख अपने अनन्त बल की ओर, जिस ओर आन्तरिक शान्ति में तन्मयता पड़ी है। निज आनन्द का अविचल पड़ा है। जहां लोक की सर्व विपदायें और चिन्तायें खड़ी रो रही हैं। एक बार प्रगट हो जाने पर जिसने कभी हार नहीं जानी। उसकी महिमा जागृत कर। जिससे कि यथार्थ बली बन जावे। इस पर अभिमान कर जितना चाहे उतना।

"मेरा बड़ा ऐश्वर्य है। २००० हाथी, ४००० घोड़े, १००० रथ, इतनी तोपें, बन्दूकें, हवाई जहाज़, टैंक, लाखों सेवक, मोटरें, कारखाने, और न जाने क्या क्या अला वला। मेरी आज्ञा सारे देश पर चलती है। मेरी आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का किसी में साहस नहीं है। चारों ओर सेवक और सेविकाओं से वेष्टित इस राज्य वैभव को भोगते हुए आज मैं इन्द्र को भी शर्मा रहा हूं।" किस ऐश्वर्य को कहा जा रहा है प्रभो ! उसका, जो एक बम पड़ जाने पर न जाने कहां को चला जायेगा ? उसको, जिसके लिए कि सम्भवतः रात को तुझे नींद भी न आती हो ? किसने भ्रमा दिया है तुझे ? इतना भोला तो न बन, कि चाहे जो ठग कर ले जाये। आंखों में डाले एक मुट्ठी मिर्च, और सर्वस्व हर कर ले जाये। अपने चित्प्रकाश को भूलने के कारण आज तेरी आँखें चुंधियां गई हैं इसकी झूठी आभा में। इधर देख आनन्द नगर के अपने अधिपत्य को, जहां शान्ति तेरी दासी है, ज्ञान तेरा मन्त्री है, अनन्त बल तेरी सेना है। और सुख तेरा पुरोहित है। अभिमान ही करना है तो इसके प्रति कर, उस धूल में क्या पड़ा है ? इसमें तो मिलेगा सकल साम्राज्य और उससे मिल रहा है दासत्व। अतुल ऐश्वर्य के अधिपति ब्रह्म ! भिखारी मत बन।"

"मैं बड़ा तपस्वी हूँ। ज्येष्ठ की दोपहर में धूप के अन्दर पत्थर की तपती शिला पर घण्टों बैठा रहता हूँ। पोष मास की कड़कड़ाती रातों में शमशान भूमि में योग साधना करता हूँ। महीनों महीनों का उपवास, नीरस भोजन तथा अनेकों कठिन से कठिन तप करता हूँ। अनेकों परिषह सहता हूं।" कैसा तप ? शरीर को तपाने का ? अरे रे ! प्रतीत होता है कि लोक के संताप से संतप्त तेरा अन्तष्करण ही मानों भाप बनकर उड़ गया है। अपने को न तपा कर दूसरे को तपाने में कौन महिमा है ? भट्टी के सामने बैठा लुहार सारे दिन लोहा तपाया करता है। क्या अन्तर है उस लोहे में तथा इस शरीर में। क्या भूल गया स्व पर के भेद में बताई गई सब बातें ? निज स्वरूप में प्रतपन करने का नाम तप है। उसमें ताप उत्पन्न कर। उसमें स्थिरता धार। शान्ति के सम्भोग में दृष्टि लगा। उसके प्रति महिमा जगा। उसके गुण गान गा। तब हो सकेगा तेरा महात्म, अब काहे का महात्म्य ? अब तो रंक है। शरीर के दर का भिखारी। इसमें से अपनी महिमा की खोज करने वाला।

"मैं बड़ा ऋद्धि धारी हूं, मुझ में बड़ी शक्तियां हैं। चाहूं तो एक दृष्टि से जगत को भस्म कर दूं। एक शाप का वचन कह कर राव से रंक कर दूं। एक आशीर्वाद के द्वारा तुझे कृतकृत्य कर दूं। आकाश में उड़ जाऊं। मकड़ी के जाले पर से पांव रख कर गुजर जाऊं। बैठे बैठे सुमेरू को स्पर्श कर दूं। मक्खी जैसा शरीर बना लूं। इत्यादि कहां तक बखान करूं अपनी महिमा का, अपने चमत्कार का।" अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करते क्या लाज नहीं आ रही है तुझे। तथा महिमा गान करने से पहले इतना तो समझ लेता कि किसकी महिमा का बखान है, तेरी या इस चमड़े की ? चमड़े की महिमा से तू महिमा वन्त कैसे कहला सकेगा ? इससे तो कुछ शिक्षा ले। यह तो आज लज्जित करने आया है तुझे अपने चमत्कार दिखा कर कि देख योगी ! तेरे योग को मैं फीका किये दे रहा हूँ। देख मेरी महिमा ! क्या है तेरे पास जो इसके सामने रखे ? बता तो सही क्या उत्तर देगा ? क्या है तेरे पास ? बस पड़ गया सोच में। अरे ! विश्व के अधिपति अपनी महिमा को भूलकर इसकी महिमा के ही चमत्कार दिखाने लगा। फिर कैसे जाने कि तेरे पास क्या है ? इधर देख तेरे पास वह कुछ है जिसके

सामने इन बेचारी तुच्छ शक्तियों व ऋद्धियों की तो बात नहीं, तीर्थंकर पद भी तुच्छ है। देख उस शांति की ओर जिसमें पड़ी है अतीव तृप्ति, सन्तोष व साम्यता। जिसके वेदन में सब कुछ तुच्छ है। इस शान्ति का अधिपति होकर अब इन तुच्छ शक्तियों की महिमा का बखान छोड़। इस शान्ति पर गर्व कर। जितना चाहे उतना।

"मैं बहुत ज्ञानी हूँ। बड़े बड़े तार्किकों को शास्त्रार्थ में परास्त कर दूं। मेरे तर्क का कोई उत्तर देने में समर्थ नहीं। बड़े बड़े शास्त्र मेरे हृदय में रखे हैं। जो बात कहो निकाल दूं। अमुक आचार्य ने अमुक शास्त्र में अमुक बात अमुक पृष्ठ पर लिखी है। देख लो खोल कर। बड़े बड़े पण्डित मेरा लोहा मानते हैं। दो दो घण्टे धारा प्रवाही बोल सकता हूँ। तर्क अलङ्कार, व्याकरण, ज्योतिष, सिद्धान्त, अध्यात्म और सर्वोपरि करणानुयोग की सूक्ष्म कथनी मेरे लिए बच्चों का खेल है?" किस ज्ञान पर अभिमान करता है चेतन! अपने अतुल ज्ञान प्रकाश को देख। जिसमें तीन लोक युगपत् प्रत्यक्ष भासते हैं। यह तुच्छ मात्र दो चार शब्दों का ज्ञान। क्या मूल्य है इसका इस तेरे अतुल प्रकाश के सामने? और शान्ति के प्रति बहुमान जागृत न हुआ, तो यह शास्त्र ज्ञान काम भी क्या आया? केवल गधे का भार। यह तो देख कि इन शब्दों को याद करने के लिये तुझे कितना परिश्रम करना पड़ रहा है। हर समय की चिंता। कहीं भूल गया तो सर्व विद्वत्ता मिट्टी में मिल जायेगी, उस शास्वत् चैतन्य विलास को क्यों नहीं देखता, जिसमें सहज ही सर्व विश्व समाया हुआ है। जिसे याद रखने को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। शान्ति में रमणता के अतिरिक्त जहां कुछ नहीं है। उस अपने स्वाभाविक ज्ञान की महिमा करे तो त्रिलोकाधिपति बन जाये। इसलिये प्रभो! अब विवेक धार कर इन शाब्दिक ज्ञान की महिमा को छोड़।

३ लोकेषणा दमन सम्बन्धी विचारणायें

मेरे मुख से निकले हुए इन दो चार शब्दों को सुन कर, मेरे गुरुदेव का साक्षात्कार न होने के कारण, कुछ भ्रम वश, यह जो "वाह वाह, कितना सुन्दर उपदेश दिया है। आज तक ऐसा नहीं सुना था।" इस प्रकार के वाक्य आप अपने किन्हीं उद्गारों व भक्ति आदि के आवेश में कह रहे हैं, उनको सुन कर आज मेरे हृदय में क्या तूफान आ रहा है? मानों मुझे उड़ा ले जाने का प्रयत्न कर रहा हो-कहीं मेरी शान्ति से दूर। नहीं नहीं भगवन्! मैं एक क्षण को भी इसका विरह सहन नहीं कर सकता। रक्षा कीजिये प्रभो! रक्षा कीजिये। इस महा भयानक लोकेषणा राक्षसनी से मेरी रक्षा कीजिये। इस ख्याति की चाह से मुझे बचाइये। मुझ पामर तुच्छ बुद्धि में क्या शक्ति है, कि एक शब्द भी कह सकूं। तुतला तुतला कर बोलना भी जिसने अभी सीखा नहीं है, वह अभिमान करे प्रवचन करने का? धिक्कार है मुझे। आपके प्रवचन को, आपकी मिष्ट वाणी को, मैं अपनी बताऊं? यह चोरी मुझ से न हो सकेगी भगवन। मैं श्रोता हूँ, वक्ता नहीं।

इन दो चार पच्चीस पचास व्यक्तियों के मुख से निकले इन दो चार शब्दों मात्र से ही तू गद्गद हुए जा रहा है। क्या विचारा है कभी तूने, कि क्या रस आया इन में से? इन शब्दों में है क्या? और यदि सत्य होते। तब भी भले कुछ मान लेता, पर इनमें तो सत्यता भी भासती नहीं। फिर भी झूठा अहङ्कार क्यों? कभी विचारा है तूने, कि इस लोक का तू कितनेवां भाग है। जहां अनन्तानन्त जीव बसते हों, वहां तेरी कौन गिनती? जगत का एक छोटा सा कीट। और इसके अतिरिक्त मान ही क्या है तेरा? बीस पच्चीस व्यक्ति जान गये, और मान बैठा है कि मानों सर्व लोक में ही ख्याति फैल गई है।

तुच्छ बुद्धि जो ठहरा। कूप मण्डूक जो ठहरा। ज़रा विश्व में दृष्टि पसार कर तो देख कि कौन जानता है तुझे ? दूर की तो बात नहीं, यह तेरे प्रदेशों में स्थित जो अनेकों कीटाणु पड़े हैं, इन्हीं से जाकर पूछ कि क्या वह जानते हैं, कि तू कौन है ? उन बेचारों को भी छोड़। स्वयं अपने से तो पूछ कर देख कि क्या तू भी जानता है स्वयं को ? जानता होता तो यह अभिमान न होता। इन शब्दों की महिमा को न गिनता। अपने अन्तर चैतन्य विलास पर ही गर्व करता। और यदि बाह्य की ही कुछ बातों के कारण अपने को ऊंचा और दूसरों को नीचा समझता है तो एक बार अपने और दूसरे के जीवन को जिस प्रकार मैं कहता हूँ उस प्रकार देख। जीवन में बीत गई भूत कालीन अनेक भवों की अवस्थायें, वर्तमान की एक अवस्था, तथा भविष्यत् में आने वाली अनेक भवों की अवस्थायें। आपका पूर्ण जीवन भी इन अवस्थाओं से भरा पड़ा है और उस दूसरे का जीवन भी। दोनों के जीवनों की पूर्ण अवस्थाओं को डोरे में पिरो कर पृथक पृथक दो माला तैयार कर। इन दोनों मालाओं को अपने सामने खूंटी पर टांग कर देख। कौन सी बड़ी है और कौन सी छोटी। कौन सी अच्छी है और कौन सी बुरी ? बड़ी तो नहीं क्योंकि दोनों की अवस्थायें बराबर हैं। अच्छी बुरी भी नहीं, क्योंकि दोनों ही हारों में सुन्दर व असुन्दर, अच्छी व बुरी, पापात्मक व पुण्यात्मक अवस्थायें पड़ी हुई हैं। भले आगे पीछे पड़ी हों। परन्तु आगे पीछे हो जाने मात्र से हार अच्छे और बुरे नहीं हो सकते। फिर किस प्रकार अपने को ऊंचा और दूसरे को नीचा मानता है ?

और इस प्रकार वह योगी अनेकों विचारों के प्रवाह में बहा देता है दुष्ट अभिमान को। उतने उत्कृष्ट रूप में न सही, परन्तु क्या थोड़े बहुत रूप में भी तू अपने जीवन में यह बात नहीं उतार सकता ? उस राक्षस से अपनी रक्षा करने के लिये-मेरे लिए नहीं।

३५

—: उत्तम आर्यत्व :—

दिनांक १८ अक्तूबर १९५९
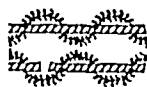
प्रवचन नं० ९५

१—आर्यत्व का लक्षण, २—आर्य व म्लेक्ष, ३—गृहस्थ की क्रियाओं में माया, ४—साधु की क्रियाओं में माया, ५—माया जीतने के लिए कुछ विचार।

१ आर्यत्व का लक्षण हे सरल स्वभावी भगवान आत्मा ! धन शरीर व भोगादि में इष्टानिष्ट बुद्धि के कारण अनेकों खोटे अभिप्राय धर धर के मैं सदा तेरा घात करता चला आया हूं। मुझे क्षमा कर दीजिये भगवन ! अब तक मैं अज्ञानी था, हिताहित से बिल्कुल अनभिज्ञ। आज आर्य श्रेष्ठ वीतरागी गुरुओं से आर्यत्व का उपदेश सुन कर मेरी आंखें खुल गई हैं। आर्यत्व धर्म का प्रकरण है। आर्यत्व अर्थात् सरलता। अनार्यत्व अर्थात् वक्रता। जैसा अन्तरंग अर्थात् मन में करने का अभिप्राय हो वैसा ही बाहर में भी अर्थात् वचन व काय से भी कहना या करना। अन्तरंग व बाह्य क्रिया में अन्तर न होने का नाम सरलता है। तथा अन्तरंग अभिप्राय में कुछ और रखते हुए, बाहर में कुछ और ढङ्ग से बोलना या करना वक्रता है। कपट है, माया है।

२ आर्य व म्लेक्ष सरल प्रकृति वाले को आर्य कहते हैं। और वक्र प्रकृति वाले को अनार्य या म्लेक्ष। अपनी वक्रता या अनार्यता के कारण, म्लेक्ष में उत्कृष्ट वीतराग पद में स्थिति पाने की सामर्थ्य नहीं होती, क्योंकि वक्रता व वीतरागता का विरोध है। अपनी सरलता व आर्यता के कारण, आर्य जन ही उस पद के योग्य होते हैं। किन्ही देश विदेश में रहने के कारण म्लेक्षता व आर्यता नहीं होती, बल्कि नीच कपट व माया के सद्भाव व असद्भाव के कारण ही होती है। आज जो आर्य है वह कल कपट या माया के प्रगट हो जाने पर म्लेक्ष बन सकता है। और जो म्लेक्ष है वह माया का अभाव हो जाने पर आर्य बन सकता है। आर्य, म्लेक्ष बन कर अपनी वीतराग पद की योग्यता को खो देता है। और म्लेक्ष, आर्य बन कर वही योग्यता प्राप्त कर लेता है। अतः यदि उस वीतराग शान्त पद की अभिलाषा है, तो पद पद पर इस कुटिलता से अपनी रक्षा करना कर्तव्य है। और इसलिए संवर का प्रकरण चलाते समय यह बात पुनः पुनः जोर दे देकर बताई गई थी, कि अन्तरंग अभिप्राय की बराबर टटोल करते हुए चलना।

३ गृहस्थ की क्रियाओं में माया हर क्रिया की परीक्षा अभिप्राय पर से होती है। क्रिया व अभिप्राय में अन्तर है तो वह क्रिया संवर रूप नहीं हो सकती, केवल आस्रव रूप होगी। क्योंकि [illegible] प्रयोजन उस पर से सिद्ध न होगा। अपने गृहस्थ जीवन में तो मैं रात दिन इस प्रकार की माया पूर्ण

क्रियाओं का अनुभव करता ही हूं। परन्तु धार्मिक क्षेत्र में भी मैं बहुत कुछ क्रियायें ऐसी करता हूं, जो माया के रङ्ग में रङ्गी होती हैं निम्न दृष्टान्तों पर से इन सर्व क्रियाओं में पड़ी उस कुटिलता या वक्रता का परिचय मिल जाता है।

१—किसी अपने साथी को कदाचित् मैं बड़े प्रेम पूर्वक सिनेमा दिखाने का निमन्त्रण देता हूँ। इस अभिप्राय से कि यदि अधिक पढ़ता रहा तो कहीं ऐसा न हो कि परीक्षा में मुझ से अधिक नम्बर ले जाये।

२—अपनी माता के साथ मेरे घर पर आये हुये किसी बालक को मैं सुन्दर सुन्दर खिलौने व मिठाई ला ला कर देता हूँ। इस अभिप्राय से कि, इसकी माता यह विश्वास करके कि मुझे उससे व उसके बालक से बड़ी सहानुभूति व प्रेम है।

३—अपने मालिक की दुकान पर मैं बड़े परिश्रम से दिन रात एक करके काम करता हूं इसलिये कि धीरे-धीरे इसकी दुकान से नित्य प्रति जो चोरी करता हूँ, वह प्रगट न हो जाये।

४-किसी व्यक्ति को बड़ी सहानुभूति पूर्वक "यह वस्तु तुम्हारे योग्य है। इसलिये ले आया हूँ" ऐसा कहता हुआ सुना जाता हूं। केवल इस अभिप्राय से कि जिस किस प्रकार भी यह इसे खरीद ले। पीछे इसके काम आये या न आये।

इत्यादि अनेक प्रकार की छल मिश्रित क्रियायें सुबह से शाम तक नित्य ही करता रहता हूँ। सब ही उनसे परिचित हैं। अब धार्मिक क्षेत्र की माया मिश्रित कुछ क्रियाओं को देखिए।

१—अन्तरंग में शरीर को ही पोषण करने का या भोगों में से ही रस लेने का अभिप्राय रखते हुए, बराबर बाहर में यह कहता रहता हूं कि "शरीर मेरा नहीं है। मुझसे पृथक अन्य द्रव्य है। भोगों में सुख नहीं है। मुझे तो शान्ति चाहिए।"

२—खूब सुरताल से तन्मयता के साथ भगवान की पूजा करता हूँ। इस अभिप्राय से कि लोक मुझे धर्मात्मा समझें। मेरे पुत्र का नाता किसी बड़े घर में हो जाये।

३—भगवान की प्रतिमा स्थापन कराता हूं, मन्दिर बनवाता हूं, इस अभिप्राय से कि अधिक धन लाभ हो।

४—खूब दान देता हूँ, इस अभिप्राय से कि लोक में प्रतिष्ठा हो, लोक मुझे धनिक समझें। कोई आशीर्वाद दे दे। या मैं भोग भूमि में चला जाऊं।

इत्यादि अनेक प्रकार से अभिप्राय की कुटिलता के कारण अमृत में विष घोल कर, अपने हाथों अपने पाओं में कुल्हाड़ी मारा करता हूँ। अपने हाथों अपने घर में आग लगाया करता हूँ। अपने हाथों व्याकुलता के साधन जुटाता हूँ। और मजे की बात यह कि शान्त होना चाहता हूं। धर्म करना चाहता हूँ।

४ साधु की क्रियाओं में माया

गृहस्थ दशा तक ही इस कुटिल भाव का बल चलता हो, सो नहीं। यथा योग्य रूप में भूमिकानुसार उत्कृष्ट साधु की वीतराग दशा में भी यह कुटिलता अपना जोर चला कर उसे डिगाने का प्रयत्न किया करती है। परन्तु वास्तव में पद पद पर सावधानी वर्तने वाले, कुशल सारथी के रथ में बैठे, कुशल वैद्य के निरीक्षण में रहने वाले, उन पर भले वह कुछ प्रभाव डालने में समर्थ हो जाती हो, पर उन्हें उनके पद से नहीं डिगा सकती। इसी कुटिलता से अपनी रक्षा करने के लिए ही किसी योग्य आचार्य की अध्यक्षता में रह कर साधु जन सन्तुष्ट होते हैं।

जैसे शारीरिक रोगों का निदान करने में वैद्य समर्थ है, उसी प्रकार अध्यात्मिक रोगों का निदान करने में आचार्य प्रभु कुशल वैद्य हैं। जिस प्रकार शारीरिक रोग के अनुसार उसके प्रशमनार्थ वैद्य सोच समझ कर औषधि देता है, उसी प्रकार आचार्य प्रभु आत्मिक रोग के अनुसार उसके प्रशमनार्थ प्रायश्चित देते हैं।

जैसे शारीरिक रोगों का निदान करने में वैद्य समर्थ है, उसी प्रकार आत्मिक रोगों अर्थात् जीवन में लगे अनेक दोषों की, सूक्ष्म दृष्टि से खोज करने में आचार्य प्रभु समर्थ हैं। जिस प्रकार खूब सोच समझ कर उस रोग के अनुसार वैद्य औषधि देता है, उसी प्रकार खूब विचार कर उस उस दोष के अनुसार आचार्य प्रभु शिष्यों को प्रायश्चित देते हैं। जिस प्रकार एक ही रोग होते हुए भी रोगी की शक्ति की हीनाधिकता के कारण वैद्य हीनाधिक मात्रा में औषधि देता है, अर्थात् बालक को कम बड़े को अधिक, दुर्बल को कम व हृष्ट पुष्ट को अधिक मात्रा में देता है, उसी प्रकार एक ही दोष होते हुए भी दोषी शिष्य की शक्ति की हीनाधिकता के कारण आचार्य हीनाधिक प्रायश्चित देते हैं। जिस प्रकार हीनाधिक औषधि देने में वैद्य को किसी से प्रेम और किसी से द्वेष कारण नहीं है, उसी प्रकार हीनाधिक प्रायश्चित देने में आचार्य को किसी से राग और किसी से द्वेष कारण नहीं है। जिस प्रकार कड़वी भी औषधि रोगी के हितार्थ होने के कारण अमृत है, उसी प्रकार कड़ा भी प्रायश्चित शिष्य के अन्तर शोधन का कारण होने से अमृत है। जिस प्रकार कड़वी भी औषधि को रोगी स्वयं वैद्य के पास जाकर ज़िद करके लाता है, उसी प्रकार कड़े से कड़ा प्रायश्चित भी साधु जन स्वयं आचार्य के पास जाकर ज़िद करके लाते हैं। जिस प्रकार रोगी औषधि में अपना हित समझता है, उसी प्रकार साधु भी प्रायश्चित में अपना कल्याण देखते हैं, उसे दण्ड नहीं समझते। और इसलिए बड़े उत्साह से अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते हैं, तथा अपने जीवन को उस प्रायश्चित के द्वारा स्वयं दण्डित करते हैं।

(१) ऐसे कल्याणकारी प्रायश्चित से डर कर कदाचित् आचार्य से अपनी दुर्बलता दर्शाते हुए अर्थात् "कमज़ोर हूँ, खाना नहीं पचता है, पीछे कई दिन तक ज्वर रह चुका है। इत्यादि" अनेक प्रकार की बातें बना कर अपना दोष गुरु के सामने प्रगट करता है। इस अभिप्राय से कि किसी प्रकार प्रायश्चित न मिले और यदि मिले तो कम मिले।

(२) "मेरे दोष कोई जानने न पावे", इस अभिप्राय से गुरु से प्रश्न करता है कि यदि ऐसा दोष किसी से बन जावे तो उसका क्या प्रायश्चित है।

(३) जो दोष दूसरों पर प्रगट हो चुके हैं, उन्हें ही गुरु से कह देता है। अन्य [illegible] के दोषों को नहीं कहता। इस अभिप्राय से कि यह दोष तो सब जान ही गये हैं। कह दूँ तो अच्छी बड़ाई कर ही से।

(४) सकल दोषों को ज्यों का त्यों कह देता है। उनके द्वारा दिया गया प्रायश्चित भी हर्ष से स्वीकार कर लेता है। उसका पालन भी ठीक रीति से करता है। इस अभिप्राय से कि अन्य संघ पर मेरी सरलता की छाप पड़ जाये।

(५) नमक का त्याग कर देता है, इस अभिप्राय से कि खूब खीर, मिठाई व हलवे का भोजन मिलेगा।

(६) अन्न का त्याग कर देता है, इस अभिप्राय से कि खूब मेवा व फल खाने को मिलेंगे।

५ माया जीतने के लिए कुछ विचार

इत्यादि अनेक कुटिल अभिप्रायों को रख कर ऊंची भूमिका में भी कदाचित् कुछ क्रियायें हो जाती हैं। उस समय वे परम योगेश्वर विचार करते हैं कि "भो चेतन ! तेरा स्वरूप तो शान्ति है। दूसरे के लिए इसका विनाश क्यों करता है ? शरीर की रक्षा के लिये शान्ति को क्यों कुयें में धकेलता है ? गुरुदेव तो करुणा बुद्धि से तेरा दोष निवारण करने के लिये यह प्रायश्चित दे रहे हैं। द्वेष वश तो नहीं। इसमें तो तुझे इष्टता होनी चाहिये न कि अनिष्टता। इसके ग्रहण में तो उल्लास होना चाहिये न कि भय। प्रायश्चित दाता गुरुवर के प्रति तो तुझे बहुमान होना चाहिये, कि निष्कारण केवल करुणा बुद्धि से प्रायश्चित रूप औषधि प्रदान करके, वह तेरे ऊपर महान अनुग्रह कर रहे हैं। क्यों दोषों आदि को छिपाने का प्रयत्न करता है ? इससे तो तेरी ही हानि है। यह दोष एक दिन संस्कार बन बैठेंगे, जिन संस्कारों का कि विच्छेद तू बराबर बड़े पुरुषार्थ से करता चला आ रहा है। सब करा कराया चौपट हो जायेगा।"

"अरे फिर यदि कोई तेरे दोष जान ही गया तो कौन बुरा हुआ ? वह तुझे क्या बाधा पहुँचा सकेगा ? थोड़ी निन्दा ही तो करेगा। तब तो अच्छा ही होगा। संस्कारों की शक्ति और क्षीण हो जायेगी। और तुझे चाहिये ही क्या ? तेरा मन मांगा तुझे देता है। उससे भय खाने की क्या बात ? वह तो तेरा हितैषी ही है। फिर अनहुए दोष तो नहीं कहता। झूठ तो नहीं बोलता। तूने जो दोष लगाये हैं, वही तो कहता है। तो कौन बुराई हुई ? वह तो उन दोषों को पुनः पुनः दोहरा कर तुझे सावधान करने का प्रयत्न कर रहा है, कि तुझ से ऐसा दोष बना था, अब न बनने पावे। बता क्या बुराई हुई ? महान उपकार किया। उपकार से भय खाने का क्या काम ? जो कहना है स्पष्ट कह डाल। निर्भय होकर कह डाल। छिपाता क्यों है ?"

"अरे ! आत्मख्याति स्वरूप भगवन ! इस बाहर की ख्याति पर क्या जाता है ? दो दिन में विनश जायेगी। छोड़ जायेगा यह शरीर तो कौन सुनेगा इसे ? दो दिन के लिये क्यों रीझता है ? और फिर तेरी ख्याति तो शान्ति में रस लेने से है। न कि इन शब्दों में ? अपनी ख्याति की महिमा भूल गया है, तभी इन तुच्छ शब्दों की महिमा आई है। भव भव में ख्याति देने वाली, तीन लोक में ख्याति फैलाने वाली, अपनी सहज ख्याति की अवहेलना मत कर। इस बाह्य ख्याति के कारण एक दोष पर दूसरा दोष मत लगा। सदा से दोषों का पुञ्ज बना आ रहा है। अब बस कर। अब इनमें और वृद्धि मत कर। निज शान्ति की ओर देख। उसकी महिमा का गान कर। तनिक सी इस ख्याति की भावना से, लिए हुए प्रायश्चित को धोये क्यों डालता है ?"

"अरे अलौकिक स्वाद पूर्ण भगवन ! भगवन होकर भी इन रङ्क जीवों से मिठाई, फल, मेवा, खीर आदि की भिक्षा मांगते क्या तुझे लाज नहीं आती ? जिह्वा इन्द्रिय को काबू में करने के प्रयोजन से त्याग किया जाता है, न कि उसे पुष्ट करने के लिये ? डर । अपने इस कुटिल अभिप्राय से डर । चार आने का अन्न छोड़ कर दस रुपये का भोजन करे, और साधु बनना चाहे ? शान्ति का उपासक बनना चाहे ? यह कैसे सम्भव है ? यदि अन्तरङ्ग स्वाद का बहुमान है, तो क्यों इस धूल में स्वाद खोजता हुआ अपने को ठग रहा है ? किसी का कुछ न जायेगा, तेरा ही तो सर्वस्व लुट जायेगा । अरे ! अपने ऊपर स्वयं प्रहार करते हुए क्यों तुझे भय नहीं आता ? यह देख उस ओर, पड़दे की ओट में, कौन खड़ी मुस्करा रही है ? मानों तेरी खिल्ली उड़ा रही है । "चला है साधु बनने । मुझे जीतने । पता नहीं मेरा नाम माया है । जिसने सब जग खाया है । अरे ! तुझ बेचारे में कहां सामर्थ्य, कि मेरी ओर आंख उठा कर भी देख सके । रङ्क कहीं का ।" प्रशंसा के शब्द सुनाई देते हैं, पर इन शब्दों को नहीं सुनता ? भूल गया अपने पराक्रम को । उठ । जाग । गर्जना कर । मुझे शान्ति चाहिये और कुछ नहीं । मैं निंदा की प्रवाह करता नहीं । मुझे स्वाद की प्रवाह है नहीं । मेरी शान्ति को घातने वाली कोई भी शक्ति मेरे सामने आज आये मुझे परवाह नहीं । और फिर देख कहां जाती है यह कुटिला माया, और कहां जाती है इसकी हंसी ?"

और इस प्रकार के अनेकों विचारों द्वारा अन्तरङ्ग के उस सूक्ष्म अभिप्राय को काट फैंकता है वह योगी, तथा परम धाम, शान्ति धाम को प्राप्त कर बन जाता है वह, जिसका लक्ष्य लेकर कि चला था । उत्कृष्ट रूप से न सही, पर क्या आंशिक रूप से भी मैं अपने लौकिक व धार्मिक जीवन में आने वाली इस माया को, इन विचारों के द्वारा क्षति नहीं पहुंचा सकता ? इसमें मेरा ही तो हित है, गुरुदेव का तो नहीं ।

३६
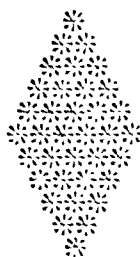
—: उत्तम शौच :—

दिनांक १६ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ६६

१—सच्चा शौच अन्तर मल शोधन, २—गङ्गा तीर्थ की सार्थकता, ३—गृहस्थ दशा में लोभ की प्रधानता व क्रम, ४—धार्मिक क्षेत्र में लोभ की प्रधानता व लोकेषणा, ५—यथा योग्य नमस्कारादि क्रियाओं के नियम की साधकता।

१ सच्चा शौच अन्तर मल शोधन

साम्य रस पूर्ण पावन गङ्गा में स्नान करके परम पावनता को प्राप्त हे परम पावन गुरुदेव ! मुझे भी पावनता प्रदान कीजिये। आज तक पावन अपावन के विवेक हीन बना, अज्ञान वश भोग सामग्री रूप विष्टा में हाथ डाल डालकर बालक वत् निर्लज्ज सा मैं, इस विष्टा को चाटता रहा, इसमें से स्वाद लेता रहा इस ही में अपना हित व कल्याण खोजता रहा, आज आपकी शरण में आ जाने पर, अपने वास्तविक स्वाद का भान हो जाने पर भी, अपने अशुचि हाथ व मुंह धोकर, यदि शुचिता उत्पन्न न करूं, आपके जीवन में प्रवाहित इस साम्य रस गङ्गा में स्नान करके पवित्र न बनूं, तो कब बनूंगा ? सदा ही विष्टा का कीड़ा बना रहूँगा। उत्तम शौच धर्म का प्रकरण है।

"शरीर व इन्द्रिय भोग सम्बन्धी धनादि जड़ पदार्थ व पुत्र मित्रादि चेतन पदार्थ इन तथा अन्य सर्व पदार्थों, यहां तक कि परमाणु मात्र को भी, मैं अपने काम में ले आऊं, उसमें से स्वाद ले लूं, उसे बुलालूं, उसे भेज दूं, उसे मिलालूं या बिछोड़ दूं, उसे बनादूं या बिगाड़ दूं।" इस प्रकार की अहङ्कार बुद्धि अशुचि है, अपवित्रता है। "यह सर्व पदार्थ मेरे इष्ट हैं या अनिष्ट है, मेरे लिए उपयोगी है कि अनुपयोगी हैं। मेरे लिए हित रूप हैं कि अहित रूप हैं।" इस प्रकार की रागद्वेषात्मक कल्पनायें ही वह अशुचि है, जिसको धोने की सुध ही आज तक प्राप्त नहीं हुई। निज महिमा की अवहेलना करता हुआ, सदा उनकी महिमा गाता आया हूं। महा अशुचि बना हुआ चलते-चलते, भटकते-भटकते न जाने किस सौभाग्य से आज इस साम्य रस गङ्गा का पवित्र तीर मिला है। भगवन ! एक डुबकी लगा लेने की आज्ञा दीजिये।

ऐसी डुबकी कि फिर बाहर निकलने की आवश्यकता ही न पड़े। उस नमक की भांति कि जिसे सागर की थाह लाने के लिये डोरे से बांध कर लटकाया गया हो। कुछ देर पश्चात् डोरा

खींच कर यदि उससे पूछें कि कितना गहरा है यह सागर, तो वहां कौन होगा जो इस बात का उत्तर देगा डोरा तो खाली ही पड़ा है । नमक की डाली घुल चुकी उसी समुद्र की थाह में। लेने गई थी उस सागर की थाह और घुल गई उसके साथ। उसी प्रकार निज महिमा के प्रति बहुमान पूर्वक, अन्तरंग में उछलते उस शान्त महासागर में एक बार डुबकी लगा कर लेने जाये उसकी थाह, तो कौन रह जायेगा जो बाहर आकर तुझे बताये कि यह शान्ति इतनी महिमावान है। स्वयं ही लय हो जायेगा उसमें। साम्यता, सरलता, वीतरागता, स्वतन्त्रता, शान्ति, सौन्दर्य व आन्तरिक महिमा, सब उसी गंगा के, उसी महा सागर के, भिन्न भिन्न नाम हैं। इसमें स्नान करने से वास्तविक पवित्रता आती है। वह पवित्रता जो अक्षय है ध्रुव है।

आन्तरिक मैल को धोना वास्तविक पवित्रता है। तेरी निज की पवित्रता है। शरीर की पवित्रता तेरी पवित्रता नहीं। वह झूठी है। इसको धोने से, मल मल कर स्नान कराने से, तेरा शौच नहीं। स्वयं उसका भी शौच नहीं, तेरा तो कहां से हो। क्योंकि अथाह सागर के जल से धोकर भी क्या इसे पवित्र किया जाना सम्भव है ? हरिद्वार में बहने वाली पवित्र गङ्गा की धार में इसे महीनों तक डुबाये रखने से भी क्या इसकी पवित्रता सम्भव है ? हो भी कैसे ? विष्टा का भरा घड़ा क्या ऊपर से धोने से पवित्र हो सकता है ? बढ़िया से बढ़िया साबुन मलिये, पर इसमें शुचिता आनी असम्भव है। यदि गङ्गा जल में स्नान करने अथवा साबुन रगड़ने मात्र से इसकी पवित्रता स्वीकार करते हो तो, ज़रा इतना तो बताओ कि जब स्नान करने के पश्चात् यह पवित्र हो चुके, तब यदि मैं एक लोटा गङ्गा जल का डाल दूं इस पर और उस जल को एक थाल में रोक लूं, तो क्या उस जल को आप पीने के लिये तैयार हो जायेंगे ? और उसी प्रकार उस पवित्र शरीर पर दुबारा लगाये गये साबुन के झाग क्या अपने शरीर पर पोतने को तैयार हो जाओगे ? नहीं ! तो कैसे कह सकते हो कि गङ्गा में स्नान करने से मैं पवित्र हो गया। मेरा शरीर पवित्र हो गया।

२ गंगा तीर्थ की सार्थकता

परन्तु एक ऐसा भी उपाय है कि हरिद्वार की गङ्गा में स्नान करने से यथार्थ पवित्रता प्राप्त हो जाये। वह पवित्रता जो अन्तरङ्ग मल को, राग द्वेष कषायों को, क्षोभ को धो डाले। और जिसके कारण बाहर का यह शरीर भी पवित्र हो जाये। इतना पवित्र कि तब इस पर डाला हुआ पानी आप पीना अपना सौभाग्य समझने लगें। उसे मस्तक पर चढ़ाने को आप धन्य मानने लगें। वह मार्ग निहित है उस लक्ष्य में, जो कदाचित् मुझे अर्थात् मेरे उपयोग को ले जाते वहां, जहां से यह गङ्गा निकल रही है, और जिसके कारण इसे पवित्र माना जा रहा है, तीर्थ माना जा रहा है। इसका जल सड़ता नहीं, इसलिये पवित्र नहीं है। बल्कि इसलिये पवित्र है कि उस स्थान से चली आ रही है, जहां कि इस युग के आदि ब्रह्मा श्री ऋषभ देव ने स्वयं यथार्थ शौच का आन्तरिक स्नान किया था। अर्थात् जहां बैठ कर तपश्चरण द्वारा उस महा योगी ने अन्तर के मानसिक प्रचंड क्षोभ का संहार किया था। हिमालय की ऊँची २ चोटियों से गिरती, पत्थरों से टकराती, कल कल नाद करती, अनेकों छोटे बड़े नालों में से प्रवाहित होती हुई, हरिद्वार में यह एक धार बन जाती है। यह मुझे उस परम पावन योगेश्वर के शुचि जीवन की याद दिलाती है, जिसने कैलाश पर सारा आन्तरिक मल धोकर इसी गङ्गा में बहा दिया था। और इस प्रकार अपने जीवन में पूर्ण शान्ति उत्पन्न करके [illegible] आदि ब्रह्मा या शिव ने आदर्श शान्ति गङ्गा का जीवन में अवतरण किया था। यदि इस पवित्र जीवन

की याद करके, मैं भी अन्तर मल शोधन के प्रति प्रवृत्ति करुं, और अन्तरङ्ग अशुचि को उस महान योगी वत् धो डालूं, तब ही गङ्गा का स्नान, वास्तविक स्नान कहलाया जा सकता है। इस शरीर मात्र को धोने से पापों का शमन होना असम्भव है। अन्तर उपयोग को शान्ति स्रोत में डुबा देने से, सर्व पापों के बाप लोभ का शमन होता है।

और इस प्रकार का उत्तम स्नान करते हैं वह परम दिगम्बर वीतराग योगेश्वर, जिनकी कि यह बात चलती है। इस उत्तम शौच से उनका अन्तर मल धुल जाने के कारण, उनका शरीर भी पवित्र हो जाता है। इतना पवित्र कि इसके स्नान का जल मेरे लिये चरणामृत है। जिसका पीना या मस्तक पर चढ़ाना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। बाहर से अत्यन्त मलीन, वर्षों से स्नान रहित व दन्त मन्जन रहित हुये, इस शरीर में भी इतनी शुचिता आ जाती है-उस उत्तम स्नान से-अर्थात् लोभ शोधन से।

३ गृहस्थ दशा में भी लोभ की प्रधानता व पराक्रम

यहां सर्व कषायों में लोभ ही प्रधान बताया जा रहा है। लोक में भी लोभ को पाप का बाप बताया जाता है। और यह कहना सत्य भी है। क्योंकि देखिये तो इस लोभ का प्राबल्य, जिसके कारण कि ब्राह्मण पुत्र ने सब विवेक को तिलाञ्जली दे दी, कुल मर्यादा छोड़ दी, और वेश्या के हाथ से रोटी का टुकड़ा मुंह में लेकर खा गया, और साथ में कुछ तमाचे भी। और इस प्रकार समझ गया वह उपरोक्त लोकोक्ति की सत्यता। तुझ को वैसा भी करने की आवश्यकता नहीं। अपने जीवन को पढ़ना मात्र ही पर्याप्त है। बता तो सही चेतन! कि यह सुबह से शाम तक की भाग दौड़, कल कलाहट, बेचैनी व चिंताओं का मूल क्या है? यदि धन के प्रति लोभ न होता, यदि आवश्यकतायें अधिक न होतीं, यदि सन्तोप को पाना होता, धन संचय का परिमाण कर लिया होता, तो क्या आवश्यकता थी इतनी कल कलाहट की व भाग दौड़ की, और क्या आवश्यकता थी चिन्तित होने की? यह लोभ के आश्रित रहने वाली कोई लालसा विशेष ही तो है, जो कि इस निस्सार धन की ओर तुझको इस बुरी तरह खींचे लिये जा रही है, कि तुझे स्वयं को भी पता नहीं कि कितना कमा चुका है, कितना कमाना है, कब तक कमाना है, और कितना साथ ले जाना है? इस लालसा के आधीन होकर जितना कुछ आज तक सञ्चय किया है, क्या कभी उस सर्व पर एक दृष्टि डाल कर देखने तक का भी अवकाश मिला है तुझे? अरे! इतनी कल कल अपने परिश्रम का फल, वह जो कि तुझ को अत्यन्त प्रिय है देखने तक की सुध नहीं, भोगने की तो बात क्या?

मुहम्मद गजनवी की बात तो याद होगी। सात बार सोमनाथ पर आक्रमण किया। सारा जीवन लूटमार में खोया। हाय सम्पदा! हाय सम्पदा! के अतिरिक्त जिसे कुछ न सूझा। खूब धन इक्ठ्ठा किया। परन्तु क्या उस दिन को टाल सका जो हम सबको ढंढोरा पीट पीट कर सावधान किया करता है, कि भाई! मैं आ रहा हूँ। कुछ तैयारी कर लेना चलने की। कुछ बांध लेना मार्ग के लिये। सम्भवतः आगे चल कर भूख लग जाये। परन्तु इस लालसा की हाय हाय में कौन सुने उसकी पुकार। और उसके आने पर रोना और झींकना, अनुनय विनय करना। भाई! दो दिन की मोहलत दे दो किसी प्रकार, कुछ थोड़ा बहुत बना लूंगा, अब तक तो बिल्कुल खाली हाथ बैठा हूँ। भूखा मरना पड़ेगा आगे जाकर, दया करो। उस समय आती है बुद्धि कि क्या किया है आज तक और क्या करना

चाहिये था । पर अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत । वह दिन मोहलत देना जानता ही नहीं । अन्तिम समय गज़नवी बिस्तर पर अन्तिम श्वास ले रहा है । सारा जीवन मानों बड़ी तेज़ी से घूम रहा है, उसके हृदय पट पर । बेहाल व बेचैन । कौन है इस सारे विश्व में जिसको सहायता के लिए पुकारूं ?

धन के अतिरिक्त, और है ही क्या यहां ? लाओ सारा धन, मेरी आंखों के सामने ढेर लगा दो । आज मैं रोना चाहता हूं जी भर कर । अपने लिये नहीं दूसरों के लिये, कि अरी भूली दुनिया ! देख ले मेरी हालत, और कुछ पाठ ग्रहण कर इससे । मुट्ठी बांध कर आया था खाली हाथ जा रहा हूँ । इस दिन पर विश्वास न आता था । सुना करता था, पर हंस देता था । मैंने तो भूल की । पर आप भूल सुधार लो । इस दुष्ट लोभ से अपना पीछा छुड़ायें और जीवन में ही कुछ पवित्र व्यञ्जन बना कर तैयार कर लें । ताकि इस दिन रोना न पड़े तुम्हें ।

देखिये इस लोभ की सामर्थ्य, कि जिसके आधीन ही मैं न्याय अन्याय से नहीं डरता । बड़े से बड़ा अनर्थ करता भी नहीं हिचकिचाता । इतना ही नहीं अन्याय करके उसे न्याय सिद्ध करने का प्रयत्न करता हूँ । "अजी मैं तो गृहस्थी हूँ, झूठ बोले बिना या सरकारी टैक्स मारे बिना, या ब्लैक किये बिना, या अधिकार से अधिक काम किये बिना कैसे चल सकता है मेरा ? मैं कोई साधु थोड़े ही हूं । आप तो बहुत ऊंची बातें कहते हैं । भला इस काल में ऐसी बातें कैसे पल सकती हैं ? न्याय पर बैठ रहें तो भूखे मरें ।" इत्यादि अनेकों बातें । परन्तु प्रभो ! करता रह अन्याय । कोई रोकता नहीं तुझे । तेरी मर्जी जो चाहे कर । गुरुवर तो केवल तुझे उस दिन की याद दिला रहे हैं । इस जीवन के लिए इतना किये बिना नहीं सरता । उस जीवन की ओर भ तो देख । वह भी तो तेरा ही जीवन है किसी और का नहीं । वहां के लिए बिना किये कैसे चलेगा ? 'न्याय पर बैठे रहने से भूखा मरना पड़ेगा', यह तो केवल उस लालसा का पोषण करने का बहाना है । क्या सन्तोषी जीवित नहीं रहते ? इतनी बात अवश्य है कि सन्तोष आने पर लालसा के प्राण समाप्त हो जाते हैं, और तू लालसा को जीवित रखना चाहता है । तेरे भूखा मरने का प्रश्न नहीं है । हां लालसा के भूखा मरने का प्रश्न अवश्य है । परम वीतरागी शुचिता की तो बात नहीं, इतनी शुचिता तो धारण कर ही सकता है । कुछ तो इस लोभ पर या लालसा को दबाने का प्रयत्न कर सकता है । ब्लैक मार्केट में हाथ [illegible] ।

४ धार्मिक क्षेत्र में लोभ की प्रधानता व लोकेषणा

यह तो हुई गृहस्थ दशा में धन सम्बन्धी स्थूल लोभ शोधन की प्रेरणा। अब चलती है धार्मिक क्षेत्र में प्रगट होने वाली, पहले भी अनेकों बार दृष्टि में लाई गई लोकेषणा अर्थात् ख्याति सम्बन्धी सूक्ष्म लोभ शोधन की बात। जो सम्भवतः धन सम्बन्धी लोभ से भी अधिक भयानक है। जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त सर्व भूमिकाओं में स्थित शान्ति के उपासक धर्मी जोवों को पद पद पर इसके प्रति सावधानी वर्तने की अधिकाधिक आवश्यकता है। क्योंकि जब तक इसका किंचित् भी संस्कार बीज रूप से अन्तरङ्ग में पड़ा है। यह दुष्ट अंकुरित हुए बिना नहीं रहता। सन्यासी की ऊंची से ऊंची दशा तक भी इसमें अंकुर फूट ही पड़ता है। तनिक सी सावधानी वर्तने पर, दीवार पर लगे हुए पीपल के अंकुर वत्, यह कुछ ही समय में एक मोटा वृक्ष बन जाता है। जो सारे मकान को खिला देता है। फिर बिना सम्पूर्ण मकान गिराये उसका निर्मूलन असम्भव हो जाता है। अर्थात् संवर प्रकरण में बताये गये तथा जीवन में उतारे गये, सारे किये कराये को खण्ड खण्ड कर देता है।

५ यथा योग्य नमस्कार आदि क्रियाओं की सार्थकता

शान्ति के इस सरल मार्ग पर बराबर कुछ पथिक चले आ रहे हैं। कुछ तेजी से और कुछ धीमे। कुछ आगे और कुछ पीछे। बहुत कुछ आगे निकल चुके हैं। मानों क्षितिज (Horrison) को भी पार कर गये हैं। जिन पर आज मेरी दृष्टि भी नहीं पड़ती। और कुछ मेरे निकट में ही थोड़ा आगे बढ़े चले जा रहे हैं। अपरिचित मार्ग में चलने वाले इन पथिकों को स्वाभाविक रूप में ही अपने से आगे वाले के प्रति कुछ बहुमान सा जागृत हो जाता है। जो अकृत्रिम होता है। किसी की प्रेरणा से नहीं बल्कि स्वयं आगे बढ़ने की जिज्ञासा में से अंकुरित हुए इस बहुमान वश, वह अपने से आगे वाले उस पथिक को डरते डरते पुकार ही उठता है। कि प्रभो! तनिक ठहर जाओ। मेरा भी हाथ पकड़ कर तनिक सहारा दे दो। पर उस बेचारे को यह क्या पता, कि उस आगे वाले की भी ठीक यही दशा है। वह अपने आगे वाले को अपना हाथ पकड़ने के लिए प्रार्थना कर रहा है। और वह तीसरा अगले चौथे को प्रत्येक की पुकार में उसका अपना स्वार्थ छिपा है। जिसके कारण कि उसको यह भी विचारने का अवकाश नहीं, कि यदि उसकी प्रार्थना को सुनकर यह आगे वाला रुक जाये, या उसका हाथ पकड़ने के लिये पीछे मुड़कर देखने लगे, तो कितना बड़ा अनिष्ट हो जायेगा। इससे आगे वाला सम्भवतः इतनी ही देर में इतना आगे निकल जाये, कि फिर वह दृष्टि में भी न आये। अथवा पीछे को देखते हुए और आगे चलते हुए उसको कोई ऐसी ठोकर लग जाये, कि नीचे गिर कर उसका सर ही फट जाये।

पीछे व आगे वाले दोनों पथिकों को अपनी अपनी क्रिया का फल मिलता है। पीछे वाले की क्रिया या पुकार का फल आगे वाले को नहीं मिल सकता। अतः यद्यपि इसकी पुकार स्वयं उसके लिये तो अत्यन्त हितकर है, पर आगे वाले के लिये वह अहित रूप बननी सम्भव है। वह आगे वाला अपनी अल्प शक्ति को देखते हुए यदि अपनी रक्षा के लिए स्वयं पीछे मुड़कर न देखे तो उसे कोई बाधा नहीं पड़ सकती, परन्तु यदि कदाचित् किसी भी आवेश में पीछे मुड़कर देख ले तो? प्रभु ही जाने कि क्या हो? उसका सब किया कराया मिट्टी में मिल जाये। ठीक है कि आगे जाकर शक्ति बढ़ जाने पर उसमें इतनी दृढ़ता आ जाती है, कि बड़े से बड़े प्रलोभन की ओर भी वह दृष्टि उठाकर नहीं देखता। परन्तु अल्प अवस्था में उसे अवश्य सावधानी रख कर चलना होता है। पीछे वाले का कर्तव्य है कि अपने लिये न सही, पर आगे वाले के हित के लिये वह उसको आवश्यकता से अधिक पुकार पुकार कर उसे पीछे मुड़ने पर बाध्य करने का प्रयत्न न करे।

यह तो केवल दृष्टान्त हुआ, इसका तात्पर्य इस उत्तम शौच के मार्ग में आने वाली ख्याति की भावनाओं का प्रशमन करना है। उत्कृष्ट वल को प्राप्त साक्षात् गुरुओं के अभाव के कारण आज स्वभावत: ही शान्ति के जिज्ञासु भव्य जनों का वहुमान, दृष्टि में आने वाले उन तुच्छ जीवों की ओर वह निकलता है, जिनके जीवन में गुरु प्रसाद से किंचित् भी चिन्ह उस शान्ति, या पवित्रता, या शुचिता के उत्पन्न हो गये हैं। उस वहुमान वश उस तुच्छ जीव के प्रति उसके द्वारा नमस्कार-आदि कुछ ऐसी क्रियायें प्रगट हो जाती हैं, जो अधिक शक्तिशालियों व ऊंची भूमिकाओं में स्थित जीवों के ही योग्य थीं। यद्यपि उनका यह वहुमान कृत्रिम नहीं, और न ही किसी की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है। स्वयं उसके लिये वह हितकारी भी है। परन्तु उसे क्या पता, कि इन क्रियाओं से उस छोटे से जीव का कितना बड़ा अहित हो रहा है। लोकेषणा के अंकुर का सींचन हो रहा है। यद्यपि किसी के ऊपर यह नियम लादा नहीं जा सकता, कि देखो जी अमुक व्यक्ति के प्रति वहुमान उत्पन्न न करना, या नमस्कारादि न करना। परन्तु स्व पर के उपकारार्थ उनसे यथा योग्य करने की प्रार्थना अवश्य की जा सकती है। और यह वात उसे समझाई भी जा सकती है। कि भले ही तेरा वहुमान व विनय सच्चा है, तेरे लिए हितकारी है, पर इस आगे वाले के लिए किंचित् अहितकारी है। इसकी शक्ति अभी तक इतनी नहीं है, कि इन क्रियाओं को देख कर उसमें लोकेषणा उत्पन्न न हो। अत: अपने लिये न सही पर इस आगे वाले के लिए तू इन क्रियाओं में कुछ कमी कर दे। इतनी कि तेरा काम भी चल जाये और इनके काम में भी वाधा न पड़े। और इसलिये गुरु देवों ने नमस्कारादि क्रियाओं सम्वन्धी कुछ नियम वना दिये. कि साधु को साष्टांग नमस्कार के द्वारा, उत्कृष्ट श्रावक के चरण स्पर्श के द्वारा, तथा जघन्य व मध्यम श्रावक को यथा योग्य अंजुलि करण के द्वारा ही अपने अपने वहुमान का प्रदर्शन करना योग्य है। ऊंचे के योग्य नमस्कार नीचे के प्रति करना योग्य नहीं।

इस प्रकार आन्तरिक ख्याति की महिमा जागृत करके धन सम्वन्धी व ख्याति सम्वन्धी लोभ का दमन करने वाला वह महा पराक्रमी योगी ही उत्तम शौच करता है, उत्तम स्नान करता है। शान्ति गङ्गा में स्नान करता हुआ उसके साथ तन्मय हो जाता है. ऐसा कि फिर वह शान्ति भङ्ग न होने पावे। पवित्र हो जाता है इतना कि फिर उसमें अपवित्रता आने न पावे। उनके जीवन को आदर्श वनाकर चलने वाले भो पथिक ! तू भी यथा शक्ति स्नान करके किंचित् शुचिता या निर्लोभता उत्पन्न कर।

३७

—: उत्तम सत्य :—

दिनांक २० अक्तूबर १९५९
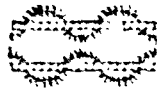
प्रवचन नं० ६७

१—सत्य में अभिप्राय की मुख्यता, पारमार्थिक सत्य पर पदार्थों में कर्तव्य का अभाव, ३—हित मित वचन ही सत्य है, ४—दश प्रकार सत्य, ५—शारीरिक क्रियाओं में सत्यासत्य विवेक।

१ सत्य में अभिप्राय की मुख्यता

पर पदार्थों के प्रति अहङ्कार बुद्धि रूप असत्य संस्कारों के विजेता हे सत्य स्वरूप प्रभु ! मुझको भी सत्य जीवन प्रदान करे। आज उत्तम सत्य धर्म की बात चलती है। सत्य किसे कहते हैं व असत्य किसे, इस बात का निर्णय किये बिना, 'जैसा देखा सुना गया हो, वैसा का वैसा कह देना' लोक में सत्य कहा जाता है। परन्तु यहां उत्तम सत्य की बात है साधारण सत्य की नहीं। उत्तम सत्य, जिसकी परीक्षा करने की कसौटी शान्ति है, सर्व जीव हित है। जैसा कि पूर्व प्ररूपित सर्व संयम सम्बन्धी अथवा अन्य कोई भी क्रियाओं सम्बन्धी प्रकरणों में सर्वत्र एक अभिप्राय की मुख्यता दर्शाई गई है, उसी प्रकार यहां भी अभिप्राय की मुख्यता है। सत्य असत्य का निर्णय अभिप्राय पर से किया जा सकता है। स्व पर हित का अभिप्राय रख कर की जाने वाली क्रिया सत्य है, और स्व पर अहितकारी अभिप्राय रखते हुए या हिताहित का विवेक किये बिना ही की जाने वाली क्रिया असत्य है।

वचन में ही सत्य या असत्य लागू होता हो, ऐसा भी नहीं है। मानसिक विकल्पों में, वचनों में, व शारीरिक क्रियाओं में, इन तीनों में ही सत्य व असत्य का विवेक ज्ञानी जन रखते हैं ? लोक में तो केवल वचन सम्बन्धी सत्य की ही बात चलती है, और यहां तो तीनों सम्बन्धी सत्य की बात है। मानसिक विकल्प में किसी के प्रति हित की भावना प्रगट होना, सत्य मानसिक क्रिया है। और अहित की भावना अथवा हिताहित के विवेक शून्य भावना प्रगट होना असत्य मानसिक क्रिया है। अपने या अन्य के हित का अभिप्राय और मानसिक विकल्प पूर्वक बोला जाने वाला वचन लौकिक रूप से असत्य होते हुए भी सत्य है। और अपने या अन्य के अहित का अभिप्राय और मानसिक विकल्प पूर्वक बोला जाने वाला वचन लौकिक रूप से सत्य होते हुए भी असत्य है। इसके अतिरिक्त स्व पर हितकारी भी वचन यदि कटु है, तो दुखदायक होने के कारण असत्य है। अतः हित रूप तथा मिष्ट वचन बोलना ही सत्य वाचसिक क्रिया है। स्व व पर के हित का अभिप्राय और मनो विकल्प सहित की जाने वाली शारीरिक क्रिया सत्य शारीरिक क्रिया है। और स्व पर के अहित का अभिप्राय और मनो विकल्प सहित की जाने वाली शारीरिक क्रिया असत्य शारीरिक क्रिया है।

अब इन तीनों क्रियाओं सम्बन्धी कुछ उदाहरण सुनिये, जिन पर से कि उपरोक्त सर्व कथन का तात्पर्य समझ में आ जाये।

पहले अभिप्राय की सत्यता पर विचारिये, तीनों का स्वामी यह अभिप्राय ही है। अभिप्राय में पारमार्थिक सत्य आ जाने पर तीनों क्रियायें स्वतः एव सत्य हो जायेंगी। अभिप्राय की असत्यता के कारण ही मेरे जीवन में क्रोधादि कषायों का, राग द्वेष का व चिन्ताओं का प्रवेश हो जाता है। अतः स्व पर भेद विज्ञान हुए बिना वास्तव में अभिप्राय में पारमार्थिक सत्य आना असम्भव है। 'शरीर धनादि व कुटुम्बादि का उपकार या अपकार मैं कर सकता हूँ, या इनके द्वारा मेरा उपकार या अपकार हो सकता है।' ऐसा निश्चय बने रहना पारमार्थिक असत्य है। क्योंकि वस्तु का स्वरूप ऐसा है ही नहीं। वस्तु तो स्वतन्त्र है स्वयं अपना कार्य करने में समर्थ। वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णय न होने के कारण ही मेरे मन में यह विकल्प उठा करते हैं कि, कुटुम्ब का पोषण मैं न करूं तो कैसे हो अर्थात् इस द्वेषी व शत्रु का विरोध न करूं तो कैसे हो? इस विकल्प में से अंकुरित हो उठता है एक दूसरा विकल्प, यह कि धन न कमाऊं तो कुटुम्बादि का पोषण कैसे हो? और इसके आधार पर ही नहीं है आज की सर्व वाचसिक व शारीरिक क्रियायें, जिनके कारण मेरा जीवन चिन्ताओं में जला जा रहा है।

हीनता को छोड़ कर सत्य अभिप्राय प्रगट करे, तो पुरुषार्थ का ढलाओ "पर" से हट कर स्व पर आ जाये। सब विकल्प मिट जायें। शान्ति मिल जाये। जीवन सत्य बन जाये। उत्तम सत्य का पालन होने लगे।

उपरोक्त सत्य के अनेकों दृष्टान्त देखते हुए भी भो भव्य ! क्यों तेरा अभिप्राय नहीं फिरता ? पैदा होते ही एक झाड़ी में फेंक दी गई कन्या पीछे भारत सम्राट जहांगीर की पत्नी नूरजहां हो गई। किसने किया उसका पोषण ? विमान से गिरे हनुमान की किसने की रक्षा ? "यह संस्था मेरे बिना न चलेगी", यह करते करते अनेकों चले गये। पर वह संस्था ज्यों की त्यों चल रही है। कौन करता है उसकी रक्षा ? पिता के अनेकों उपाय करने पर भी सौभाग्यवती मैना सुन्दरी का भाग्य किसने बनाया ? अरे भाई ! "मेरे द्वारा कुटुम्ब का पोषण होता है।" इस मिथ्या अभिमान को छोड़। और "सब स्वतन्त्र रूप से अपना पोषण आप कर रहे हैं। अपना भाग्य स्वयं साथ लेकर आते व जाते हैं। मैं उनमें कुछ नहीं कर सकता।" ऐसा सत्य अभिप्राय बना। यह ही है वास्तविक सत्य, पारमार्थिक उत्तम सत्य धर्म।

मन सम्बन्धी सत्यासत्य क्रियाओं के उदाहरण अभिप्राय में ही अन्तरभूत हो चुके हैं। अर्थात् उपरोक्त अभिप्राय के कारण मन में उठने वाले, "पर" में करने धरने आदि के विकल्प असत्य मनो विकल्प हैं। और स्वतन्त्रता का अभिप्राय बन जाने पर निज में शान्ति वेदन का कार्य सत्य मनो विकल्प है।

३ हितमित वचन ही सत्य है

अब वचन सम्बन्धी सत्यासत्य क्रिया के उदाहरण सुनिये। जैसा देखा सुना या अनुभव हो वैसा का वैसा ही कह देना ऐसा वास्तवमें सत्य की पहिचान नहीं। स्व पर हितकारी व मिष्ट वचन ही सत्य हैं और इसके विपरीत असत्य। जैसे कोई व्यक्ति मुझसे कदाचित् आपकी चुगली करता हो और आप पीछे मुझसे पूछें, कि यह क्या कह रहा था ? तो उस समय जो कुछ चुगली के शब्द उसने मुझसे कहे थे, वे ज्यों के त्यों आपसे कह देना यहां शान्ति के मार्ग में सत्य नहीं है, असत्य है। और आपके सम्बन्ध में कुछ बात नहीं थी। कुछ और ही बात कहता था। अथवा आपकी प्रशंसा में इस इस प्रकार कहता था।" ऐसा झूठ बोल देना भी सत्य है। क्योंकि पहली बात से आपके हृदय में क्षोभ आ जाने की सम्भावना है। और आपके तथा उस व्यक्ति के बीच द्वेष बढ़ जाने की सम्भावना है। अत: पहला वचन अहितकारी होने से असत्य है। दूसरे वचन के द्वारा आपको सन्तोष आयेगा और आपके तथा उस व्यक्ति के बीच पड़ा वैमनस्य भी कुछ कम हो जायेगा। अत: हितकारी होने के कारण यह दूसरा वचन सत्य है। यह है वचन की सत्यता व असत्यता की परीक्षा। साथ साथ इतना आवश्यक है कि वह वचन मधुर होना चाहिये। लठ मारा नहीं। तीसरा व्यक्ति सुनकर यह संशय न करने लगे, कि यह परस्पर बात कर रहे हैं या लड़ रहे हैं।

आओ और इससे आगे बढ़कर भी सत्यासत्य की परीक्षा करें। एक कोई अच्छे घर का लड़का कुसंगति में पड़ गया, और कदाचित् कोई बड़ा अपराध कर बैठा। सम्भवत: आपके सामने किसी को जान से मार बैठा, पकड़ा गया। मुकदमा चला। आपकी गवाही हुई। क्या कहेंगे आप ? परीक्षा का अवसर है। सत्य बोलना अभीष्ट है। लोक कहता है जैसा देखा वैसा कह दीजिये, यही सत्य है।

परन्तु शान्ति मार्ग कहता है, कि अव्वल तो मौन रहिये, नहीं तो उसकी रक्षा कीजिये, भले ही असत्य बोलना पड़े। "मेरे सामने इसने कुछ नहीं किया", ऐसा कह देना यहाँ सत्य है। क्योंकि इस वचन के पीछे छिपी है एक विशेष भावना। "ऊंचे कुल का पुत्र है। भले कुसंगति के कारण अपराध कर बैठा है। पहले पहल ही तो किया है। सम्भवत: पीछे से समझाने बुझाने पर सुधर जावे। अपने किये पर पछतावे और इसी भव में अपना कल्याण कर सके। जैसा कि वाल्मीकि डाकू पीछे महान ऋषि बन गया। और नव विवाहता पत्नि भी तो रोयेगी इसके पीछे। विधवा हो जायेगी बेचारी। "इत्यादि केवल उसके हित सम्बन्धी भावना।

परन्तु वही लड़का यदि बन चुका हो बहुत बड़ा अपराधी। अभ्यस्त अपराधी। पहले भी कई बार डाके आदि में या हत्या आदि के अपराधों में पकड़ा जा चुका हो, तो उस परिस्थिति में उपरोक्त प्रकार उसकी रक्षा करना हित न कहलायेगा बल्कि सच्ची गवाही देनी ही हित कहलायेगी। उस परिस्थिति में, "हां इसने मेरी आंखों के सामने इसकी हत्या की है", ऐसा स्पष्ट कह देना ही सत्य कहलायेगा। इतनी बात अवश्य है कि इस वाक्य में अपनी ओर से द्वेष वश कुछ अन्य नमक मिर्च लगाकर न बोला गया हो। सरल भाव से बोला गया हो। उसको किसी प्रकार फांसी मिले ही मिले या अन्य सजा मिले ही मिले, यह अभिप्राय रख कर न बोला गया हो। बल्कि जैसा इसके भाग्य में हो सो हो। मुझे तो अपने कर्तव्य से मतलब है। बस इतना अभिप्राय रख कर बोला गया हो। क्योंकि यहां परिस्थिति बिल्कुल बदल चुकी है। स्वयं वह तो अहित मार्ग पर चल ही रहा है, अत: उसका हित होने का तो प्रश्न ही नहीं। क्योंकि अभ्यस्त हो चुका है, इसलिए सुधर कर अपना हित करने की सम्भावना नहीं। उसके द्वारा दूसरों का जो अहित हो रहा है, उसकी ही रक्षा करना अब कर्तव्य हो जाता है। उसके पकड़ा जाने या फांसी दिया जाने में ही दूसरों का हित है।

इस प्रकार एक ही जीव के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न परिस्थितियों में बोला गया एक ही वाक्य कभी सत्य है और कभी असत्य। अत: बोलते समय बहुत सोच विचार कर बोलने की आवश्यकता है।

किसी पदार्थ में भी किसी अन्य पदार्थ की कल्पना करके, उसे वह पदार्थ बता देना सत्य है। जैसे कि शतरंज के पासों में आकारादि भी न दीखने पर, "यह हाथी है" इत्यादि कह देना सत्य है। परन्तु कोई इस पासे को वास्तविक हाथी समझ कर इसे हाथी कहे, तो वही वचन असत्य होगा।

किसी प्रमाणिक व्यक्ति की बात पर विश्वास करके यह कहना कि "यह ऐसा ही है" सो भी सत्य है। भले वह बात पूर्ण रूप में सत्य न हो। जैसे कि छिन्न भिन्न करने मात्र से किसी वनस्पति को अचित कह देना सत्य है, क्योंकि आगम की ऐसी ही आज्ञा है। यद्यपि सम्भव है कि छिन्न भिन्न कर लेने पर भी इसमें अनेकों जीव विद्यमान हों। परन्तु इसको वास्तव में वैसा ही समझ लेना या समझ कर उसे अचित कहना असत्य है।

अनेक कारणों से उत्पन्न हुए कार्य को किसी एक कारण से उत्पन्न हुआ कह देना सत्य है। जैसे कि किसान के द्वारा खेती बोई गई। यह कहना सत्य है। परन्तु अन्य सब कारणों को भूल कर, "केवल किसान ने ही खेती बोई", ऐसा कहना असत्य है।

अनेक पदार्थों से मिल कर बने किसी पदार्थ को एक नाम से कह देना सत्य है। जैसे कि चन्दन, कुंकुमादि से बने पदार्थ को धूप कहना सत्य है। परन्तु धूप नाम का कोई पृथक सत्ताधारी पदार्थ समझ कर धूप कहना असत्य है।

अनेक देशों में अपनी अपनी भाषा के आधार पर, एक ही पदार्थ को अनेक नामों से कहा जाना सत्य है। जैसे भारत में कहा जाने वाला "ईश्वर" नाम का पदार्थ इङ्गलैण्ड में "गौड़" शब्द से कहा जाना सत्य है। परन्तु ईश्वर पृथक वस्तु है, और गौड़ पृथक वस्तु है। ऐसा अभिप्राय रख कर कहे जाने वाले वही शब्द असत्य हैं।

प्रमाणिक व्यक्तियों या आगम के विश्वास के आधार पर, अनेक सूक्ष्म, दूरस्थ व आंतरिक पदार्थों के सम्बन्ध में यह कहना "कि यह ऐसे ही हैं", सत्य है। जैसे कि धर्मास्तिकाय आदि का साक्षात्कार न होने पर भी "द्रव्य छः ही हैं।" यह कहना सत्य है। परन्तु युक्ति आदि द्वारा किञ्चित् भी निर्णय किये बिना, केवल पक्षपात वश अन्धे की भांति ऐसा कह देना असत्य है।

किसी बात की सम्भावना को देखते हुए, "ऐसा हो सकता है", ऐसा कह देना सत्य है। जैसे कि "आज विश्व में युद्ध हो जाना सम्भव है", यह कह देना सत्य है। पर "युद्ध अवश्य होगा ही" ऐसा अभिप्राय रख कर वही वचन कहना असत्य है।

किसी की उपमा देकर, "यह पदार्थ तो बिल्कुल वही है", ऐसा कह देना सत्य है। जैसे कि जवाहर लाल नेहरू जैसी कुछ आकृति व कुछ संस्कार देख कर, "यह बालक तो जवाहर लाल है", ऐसा कह देना सत्य है। परन्तु बिल्कुल जवाहर लाल मान कर ऐसा कहना असत्य है।

किसी कार्य को करने का संकल्प मात्र कर लेने पर, "मैं यह काम कर रहा हूं।" ऐसा

कहना सत्य है। जैसे कि देहली जाने की तैयारी करते हुए, "मैं देहली जा रहा हूँ" यह कहना सत्य है। परन्तु वास्तव में इस समय रेल में बैठे हुए, "मैं देहली जा रहा हूँ", ऐसा अभिप्राय रख कर बोला हुआ वही वचन असत्य है।

और इस प्रकार अनेक जाति के वचन अभिप्राय के हेर फेर से अपने लौकिक व्यवहार में सत्य व असत्य होते हुये देखे जाते हैं।

५ शारीरिक क्रियाओं में सत्यासत्य विवेक

वचन की भांति शरीर के कोई भी, स्व पर अहितकारी, संकेतादि या इन्द्रिय व प्राण संयम में कथित कोई भी आसक्तता या हिंसादि सम्बन्धी क्रियायें, असत्य शारीरिक क्रियायें हैं। और स्व पर हितकारी व संयमित क्रियायें सत्य शारीरिक क्रियायें हैं।

३८

—: उत्तम संयम :—

दिनांक २१ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६८

१—यम व नियम, २—पंचेन्द्रिय जय, ३—पंच महाव्रत, ४—पंच समिति, ५—सप्त शारीरिक क्रियायें, ६—षट आवश्यक।

१ यम व नियम भव भव के दुष्ट संस्कारों का यमन करने वाले हे अन्वर्थ संज्ञक यमराज वीतराग प्रभु! मुझे यम प्रदान कीजिये। प्रति क्षण होने वाली विकल्पात्मक अर्न्तमृत्यु को जीत कर, मृत्यु की सर्वदा के लिए मृत्यु कर देने वाले मृत्युञ्जय पद को प्राप्त हे यमराज! मुझको भी अपनी शरण में लीजिये। ओह! कैसी अनोखी बात है? जिस यमराज से जगत कांपता है, आज उसकी शरण में जाने को प्रार्थना की जा रही है। विस्मय मत कर प्रभु! यमराज से डरने वाला मोह से ग्रसित जगत वास्तव में जानता ही नहीं कि यमराज कौन है? लोक में तो यमराज का अत्यन्त भयानक काल्पनिक चित्रण खेंचा गया है। पर ऐसा वास्तव में नहीं है। यमराज का तो स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है। अत्यन्त शान्त है। लोक में अमृत वर्षाने वाला है। दुष्ट संस्कारों का यमन करके जिन्होंने मृत्यु की भी मृत्यु कर दी है, ऐसे वह मृत्युञ्जय सिद्ध प्रभु! वास्तविक यमराज हैं। उनकी शरण में जाने की बात है। अर्थात् स्वयं यमराज बनने की बात है। भय को अवकाश नहीं। उत्साह उत्पन्न कर। आज संयम का प्रकरण चलना है।

संयम अर्थात् सम्यक् प्रकार यमन कर देना, मार देना-संस्कारों को। वैसे तो संयम के सम्बन्ध में अब तक बहुत कुछ कहा जा चुका है। परन्तु अभी भी पर्याप्त नहीं है। यम भी दो प्रकार का है। एक संस्कारों की पूर्ण मृत्यु रूप, और दूसरा किञ्चित् मृत्यु रूप। पूर्ण यम को यम और किंचित् यम को नियम कहा जाता है। अर्थात् अत्यन्त बली व पराक्रमी जीवों द्वारा संस्कारों का जीवन पर्यन्त के लिये धुतकारा जाना यम है। और शक्ति हीन जीवों के द्वारा उनका एक सीमित समय के लिये, १५ मिण्ट के लिये या आध घण्टे के लिये, या एक घण्टे के लिये, या पांच सात आदि दिनों या महीनों, या वर्षों के लिये किञ्चित् अंश रूप में धुतकारा जाना नियम कहलाता है। अब तक जितना भी कथन चला था वह सब नियम था, क्योंकि या तो मन्दिर के अनुकूल वातावरण में आध पौन घण्टे मात्र तक की सीमा के लिये करने में आता था, या बिना व्रत लिये अर्थात् पहले व्रत के प्रकरण में बताए 'तो' रूप शल्य को बिना निकाले, केवल अभ्यास रूप में किया जा रहा था। उसी अभ्यास के कारण शक्ति की

वृद्धि हो जाने पर वह नियमी यमी बन जाता है। अर्थात् योगी व संन्यासी बन जाता है। तब उसके बल व पराक्रम के क्या कहने ?

इस दशा को प्राप्त होकर वह यमी सम्पूर्ण बाह्य में प्रगट होने वाले स्थूल संस्कारों की शक्ति का विच्छेद कर देता है। और पुनः वह अंकुरित न होने पावें इस प्रयोजन वश, अनेकों कड़ी प्रतिज्ञायें धारण करता है। जीवन जाये तो जाये पर यह प्रतिज्ञा अब भङ्ग न होने पायेगी, ऐसी दृढ़ता है आज उसकी अन्तर गर्जना में। वह यमराज बनने को निकला है। वीरों का वीर यद्यपि पहले ही से इन्द्रियों को वश में कर चुका था, और प्राणियों को भी पीड़ा देने का उसे अवसर प्राप्त न होता था। पर आज उसका वह इन्द्रिय व प्राण संयम पूर्णता की कोटि को स्पर्श कर चुका है।

२ इन्द्रिय जय घर बार राज्य पाट आदि को लात मार पूर्ण संन्यासी बनकर, वन में अकेले वास करने वाले वे योगी बाहर में तो सम्पूर्ण इन्द्रिय विषय का त्याग कर ही चुके हैं। पर अन्तरंग में भी उनको सम्पूर्णतया जीत चुके हैं। स्पर्शन इन्द्रिय को ललकारते हुए उनने नग्न वेष धारण किया है कि देखूँ तो किस प्रकार गर्मी, सर्दी, मक्खी मच्छर आदि की बाधा आ जाने पर मुझको मेरे कार्य से विचलित करने में समर्थ हो सकेगी। नासिका इन्द्रिय के सामने आज वह सीना ताने खड़ा है। विष्टा के ढेर के सामने से गुजर जाए, पर क्या मजाल कि नाक या तेवड़ी में विकृति आ जाये। वह आज पुष्पों का ढेर है-उसके लिये। नेत्र इन्द्रिय को तो मानों मार ही डाला है। रम्भा व उर्वशी सी सुन्दर देव कन्यायें आकर उनके सामने नग्न नृत्य करने लगें, तो नेत्र खुले रखते हुए भी, उनके नग्न शरीर में स्पष्ट दीखने वाले अङ्गोपांगों में किञ्चित् भी विकृति न आये। आज वह सुमेरु सम अचल है। कर्ण इन्द्रिय आज खड़ी रो रही है। कैसे भी प्रशंसा के शब्द कहे या कोई गाली दे, या मधुर गान की ध्वनि आने लगे, पर आज इस बेचारी की बात कौन पूछे ? उनको तो आज इनमें से मानों कोई भी शब्द सुनाई ही नहीं देता है। वह सुन सकते हैं केवल शान्ति की पुकार और कुछ नहीं।

है। उसकी ओर लक्ष्य ही नहीं करता। जैसे कि अपना शास्त्र लिखने की धुन में टोडर मल जी बराबर छः महीने तक अलोना भोजन करते रहे, पर यह भी पता न चला कि अलोना खाया कि सलोना। माता उसका दृढ़ उपयोग देख कर चकित रह गई। और उसे उस समय तक उस अलोने पने का भान न हुआ, जब तक कि छः महीने पश्चात् उसका शास्त्र पूर्ण न हो गया। वह योगी इस जिह्वा को काबू में रखने के लिये इसे रूखा ही भोजन देता है। पौष्टिक नहीं देता। और इस प्रकार जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद को भी जिसने पूर्णतया जीत लिया है। ऐसा वह महान भाग्य यमी आज पूर्ण इन्द्रिय विजयी बना हुआ, सिंह की भांति अपना पराक्रम दिखा रहा है। धन्य है उसका बल।

३ पंच महाव्रत इन्द्रिय संयम के अतिरिक्त पूर्व में धारे गये प्राण संयम के अन्तरगत १२६६० विकल्पों का पूर्णतया त्याग करके, अर्थात् जो कुछ भी उनमें कमी रह गई थी, उसको भी दूर करके, वह आज पूर्ण रूपेण प्राण संयमी है। मनुष्य से लेकर चींटी पर्यन्त चलने फिरने वाले जीवों की तो बात ही क्या, वह आज पंखा झलना भी पाप समझता है। क्योंकि इससे वायुकाय के जीवों को बाधा होती है। सर देना स्वीकार पर घास का एक छोटा सा तिनका तोड़ना स्वीकार नहीं। क्योंकि इससे वनस्पति काय का जीव पीड़ित हो रहा है। क्या बतायें उसकी दयालुता, आज पृथ्वी व जल तक की बाधा को वह सहन नहीं कर सकता, और इसीलिये कदापि जल में गमन नहीं करता व आवश्यकता पड़ने पर भी पृथ्वी को ज़रा भी खोदता नहीं। धन्य है उसकी आदर्श करुणा, आदर्श अहिंसा।

आज वचन पर पूर्ण काबू पा चुका है वह। भूल कर भी किसी छोटे या बड़े जीव के प्रति उसके मुख से कभी अहितकारी या कटु वचन नहीं निकलता। अव्वल तो उसको किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं। एक तिनका मात्र भी ग्रहण करने का अवसर उसके जीवन में आता नहीं। हाँ इस शरीर रूपी बला को साथ साथ रहने के कारण कदाचित् भोजन की आवश्यकता पड़ती है। सो भी बिना किसी के द्वारा भक्ति व बहुमान पूर्वक दिये ग्रहण नहीं करता। भले ही तीन महीने का उपवास हो। वृक्षों पर से फल फूल स्वयं तोड़ कर खाने का तो प्रश्न ही नहीं, सामने थाली पुरसी रखी हो और कोई देने वाला न हो तो उसे भी कभी छूएं नहीं। स्त्री का तो पहले ही पूर्णतया त्याग कर दिया था। नेत्र इन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय व उपस्थेन्द्रिय के विजेता उस महा सुभट में, अब उसका विचार भी आने को अवकाश नहीं। इस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचारी है। घर बार, राज पाट, स्त्री पुत्र, धन धान्यादि की तो बात नहीं, निर्भीक वृत्ति धारण की है जिसने, ऐसा योगी वस्त्र के ताने मात्र का भी त्याग करके यथा-जात नग्न रूप में विचरण करता है। और इस प्रकार परिग्रह संयम के अंकुर को भी समूल उखाड़ फेंका है-उसने। पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य, व पूर्ण परिग्रह त्याग व्रतों को जीवन पर्यन्त के लिये धारण करने वाला वह महा यमी पञ्च महाव्रती है।

४ पंच समिति व्रतों की यहां ही पूर्णता हो गई हो ऐसा नहीं, अत्यन्त सूक्ष्मता में उतर कर देखने वाले वह योगी इतना नहीं भूले कि उनके साथ एक बला लगी हुई है-शरीर। जिसके कारण उनको आहार करना पड़ता है। तथा इस अपराध के फल स्वरूप शौचादि का दण्ड भी भोगना पड़ता है। इन दोनों कार्यों के निमित्त इस भार को साथ उठाये फिरना पड़ता है। कुछ बोलना पड़ता है। इसके इन

अपराधों से अपनी रक्षा करने के लिए जो यह पीछी व कमण्डल या शास्त्र तीन वस्तुयें रह गई हैं-उनके पास, इन्हें उठाना रखना भी पड़ता है। इन सब कार्यों में किसी न किसी रूप में प्राणियों को बाधा हो जाने की सम्भावना है। अत: प्राण संयम के अन्तर्गत उपरोक्त पंच महाव्रतों की रक्षा करने के लिये वे सर्व क्रियाओं में अत्यन्त सावधानी से वर्तते हैं। और उसी की दृढ़ता के अर्थ जन्म पर्यन्त के लिए पांच समितियों के पालन की प्रतिज्ञा लेते हैं। "चार हाथ आगे देख कर छोटे छोटे जीव जन्तुओं को बचाता हुआ ही गमन करूंगा। कभी भी मुख से अनिष्ट व कटु वचन न निकल जाये, इसलिए वचन तोल कर ही बोलूंगा। भोजन को खूब परीक्षा करके ही ग्रहण करूंगा। क्योंकि हो सकता है कि उसमें कोई छोटा जीव गिर कर अपने प्राण खो बैठा हो। या उसके बनाने में किन्हीं जीवों को बाधा हुई हो। पीछी, कण्डल व पुस्तकों को तथा इस शरीर को स्थान शोध कर ही उठाऊं धरूंगा। कहीं ऐसा न हो कि वहाँ पर पहले से बैठा कोई प्राणी इनसे दब जाने के कारण पीड़ित हो जाये। मल मूत्र को भी स्थान शोध कर ही क्षेपण करूंगा। और अन्य भी अनेकों प्रकार से व्रतों की रक्षा के लिये हर समय कटि बद्ध रहूंगा।"

५ सप्त शारीरिक क्रियायें

इतना ही नहीं इस शरीर की बला को पूर्णतया जीतने के लिये वह उस पर वक्र दृष्टि रखते हैं कि कहीं उच्छृंखल न होने पावे। और इसलिये उसके प्रति राग का नाश करते हुए कभी स्नान नहीं करते, कभी दांतों को नहीं धोते। ओह! यह तीनों बातें जो लोक में अत्यन्त निन्दनीय समझी जाती हैं, उनके लिए महान प्रशंसनीय है। जो हमारे लिये दोष है वह उनके लिये गुण है। वह पूर्ण वीतरागी हैं और हम रागी। इसी से उनकी भावना को पहुँच नहीं पाते, और इन बातों के कारण उस योगी की निन्दा करने लगते है। "यह महा मलीन व्यक्ति कहीं मुझ से छू न जावे", ऐसा अभिप्राय रखते हैं। परन्तु परम पवित्र उनकी आन्तरिक भावना को पहिचान। [illegible] को शान्ति की तुला में तोलते हैं, शरीर की सौन्दर्य की तुला में नहीं। शरीर का काम करने लगें तो अपना काम छोड़ना पड़ता है। अर्थात् राग करना पड़ता है। जिसके लिये वह किसी क्षण भी तैयार नहीं। यही दो मल थे जिनके प्रति का राग रोका जा सकता था, सो पूर्णतया रोक लिया। [illegible] आदि मल तो उनके आधीन नहीं। मल मूत्र के प्रति का राग भी यदि रोका जा सकता तो वह महान योगी अवश्य छोड़ देता, परन्तु ऐसा होना भी असम्भव है!

जंघा शक्ति की परीक्षा भी साथ साथ हो जाती है। और यह भी पता चल जाता है कि अब यह शरीर जवाव देने वाला है। अतः इससे पहले कि यह जवाब दे, योगी स्वयं सावधान होकर इसे जवाब दे देते हैं। अर्थात् जंघा बल को घटी हुई देख कर वह समाधिमरण धर लेता है। जिसका कथन आगे आयेगा।

इसको सुलाने का भी दण्ड भोगना ही पड़ता है। उसके प्रति भी अत्यन्त सावधान रहते हैं। बराबर कर्वट बदलते रहने में रात के समय चल कर आये व उस स्थान पर बैठे अनेकों जीव कर्वट के नीचे आकर मर सकते हैं। जिससे कि प्राण संयम में दोष लगेगा। उसकी रक्षार्थ तथा यह शरीर आराम से सोने में कहीं स्वयं उन्हें अचेत न कर दे, इसलिये उसे एक कर्वट ही सुलाते हैं। लेटने के पश्चात् कर्वट नहीं बदलते, तथा निरन्तर अधिक समय तक न सोकर, बीच बीच में जाग जाग कर अपना काम बराबर करते रहते हैं। कभी आध या पौन घण्टे से अधिक एक बार नहीं सोते। इतना ही नहीं, इस शरीर की सहन शीलता के लिये प्रति दूसरे, तीसरे तथा चौथे मास जो कुछ घास फूंस इस पर उग आती है उसे अपने हाथों से उखाड़ कर फेंक देते हैं। अर्थात् केश लुंचन करते हैं। शरीर से उदासीन व निरपेक्ष बने रहने के लिये, जीवन पर्यन्त इन सात क्रियाओं को इस रूप में करने की प्रतिज्ञा लेते हैं। धन्य है उनकी निरपेक्षता व साहस।

६ षट् आवश्यक यह तो सब शरीर व इन्द्रिय को वश में करने की बात हुई। परन्तु इतना ही नहीं। मन के प्रति भी वह असावधान नहीं हैं। उसे जीतने के लिये अर्थात् उसे जहां तक हो सके अधिकाधिक समय के लिये शान्ति में तल्लीन रखने का प्रयास करते रहते हैं। और इसलिये निश्चित रूप से दिन में तीन बार सामायिक करते हैं। रात को बीच बीच में जाग जाग कर सामायिक करते हैं। दिन में तीन अवसरों के अतिरिक्त अनिश्चित् रूप से अनेकों बार सामायिक करते रहते हैं। यहां तक कि चलते, तथा भोजन करते हुए भी अनेकों बार शान्ति में तन्मय हो जाते हैं। जीवन की अन्य प्रवृत्तियों में भी वन्दक निन्दक आदि इष्ट अनिष्ट पदार्थों में राग द्वेष न करके साम्यता व समानता ही धारण किये रहते हैं। शान्ति को भङ्ग नहीं होने देते।

इस शान्ति में लगने वाले दोषों के लिये, अर्थात् कदाचित् रागादि आ जाये तो उनके लिये, सदा आत्म ग्लानि पूर्वक अपनी निन्दा करते रहते हैं। शान्ति के आदर्श प्रभु की, दिन में तीन बार नियम से तथा अन्य भी अनेकों बार अनियम से, उनके शान्त रस में तल्लीनता रूप यथार्थ स्तुति व वन्दना करते रहते हैं। बाहर में दीखने वाले स्थूल दोष तो उन्हें प्रायः लगते ही नहीं, हां कदाचित् अन्तरंग में रागादि सम्बन्धी कोई सूक्ष्म दोष लग जावे, तो उनका पुनः पुनः चिन्तवन करते हुए आगे उनके प्रति और और सावधानी रखने की दृढ़ता धारते हैं। अर्थात् प्रतिक्रमण करते हैं। तथा शेष समय जो बच जाये, उस में शान्ति का उपदेश देकर या सुन कर, या पढ़ कर स्वाध्याय करते हैं। और इन

छः आवश्यक क्रियाओं में सदा तत्पर रहते हैं। जो क्रियायें कि उन्हें पर वश होने से बचाती हैं। अर्थात् उसमें राग आने के लिये अवकाश ही आने नहीं देतीं।

इस प्रकार पंच महाव्रत, पांच समिति, पंचेन्द्रिय जय, षट् आवश्यक आन्तरिक क्रियायें और सप्त शारीरिक क्रियायें करते हुए, वह इन अठाईस महान गुणों के धारी, महा भाग्य यमी, बराबर अपने मार्ग पर निर्भीक वृत्ति से, सिंह वृत्ति से बढ़ते जाते हैं। और एक दिन वास्तव में यमराज बन जाते हैं। गृहस्थ के योग्य इसी जाति की यथा योग्य क्रियाओं का वर्णन तत्सम्बन्धी संयम के प्रकरण में आ चुका है। मुझे भी यमराज बनने के लिए यम रूप से न सही, नियम रूप से उस संयम की शरण अवश्य लेनी चाहिये।

३६

—: उत्तम तप :—

दिनांक २२ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ६१

१—तप में दुख नहीं होता. २—तप का प्रयोजन पीड़ा वेदन के संस्कार का विच्छेद, ३—तप से शरीर की सार्थकता, ४—किसी दिशा में भी तप को लागू किया जाना सम्भव है, ५—अनशन, ६—अवमौदर्य, ७—वृति परिसंख्यान, ८—रस परित्याग, ६—विविक्त शय्यासन तप, १०—काय क्लेश. ११—छः अन्तरंग तप।

१ तप में दुख नहीं होता

आज तप धर्म का प्रकरण चलता है। यद्यपि तप शब्द सुन कर ही कुछ भय सा लगता है। "मुझे तप करना पड़ेगा", यह वात सुनना मैं सहन नहीं कर सकता, क्योंकि कुछ ऐसा विश्वास है, कि तप से बड़ी भारी पीड़ा होती होगी, बड़ी वेदना होती है। धूप में खड़े होकर आतापन योग करने वाले योगियों की अथवा महीनों महीनों के उपवासों द्वारा शरीर को कृश करने वाले योगियों की दशा को देख कर मानों मेरा हृदय कांप उठता है। और पुकार उठता है कि वड़ा कठिन है यह मार्ग, असिधारा के समान है, मुझसे न चलेगा। और इस प्रकार घवरा कर इस दिशा की ओर लखाने का भी साहस नहीं होता। अथवा ऐसा विचार आने लगता है कि क्या लाभ है, इस प्रकार के कठिन तपश्चरण से ? शरीर को जलाने व सोखने में कौन सा धर्म है ? पीड़ाओं का सहना क्या कोई अच्छी बात है ? और एक प्रकार की घृणा होने लगती है-तप से।

परन्तु भूलता है प्रभु ! वास्तव में ऐसी बात है ही नहीं। तप में पीड़ा होती ही नहीं। इसमें है शान्ति, आल्हाद, और उल्लास। पहले कहे अनुसार तप में भी दो क्रियायें बराबर चलती हैं। एक अन्तरंग क्रिया दूसरी वाह्य क्रिया। अन्तरंग क्रिया है अपने उपयोग का शान्ति के प्रति झुकाव, शान्ति में प्रतपन, इच्छाओं व विकल्पों का दमन, चिन्ताओं से मुक्ति। और वाह्य क्रिया है शारीरिक पीड़ा का सहना। तेरे उपरोक्त भय का कारण केवल यही है कि तूने केवल वाह्य क्रिया देखी है अन्तरंग नहीं ? वास्तव में उपयोगात्मक अन्तरंग क्रिया के विना वाह्य क्रिया निरर्थक हुआ करती है। यदि तूने अन्तरंग क्रिया की ओर लक्ष्य किया होता, तो यह शङ्का ही न उठती कि तप में पीड़ा होती है। कारण कि पीड़ा को अनुभव करने वाला उपयोग ही तो है। और उपयोग एक समय में दो दिशाओं में काम नहीं कर सकता। इसलिये यदि उपयोग अन्तरंग में शान्ति में केन्द्रित कर दिया जाये, तो बताओ पीड़ा का अनुभव कौन करेगा ? और पीड़ा किसे होगी ?

सुख पूर्वक उपयोग को किसी दिशा विशेष में केन्द्रित कर देने पर तो आपको भी दूसरी दिशा का ज्ञान होने नहीं पाता। जैसे यहां प्रवचन सुनते हुए, यहां पर टंगा यह क्लाक कब टन टन कर जाता है। आपको पता भी लगने नहीं पाता। परन्तु शरीर में पीड़ा होने पर भी यदि इसे किसी एक दिशा में केन्द्रित कर दिया जाये तो पीड़ा का वेदन नहीं होता। जैसे बुखार हो जाने पर ताश खेलने में उपयोग लगा दें, तो बुखार का पता नहीं चलता। जैसे कि अपने शत्रु दल को पीछे धकेलने में तत्पर बराबर उसकी क्षति करने वाला योद्धा, रणक्षेत्र मे कदाचित् अपने शरीर में लगे घावों की पीड़ा वेदन नहीं कर पाता, उसी प्रकार शान्ति के अल्हाद में केन्द्रित कर दिया है उपयोग जिसने, तथा बराबर संस्कारों की क्षति करने वाले योगी को बाहर की शारीरिक बाधाओं का पता भी नहीं चलता। मानों कुछ हो ही नहीं रहा हो।

२ तप का प्रयोजन पीड़ा वेदन के संस्कार का विच्छेद

तप का प्रयोजन, जैसा कि पहले गृहस्थ सम्बन्धी तप के प्रकरण में बताया जा चुका है। संस्कारों का विच्छेद करना है। संस्कार दो प्रकार के हैं। एक वह जो अन्तरंग में इच्छायें व अभिलाषायें उत्पन्न करके मेरी शान्ति घात करते हैं। दूसरे वह जो शरीर में पीड़ा हो जाने पर मुझे शान्ति में स्थिति पाने नहीं देते। गृहस्थ की निचली दशा में दूसरी जाति के संस्कारों के विरुद्ध युद्ध ठाना जाना असम्भव था। अतः पहली जाति के संस्कारों से युद्ध ठान कर, अभिलाषाओं व अन्तरंग विकल्पों को उत्पन्न करने वाले संस्कारों का विच्छेद करने रूप तप की मुख्यता से ही पहले के निर्जरा प्रकरण में कथन आया है। अब यहां दूसरी जाति के संस्कारों के विच्छेद करने रूप तप की मुख्यता से आयेगा। जो प्रधानतया योगी जन ही करते हैं। क्योंकि निचली दशा से शक्ति बढ़ाते बढ़ाते अब यह इतने बलवान हो गये हैं, कि बड़ी से बड़ी शारीरिक पीड़ा के साथ भी युद्ध ठान कर उसे जीत लें।

इस संस्कार को जीतने के लिए यह जान बूझ कर पीड़ाओं को निमन्त्रण देते हैं। अर्थात् जान बूझ कर ऐसा वातावरण बना डालते हैं, या ऐसे वातावरण में चले जाते हैं, जहां कि शरीर को अवश्य ही पीड़ाओं में पड़ना पड़े। मानों कि शत्रुओं को ललकार कर [illegible] उनके साथ युद्ध करने को उद्यत हुए हैं। अपने अन्दर जिस जाति की कमी या निर्बलता देखते हैं उसी जाति की पीड़ाओं में पड़ कर "शान्ति का विच्छेद न हो, विकल्प न उठे, विह्वलता न आए", ऐसा प्रयास करते हैं। इससे उत्पन्न होता है एक उल्लास व उत्साह और उससे मिलती है शक्ति। [illegible]

आगे आगे के अवसरों में संशय कम होता गया और बल बढ़ता गया। बस बल की इस वृद्धि का नाम ही तप है। इसके पूर्ण दृढ़ जाने पर तीन लोक की बड़े से बड़ी बाधा भी पीड़ा का वेदन कराने में समर्थ न हो सकेगी। और उस समय कह सकेंगे, कि संस्कारों का पूर्णतया विनाश हो गया है। अर्थात् निर्जरा हो गई है। संस्कारों का मूल नाश हो जाने पर विकल्पों को उत्पन्न होने के लिये प्रेरणा कौन दे ? और प्रेरणा के अभाव में शान्ति ही शान्ति। लक्ष्य बिन्दु की पूर्ण प्राप्ति। बस यही तो चाहिये। यह है तप का प्रयोजन व उसका लाभ।

३ तप से शरीर की सार्थकता है

शरीर भले तपश्चरण के द्वारा जलता व क्षीण होता जाये, पर योगी जनों को इसकी क्या परवाह। आप कारखाना लगाते हैं। उसमें मशीनें फिट करते हैं, तो किस लिये। "यदि मशीन को चलाया तो घिस जायेगी", क्या ऐसा अभिप्राय रख कर माल बनाना बन्द कर देते हो ? घिसे तो घिसे, टूटे तो टूटे, माल तो बनाना ही है। नहीं तो मशीनें हैं किस लिये ? टूट जायेंगी तो मुरम्मत कर लेंगे। अधिक घिस जाने पर मुरम्मत योग्य नहीं रहेंगी, तो फेंक देंगे। और नई लगा लेंगे। यही तो अभिप्राय रहता है या कुछ और ? बस तो शरीर के प्रति योगी का भी यही अभिप्राय है। आप तो इसे मशीन न समझ कर इसे "मैं" रूप में ही मानते हैं। इसीलिये इसके घिसने या टूटने अर्थात् रोग व मृत्यु से डरते हैं। पर योगी इसे मशीन समझते हैं। जिसे उन्होंने शान्ति रूपी माल तैयार करने के लिए लगाया है। वह इसके घिसने व टूटने अर्थात् रोग व मृत्यु से नहीं डरते। यह घिसे अर्थात् क्षीण हो तो हो। टूट जाये तो टूट जाओ। और यह है ही किस लिये ? जब तक मुरम्मत के योग्य है, अर्थात् शान्ति के काम में कुछ सहायता के योग्य है, तब तक इसकी मुरम्मत करके इसे भोजनादि आवश्यक पदार्थ दे देकर इससे अधिक से अधिक काम लेना। जिस दिन मुरम्मत योग्य न रहेगा अर्थात् बुढ़ापे से अत्यन्त जर्जरित हो जायेगा, उस दिन इसे छोड़ देना, अर्थात् समाधि मरण धर लेना। और नया शरीर मिल जायेगा। फिर उससे पुनः वही शान्ति का माल तैयार करने का धन्धा करना। कारखाना बन्द न होने देना। यह है योगी का तप से प्रयोजन। शरीर होने का यथार्थ फल।

४ किसी दिशा में भी तप को लागू किया जाना सम्भव है

बस इस प्रकार का अभिप्राय धार कर वह योगी अब स्थिरता का चार जामा कस, तप के हथियार सजा, निकल आता है युद्ध स्थल में। और ललकारता है एक एक शारीरिक पीड़ा को-जान बूझ कर उत्पन्न करता है उन्हें, जान बूझ कर प्रवेश करता है उनमें। और तो सर्व आवश्यकतायें व इच्छायें पहले ही त्याग चुका है। केवल एक ही आवश्यकता शेष रह गई है। और वह है भोजन सम्बन्धी। इसलिये उनके सर्व ही संस्कार आज एकत्रित होकर इस ही दिशा में तो अपना बल दिखा सकते हैं। और वह योगी भी इसी ही के आधार पर ही तो सर्व अभिलाषाओं के संस्कार विच्छेद सम्बन्धी पुरुषार्थ कर सकता है। इसीलिये भोजन की मुख्यता से इन तपों का वर्णन किया जायेगा। इसका यह अर्थ नहीं कि यह भोजन सम्बन्धी अभिलाषाओं पर ही लागू होने वाले हैं ? नहीं। प्रत्येक अभिलाषा पर यथा योग्य रूप लागू किये जा सकते हैं। हमारी तो आवश्यकताओं की शाखायें बहुत हैं। किसी शाखा पर भी लागू करके हम उस जाति के संस्कार का विच्छेद कर सकते हैं। जैसे कि योगी का आहार छोड़ कर उपवास करना, और इसी प्रकार आप यदि कर सकें तो एक दो दिन आदि या कुछ महीनों के लिये अपना धनोपार्जन छोड़ कर उपवास करना।

पर प्रतिग्रह के लिये खड़ा देखते हैं। पर मौन पूर्वक अपनी प्रतिज्ञा पूरे होते न देख कर-लौट आते हैं-विना आहार लिये, जब कि सब की भावना यह थी कि किसी प्रकार यह मेरे घर आहार कर लें तो मेरा जीवन सफल हो जाये। वह वेचारे कुछ नहीं जान पाते कि योगी क्यों लौट गये हैं ? और इस प्रकार वरावर महीनों तक नगर में अहारार्थ आते हैं और लौट जाते हैं। न प्रतिज्ञा पूरी होती है न वह आहार लेते हैं ? किसी को क्या पता कि क्या प्रतिज्ञा की है-इस योगी ने ? पता हो तो एक सपेरे को ही ला विठायें अपने घर के सामने। योगी वरावर अपनी साम्यता की परीक्षा करता रहता है, कि प्रतिज्ञा पूरी न होने पर उसे कुछ विकल्प तो नहीं आ रहा है। यदि आते हैं तो कड़ी आलोचना द्वारा उसे घातते हैं। "मिले तो अच्छा न मिले तो अच्छा। दोनों ही वरावर हैं।" ऐसे अभिप्राय पर वरावर दृढ़ बने रहते हैं। और इस प्रकार क्षुधा के साथ साथ इस दूसरी वाधा को भी जीत कर क्षुधा व इस तीसरे संस्कार को भी तोड़ डालते हैं। यह है तप का तीसरा भेद।

८ रस परित्याग भोजन के विकल्प सम्वन्धी एक चौथा संस्कार भी है-और वह है स्वाद की ओर झुकाव। भोजन करते समय क्षुधा निवृत्ति का प्रयोजन तो प्रायः याद भी नहीं रहता, केवल स्वाद लेने मात्र की ओर ही लक्ष्य चला जाता है। और खाने लगता है-उस पदार्थ को-खूब चटखारे ले लेकर। स्वाद लगे तो हर्ष और न स्वाद लगे तो विषाद। इस दुष्ट संस्कार के प्रति वह ज्ञानी वड़े सावधान रहते हैं। आज से ही नहीं, गृहस्थ दशा में पहले पग से ही, वह इस प्रवल संस्कार के साथ लड़ते चले आ रहे हैं। अनेकों वार पहले भी इसके सम्वन्ध में संकेत किया जा चुका है। परन्तु इस योगी ने इसे निर्मूलन करने का दृढ़ संकल्प किया है। स्वाद की मुख्यता मनुष्य के भोजन में छः पदार्थो से वन जाती है-नमक, मीठा या शक्कर, घी, तेल, दूध, दही। यह छः पदार्थ ही भोजन को स्वादिष्ट वनाया करते हैं। इनमें से कोई एक न हो तो स्वाद ठीक नहीं वैठता। और दो तीन आदि यहां तक की छहों से रहित भोजन तो घास के समान लगने लगता है। वस योगी महीनों व वर्षो के लिये इस में से किसी एक या दो या छहों का त्याग करके, जब तक कभी आहार लेने की आवश्यकता पड़े तव घास वत् ही भोजन करके इस खड्डे को आंट लेते हैं। और इस प्रकार रस सम्वन्धी इस संस्कार को भी जीत लेते हैं।

इस रस परित्याग का ऐसा विकृत रूप नहीं है जैसा कि आज देखने में आता है। एक रस को छोड़ कर अन्य रस में अधिकता कर देने से वह रस जीता नहीं जा सकता। जैसे नमक के त्याग में तो मीठे पदार्थों का भोजन कर लेना, और मीठे के त्याग में नमकीन पदार्थों का। अथवा शक्कर के मीठे के त्याग में मुनक्का का मीठा वना कर प्रयोजन सिद्ध कर लेना, और दूध के त्याग में वदामों का दूध वना कर। इस प्रकार एक पदार्थ की वजाये, दूसरे पदार्थ का ग्रहण रस त्याग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नीरस में जो अरुचि है उसका परित्याग नहीं किया जा सका है। भोजन को जिस किस प्रकार भी रसीला वनाने का प्रयोजन ही रहा। अतः रस परित्याग उसे कहते हैं कि नमक के त्याग में अलोना हो खाये, और मीठे के त्याग में मुनक्का आदि का प्रयोग न करें। दूध भी फीका ही पीलें। इत्यादि। सच्चे योगी कृत्रिमता नहीं किया करते। उनका त्याग या तप दूसरों को दिखाने के लिये नहीं, अपने हित के अर्थ, अपने संस्कारों को तोड़ने के अर्थ है। यह है भोजन सम्वन्धी चौथा तप।

यद्यपि उपरोक्त तपों का वर्णन योगियों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से दर्शाया गया है। परन्तु

और भी अनेकों वाधायें हैं। कहां तक गिनायें। इन वाधाओं को कदाचित् दुर्भाग्य वश आ पड़ने पर, इतनी शक्ति मुझ में कहां कि शान्ति को स्थिर रख सकूं। यद्यपि यह जानता हूँ कि इन वाधाओं से शरीर को हानि पहुँचे तो पहुँचे, मुझे कोई हानि नहीं पहुँच सकती। मैं तो चैतन्य व शान्ति मूर्ति, अविनाशी व अविकार, अमूर्तीक पदार्थ हूं। इनमें से किसी वाधा में भी मुझे स्पर्श करने की सामर्थ्य नहीं। पर इस विश्वास को जीवन में उतारने के लिये अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। कोई एक संस्कार ऐसे अवसरों पर ज़वरदस्ती मेरे उपयोग को शान्ति से हटा कर इन वाधाओं में उलझा देता है। मैं बजाये शान्ति के पीड़ा का वेदन करने लगता हूँ। कर्तव्य अकर्तव्य को भी भूल बैठता हूँ।

योगी जन इस दुष्ट संस्कार का निर्मूलन करने के लिए आज अपना पराक्रम दिखाने निकले हैं। स्वत: ही वह वाधायें आयें, इसकी प्रतीक्षा किये विना स्वयं जान बूझ कर इन वाधाओं में प्रवेश कर जाते हैं। या नवीन वाधायें उत्पन्न कर लेते हैं, और वहां उस अत्यन्त प्रतिकूल वातावरण में रह कर अभ्यास करते हैं-शान्ति में स्थिरता रखने का। अनुकूल वातावरण में तो स्थिर रह सकते थे पर प्रतिकूल में स्थिर रहें तव मजा है। और इसलिए कभी जाकर खड़े होते हैं ज्येष्ट की अग्नि बरसाती धूप में, जहाँ नीचे रेत मानों अङ्गारे ही वने पड़े हों, और खड़े रहते हैं या बैठ जाते हैं-घण्टों के लिये उस अग्नि में-शान्ति में अडिग रहते हुए। इस प्रकार के आतापन योग द्वारा खण्ड खण्ड कर देते हैं-गर्मी में वाधा पहुंचाने वाले उस संस्कार को।

इसी प्रकार पोष की तुषार वरसाती रातों में सारी सारी रात नदी के तीर खड़े हुए ध्यान मुद्रा धारण करके सर्दी में वाधा पहुँचाने सम्बन्धी संस्कार को तोड़ डालते हैं, तथा मूसलाधार बरसात में वृक्ष के नीचे, पत्तों पर गिरने के कारण और भी अधिक विखरी हुई बौछाड़ों में, घण्टों शान्ति में स्थिर बैठे रह कर, बरसात में वाधा पहुँचाने सम्बन्धी संस्कार को तोड़ डालते हैं। वरसात की रातों में वृक्ष के नीचे योग धारण करके मच्छरो आदि की वाधा सम्बन्धी संस्कार को उखाड़ फेंकते हैं। एक ही आसन पर कई घण्टों या पहरों खड़े रह कर या बैठ कर शान्ति में स्थिर उस योगी को देख कर आसन में वाधा सम्बन्धी संस्कार भी कांप उठता है-और अपना रास्ता मापता है।

जहां सिंह की गर्जनाओं, हाथी की चीत्कारों, गीदड़ों की चीख पुकारों अज़गरों की फुंकारों, प्रलय काल की आंधी वत्, तीव्र पवन के झोंकों से टूट कर गिरने वाले वृक्षों की गड़ गड़ाहटों, पत्तों की सरसराहटों, दिशाओं से आने वाली सायें सायें की दिल दहला देने वाली आवाज़ों, आंधी से ताड़ित नदियों में क्रुद्ध नागों वत् उछलते हुए जल की गर्जनाओं से वातावरण ने मानों अत्यन्त भयानक रौद्र रूप धारण किया है। ऐसे महा भयानक व विकट वनों में दिन रात ध्यान मुद्रा में निश्चल रहने वाले उन पराक्रमी योगियों के सामने, इस भय के संस्कार का क्या वस चले? तथा इसी प्रकार अन्य भी अनेकों प्रकार लोक की वड़े से वड़ी वाधा को जान बूझ कर निमन्त्रित करके भिड़ जाते हैं उनसे।

११ छह अन्तरंग तप—यह तो हुई वाह्य की कुछ शारीरिक वाधाओं सम्बन्धी संस्कारों के जीतने वाले तपों की बात। इतने पर ही सीमा नहीं आ जाती, वह अन्तरंग में नित नये नये रूप धारण कर करके उठने वाले विकल्पों के प्रति भी गाफिल नहीं है। उनका मूलोच्छेद करने के लिये जागृत गृह स्वामी वत् सदा

ध्यान के अत्यन्त उज्ज्वल व शुक्ल स्थान को प्राप्त होकर विशुद्धि में अनन्त गुणी वृद्धि करता हुआ ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि अब अन्तर में अचेत पड़े निद्रा व सूक्ष्म क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, मैथुन आदि के संस्कारों का भी क्रम से मूलोच्छेद कर देता है। बाह्य के स्थूल संस्कारों का पहले से ही नाश कर चुका था, अब अन्तरंग के भी सूक्ष्म संस्कारों का नाश करके संस्कार रहित हो निश्चल शान्ति अर्थात् पूर्व में स्थिर किये गए लक्ष्य बिन्दु को प्राप्त कर लेता है। इस परम धाम में प्रवेश करके अब वह सदा शान्त रहेगा। कभी भी अब वह वहां से च्युत न हो सकेगा। क्योंकि च्युत करने वाले कारण जो संस्कार या बंध तत्व वहां अब है ही नहीं : नए नए विकल्पों रूप आस्रव को कौन प्रेरणा दे। और आस्रव के बिना अशान्ति या संसार कैसे हो? अब वह मुक्त हो चुके हैं।
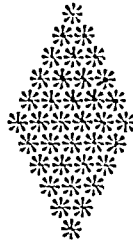
ज्यों की त्यों ही रही। उल्लू अन्धकार से हठ कर अन्धकार में ही जाता है। क्या पता बेचारे को कि यह अन्धकार है। उसके लिये तो वही प्रकाश है। यही तो हालत है मेरी-आज। कैसे पता चले कि ग्रहण में दुःख है। कुछ थोड़ा सा त्याग करके देखूं तो पता चले कि इतने से त्याग से जब कुछ शान्ति आई है, तो पूर्ण त्याग करके इस योगी को कितनी शान्ति आई होगी? आज मुझे त्याग में कष्ट प्रतीत होता है। और इसीलिए तो योगी के जीवन को कष्ट का जीवन मानता हूँ। किंचित् त्याग करके देखूं तो पता चले कि त्याग मूर्ति उन योगीश्वरों का जीवन कितना सुखी है।

एक साधु था। बड़ा सन्तोषी। घर घर जाता, एक एक रोटी माँगता और ९-१० घरों से अपना पेट भर लेता। कभी थोड़ा पानी चुल्लू में लेकर पी लेता। और दिन भर, भजन करता, प्रभु के गुण गान गाता। बड़ी शान्ति में बीत रही थी। एक भक्त कहने लगा कि महाराज! यदि खाते खाते प्यास लग जाये तो क्या करो? अतः एक सस्ता सा कटोरा ला देता हूं। विचारा साधु ने, कि चलो एक कटोरे से क्या बिगड़ेगा मेरा। ला देने दो। इस का भी चित्त प्रसन्न हो जायेगा। कटोरा आ गया। एक दिन शिवालय से निकल कर, जंगल की ओर संध्या ध्यान के लिए जाते समय, कटोरा रह गया शिवालय के बाहर। याद आया तब जब कि ध्यान में बैठ गया। बस फिर क्या था ध्यान नदारद, कटोरा ही कटोरा रह गया। "यदि कोई ले जायेगा तो।" झुंझलाहट सी उठी साधु को, "अच्छा लिया कटोरा", सब कुछ ही खो बैठा इसके पीछे। चलो पहले "इस कटोरे का ही इलाज कर आऊं, फिर करूंगा ध्यान।" आया द्वार पर। कटोरा पड़ा था। पत्थर लेकर तोड़ा मरोड़ा और फेंक दिया। उधर से भक्त भी आ निकला। पूछा कि "क्या बिगाड़ा है इस बेचारे ने आपका? जो इस प्रकार पीछे पड़े हो इसके।" "बिगाड़ा ही नहीं, सर्वस्व लूट लिया है-इसने-मेरा। तू क्या जाने बेटा! कि क्या किया है इसने?" साधु ने उत्तर दिया. और एक सन्तोष की सांस लेकर चला गया पुनः जंगल की ओर।

त्याग से ग्रहण में आकर ही पता चला साधु को कि कितना दुःख है ग्रहण में। इस प्रकार ग्रहण से त्याग में आकर ही पता चल सकता है कि कितना सुख है त्याग में। योगी का जीवन कष्ट में नहीं शान्ति के झूले में झूलता है। अभिप्राय बदल चुका है। शान्ति के स्वाद के सामने कौन पड़े इस जंजाल में? चुपडी खाने वाले को कैसे रुचे कच्चे चने चबाना? कोई ढेर भी लगा दे उनके सामने स्वर्ण या हीरों का तो आकर्षण की तो बात नहीं, उसे उपसर्ग समझें। उन पर दया करके, "हाय, विचारे ठिठुर रहे हैं सर्दी के मारे। एक कम्बल उढ़ा दो इन्हें", ऐसा विचार कर अपने शरीर पर से कम्बल उतार कर उनके शरीर पर डाल दो, और समझ बैठो अपने हृदय में-कि चैन पड़ गई होगी इन्हें। यह उनसे पूछो कि क्या बात रही है उनके-हृदय पर। एक बड़ा भारी उपसर्ग आ पड़ा है मानों। उनकी शान्ति घाती गई है। विकल्प उठ गये हैं।

३ त्याग का प्रयोजन शान्ति

राज पुत्र भर्तृहरि व शुभ चन्द्र दोनों भाई वैरागी हो गये। पर अभिप्राय में महान अन्तर था। दोनों ही ने स्वयं राज्य छोड़ी, सम्पदा छोडी, पर अन्दर में भर्तृहरि यही समझता रहा कि उसमें सुख है, और शुभ चन्द्र समझ गया कि उसमें दुःख है। फलितार्थ शुभ चन्द्र करने लगे शान्ति रस की सिद्धि। भर्तृ करने लगे स्वर्ण रस की सिद्धि। दोनों ही सफल हो गये, अपने-अपने प्रयोजन में। शुभ चन्द्र को शान्ति रस के साथ साथ मिल गई उसकी दासी भी, अर्थात् स्वर्ण बनाने की ऋद्धि भी, और भर्तृहरि को मिला केवल दास स्वर्ण रस। शुभ चन्द्र को मिलने पर भी उसने उसको ओर आंख

५ विलासता की रौ में पड़ा भारत

गुरुओं का आदर्श त्याग भारत धरा के कण कण में समाया हुआ है। और इसीलिये आज यह देश विश्व को त्याग का पाठ पढ़ाने चला है। "सेना में कमी करो, हथियारों में कमी करो, दूसरों की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता समझो, किसी की स्वतन्त्रता पर बुरी दृष्टि न डालो", इसी प्रकार के अनेकों उपदेशों द्वारा आज भारत सरकार विश्व को त्याग का आदर्श दिखाने चली है। पर खेद है, कि स्वयं उसकी उल्टी दिशा में जा रही है। दूसरों को त्याग का उपदेश देने वाली यह सरकार, स्वयं दूसरों से ग्रहण का उपदेश ले रही है। और वही चली जा रही है विलासता की ओर-भूल कर अपने योगियों का उपदेश-आदर्श त्याग।

एक ही ध्वनि है चारों ओर। "जीवन स्तर को ऊंचा उठाओ, स्टैण्डर्ड आफ लिविङ्ग (Standard of Living) में वृद्धि करो।" परन्तु गुरुओं के आदर्श को भुला बैठने वाले बेचारे, क्या जाने कि जीवन का स्तर किसे कहते हैं? जिस ओर वह जा रहे हैं वह जीवन का स्तर है कि मृत्यु का, शान्ति का स्तर है कि व्याकुलता का, सन्तोष का स्तर है कि अभिलाषाओं का, निश्चिंतता का स्तर है कि चिंताओं का। खेद है कि मृत्यु के स्तर को जीवन स्तर समझ बैठने वाला आज का भारत उन्नति की ओर नहीं अवनति की ओर जा रहा है। और मजे की बात यह कि दूसरों को उपदेश देने चला है जीवन का, शान्ति का। शान्ति, विलासता या ग्रहण में नहीं है भाई! त्याग में है।" जितना ग्रहण उतनी अशान्ति और जितना त्याग उतनी शान्ति। यह है यहां की महान आत्माओं का उपदेश। उसे सुनो और अपनाओ। और देखोगे कि जीवन शान्त हो जायेगा।

अपने जीवन में उतारे विना दूसरों को उपदेश देना अनधिकृत चेष्टा है। एक स्त्री किसी साधु के पास जाकर बोली कि, "मेरा लड़का मीठा बहुत खाता है। तंग आ गई हूँ। कोई उपाय बताइये"। साधु बोला कि तीन दिन पीछे आना। तीन दिन पीछे आई। फिर बोला सात दिन पीछे आना। सात दिन पीछे आई, फिर बोला दस दिन पीछे आना। और इस प्रकार दो महीने बीत गये, स्त्री निराश होती गई। पर दो महीने पश्चात साधु बोले कि अपने लड़के को मीठा देना बन्द कर दो। उसका सुधार हो जायेगा। स्त्री को यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ। "कौन नई बात बताई है महाराज ने? दो महीने पहले ही क्यों न कह दिया था आपने? इतने दिन व्यर्थ ही पीछे २ घुमाया।" "ऐसा नहीं है देवी! इतने दिनों तक मैं खाली नहीं बैठा, तेरे लिये उपाय ही सोचा है, अपने जीवन में उतार कर। और जब यह देख लिया है कि विना मीठे के काम चल सकता है तभी कहा है तुझे कि मीठा न देना।" अतः भो प्राणी! अपने जीवन में त्याग का आदर्श उतारे विना, दूसरे को त्याग का उपदेश देना तो तुझे शोभा नहीं दे रहा है। भले थोड़ा ही जीवन में उतार, पर जितना कुछ जीवन में उतर जाये उतना ही दूसरो को उपदेश देना कार्यकारी है।

आदर्श त्याग की शरण में जाकर, ग्रहण की रौ में मेरा बहते हुए जाना क्या शोभनीक है? क्या इसे त्यागी गुरु का आश्रय कहा जा सकता है? कुछ तो ले ले गुरु देव से। भले धन न छोड़। पर घर के अडंगे को तो कम कर सकता है। उसमें लौकिक रीति से भी तेरा लाभ ही है। भले उसे भी किसी को मुफ्त में मत दे। मोल बेच दे। उसका रुपया बना कर अपने पास ही रख। पर उसे कम करके देख तो सही। बीस कुर्सियों में से केवल दो रख बाकी को बेच डाल, और फिर देख, यदि कुछ शान्ति मिलती है तो आगे और त्याग देना, नहीं तो आठ की बजाये बारह और खरीद लेना। ....

६ गुरुदेव का त्याग शान्ति का सन्देश गुरुदेव का त्याग इतने पर ही बस नहीं हो जाता। उसकी महिमा अचिन्त्य है। वह धनादि या वस्त्रादि का त्याग व दान तो तुच्छ सी बात है। वह तो उस वस्तु का त्याग कर रहे हैं अर्थात् दान दे रहे हैं, जो कोई नहीं दे सकता। किसी एक को नहीं, समस्त विश्व को दे रहे हैं। शब्दों में नहीं जीवन से दे रहे हैं। रोम रोम से दे रहे हैं। शान्ति का संदेश, शान्ति का उपदेश, शान्ति का आदर्श। जिसके सामने तीन लोक की सम्पत्ति धूल है, विष्टा है, वमन है।

खेद है कि अपनी दशा पर, कि विष्टा तथा वमन जानते हुए भी मैं उसी को नित्य ग्रहण करने के पीछे दौड़ा चला जा रहा हूं। जिस वस्तु को एक बार नहीं अनन्तों बार ग्रहण कर करके छोड़ दिया वह वमन नहीं तो क्या है? कौन सी वस्तु यहां ऐसी दिखाई दे रही है जो तेरे लिये नई है? देव बन बन कर, इन्द्र बन बन कर, चक्रवर्ती व राजा बन बन कर कौन सी वस्तु ऐसी रह गई है जो तूने न भोगी हो? भूल गया है आज तू अपना पुराना इतिहास। इसी से नई लगती है। यदि याद करे तो जान जाये कि हर भव में तूने इसे ग्रहण किया और हर भव में इसने तेरा त्याग किया। तू कष्ट कर करके इसे ग्रहण करता, इसका पोषण करता, और यह पुष्ट होकर एक दम तुझे त्याग दिया करता। ऐसे कृतघ्नी को पुनः तू ग्रहण करने चला है-आश्चर्य है। अब तो आंखें खोल और इससे पहले कि यह तुझे त्यागे, तू इसे त्याग दे।

यह है उत्तम त्याग धर्म, जो त्याग के लिये नहीं बल्कि शान्ति के ग्रहण के लिये है। शान्ति के अभिप्राय से रहित किया गया त्याग दुख का कारण है। उसको यहां स्थान नहीं है।

४१
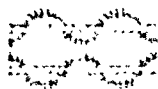
—: उत्तम आकिंचन्य धर्म :—

दिनांक २५ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७२

१—अभिप्राय के अनुसार अनेकों योगी, २—स्वतन्त्रता का उपासक योगी गांधी, ३—शान्ति के उपासक को कुछ नहीं चाहिये. ४—दृढ़ संकल्प की महत्ता, ५—षट् कारकी कल्पनाओं की विपरीतता, ६—यहां कोई तेरा नहीं, ७—सच्चा त्याग।

अहो ! सम्पूर्ण वाह्य व अन्तरंग परिग्रह का त्याग करके, यथार्थ आकिंचन्य अवस्था को प्राप्त गुरु देव ! आपकी महिमा गाने को कौन समर्थ है ? आकिंचन्य धर्म की वात चलती है। आकिंचन्य अर्थात् 'किंचित मात्र भी मेरा नहीं है, ऐसा अभिप्राय महान धर्म है, मेरा स्वभाव है। अपने से अतिरिक्त कोई भी अन्य पदार्थ मेरा होना स्वभाव नहीं हैं। इसलिये शान्ति के उपासक का यह अभिप्राय धर्म है। शान्ति मेरा स्वभाव है। मुझे वही चाहिये और कुछ नहीं। उस शान्ति को छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं चाहिये, यह है गर्जना उस योगी की। शान्ति के उपासक की।

१ अभिप्राय के अनुसार अनेकों योगी

परन्तु योगी कौन है ? सभी तो योगी हैं। योगी का अर्थ है जुट जाने वाला। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कमर कस के जुट जाने वाला योगी होता है। हम सभी तो कमर कस के किसी लक्ष्य के प्रति जुटे हुए हैं। तो क्या हम योगी हैं ? हां अवश्य ! परन्तु उपरोक्त योगी जैसे नहीं। अन्तर है अभिप्राय में। हमारा लक्ष्य है, "मुझे तीन लोक की सम्पत्ति चाहिये।" इसके वाधक या इसके अतिरिक्त किंचित मात्र भी मुझे सहन नहीं हैं। इसके सामने धर्म कर्म भी मुझे चाहिये नहीं। और उपरोक्त योगी की ध्वनि है, "मुझे शान्ति चाहिये। इसमें वाधक या इसके अतिरिक्त किंचित मात्र भी मुझे सहन नहीं। इसके सामने धन कुटुम्वादि भी मुझे चाहिये नहीं।" कितना महान अन्तर है योगी और योगी में। एक का लक्ष्य है असम्भव रूप तृष्णा में खोया हुआ असाध्य, और दूसरे का लक्ष्य है अनुभव की तृप्ति में विलीन साध्य। विचार तो सही, कि क्या तीन लोक की सम्पति का लक्ष्य पूरा हो सकेगा ? मृग तृष्णा में ही दौड़ता दौड़ता मर जायेगा। सव कुछ यहीं छोड़ जायेगा। पुनः जन्मेगा, फिर उसी लक्ष्य को रख कर दौड़ता हुआ मर जायेगा। फल निकला केवल जन्म मरण और अशान्ति। मृग तृष्णा की दाह। और दूसरे का लक्ष्य है सच्चा साध्य। वर्तमान में प्रयास करेगा। किंचित शान्ति प्राप्त करेगा। मर जायेगा। पर उसे साथ लेकर जायेगा। आगे जन्मेगा फिर प्रयास करेगा। उस

ले यह शिखा तभी बंधेगी, जब कि तेरा बीज भी नाश हो जायेगा ।" ओह ! कितना बल था उसकी गर्जना में, और कितनी दृढ़ता समस्त विश्व ने देख दिला उसका प्रभाव नन्द का सर्वस्व नाश कर दिया गया। सत्ता आई सम्राट चंद्र गुप्त के हाथ में, जिन्होंने पीछे दिगम्बर योग धारण करके वही उपरोक्त गर्जना उत्पन्न की अपने अन्दर मुझे शांति चाहिये इसके अतिरिक्त किंचित् मात्र भी नहीं कि अगामी विश्व देख लेगा उसकी गर्जना का प्रभाव

परन्तु इस गर्जना का आधार क्या ? क्या वह जो कि कल के वक्तव्य में आपने समझा ? अर्थात् सर्वस्व का त्याग विश्वके लिए सर्वस्व का दान ? नहीं ! वास्तव में कल का वक्तव्य समझा ही नहीं। वस्तु के त्यागने का नाम त्याग नहीं वस्तु के देने का नाम दान नहीं आकिंचन्य ही यथार्थ त्याग है। दान है अर्थात् किंचित् मात्र भी मेरा नहीं। पहली गर्जना थी, कि शांति के अतिरिक्त किंचित् मात्र भी मुझे नहीं चाहिए।" और अब है, "शांति के अतिरिक्त किंचित् मात्र भी मेरा नहीं।" 'मुझे नहीं चाहिए', और 'मेरा नहीं।' इन दोनों में क्या अन्तर है ? शब्दों के अन्दर कुछ अन्तर प्रतीत होता है। क्योंकि पहली पुकार में ध्वनित होता है कि "मैं ले सकता हूँ पर नहीं लूंगा।" और दूसरी पुकार में ध्वनित होता है कि "मैं ले ही नहीं सकता, लूंगा किसे और त्यागूंगा किसे ?" परंतु वस्तुतः दोनों में अभिप्राय एक है वास्तव में मेरा कुछ है ही नहीं

५ षट् कारकी कल्पनाओं की विपरीतता

ज़रा विचार करके देखो तो पता चल जाए, कि यहां वास्तव में मेरा है ही क्या ? मेरी वस्तु वह हो सकती है कि जो सदा मेरी होकर रहे। जिन वस्तुओं को मैं 'मेरी है, ऐसा मानता हूं, वह मैं अपने साथ लाया नहीं, साथ लेकर जाता नहीं, यहां रहते हुए भी सदा मेरे साथ रहती नहीं, फिर कैसे उन्हें मेरी कह सकता हूं ? वास्तव में मेरी कहना कल्पना है। जिसके अन्तर्गत छः भूले पड़ी हुई हैं, इन भूलों का नाम षट् कारक है। व्याकरण में आप सबने पढ़े हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण। इन छः कल्पनाओं के आधार पर ही मैं वस्तु को मेरी कहने का साहस करता हूँ। जैसे कि मैं पुत्रादि का पालन करता हूँ अतः मैं उनका कर्ता हूँ। उनका पालन करना मेरा कर्तव्य है। अतः वह मेरे कर्म हैं। मेरे द्वारा उनका पालन होता है। अतः मैं उनका करण हूँ। उनके लिये ही मैं सब न्याय अन्याय कर रहा हूँ। अतः वह मेरे सम्प्रदान हैं। उनका पालन करना ही मेरा स्वभाव है। अतः मैं उनका अपादान हूँ। मेरे आश्रय पर ही उनका जीवन टिक रहा है, अतः मैं उनका अधिकरण हूँ। और इसलिये वह मेरे हैं। और इसी प्रकार वह मेरी सेवा करते हैं। अतः वह मेरे कर्ता हैं। मेरी सेवा करना उनका कर्तव्य है अतः मैं उनका कर्म हूं। उनके द्वारा ही मेरी सेवा हो रही है अतः वे मेरे करण हैं। मेरे लिये ही यह परिश्रम कर रहे हैं अतः मैं उनका सम्प्रदान हूं। मेरी रक्षा करना ही उनका स्वभाव है अतः वे मेरे अपादान हैं। उसके आश्रय पर ही मेरा यह जीवन सुख से बीत रहा है, अतः वे मेरे अधिकरण हैं। अर्थात् मैं तो उनका कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूँ, इसलिये वे मेरे हैं। और वे मेरे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण है इसलिये मैं उनका हूं। इसी प्रकार मैं धन का कर्ता (उपार्जन करने वाला) कर्म, करण, अम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूँ अतः धन मेरा है। और धन मेरा कर्ता (रक्षक) कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व

तू और कौन तेरा प्रभु ? अपनी मर्जी से आया था और अपनी मर्जी से जाता हूं। न तुझ से पूछ कर आया न तुझ से पूछ कर जाता हूँ। तू कौन होता है मुझ से बातें करने वाला ?" और निराशा में डूबे रोने लगे हैं-आप। इतने विषाद का क्या कारण है ? क्या सोचा है कभी ? क्या उस पुत्र का जाना कारण है। ऐसा मानना तेरी भूल है। पुत्र का जाना विषाद का कारण नहीं, और न ही उसका आना विषाद का कारण था। "अर्थात् जो यह न आता तो आज क्यों विषाद होता ?" ऐसा मानना ही भूल है। वास्तविकता तो यह है कि यदि तू उसके अन्दर उस समय, "मेरे लिये भेजा गया है, मेरा नाम जीवित करेगा", और इसी प्रकार अन्य पट् कारकी भूलें न करता, तो आज यह विषाद न होता। इसी प्रकार लक्ष्मी के आने और जाने के सम्बन्ध में भी समझ लेना। दृढ़तया यह निश्चय किये बिना, कल्पना मात्र से नहीं, बल्कि वास्तव में कोई भी पदार्थ पट् कारकी रूप से मेरा है ही नहीं, वह उपरोक्त गर्जना निकलनी असम्भव है।

७ सच्चा त्याग — और ऐसा दृढ़ निश्चय होने के पश्चात् समझ में आ जायेगा कल के त्याग का रहस्य। "मेरा कुछ है ही नहीं। तो किसका त्याग। किसी वस्तु का तीन काल में एक समय के लिये ग्रहण ही नहीं हुआ। किसका दान ? न कुछ त्याग न कुछ दान। केवल मिथ्या बुद्धि का त्याग, मिथ्या बुद्धि का दान।" बस इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है-त्याग का अभिप्राय। "मैंने विश्व के लिये दान करदी या त्याग दी", इस अभिप्राय में तो पड़ा है अभिमान। उस वस्तु का स्वामित्व। अर्थात् "मेरी थी मैंने त्याग दी।" ऐसा त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। शान्ति का मार्ग नहीं है। कुछ त्याग की नकल मात्र है।

देखो ! किसी समय मेरा एक लोटा आपके घर आया। और पड़ा रहा, वहां ही। मैं मांगना भूल गया और आप देना भूल गये। प्रयोग में लाते रहे। यह भी विश्वास हो गया कि वह आपका ही है। साल भर पश्चात् आपके घर में किसी कार्य वश आया। पानी मांगा। संयोग वश वही लोटा सामने आया। "भाई साहब ! क्षमा करना। क्षोभ न लाना। यह लोटा तो मेरा है। यह देखो इस पर मेरा नाम खुदा है। साल भर से भूला हुआ था।" और आपने भी नाम देख कर निश्चय कर लिया कि हां "मेरा ही है।" "क्षमा करना भाई साहब ! बड़ी भारी भूल हुई मेरी। कहें तो नया मंगा दूं। नहीं तो यही ले जाइये।" यही तो कहेंगे आप उसके उत्तर में या कुछ और ? अब इसी के सम्बन्ध में दूसरी कल्पना कीजिये। कोई भिखारी आता है आपके घर, और आप दया करके वही लोटा दे देते हैं उसे ? लोटे के त्याग की दो कल्पनायें आपके सामने हैं ? एक मुझे देने की और एक भिखारी को देने की। दोनों कल्पनाओं में ही आप देने वाले हैं। और वही लोटा दिया गया है। विचारिये कि कुछ अन्तर है दोनों त्यागों में। मुझे जो दिया, उसका तो दिया ही क्या ? आपका था ही नहीं। भिखारी को दिया, सो अपना करके देने के कारण हो गया अभिमान। "मैंने उस पर ऐहसान किया है।" यह काहे का त्याग ? पहला वस्तु स्वरूप के आधार पर है और दूसरा भ्रम व भूल के आधार पर। एक में निर्विकल्पता है, और दूसरे में अभिमान का विकल्प। एक में शान्ति है और दूसरे में अशान्ति। इसीलिये पहला त्याग सच्चा है और दूसरा त्याग झूठा।

यदि शान्ति की इच्छा है तो सच्चा त्याग कर। सच्ची गर्जना उत्पन्न कर। "यहां किंचित् मात्र भी मेरा नहीं है। किसको ग्रहण करूं और किस को छोड़ूं ? शान्ति ही मेरी है वही मुझे चाहिये।

अन्य कुछ मेरा नहीं है। वह मुझे चाहिये भी नहीं। अपनी स्वतन्त्रता मेरा अधिकार है वही मुझे चाहिये। अन्य को परतन्त्र बनाना मेरा अधिकार नहीं, अतः परमाणु मात्र को भी परतन्त्र बनाने की मुझे इच्छा नहीं। अपने में षट् कारकी रूप से मैं कुछ कर सकता हूँ, अतः अपने में ही कुछ करना चाहता हूँ। पर में षट् कारकी रूप से कुछ कर नहीं सकता, अतः पर में कुछ करना भी नहीं चाहता।" इत्यादि यह है सच्ची गर्जना या सच्चा अभिप्राय। सच्चा आकिंचन्य धर्म।

वास्तव में तो योगी जनों ने ही इसे जीवन में ढाला है। पर आप भी अपने अभिप्राय को उपरोक्त रीति बदल कर किञ्चित् उस धर्म के उपासक बन सकते हैं? अर्थात् ऐसा अभिप्राय बन जाने के पश्चात् उन उन वस्तुओं में भले रमणता करो। "पर यह मेरा अपराध है।" ऐसी दशा अन्तरङ्ग में स्वाभाविक रूप से आती रहेगी। बस वही आपका आकिंचन्य धर्म है।

४२

—: उत्तम ब्रह्मचर्य :—

दिनांक २६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७१

१—ब्रह्मचर्य का लक्षण, २—ब्रह्मचारी का लक्षण, ब्रह्मचारी मार्ग का अनुक्रम, ब्रह्मचारी के मार्ग की बारह स्थितियां, ५—पहली स्थिति के ब्रह्मचारी की सत्यार्थता ;

सच्चिदानन्द ब्रह्म में रमणता करके पूर्ण पर ब्रह्म पद को प्राप्त, हे अनन्तों सिद्ध प्रभु ! मुझे ब्रह्मचर्य प्रदान कीजिये। गरम घी के छींटों से दाह को प्राप्त हुए व्यक्ति वत्, अनादि काल से इन विषय भोगों की दाह को प्राप्त मैं, आज अत्यन्त संतप्त हो, आपकी शरण में आया हूं। मेरा दाह शान्त कीजिये नाथ। निज शान्ति के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में रमण करता मैं, आज तक व्यभिचारी बना रहा। ब्रह्मचारी बनने की अभिलाषा लेकर, पूर्ण ब्रह्म की शरण में आया हूँ।

१ ब्रह्मचर्य का लक्षण

आज ब्रह्मचर्य की बात चलती है। लोक में भी जिसकी बहुत महिमा है। लोकों की दृष्टि में ब्रह्मचारी के लिये इतना ऊंचा स्थान क्यों ? क्या केवल स्त्री मात्र का त्याग कर देने पर इसका इतना ऊंचा स्थान है ? यह तो बात कुछ गले उतरती प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्त्री का त्याग करके अन्य विषयों में खूब रमण करने वाले, न्याय अन्याय का विवेक न रखने वाले, अत्यन्त कषाय वान तथा विलासी जीवों के प्रति बहुमान उत्पन्न होता नहीं देखा जाता। क्यों ? क्या उसे स्त्री का त्याग नहीं ? और यदि है, तो क्या वह ब्रह्मचारी नहीं ? नहीं वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है। क्योंकि यदि होता तो स्वतः ही उसके प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना न रहता। अतः ब्रह्मचारी का लक्षण केवल स्त्री त्यागी नहीं है। इसका लक्षण उतना ही व्यापक है जितनी की उसकी महिमा।

ब्रह्म कहते हैं सच्चिदानन्द भगवन आत्मा को, उसमें चरण करना अर्थात् निज शान्ति में स्थित रहने का नाम ब्रह्मचर्य है। शान्ति घातक जो संकल्प विकल्प या राग द्वेषादि हैं, उनमें चरण करने का नाम अब्रह्म है, व्यभिचार है, मैथुन है। या यों कहिये कि राग द्वेषादि का कारण जो पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी विषय सामग्री उसमें चरण करना, रमण करना सो व्यभिचार है। कल आकिंचन्य धर्म की बात के अन्तर्गत यह बताया गया था, कि लोक में मेरी शाँति के अतिरिक्त कोई भी मेरा पदार्थ नहीं। किसी को करने या भोगने का मुझे अधिकार नहीं। अतः किसी पदार्थ को इष्टानिष्ट समझ कर, करने या भोगने का प्रयत्न करना यह अपराध है, व्यभिचार है। अतः निज शांति की ओर देखने पर

है। धर्म की हंसी उड़ाई जा रही है। परन्तु शान्त होकर सुनना भाई! अभिप्राय को पढ़ने का प्रयत्न करना। वर्तमान क्रिया को न देख कर जितना त्याग किया है उसको देखना। त्याग का नाम ही ब्रह्मचर्य है। अंश मात्र भी रमणता का नाम ब्रह्मचर्य नहीं हो सकता। ग्रहण की ओर से देखिये, तो मुनि को भी ब्रह्मचारी न कह सकोगे। क्योंकि आहार ग्रहण का नाम ब्रह्मचर्य नहीं। जितना त्याग हुआ है उतना ही ब्रह्मचर्य है। स्त्री त्याग के पश्चात् बाहर में स्पष्ट त्याग दिखाई दे जाने पर, लोक में ब्रह्मचारी कहा जाता है। उसमें भी त्याग को ओर देख कर ही निर्णय किया गया है? देखो एक भील ने केवल कौवे का मांस खाना छोड़ दिया। और अन्य जन्तुओं का मांस खाता रहा। वह त्यागी की कोटि में आ गया है। परन्तु इसका निर्णय त्याग की ओर से होगा, अन्य मांस के ग्रहण की ओर से नहीं। चाण्डाल ने केवल चतुर्दशी को हत्या करने का त्याग किया। परन्तु अन्य दिन हत्या करता रहा। वह त्यागी की कोटि में आ गया। परन्तु निर्णय त्याग की ओर से किया जा सकेगा। अन्य दिनों की हत्या की ओर से नहीं।

४ ब्रह्मचारी के मार्ग की बारह स्थितियां

(१) उपरोक्त कथन का स्पष्टीकरण करने के लिये त्याग का विश्लेषण करना होगा। और इस प्रयोजन के लिये, जिसका त्याग करना अभिष्ट है, ऐसे सम्पूर्ण वस्तु समूह या लक्ष्मी का विश्लेषण करना होगा। सम्पूर्ण सामग्री या लक्ष्मी को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक वह जिस पर कि, राज्य की व लोक की दृष्टि में मेरा अधिकार है। अर्थात् जो मेरे स्वामित्व में है। और दूसरी वह जिस पर राज्य व लोक की दृष्टि में मेरा कोई अधिकार नहीं। अर्थात् जो दूसरों के स्वामित्व में है। आकिंचन्य धर्म में वताए अनुसार सम्पूर्ण सामग्री का षट् कारक रूप से त्याग करना अभिष्ट है, पर प्रथम ही क्षण में ऐसा होना असम्भव है। अतः त्याग मार्ग पर पग रखते हुए, सम्पूर्ण में से कुछ का त्याग करना होगा। आप ही बताइये उपरोक्त दो भागों में से पहले किस भाग का त्याग करना उचित है? अपने स्वामित्व में रखी लक्ष्मी का कि अन्य के स्वामित्व में रखी का? स्पष्ट है कि अन्य की लक्ष्मी का त्याग पहले होगा। परन्तु अन्य की लक्ष्मी का त्याग कैसा? वह तो पहले से ही है। सो भी बात नहीं है भाई! यहां उस अभिप्राय का त्याग मुख्य है, जिसके कारण कि मेरी लालायित दृष्टि उसकी ओर खिच जाती है। साक्षात् रूप से तो उसका भोग मैं कर ही नहीं सकता। या तो चोरी कर सकता हूँ, या केवल देख कर लालसा कर सकता हूं। अतः ब्रह्मचारी के प्रथम पग में अन्य की वस्तु को चुराने का या उसे देख कर लालसा करने का त्याग हुआ। यह त्याग यद्यपि लोकों की दृष्टि में कोई महत्व नहीं रखता, परन्तु वास्तव में यदि विचार करके देखा जाये तो, अपनी लक्ष्मी के त्याग की अपेक्षा इसका महत्व अधिक है। क्योंकि अन्य की लक्ष्मी मेरी लक्ष्मी से अनन्त गुणी है। सर्व का ही तो त्याग हो गया। रह ही कितनी गई। सम्पूर्ण के बराबर रख कर देखे तो रखी दिखाई भी न दे। इसलिये वह व्यक्ति, जिसने की अन्य कि सम्पत्ति व उनके द्वारा परिणा कर या अन्य प्रकार से लाई गई, उसके स्वामित्व में रहने वाली स्त्रियों पर, तथा उनकी कवारी कन्याओं पर, दृष्टि पात करने का त्याग कर दिया है, वह ब्रह्मचारी है। भले ही इनके अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति व स्त्रियों में कितना भी रमण क्यों न करे। परीक्षा त्याग पर से करनी है, रमणता पर से नहीं।

(२) पर यहां ही तो त्याग समाप्त नहीं हो गया। शेष बची स्व लक्ष्मी उसका भी तो त्याग करना है। वह भी एक दम होना असम्भव है। अतः इस स्व लक्ष्मी को भी विभाजन करके तीन कोटियों में बांट दीजिये। एक वह स्त्री व सामग्री जो किसी ने अपनी मर्ज़ी से मुझे दी है, अथवा मेरे

(८) यद्यपि लोकों की दृष्टि में वह पूर्ण ब्रह्मचारी हो गया है, परन्तु नहीं। स्त्री के साथ में लगी लक्ष्मी अभी तक चली आ रही है। अतः उसके त्याग बिना, वह अभी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता। उसे भी छोड़ना होगा। स्त्री के साथ लक्ष्मी का भी यथा योग्य त्याग होता ही आया है। इसलिये इस सातवीं श्रेणी में लक्ष्मी का संसर्ग बहुत कम है। पर है अवश्य। इसमें भी और कमी करता है, और एक लंगोटी व एक चादर के अतिरिक्त अन्य सर्व का त्याग कर देता है। वह भी ब्रह्मचारी है-सातवें से ऊंचा।

(९) यहां भी रुकना नहीं। लंगोटी व चादर का भी त्याग कर देता है, और बन जाता है नग्न साधु। वह भी ब्रह्मचारी है-आठवें से ऊंचा।

(१०) यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर अब यह पूर्ण ब्रह्मचारी कहा जा सकता है, क्योंकि इसके पास स्त्री है न सम्पत्ति। सर्व त्याग हो चुका है। त्यागने को और शेष नहीं रहा। परन्तु नहीं सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसके पास कुछ और भी है। वह है उसके अन्तरङ्ग विकल्प। अब तक के क्रम पूर्वक किये गये सर्व त्याग के साथ साथ, अन्तरङ्ग विकल्पों का त्याग भी बराबर होता चला आ रहा था। क्योंकि जैसा कि पहले भी कई बार बताया जा चुका है, और पुनः पुनः बताया जा रहा है, कि इस संवर के प्रकरण में, अन्तर विकल्पों के प्रशमन करने का पुरुषार्थ ही मुख्यतया किया जा रहा है। उसके प्रशमन करने के लिये ही, या उसके प्रशमन के फल स्वरूप ही, यह सर्व बाह्य का त्याग है। वह न हो तो इस त्याग का कोई मूल्य नहीं। इसलिये बहुत अधिक विकल्प दब चुके हैं। पर अब भी कुछ शेष हैं। इन्हें भी त्यागना है। पहले कुछ देर के लिये त्यागता है-और हो जाता है ध्यानस्थ, शान्ति में निमग्न, निर्विकल्प। यह भी ब्रह्मचारी है-नवें से ऊंचा, पर पूर्ण नहीं। क्योंकि अभी भी संस्कार शेष हैं, जो थोड़ी देर पश्चात् इसमें फिर विकल्प उत्पन्न कर देंगे।

(११) इन संस्कारों को भी काट कर हो जाता है पूर्ण शुद्ध, भगवान अर्हन्त। यह भी ब्रह्मचारी है-दसवें से ऊंचा। पर पूर्ण नहीं, क्योंकि अभी भी शरीर नहीं त्यागा गया है।

(१२) अतः शरीर के भी त्यागने के पश्चात् बन जाते हैं पूर्ण सिद्ध भगवान। निर्विकार, निराकार, चैतन्य ज्योति मात्र। अब वह ब्रह्मचारी नहीं बल्कि स्वयं ब्रह्म है। क्योंकि त्यागने को अब परमाणु मात्र भी शेष नहीं। मार्ग समाप्त हो चुका है। लक्ष्य पर पहुँच चुका है।

५ पहली स्थिति के ब्रहमचारी की सत्यार्थता

यह है ब्रह्मचारी की स्थूल रूपसे बारह स्थितियां-एक के पीछे एक बढ़ती हुई। पर हैं बारह के बारह ब्रह्मचारी। और इस प्रकार पहली स्थिति में पर स्त्री व कन्या मात्र का त्याग करके, अनेकों धर्म पत्नियों, अनेकों दासी व अनेकों वेश्याओं में रमणे वाला, वह व्यक्ति भी ब्रह्मचारी की कोटि में है। साधारणतया देखने पर भले ही वह व्यभिचारी दीख पड़े, पर इसके अन्तरङ्ग अभिप्राय में त्याग का व तत्फल रूप शान्ति में रमणता का जो भाव पड़ा है, उसकी अचिन्तय महिमा है। उस अभिप्राय के कारण से हो वह ब्रह्मचारी है। यह अभिप्राय न हो तो सर्वस्व त्यागी मुनि भी ब्रह्मचारी नहीं। इसीलिये ब्रह्मचारी के प्रति इतना बहुमान उठता है। इस अकेले ब्रह्मचर्य में सर्व ही अब तक का कथित मार्ग समा जाता है।

यद्यपि आदर्श ब्रह्मचर्य धर्म का पालन तो योगी जन ही करते हैं। परन्तु हम भी अपनी योग्यतानुसार इसका पालन कर सकते हैं। हे शान्ति के उपासक ! निज शान्ति की रक्षा के लिये, अत्यन्त तीव्र दाह को उत्पन्न करने वाले, इस स्त्री संसर्ग का कुछ परिमाण कर। पर स्त्री, वेश्या व दासी का तो सर्वथा त्याग होना चाहिये। स्व स्त्री में भी दिवा मैथुन का त्याग तो अवश्य कर। तथा पर्व के दिनों में पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करके आगे बढ़ने का अभ्यास कर।

जैसा कि पहले व्रतों के अन्तर्गत बताया जा चुका है, कि पथिक के मार्ग में अनेकों रुकावटें आती हैं, व्रतों में अनेकों बार दोष लग जाते हैं। यहां भी उसे न भूलना चाहिये। ब्रह्मचर्य धर्म का उपरोक्त रीति से पालन करते हुए, एक साधक को बड़े बड़े दोष लग जाने की सम्भावना है। संस्कारों की विचित्रता है। हो सकता है कि संस्कारों का मारा वह साधक इतना बड़ा व्यभिचार कर बैठे, कि जिसके लिए राज्य की ओर से भी बहुत बड़ा दण्ड भोगना पड़े। अर्थात् स्त्री से ही नहीं, किसी छोटे लड़के के साथ व्यभिचार कर बैठे, अनङ्ग क्रीड़ा, अथवा हस्त क्रिया आदि करने में [illegible]। परन्तु फिर भी वह दोषी नहीं कहा जा सकता। आश्चर्य हो रहा होगा आपको यह सुन कर, और सम्भवतः क्षोभ भी आ गया हो, परन्तु शान्ति कीजिये। आगे अतिचार सम्बन्धी प्रकरण आयेगा। उसे सुन कर आपका क्षोभ अवश्य शान्त हो जायेगा। अभिप्राय की [illegible] होता है।

४३

—: अतिचार :—

दिनांक २७ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७४

१—धार्मिक जीवन में भी दोषों की सम्भावना, २—अपराधी होते हुए भी निरपराधी, ३—अभिप्राय की प्रधानता, ४—अतिचार व अनाचार में अन्तर।

१ धार्मिक जीवन में भी दोषों की सम्भावना

अरे रे ! इन संस्कारों की दुष्टता। इतना पुरुषार्थ करते हुए भी बहुत ऊंचे चढ़ जाने पर भी, जो पीछा नहीं छोड़ते। हे प्रभो ! इनसे मेरी रक्षा कीजिये। अब तक के विस्तृत कथन में स्थल स्थल पर ऊपर ही चढ़ने की बात बताई गई है। गिरने की बात कहीं भी आई नहीं। इसलिए ऐसा भ्रम हो सकता है कि "जो चढ़ा है सो चढ़ा ही चढ़ा। गिरने वाले ज्ञानी नहीं हो सकते। उन्हें साधक नहीं कह सकते, "इत्यादि। परन्तु ऐसा न विचार भगवन् ! ऐसे भ्रम के कारण किसी यथार्थ ज्ञानी को भी अधर्मी मान बैठेगा। स्वयं भी मार्ग पर चढ़ते हुए ऐसे गिरने के अवसरों पर निराश हो जायेगा। सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदल डालेगा। बच, ऐसे विचारों से बच।

साधक कोई लोहे की मशीन नहीं है। कि एक बार चलाई तो चलती ही रहे। मशीन भी तो कोई ऐसी दिखाई नहीं देती, जो कभी न बिगड़े। शरीर भी कोई ऐसी दिखाई नहीं देता जिसे रोग न आयें। फिर यदि मुझमें अर्थात् जीव में ही कदाचित् कोई बिगाड़ उत्पन्न हो जाये, कोई रोग आ जाये तो कौन आश्चर्य है ? वह भी तो अन्य पदार्थों की भांति एक पदार्थ है। पूर्ण हो जाने पर भले उसमें रोग न हो, पर अल्प भूमिका में तो अल्प शक्ति वश होंगे ही। अत: किसी साधक के जीवन में कदाचित् दोष लग जाए तो उसे धुतकारना योग्य नहीं। जिस किस प्रकार भी उसकी सेवा करके पुन: उसे मार्ग में स्थापित करना कर्तव्य है ?

बड़े बड़ों को दोष लगते देखे जाते हैं। बड़े बड़ों से भूले हो जाती हैं। बड़े बड़े मार्ग से च्युत हो जाते हैं। अरे रे ! कितने दुष्ट हैं यह संस्कार ? यह सब इन्हीं का तो प्राबल्य है, कि माघ नन्दी से महान आचार्य को भी कहाँ डुबोया ले जाकर ? एक कुम्हार की पुत्री पर। ग्यारवें गुण स्थान पर चढ़ कर भी, जहां पूर्णत: का स्पर्श करने में रह जाता है केवल एक बाल मात्र का अन्तर, वह गिर जाता है-ऐसे गर्त में, जहां से कि न जाने कितने काल तक वह निकल कर शांति के दर्शन भी न करने पायेगा। गहन अन्धकार में, बिल्कुल उसी प्रकार विलीन हो जावेगा, जैसा कि साधना प्रारम्भ करने से पहले पड़ा था।

कृत्रिम नहीं थे। स्वाभाविक थे। इसका नाम है पश्चाताप व आत्म ग्लानि। इसी के कारण वह मारती हुई भी नहीं मारती। और मेरे अन्दर पड़ा था द्वेष, "किसी प्रकार यह बच्चा फिर मेरे कमरे में न आये। बड़ा दंगई है, यह उठा वह धर। यह तोड़ वह फोड़। मुझे नहीं भाता ऐसा दंगई बालक।" यह थे मेरे भाव। भले एक ही थप्पड़ मारा हो। परन्तु मैंने अन्तरंग के अभिप्राय पूर्वक मारा था, और इसलिये उस पर मुझे कोई पश्चाताप न हुआ। बल्कि उस क्रिया को अच्छा ही समझा। "चलो बला टली। बिना मारे यह मानने वाला ही न था। लातों के भूत बातों के नहीं मानते", यह थे मेरे भाव। कितना महान अन्तर है दोनों के भावों में। और इसी कारण माता ने मारते हुए भी न मारा, और मैंने थोड़ा मार कर भी बहुत मारा।

एक तीसरा दृष्टान्त भी सुनिये। एक व्यापारी की दुकान पर रहता है एक मुनीम। बड़ा ईमानदार है। सेठ साहब को पूर्ण विश्वास है-उस पर। सब रुपया पैसा व देन लेन उसके हाथ में है। किसी समय एक विचार उठा मुनीम के हृदय में। "यदि थोड़ा-थोड़ा करके रुपया उड़ाने लगूं तो सेठ साहब को क्या पया चल सकता है? बस कर दी चोरी प्रारम्भ। पहले महीने में सौ, और दूसरे में तीन सौ और इसी प्रकार बढ़ता गया। एक साल में २० हजार रुपये उड़ा लिये। सेठ को कुछ खबर नहीं। हिसाब किताब बिल्कुल ठीक। किसी प्रकार भी चोरी नहीं पकड़ी जा सकती थीं। परन्तु मुनीम के हृदय की गति किसी और ही दिशा में चली जा रही थी। बाहर में बराबर चोरी कर रहा था। और अन्तरंग में, "अरे! क्या कर रहा है तू? किसके लिये कर रहा है यह इतना बड़ा अपराध? कितने दिन चलेगा यह कुछ। विश्वास घात करना क्या शोभा देता है तुझे? क्या मुंह लेकर जाता है सेठ के सामने? क्या इसी का नाम मनुष्यता है? और इसी प्रकार अनेकों धिक्कारें निकला करती थीं—बराबर, उसके अन्तस्थल से। चोरी अवश्य करता था, पर उसके हृदय ने कभी उस धन को स्वीकार न किया। बराबर उसकी रक्षा करता रहा। पृथक ही हिसाब खोलकर बैंक में डलवा दिया। एक कौड़ी को भी उसने हाथ न लगाया। मानो धरोहर थी उसके पास। कुछ दिन और बीत गये—अपराधी प्रवृत्ति व इस हृदय के संघर्ष में, और आखिर जीत हृदय की हुई। डेढ़ वर्ष पश्चात् लाकर रख दिया बीस का बीस हजार रुपया सेठ जी के चरणों में। और हाथ जोड़ कर खड़ा रह गया किंकर्तव्य विमूढ सा। सेठ जी, "अपराधी हूँ। मुझ जैसा दुष्ट सम्भवतः लोक में कोई दूसरा न हो। विश्वास घात किया है मैंने। यह आपकी दुकान से चुराया हुआ धन है। आश्चर्य न करें। मैं ही हूँ वह चोर जिसने यह कुकर्म किया है। दण्ड दीजिए इस पापी को।"

इसी के सामने एक दूसरे चोर को भी देखिये जो उसी दुकान पर से चुरा रहा है, और खा रहा है। मस्त मानो उसके बाप की ही है यह सम्पत्ति। भले साल भर में केवल २०० रुपये ही चुरा सका हो पर उस चोरी में रस ले रहा है। आप ही बताओ दोनों में चोर कौन? २०,००० चुराने वाला या २०० चुराने वाला? सोच में क्यों पड़ गये? हृदय की आवाज़ को छुपाने का प्रयत्न न कीजिए। मुझे वह स्पष्ट सुनाई दे रही है कि आप समझ गये हैं-इस रहस्य को।

४ अतिचार और अनाचार में अन्तर

और लीजिए, अब इसको सिद्धान्त का रूप दे दीजिये, ताकि भविष्य में शंकायें उत्पन्न करने को अवकाश न रह जाये। अपराध दो प्रकार के होते हैं। एक अभिप्राय पूर्वक किया जाने वाला, एक अभिप्राय रहित, केवल किसी संस्कार के क्षणिक उदय वश। एक अच्छा समझ कर किया जाने वाला, और एक आत्मग्लानि सहित किया जाने वाला। इन दोनों में से पहले अपराध का

४४

—: परिषह जय व अनुप्रेक्षा :—

दिनांक २८ अक्तूबर १९५९

प्रवचन सं० ७५

१—तप व परिषह में अन्तर, २—परिषह जय का लक्षण, ३—परिषहों के भेदादि, ४—अनुप्रेक्षा का महात्म्य व उनके भाने का ढंग, ५—कल्पनाओं का महात्म्य, ६—क्रम से १२ भावनायें।

१ तप व परिषह में अन्तर

एक क्षण को भी शान्ति का विरह सहने में असमर्थ हे योगीराज ! आश्चर्य है कि इतने सामर्थ्य हीन को भी पराक्रमी बताया जा रहा है। वीर बताया जा रहा है। ठीक ही तो है। यही तो है महिमा आपकी। शान्ति के व्यापारी जो ठहरे। धन का व्यापारी धन का विरह सहने में असमर्थ होते हुए भी, उसके उपार्जन में आई अनेकों बाधाओं को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करता है। एक रण कुशल क्षत्रिय, क्षत्रित्व का अपमान सहने में असमर्थ होते हुए भी, उसकी रक्षा के लिए बड़े-बड़े प्रहारों को फूलों की चोट के समान भी नहीं गिनता। इस प्रकार आप भी अपनी सम्पत्ति व गौरव जो शान्ति, उसमें बाधा सहने में असमर्थ होते हुए भी, उसकी रक्षा के अर्थ लौकिक बाधाओं के बड़े-बड़े प्रहारों को तृण सम भी नहीं गिनते। तीन लोक की सम्पूर्ण बाधायें एकत्रित होकर चली आयें आपकी शान्ति को छीनने, तो भी आप उसका पल्ला नहीं छोड़ते। धन्य है आपका बल धन्य है आपका पराक्रम। आप वास्तविक क्षत्रिय हैं, वास्तविक वीर हैं, वास्तविक व्यापारी हैं, वास्तविक रण कुशल योद्धा हैं।

तप प्रकरण के अन्तर्गत भी आपका अतुल पराक्रम इस वावदूक ने कुछ अपने मुख से बताने का दुःसाहस किया है, और यहां पुनः उससे चुप नहीं रहा जा रहा है। क्या करे अन्तःकरण में बैठी आपकी भक्ति जो वाचाल कर रही है। आज परिषह जय की बात चलती है। परिषह का अर्थ है-"परि" अर्थात् चारों ओर से सम्पूर्ण उत्साह के साथ 'षह' अर्थात बाधाओं को सहना। तप में भी बाधाओं को सहने की बात कही गई है, और यहां भी कही जा रही है। पुनरुक्ति व पिष्ट पेषण सा दिखाई देता है। परन्तु ऐसा नहीं है। तप व परिषह में अन्तर है। तप में जान बूझ कर योगी बाधाओं व कष्टों को निमन्त्रित करता था। और यहां है उन बाधाओं की बात, जो मनुष्य व तिर्यंच व प्रकृति आदि के द्वारा स्वतःएव बिना बुलाये आ पड़े।

२ परिषह जय का लक्षण

तपश्चरण के प्रभाव से शक्ति में अतुल वृद्धि हो जाने पर, आज वह इतना समर्थ है कि, तीन लोक की बाधायें व पीड़ायें भी सिमट कर युगपत उस योगी पर आक्रमण करें

विचारों से है। यद्यपि शरीर को इन बाधाओं से कोई बाधा नहीं होती, परन्तु ऐसे अवसरों पर अन्तरंग में कितनी तड़पन हो जाया करती है, सो सम्भवतः शारीरिक पीड़ा से कई गुणी अधिक होती है ? इन बाधाओं व मानसिक पीड़ाओं को भी वह योगी, अपनी शान्ति की रक्षा के अर्थ, किन्हीं विचार विशेषों के बल से दबा देता है।

४ अनुप्रेक्षा का महात्म्य व उनके भाने का ढङ्ग

अब प्रश्न यह होता है कि वह विचार विशेष क्या हैं, और उनमें कौन सामर्थ्य है, जिसके कारण कि बाहर में रक्षा का उपाय किये बिना भी, वह इतनी बड़ी पीड़ाओं को, जिसे सुनकर भी कलेजा हिल जाता है, जिसके अनुमान से भी जगत कांप उठता है, जीत लेता है ? वास्तव में ऐसी ही बात है भाई ! इसमें आश्चर्य को अवकाश नहीं, क्योंकि विचारणाओं का बल प्रतिदिन हमारे भी अनुभव में आ रहा है। पुत्र वियोग हो जाने पर, मित्र के द्वारा सान्त्वना दिये जाने पर, कुछ विचार विशेष ही तो होते हैं, जो मेरे अन्तर दाह को कुछ शीतलता पहुंचाते प्रतीत होते हैं। जल्दी ही अच्छे हो जाओगे। विश्वास करो डाक्टर के ऐसा कहे जाने पर, कोई विचार विशेष ही तो होते हैं,जो कुछ सान्त्वना सी देते प्रतीत होते हैं। विचारणाओंमें अतुल बल है। और फिर अलौकिक जनों की तो विचारणायें भी अलौकिक हैं। उनका आधार कल्पनायें नहीं वस्तु स्वभाव है। इसीलिये उनमें बाधा दीखनी ही असम्भव है। वह स्वयं साकार होकर उसके सामने आ खड़ी होती हैं, और वह उनके दर्शन में खो जाता है, कौन जाने उन बाधाओं को, कौन वेदन करे उनसे उत्पन्न हुई पीड़ाओं को ?

इस प्रकार की विचारणायें तो अनेकों हो सकती है। फिर भी समझाने के लिए उनको बारह कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। यद्यपि वस्तु में और भी अनेकों बातें हैं। जिनके सम्बन्ध में विचार उठाये जा सकते हैं, परन्तु उन सब का समावेश यथा योग्य रीति से इन बारह में ही कर लेना चाहिये। अब उन बारह विचारणाओं का कथन चलेगा। इनको बारह वैराग्य भावनायें भी कहते हैं, क्योंकि इनको विचारने से अन्तरंग विरागता में एक दम कुछ ज्वार सा आ जाता है। इन विचारणाओं को आगम में अनुप्रेक्षा नाम से भी कहा गया है। क्योंकि इनका एक बार ही विचार कर लेना पर्याप्त हो, ऐसा नहीं है। एक ही भावना प्रयोजन वश पुनः पुनः न जाने कितनी बार बराबर भाई जाती रहे। अनुप्रेक्षा का अर्थ है पुनः पुनः चिन्तवन करना। और इसलिये उनका नाम अनुप्रेक्षा कहना युक्त है।

यहां इतनी बात अवश्य जान लेने योग्य है कि, जिस प्रकार वैद्य के घर में अनेक औषधियां हैं, पर सभी रोगियों को सभी औषधियां दी जायें, ऐसा नहीं होता। बल्कि जो जो उस उस को योग्य व अनुकूल पड़ने वाली हो, वही औषधि विशेष दी जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक बाधा के आने पर बारह की बारह या कोई सी भी एक भावना भानी आवश्यक हो, सो बात नहीं है। बल्कि उस उस अवसर पर जो जो भानी योग्य हो वह वह भानी ही उपयुक्त है। हो सकता है कि किसी बाधा में बारह की बारह की भी आवश्यकता पड़ जाये। कोई नियम नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त इन भावनाओं सम्बन्धी कवि रचित पाठों के पढ़ने का नाम भी अनुप्रेक्षा नहीं है। क्योंकि पाठ पढ़ने से कोई लाभ नहीं है। लाभ है मन को केन्द्रित करके उसे अमुक चिन्तन में उलझाने से। उसमें तो बुद्धि पूर्वक ही, तत्सम्बन्धी दृष्टान्तों को याद कर करके, तथा अपने जीवन में

वैराग्य प्रवर्तक विकल्पों को, उतने समय के लिये जान बूझ कर उठाता हैं, जितने समय के लिये कि वह पीड़ा शान्त न हो जाये। आगे उन्हीं विकल्पों सम्बन्धी कुछ चित्रण खेंच कर बनाने का प्रयत्न करूंगा।

दिनांक २६ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ७६

५ कल्पनाओं का महात्म्य

अहो ! त्रिलोक विजयी गुरुदेव की महिमा व उनका पराक्रम। तीन लोक की बड़ी से बड़ी बाधा भी जिनकी निश्चलता को भंग करने में समर्थ नहीं। रत्नों के प्रकाश में व मखमल के कोमल गद्दों पर पला वह सुकुमार शरीरी एक दिन तपस्वी होगा, क्या स्वप्न में भी कोई विचार सकता था ? सूर्य प्रकाश में आने पर जिसकी आंखों से पानी बह निकले, गद्दे के अन्दर कहीं भूला भटका पड़ा एक विनौले का दाना भी जिसे सहन न हो सका, राजा को परोसे गये उत्तम भोजन में से भी जो चुन चुन कर अपने योग्य उत्तम चावल खाये। ओह ! आज वह चला जा रहा है कंकरीली भूमि पर, सूर्य के ताप में, नग्न रूप धारे। कंकरों के चुभ जाने के कारण उसके पावों लहूलुहान हो चुके हैं, इसका भी जिसे भान नहीं। और अरे विधाता ! यह क्या दृश्य ? मेरा कलेजा दहल गया है जिसको देख कर। हृदय रो रहा है चीख चीख कर। जिह्वा थक गई है रक्षा रक्षा पुकार कर। आज एक गीदड़ी खा रही है धीरे धीरे उस जीवित सुकमाल का एक घण्टे दो घण्टे की बात नहीं, बराबर तीन दिन हो गये हैं आज उसे खाते खाते। सुकमाल जीवित है पर, पूर्व वत् निश्चल शान्ति की उपासन में, पूर्व वत् ध्यानस्थ वैराग्य मुद्रा में। यह है एक योगी का पराक्रम। कौन दे रहा है उसे बल इतनी बड़ी पीड़ा पर विजय पाने के लिए ?

आश्चर्य मत कर जिज्ञासु ! उसे वह बल कोई दूसरा नहीं दे रहा है। स्वयं उसका अन्तष्करण दे रहा है। वह बल उसी के पास है-अन्यत्र नहीं। तेरे पास भी वह है, इसी समय है। परन्तु खेद है कि तू उसे जानता नहीं। यदि जान जाये तो इसी अल्प गृहस्थ अवस्था में अपने योग्य अनेक बाधाओं को तृणवत् उल्लंघ जाये। क्यों ? सोच में पड़ गया ? परन्तु सोच की क्या बात है भाई ! देख वह बल है तेरी अपनी कल्पनायें। कल्पनाओं के आधार पर ही तू दुःखी है। और कल्पनाओं के आधार पर ही सुखी हो सकता है। कल्पनाओं के आधार पर ही वह योगी इतनी बड़ी पीड़ा को जीत गया, और कल्पनाओं के आधार पर ही तू इस समय गृहस्थ सम्बन्धी चिन्ताओं को जीत सकता है। परन्तु वह कल्पना साधारण व मात्र कल्पनायें ही नहीं हैं। उनके पीछे छिपा है तेरा वास्तविक स्वरूप, परम सत्य। दुःखों की आधार भी कल्पनायें हैं। परन्तु उनके पीछे है शून्य, अर्थात् वह है केवल कल्पनायें-बिल्कुल निराधार।

वर्तमान की राग द्वेष जनक व बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्टता जनक इन कल्पनाओं को बताने की आवश्यकता नहीं - क्योंकि वे तेरी चिर परिचित। नित्य अनुभव में आ रही है। वे विशेष कल्पनायें जानने योग्य हैं, जिनका आधार कि वस्तु स्वरूप है। ले सुन।

मुड़ कर तो देख जरा। कितनी बार बनाया है तूने-इनको अपना। कितनी बार भोगा है तूने-इन्हें ? अब भी नवीनता रह गई है-कुछ। अनेकों बार ग्रहण कर करके छोड़ा, वमन कर करके चाटा। अब क्या आकर्षण रह गया है इनमें ? क्या कहा ? यह स्थान रहने को अच्छा है ? अरे ! कैसी बात करता है ? मानों कुछ जानता ही नहीं। बता तो सही कि आकाश का कौन सा प्रदेश छोड़ा है, जहां तू अनन्तों बार जा-जा कर न रहा हो ? कौन सा है नवीन स्थान तेरे लिये ? इधर आ प्रभु, इधर आ। देख कितना सुन्दर है यह रूप ? पूर्ण शान्त। ज्ञान व आनन्द का पिंड। एक बार भी जिसकी ओर नहीं देखा है आज तक। यह है तेरे लिये बिल्कुल नवीन। भोगना ही है तो इसे भोग। नित्य नया-नया करके भोग। पुनः पुनः भोग। सर्वदा भोग। सर्वत्र भोग। सर्वतः भोग। इसमें बसा है तेरा 'नया संसार'।

(४) क्या विचार रहा है भोले चेतन ! किन में खोज रहा है अपना पन ? किन को कहता है तू मेरा ? क्या मिलेगा इस प्रकार तुझे ? पड़ोसी के धन को तू भले अपना कह कर अपना चित्त प्रसन्न कर ले, पर इस प्रकार क्या वह तेरा बन जायेगा ? नाहक खिन्न होगा, जबकि वह साफ इंकार कर देगा तुझे जैसा कि आकिंचन्य धर्म के अन्तर्गत पोसती के दृष्टान्त में बताया गया है। (देखो अधिकार नं० ४, प्रकरण नं० ६) सर्व ही पदार्थ अपनी मर्जी से आते हैं, अपनी मर्जी से जाते हैं, न तुझ से पूछ कर आते हैं, न तुझ से पूछ कर जाते हैं। तू कौन होता है उनका ? वह कौन होते हैं तेरे ? तनिक तो बुद्धि लगा। रेल में बैठे अपने साथ वाले यात्रियों को भले मामा, चाचा, ताऊ कहकर पुकार, पर इससे क्या वह तेरे मामा आदि बन जाएंगे ? मेरा-मेरा करके व्यर्थ चिन्ताओं को बुला रहा है। वह तुझे अपनायें या न अपनायें पर चिन्तायें अवश्य तुझे अपना लेंगी। चन्द्रमा के प्रति इच्छा करेगा तो बता रोने के अतिरिक्त क्या लगेगा तेरे हाथ ? अन होनी बात हुई है कभी ? असम्भव सम्भव बन सकता है कभी ? क्या कहा ? यह पुत्रादि तो मेरे हैं ही ? यह शरीर तो मेरा है ही। मेरी सेवा करेंगे। मेरे साथ घुला मिला पड़ा है। कहां जा सकते हैं मेरी बिना आज्ञा के ? अरे भूले राही ! कहां से आ रहा है तू, कहां जाने का विचार है तेरा, कितनी देर के लिये आया है यहां ? ज़रा बता तो सही ? कौन है तू विचार तो सही ? कहां से आ रहे हैं यह कहां जा रहे हैं यह ? कितनी देर के लिये आए हैं यहां ? ज़रा इनसे पूछ तो लेता-इन्हें अपना बनाने से पहले। ठग न हों कहीं। लूट न ले जायें तेरी शांति को-तेरे अतिथि बनकर ? क्या पहिचाना नहीं इनको ? अरे भोले ! यह वही तो हैं, जो न जाने कितनी बार टकराये तुझे-इसी लम्बी यात्रा में। हर बार नया रूप धारण कर करके सदा तेरे बन कर आये और अन्य के बनकर चले गये, और तू रह गया रोता का रोता ? अब तक नहीं समझा इन ठगों की ठगी। ज्ञानी जीवों की शरण में आया है। प्रकाश पा रहा है। अब तो देख ले आंख खोलकर। स्वप्न छोड़ दे भाई ! यह सब पराये हैं। 'पृथक-पृथक' अपना स्वार्थ लिये फिरते हैं।

(५) इधर आ तू भी अपनी पृथकता को देख। इनकी भांति तू भी तो पृथक ही है। सत्ता धारी भगवान आत्मन् ! क्यों संशय करता है ? अपनी स्वतन्त्रता सत्ता को क्यों नहीं देखता ? इन बेचारे रंकों से क्या मांगता है-अपनी प्रभुता की भीख ? अब छोड़ इनका आश्रय। देख इस ओर अपने स्वतन्त्र एश्वर्य को। देख अपने पुराने इतिहास को। सुन अपनी कहानी। अनादि काल से तू अकेला ही तो चला आ रहा है। माना कि मार्ग में अनेकों मिले, पर सभी तो बिछड़े। एक ने भी तो साथ न दिया। अकेला

ही था अकेला ही रहा। अकेले ही ने सब सुख दुःख भोगे। बता तो सही कि इस स्वार्थ टोली ने कभी बटाये हैं तेरे दुःख ? फिर अब क्यों अपना सुख बांटने की चिन्ता में है। सर्प को दूध पिलायेगा तो दुःख उठाएंगा। अकेले ठोकरें खाई हैं, अब अकेले ही अपने वैभव को भोग। क्यों लुटाता है इसे-इनके लिये ? अपनी शान्ति का तू ही अकेला स्वामी है। तू ही अकेला उसे भोगेगा। कोई उसे तुझसे छीन नहीं सकता। बंटवा नहीं सकता अब आकाश पुष्प को तोड़ने की व्यग्रता छोड़ जगत के अन्य पथिकों को अपनाने की बजाय अकेले अपने को अपना ले। तेरी सब व्यथायें शान्त हो जायेंगी। फिर तू जान पायेगा कि किसको हो रही है पीड़ा ? किसको खा रही है गीदड़ी। इस पड़ोसी को या तुझे ? पड़ोसी को खाने दे तुझे क्या ? तू तो सुरक्षित है ना ? यह रहा तू तो अकेला यहां बैठा सब कुछ इस खेल को देखने वाला। खेल मात्र को देखकर दुःखी क्यों होता है। अग्नि देखने से क्या तेरी आँख जल जायेगी ? बस तो इस शरीर को खाया जाता देखकर क्या तू खाया जायेगा ? व्यथा को भूल, इधर देख अपने वैभव पर जिसके साथ 'अकेला' तू एकमेक हुआ पड़ा है। जहां अन्य किसी का प्रवेश नहीं।

(६) अरे ! किसके पीछे व्याकुल बनता है ? यदि किसी दूसरे को ही अपनाना था, कोई अच्छी चीज़ तो छांटता ? यहाँ तो अनेकों भरी पड़ी हैं। क्या यह दुर्गन्धित और घिनावनी वस्तु ही अच्छी लगी तुझे-इन सब में से ? अरे प्रभु ! अपनी प्रभुता को इतना भूल गया है ? इतना गिर गया है ? यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता था। तनिक तो लाज कर। कहां तू तीन लोक का अधिपति, सुन्दर व स्वच्छ, और कहां यह विष्ठा का घड़ा। रोम रोम से बह रहा है दुर्गन्धि के सिवा और क्या ? नहीं विश्वास आता तो एक क्षण भर को इधर आ। ले इस पर से एक मक्खी के पंख के समान पतली सी झिल्ली पृथक करता हूँ, अब देख इसे कैसा सुन्दर लगता है यह तुझे ? यह छोटी छोटी मक्खियां ही इसे चूंट चूंट कर खा जायेंगी। इसकी सुन्दरता देखनी है तो शौच गृह में जाकर देख। जिसने विश्व के सर्व शुचि पदार्थों को विष्टा बना डाला है। जिसके स्नान के जल को कोई पुनः छूने के लिये तैयार नहीं। इस अत्यन्त घिनावनी व 'अशुचि देह' के साथ यारी जोड़ कर, इसकी रक्षा करने के लिये अपना सर्वस्व लुटा रहा है। आश्चर्य है ?

(७) नित्य नये नये रूप धारण करके प्रगट होने वाले इन विकल्पों में क्या देख रहा है ? भगवन् ! क्या भूल गया है आस्रव के प्रकरण को ? अब पुनः उसे देख ले, (देखो प्रकरण नं० १५—१८) याद आ जाएगी इसकी दुष्टता। इनसे अपनी रक्षा कर। इनमें भूल कर आत्म समर्पण न कर।

(८) अब गुरुदेव की शरण में आया है। तो कुछ लाभ उठा। इनमें ब्रेक लगा। अब तक आये तो आये, देख आगे न आने पाये। भूला न समझे जो सांझ पड़े घर लौट आये। निज वैभव का आश्रय करके इनका तिरस्कार करदे। इनको दबा दे। 'संवरण करदे'। संवर पर इतने बड़े उपदेश को याद कर।

(९) एक बार इनका तिरस्कार करके देख कहां जाते हैं यह ? तिरस्कृत होकर कब तक पड़े रहेंगे तेरे द्वार पर भूखे नंगे, यह बेचारे। आखिर चले जायेंगे एक दिन-छोड़ कर-तेरा संग। जल्दी छूटना चाहता है-इनसे ? तब इससे अच्छी तो बात ही क्या है ? ले देख अपने पराक्रम को। कर, एक

बार गर्जना कर पूरे जोर से। "मैं चैतन्य हूँ। सत्-चित-आनन्द और पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर। आओ कौन आता है सामने। आज साक्षात् अग्नि बन कर आया हूँ मैं। क्षण भर में भस्म कर डालूंगा। जीर्ण कर डालूंगा समस्त संस्कारों को।" युद्ध कर इनके साथ, शान्ति के बल पर। प्रहार कर इन पर शान्ति के शस्त्र द्वारा। वही शांति जो तेरा सर्वस्व है। तेरा स्वभाव है। एक बार की धुड़धुड़ी में झड़ जायेंगे सर्व, वस्त्र पर लगी धूल वत्। हो जायेगी निर्जरा और मिल जायेगी इनसे सर्वदा को मुक्ति।

(१०) प्रभो! अपनी महिमा को भूल कर आज कुएं में घुस बैठा है-मैंडक बन कर? क्यों इतना भयभीत हुआ जाता है? क्यों पामर बनता जाता है? अब निकल इस कुएं से बाहर। देख कितना बड़ा है यह विश्व? तुझ जैसे अनन्तों का निवास। तथा अन्य भी अनेकों का घर। सभी ही तो रह रहे हैं यहां-अपनी अपनी मोज में-सर्वत्र की सैर करते; इसकी सुन्दरताओं में लय होते। तू क्यों घबरा गया है इससे? यहां तो कुछ भी भय का कारण नहीं। जिस प्रकार अन्य रहते हैं उसी प्रकार तू भी रह, स्वतन्त्रता के साथ-स्वामी बन कर, ज्ञाता दृष्टा बन कर। देख इसमें सर्वत्र ईश्वर का निवास, देख इसमें एक अद्वैत ब्रह्म, देख इसमें अपनी सृजन शक्ति। (देखो अध्याय नं० २६, प्रवचन नं० ४६ में सर्व सत्व एकत्व तथा सर्व सत्व मैत्री व प्रेम) परन्तु देखना अजायब घर वत्। अपने घर वत् नहीं : पीछे सामायिक के प्रकरण में जो सुना था, उसे याद कर (प्रवचन नं० ५६, दिनांक १०-१०-१९५९)। बस प्रगट हो जायेगी एक विशाल दृष्टि, जिसका आधार होगा माध्यस्थता व शान्ति। और तू बन बैठेगा सर्व लोक का स्वामी। बाहर में नहीं, ज्ञान में।

(११) अरेरे चेतन! अनादि काल से आज तक क्या मिला है तुझे ठोकरों के अतिरिक्त? दूर दूर भटकता फिरता रहा है आज तक। चांदी सोने की धूल अनेकों बार मिली। चाम मांस का पिंड अनेकों बार मिला। कुटुम्बादि अनेकों बार मिले। देवादि के रूप अनेकों बार मिले। परन्तु उनमें से क्या मिला तुझे? आज देख अपने अन्दर। क्या पड़ा है उनका कुछ बचा हुआ भी यहां? यदि कुछ मिला होता तो कुछ न कुछ तो होता तेरे पास? परन्तु यहां तो शून्य है। कोरा शून्य। क्या मिला और क्या न मिला? मिलता हुआ भी न मिला। जो मिलने योग्य था उसे मिलाया नहीं। जो नहीं मिलने योग्य था उसमें मिलने की कल्पना की। कैसे मिलता तुझे? आज गुरुदेव की शरण में आकर भी मिला है कुछ नवीन सा। वह जो आज तक न मिला था। वह जिसको लेकर कृत-कृत्य हो गया है तू। वह जिसमें छिपा पड़ा है तेरा वैभव। मानों तेरा सर्वस्व ही मिल गया हैं आज तुझे। वह जिसके मिलने की आशा भी न थी। जो किसी विरले को ही मिलता है, बड़े सौभाग्य से। जिसे लेकर और कुछ लेने की चाह ही नहीं रहती। जिसके मिल जाने पर और कुछ वस्तु ही नहीं जंचती। क्यों न हो? उसमें दिखाई दे रही है जो तेरी शान्ति। तेरा अभिष्ट। अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त इस बोधि-दुर्लभ रत्न के प्रति बहुमान उत्पन्न कर भगवन। अब तेरे कल्याण का समय निकट आ रहा है। होनहार बिरवान के चिकने चिकने पात। गुरु के द्वारा प्रदान किये गये, इस रहस्यात्मक ज्ञान से तेरा सर्व अन्धकार विनश जायेगा, और तू रह जायेगा वह जो कि तू है। सत्, चित, आनन्द, पूर्ण ब्रह्म, परमेश्वर।

(१२) बस यही तो है तेरा धर्म। तेरा स्वभाव। तेरा ऐश्वर्य। तेरा सर्वस्व। आज तक जिसे जान न पाया। जिसकी खोज में दर दर मारा फिरा। वाह! वाह! कितना सुन्दर है? कितना शीतल है यह? भव भव का संताप क्षण भर में विनष्ट हो गया है। अब तक के बताये गये इतने लम्बे

मार्ग को भली भांति निर्णय करके इस पर दृढ़ता कर। विश्वास कर। इसके अनुरूप बनने का दृढ़ संकल्प कर। और बनने का प्रयास कर। इस प्रकार का ज्ञान श्रद्धान व अनुचरण। बस यही तो है उपाय उस शान्ति की प्राप्ति का, जिसका लक्ष्य लेकर तू भटकता फिरता है यहां। कितना सहल है तथा सुन्दर है यह ? ले अब धीरे धीरे पी जा इसे।

इस प्रकार अनित्यता, अशरणता, संसार, पृथकत्व, एकत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ व धर्म इन बारह प्रकार के विकल्पों का आश्रय लेता हुआ, बड़ी से बड़ी बाधाओं को तृणवत् भी नहीं गिनता। पर है वह शक्ति जिसका कि स्वामित्व उसको प्रदान हुआ है। तू भी अन्य कल्पनाओं के स्थान पर इन कल्पनाओं के स्वामित्व को प्राप्त कर। इन कल्पनाओं का आधार वस्तु है। पर तेरी कल्पनाओं का आधार कोरी कल्पनायें। यह सार स्वरूप है, और वह सब निःस्सार तभी तो यह शान्ति में सहायक है। सार से सार निकलना सम्भव है। निःसार से निःसारता के अतिरिक्त और निकलेगा हो क्या ?

४५

—: चारित्र :—

दिनांक ३० अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ७७

१—चारित्र का लक्षण व पूर्व कथित प्रकरणों से इसका सम्बन्ध, २—चारित्र में अभ्यास की महिमा, ३—सामायिक आदि पांचों चारित्रों का चित्रण, ४—अन्तरंग व बाह्य चारित्र का समन्वय।

१ चारित्र का लक्षण व पूर्व कथित प्रकरणों से इसका सम्बन्ध

नित्य ही शान्ति में विचरण करते हुए, शान्ति के साथ क्रीड़ा करने में मग्न, हे वीतरागी गुरुवर ! मुझे भी शान्ति प्रदान करें। आज चारित्र की बात चलती है। चारित्र शब्द सुन कर कुछ ऐसा लगता होगा कि कुछ शारीरिक क्रियाओं सम्बन्धी बात कही जायेगी, कुछ व्रत उपवास आदि की बात कही जायेगी। परन्तु नहीं। वह सब बात तो इतने लम्बे अब तक के कथन में यथा स्थान कही ही जा चुकी है। अब तो अन्तरंग चारित्र की बात चलती है ? वह चारित्र जिसको लक्ष्य में रख कर कि मैं साधना करने चला था शान्ति की। जिसके लिये कि अपने जीवन को इतने बड़े अभ्यास की श्रेणियों में से निकलता चला आ रहा।

चारित्र नाम है विचरण करने का; निज स्वरूप में विचरण करने का नाम चारित्र है, अर्थात् शान्ति में विचरण करने का नाम चारित्र है। इस शान्ति में विचरण करने के लिये अपनाई गई कुछ बाह्य शारीरिक क्रियायें, जैसी कि अब तक संवर व निर्जरा के प्रकरण में बताई गई हैं वे भी चारित्र कही जा सकती हैं। परन्तु ऐसा कहना उपचार मात्र हैं। शान्ति प्राप्ति को ही लक्ष्य में रख कर आज तक मैंने इतना बड़ा अभ्यास किया। इतना बड़ा पुरुषार्थ किया। धीरे धीरे अपना जीवन ही बदल डाला। शान्ति के बाधक विकल्पों के प्रशमनार्थ गृहस्थ जीवन में देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय से प्रारम्भ किया। किंचित् इन्द्रिय व प्राण संयम को धारण करके जीवन की निरर्गल प्रवृति में रोक लगाया। और साथ साथ अन्तरंग के विकल्पोत्पादक दुष्ट संस्कारों की शक्ति को क्षति पहुँचाने के लिये, अपने अन्तरंग दोषों को पढ़ने का अभ्यास किया, उनके प्रति मुझे स्वाभाविक निन्दन व पश्चाताप वर्तने लगा। जिसके आधार पर दोषों को टालता हुआ व जीवन में किंचित् किंचित् व कदाचित् कदाचित् साम्यता लाता हुआ, मैं बिना रुके आगे बढ़ता चला गया। दान द्वारा धन से भी बराबर ममत्व हटाने का अभ्यास करता गया। और इस प्रकार हर दिशा से जीवन को समेटता व शान्ति में प्रवेश करता, इस शान्ति के क्षेत्र में, एक नवजात शिशु वत् धीरे धीरे गिरता पड़ता चला गया। धैर्य व आशा ही मुझे बल दे रहे थे। उनके अतिरिक्त और कुछ भी न था-मेरे पास-उस समय।

२ चारित्र में अभ्यास की महिमा

अहो अभ्यास की महिमा ! वह दिन भी आ गया है कि मैं शिशु से वीर बन गया। एक साहसी वीर तथा योद्धा वत्, मैंने योगी जीवन में प्रवेश किया। वहां और दृढ़ता पूर्वक पहिले के अभ्यास को अत्यन्त पुष्ट किया। व्रत समिति गुप्ति के द्वारा उसे निश्चल व अकम्प बनाया। दश धर्मों से सींचन कर करके, वैराग्य भावनाओं से पोषण किया गया वह कोमल पौधा, आज एक विशाल वृक्ष बन गया है। जिसे देखकर स्वय मुझे विश्वास नहीं होता, कि मैंने कहां से चलना प्रारम्भ किया था। अनेकों भव पीछे से प्रारम्भ किये गये उस पुरुषार्थ ने आज मुझे मेरे लक्ष्य के अत्यन्त निकट पहुँचा दिया है। बराबर इस जीवन में विकल्प शान्त होते चले गये, संस्कार नष्ट होते चले गये और तदनुसार शान्ति में वृद्धि होती चली गई। मैंने पहले पग से ही शान्ति का पल्ला आज तक नहीं छोड़ा। हर बाह्य क्रिया के साथ-साथ अन्तरंग क्रिया को साथ रखा। यही कारण है कि मैं आज बढ़ते-बढ़ते इस दशा को पहुँच गया हूँ कि बुद्धि पूर्वक का मेरा शान्ति में स्थिति पाने का प्रयास आज अबुद्धि पूर्वक की कोटि में प्रवेश कर गया है। विकल्पोत्पाक संस्कारों के द्वारा खाली किया गया स्थान, शान्ति के संस्कार ने ले लिया है। एक नवीन संस्कार जीवन में उत्पन्न हुआ। अथवा यों कहिये कि शान्ति के सांचे में ढाला गया जीवन आज बाहर निकला।

३ सामायिक आदि पांचों चारित्रों का चित्रण

आ हा हा ! कितना सुन्दर है अब इसका रूप। बिल्कुल ही बदल गया है मानों यह पहले वाला मैं नहीं हूँ। इसे देखकर मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है, कि अरे ! क्या स्वप्न में भी कभी ऐसा बन जाने की आशा थी ? परन्तु 'हाथ कंगन को आरसी क्या'। सामने पड़ा हुआ यह जीवन अभ्यास की 'अचिन्त्य महिमा दर्शा रहा है। अब मेरा जीवन शान्त है। अत्यन्त शान्त। साम्यता के सांचे में ढला हुआ, यह अब विकल्पों की ओर नहीं दौड़ता, चाहे बाहर से आहार करता हूँ, गमन करता हूँ, शास्त्र लिखता हूं, या उपदेश देता हूँ। बुद्धि पूर्वक का किया गया सीमित समय का समायिक या समता का अभ्यास, आज मेरे जीवन का अंग बन गया है। सीमित समय के लिये ही नहीं चौबीसों घण्टों के लिये यह अब समता में ही विचरण करता है। इसे अब सीमित समय के लिये ही सामायिक करने की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं सामायिक रूप बन गया है। शान्ति की वह तुच्छ कणिका बढ़ते-बढ़ते अब पूर्णता के इतने निकट पहुँच चुकी है कि मैं नित्य ही जीवन में शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ। वर्तमान के जीवन के इस अंग का नाम 'सामायिक चारित्र है'।

परन्तु आश्चर्य है ! इन दुष्ट संस्कारों के साहस पर, तप की भट्टी में झोंक कर जिन्हें अच्छी तरह जला दिया गया, जली रस्सी वत पड़े वह आज भी कभी-कभी अपना सिर उठा उठा कर यह सिद्ध कर ही देते हैं, कि अभी भी वे जीवित है, भले अन्तिम स्वास ले रहे हैं। परन्तु कब तक जीवित रह सकोगे बच्चा ! अब छोड़ो इस दर को। जाओ किसी दूसरे द्वारे मांग खाओ। यहां रहोगे तो भूखा मरना पड़ेगा। अर्थात् जब-जब इनसे प्रेरित हो, अब भी कदाचित विकल्प मुझे उठते प्रतीत होते हैं, अर्थात् शान्ति का छेद होता हुआ प्रतीत होता है, तब-तब ही मैं पहले पुरुषार्थ रूप ही कुछ विशेष सामायिक ध्यान व विचारों द्वारा उस पर काबू पाने का उद्यम करने लगता हूँ। एक क्षण के लिये भी उनसे गाफिल नहीं हूँ। बराबर आहट लेता रहता हूँ सचेत गृह स्वामी वत जिसके घर में चोर भले प्रवेश कर जाओ परन्तु बिना हानि पहुँचाऐ वह स्वयं ही निकल जायेगा। फल स्वरूप पुनः स्थापन कर देता हूँ इसको-इसी शान्ति में। और सामायिक रूप बनकर फिर विचरण करने लगता हूं-शान्ति में।

कभी सामायक और कभी छेद ; पुनः सामायिक में स्थापना और फिर छेद। पुनः स्थापना

और फिर छेद। और इसी प्रकार सामायिक-छेद व स्थापना के झूले में झूलता हुआ आज में भी बराबर आगे बढ़ता चला जा रहा हूँ। लक्ष्य पूर्ण किये बिना सन्तोष करने वाला नहीं हूँ। घबराना मेरा काम नहीं। मेरे हाथ में है वह झंडा, जिस पर लिखा है 'आगे बढ़ो' अजीब है इस समय मेरे जीवन की दशा। चलते, फिरते, आहार लेते, शास्त्र लिखते, उपदेश देते, साथियों से धर्म चर्चा करते, यहाँ तक कि सोते समय भी बराबर सामायिक-छेद व स्थापना चलता रहता है। कोई निश्चित समय ही सामायिक का हो, अब ऐसी बात नहीं रही। आध या पौन घण्टे से अधिक मेरी साम्यता का छेद कभी भी होने नहीं पाता। विहार करते समय कदाचित विकल्प आया, मैंने इसे पकड़ा, सचेत हुआ, और बस फिर क्या था, भाग गया यह। मैं पुनः समता में स्नान करने लगा। चैतन्य रस का अस्वादन करने लगा। शरीर चलने का काम कर रहा है-बाहर में। और मैं समता में स्नान कर रहा हूँ अन्तरंग में। शरीर लिखने का काम कर रहा है बाहर में, और मैं समता में स्नान कर रहा हूँ, अन्तरंग में, शरीर खाने का काम कर रहा है बाहर में, और मैं समता में स्नान कर रहा हूँ अन्तरंग में। यहां तक कि सोते-सोते बराबर आध या पौन पौन घंटे के पश्चात्, स्वतः ही आंख खुल जाती है, मुझे पुनः शान्ति में स्थापित करने के लिये। और इसी प्रकार विकल्प व शान्ति के झूले में झूलते हुए बराबर आगे बढ़ता चला जा रहा हूं। जीवन के इस अंग का नाम 'छेदोपस्थापना चारित्र है'।

इस पुरुषार्थ में परिणाम की विशुद्धि बराबर बढ़ती-बढ़ती आगे तक चली गई। अशुद्धि का परिहार होता गया। अतः इस सर्व अन्तरंग पुरुपार्थ का नाम है परिहार 'विशुद्धि चारित्र'।

अरे! यह क्या? झूले में झूलते झूलते घुमेर चढ़ गई। और भूल गया सब कुछ? हो गया बेसुध। चलना, फिरना, खाना, पीना, लिखना, बोलना व सोना सब कुछ छुट गया। बाह्य क्रिया की तो बात नहीं, मैं भी हूँ या नहीं, यह भी भान न रहा। मैं जानने वाला और यह विश्व जिसे कि मैं जानूं यह भी भेद न रहा। कौन जाने और किसे जाने? कौन ध्यावे और किसे ध्यावे? कौन विचारे और किसे विचारे? एक अद्वैत अवस्था है। मानों एक रुद्र रूप है। जिसे देखकर कि संस्कारों के अर्ध मृत कलेवर, अब देखो, वह खिसकने लगे। वह देखो निद्रा भागी। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि व मैथुन भाव भी देखो लगे भागने। जिस ओर जिसकी नाक उठ गई भाग निकले। कितने भय भीत हैं आज यह? मैंने आज रौद्र रूप धारण किया है। मैं साक्षात रुद्र हूं, भगवान रुद्र। जीवन के इस अंग का नाम है 'शुक्लध्यान की प्रथम श्रेणी'।

क्रोध, मान, माया भी बेचारे क्या करें? आपस में लगे सलाह मश्वरा करने। सब साथी छोड़ कर चले गये। अकेले क्या करें? कोई बात नहीं, अपनी बिखरी हुई सेना को एक मोरचे पर संगठित करो। और एक बार अन्तिम बार आक्रमण करके देखो? अब भी कुछ दम है इनमें। यद्यपि मुझे बाधा पहुंचाने में बिलकुल असमर्थ, परन्तु दूर खड़े खड़े अब भी कुछ करने की ठान ही रहे हैं। देखें तो कि क्या करते हैं यह। वह देखो क्रोध की टोली आ मिली मान में, और यह दोनों मिल कर आ मिले माया में। अब भी पर्याप्त नहीं है, चलो लोभ को भी साथ लें, तीनों आ मिले लोभ के साथ। अब ठीक है, अब कुछ बल है, लगाओ ज़ोर। "देखो एक ही बार आक्रमण करना" और लोभ की अध्यक्षता में लगे सर्व ओर से बाण बरसाने। परन्तु इन बेचारों को क्या पता कि अद्वैतता के इस कवच पर अब इनके बाण असर न करेंगे। बल्कि इस अद्वैतता के इस बढ़ते हुए तेज में वह स्वयं जल कर भस्म

हो जायेंगे ? वह देखो लगे जलने। सब जल गये परन्तु अब भी खड़ा रह गया एक लोभ, अत्यन्त क्षीण दशा में अकेला।

असमंजस में पड़ा बेचारा मानों विचार रहा है, कि अब क्या करे ? बन्दी हाथ से निकला जाता है। आश्चर्य है इसके साहस पर। सब साथी भाग गये, शेष मारे गये, पर अब भी पीठ दिखाने को तैयार नहीं। सच्चा क्षत्रिय है। मरना स्वीकार पर रण क्षेत्र से भागना स्वीकार नहीं। इधर से मेरा अद्वैत तेज बढ़ा। चहुं ओर ताप फैल गया। अग्नि बरसने लगी। ओह! आज मैं साक्षात् अग्नि देव हूँ-इस लोभ के भग्नावशेष को दग्ध करने के लिये अर्थात् उपरोक्त ही शुक्लध्यान में और एकाग्रता अधिकाधिक बढ़ती गई और सूक्ष्म सा अवशेष रहा, यह लोभ कषाय का संस्कार भी भस्म हो गया। पुरुषार्थ के इस उत्कृष्ट भाग का नाम है, 'सूक्ष्म साम्पराय चारित्र'।

संस्कारों की अन्तिम कणिका का निर्मूलन हो जाने के पश्चात् अब मैं अत्यन्त निर्मल हो चुका हूं। अब कोई शक्ति नहीं, जो मुझे प्रेरित करके किञ्चित् भी विकल्प उत्पन्न करा सके। शान्ति में स्थिरता दृढ़तम हो गई। पूर्णता के लक्ष्य की साक्षात् प्राप्ति हो गई। आखिर जैसा बनने का संकल्प किया था वैसा बन ही गया। अब कभी भी इस अवस्था से छेद को प्राप्त न हूँगा। सर्वदा के लिये शान्त हो गया हूं मैं। जिसको लक्ष्य में रख कर चला था, वह मिल गया। जो बनना चाहता था, वह बन गया। यथाख्यात रूप को प्राप्त हो गया। जीवन के इस आत्यन्तिक शुद्ध भाग का नाम है 'यथाख्यात चारित्र।

४ अन्तरंग व वाह्य चारित्र का समन्वय

प्रथम भूमिका से ही प्रत्येक क्रिया में यह बताया गया है कि अल्पावस्था में प्रत्येक क्रिया में युगपत दो अंश रहा करते हैं, एक अन्तरंग अंश, और एक वहिरंग अंश। बिल्कुल इस प्रकार जिस प्रकार कि किसी चूर्ण के स्वाद में अनेक वस्तुओं के स्वाद युगपत पड़े रहते हैं। जो सब के सब एक ही समय किसी विजातीय स्वाद के रूप में अनुभव करने में आते हैं। यहां शान्ति मार्ग के अन्तर्गत बताई गई सर्व प्रक्रियाओं में दो अंश मिश्रित रूप से कोई विजाति रूप धारण करके ही अनुभव में आते हैं। अतः ज्ञानी बराबर इस स्वाद का विश्लेषण करके यह जानता रहता है कि कौन सा अंश प्रयोजन भूत है और कौन सा अप्रयोजन भूत। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि सर्राफ खोटे स्वर्ण की मिश्रित डली को देख कर बराबर पहिचान लेता है कि इतना अंश काम का है और इतना बेकार। बस इतने पहले से कही गई सब क्रियाओं में अन्तरंग अंश तो काम का है, और वाह्य अंश काम का नहीं। काम का न होते हुए भी प्रयोजन वश उसे अल्प भूमिका में अपनाना पड़ता है। परन्तु अभिप्राय में बराबर दोनों का भेद बने रहता है। वहां भ्रम होने नहीं देता।

उन क्रियाओं में यह अन्तरंग अंश ही वास्तव में चारित्र है। यह सामायिक या समता स्वरूप है। क्योंकि उतना अंश ही शान्ति स्वरूप है। वाह्य क्रिया तो विकल्पात्मक है, अतः वह वास्तव में चारित्र नहीं है। भले अन्तरंग के साथ साथ रहने के कारण उसे भी चारित्र कह डालो। जैसे स्वर्ण के साथ रहने के कारण खोट भी सोना कहला जाता है। आगे आगे की भूमिकाओं में, उन क्रियाओं में रहने वाला यह अन्तरंग अंश बराबर थोड़ा थोड़ा बढ़ता है। जितना जितना यह बढ़ता है, उतना उतना वाह्य अंश कम होता जाता है। एक दिन अन्तरंग अंश पूर्ण हो जाता है। और वाह्य अंश बिल्कुल

समाप्त हो जाता है। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि अशुद्ध घी में दो अंश रहते हैं। एक शुद्ध घी तथा दूसरा डालडा का अंश। यदि किसी भी वैज्ञानिक उपाय द्वारा धीरे धीरे उसमें शुद्ध घी मिलाते चले जायें और डालडा का अंश निकालते चले जायें तो आगे आगे की उत्तरोत्तर अवस्थाओं में वह अधिक अधिक शुद्ध होता चला जायेगा। और एक दिन पूर्ण शुद्ध हो जायेगा। ज्यों ज्यों शुद्ध होता जाये, त्यों त्यों हम भले सारे को शुद्ध कहते रहें, परन्तु वास्तव में शुद्धता तो शुद्ध अंश में ही है। जितनी कुछ भी हीनाधिक अशुद्धता है, वह तो अशुद्धता ही है। इसी प्रकार सर्व क्रियाओं में पड़े बाह्य अंश को अशुद्धता ही स्वीकार करना चाहिये।

अन्तरंग अंश की कुछ पूर्णता हो जाने पर, या पूर्णता के निकट पहुँच जाने पर ही, जीवन सामायिक रूप दिखाई देने लगता है। क्योंकि यहां अशुद्धता का अंश बहुत हीन हो गया है। उसका स्वाद अब विशेष नहीं आता। यह सामायिक चारित्र वास्तव में उन क्रियाओं में पड़े हुए उस अन्तरंग अंश का ही वृद्धि गत रूप है। कोई नवीन वस्तु नहीं है। यह अंश प्रथम पग अर्थात् देव दर्शन में ही प्रगट हो चुका था, और अब वही पुष्ट होता होता इतना बड़ा हो गया है।

और इस प्रकार साधक उन क्रियाओं के केवल अन्तरंग अंश में अधिकाधिक स्थिरता धारने का अभ्यास करता करता, सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, व सूक्ष्म साम्परायिक की श्रेणियों को पार करता हुआ, एक दिन यथाख्यात चारित्र में प्रवेश करता है। आज इसका चारित्र पूर्ण शुद्ध हो गया है।

४६

—: निर्जरा व मोक्ष :—

दिनांक ११ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७८

१—निर्जरा का परिचय, २—मोक्ष का लक्षण, ३—मोक्ष सम्बन्धी कुछ कल्पनायें, ४—मोक्ष पर अविश्वास, ५—मोक्ष का स्वरूप शान्ति।

१ निर्जरा का परिचय — समस्त संकल्प विकल्पों के मूल संस्कारों का निर्मूलन करके आत्यंतिकी शुद्धता व निर्मलता को प्राप्त, हे पवित्र आत्माओं ! क्या मुझ पर दया न करोगे ? मुझको भी शक्ति प्रदान कीजिये नाथ ! कि मैं भी इस सर्व दुष्ट समूह का मूलोच्छेद कर इनसे मुक्ति प्राप्त कर सकूं। आज निर्जरा व मोक्ष इन दो तत्वों का कथन करना है। संस्कारों के साथ युद्ध ठान कर इनकी शक्ति को बराबर तपश्चरण के द्वारा क्षीण करते जाने का नाम निर्जरा है। इसका कुछ विस्तार गृहस्थ सम्बन्धी निर्जरा या तप को प्रकरण में (प्रवचन नं० ५२-५७ दिनांक ६-१०-५९—११-१०-५९) और उत्तम तप धर्म के प्रकरण में (प्रवचन नं० ६९-७० दिनांक २२-१०-५९—२३-१०-५९) किया जा चुका है। अतः पुनः करने की आवश्यकता नहीं है।

२ मोक्ष का लक्षण — अब मोक्ष की बात चलती है। मोक्ष वास्तव में छूटी हुई अवस्था का नाम है। किसी भी पदार्थ की छूटी हुई अर्थात् बन्धन रहित अवस्था, अर्थात् स्वतन्त्र दशा का नाम मोक्ष है। 'मुच्' धातु का अर्थ है छूटना। मुक्ति का अर्थ भी है छूटना, छूटना किसी बन्धन से ही होता है। जो बंधा ही नहीं उसका क्या छूटना। गाय रस्से से बंधी है। रस्सा खुलने पर उससे मुक्त हो जाती है। सिंह पिंजरे में बन्द है। निकल जाने पर पिंजरे से मुक्त हुआ कहा जाता है। वन में स्वतन्त्र विचरण करने वाले सिंह की क्या मुक्ति ? बन्दी गृह में पड़ा बन्दी ही मुक्त किया जा सकता है। स्वतन्त्र नागरिक नहीं। अतः मोक्ष का अर्थ बन्धन सापेक्ष है। जहां बन्धन नहीं वहां मोक्ष नहीं। और जहां बन्धन है वहां मोक्ष भी है। मुझे अन्य पदार्थों की मोक्ष से क्या सम्बन्ध ? मुझे तो अपनी मोक्ष खोजनी है। मोक्ष खोजने से पहले अपना बन्धन खोजना होगा।

बाहर में खोजने पर तो कोई बन्धन दिखाई देता ही नहीं। बन्दी तो मैं हूं ही नहीं पर कुटुम्बादि ने भी मुझे पकड़ कर बिठा नहीं रखा है। स्वयं मेरी कल्पनायें ही बन्धन है। इन कल्पनाओं से छूटने के नाम ही मोक्ष है। अर्थात् अन्तरंग में पुष्ट संस्कार जिनसे प्रेरित होकर कि मैं यह संकल्प विकल्प कर रहा हूं, उनसे छूटने का, उनके विनाश होने का नाम ही मेरी मुक्ति या मोक्ष है। जिसका

उपाय कि निर्जरा व तप के प्रकरण में आ चुका है। अर्थात् संस्कारों से रहित अपनी यथास्वभाव पूर्ण स्वतन्त्र व शान्त दशा का नाम ही मोक्ष है।

३ मोक्ष सम्बन्धी कुछ कल्पनायें

मोक्ष के सम्बन्ध में जो कल्पनायें अब तक की हैं वह सब झूठी हैं। क्योंकि शान्ति से निरपेक्ष हैं। उन कल्पनाओं का झुकाव शान्ति की ओर न जाकर, जा रहा है लोक के शिखर पर, आकाश के किसी विशेष क्षेत्र की ओर, अथवा अनुमानत: किसी पत्थर की बनी हुई शिला की ओर, अथवा पहले से विराजमान अनेक शुद्ध आत्माओं की ओर। और इसलिये अनेकों संशय व संदेह उत्पन्न हो रहे हैं-उसके सम्बन्ध में। भले मुख से कहता हुआ डरता हूं कि कहीं गुरु वाणी के प्रकोप का पात्र न बन बैठूं। पर इस प्रकार मुख बन्द कर लेने से हृदय की शंकायें तो टल नहीं जाती? बिल्ली के आने पर यदि कबूतर आंख मींच ले, तो बिल्ली तो टल नहीं जाती? अन्तरंग में झुक कर देख। कुछ इस जाति के अनेकों संशय भरे पड़े है वहां। क्या रखा है मोक्ष में? न कुछ खाने को न कुछ पीने को, न कुछ बैठने को न कुछ सोने को, न चलने फिरने को न सैर करने को, न सुन्दर व सुसज्जित महल रहने को, न मोटर व हवाई जहाज घूमने को, न यार मित्र बोलने को, न सुन्दर स्त्रियाँ भोगने को, कुछ भी तो नहीं है वहां। बैठे रहो वहाँ मुख सीमे। बराबर में अनेकों बैठे रहो, वहां। पर सब गुम-सुम। मानों कि पत्थर के बुत घड़ कर बिठा दिये हों वहां यह भी कोई जीवन है? 'ज्ञान ज्ञान' की रट सुनते हैं। पर क्या करें उस ज्ञान को। ओढ़ें या बिछायें? किसी को बताया तक न जा सके, कुछ नया आविष्कार निकाला न जा सके। हुआ न हुआ बराबर है। आज के उन्नति के युग में जब चारों ओर ज्ञान का चमत्कार दिखाई दे रहा हो, ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य? केवल अन्ध श्रद्धान का विषय है, किये जाओ, परन्तु कब तक? एक रोज तो छोड़ना ही होगा।

४ मोक्ष पर अविश्वास

मुझे नहीं चाहिये ऐसो मोक्ष। वर्तमान में ही क्या कमी है मेरे पास? बड़े बड़े महल, कीमती से कीमती वस्त्र व अलंकार, घूमने को मोटर व हवाई जहाज बैठने व सोने को खूब गद्देदार डनलप पिलो के सौफा सैट व पलंग, खाने को स्वादिष्ट से स्वादिष्ट व्यञ्जन, भोगने को देवांगना सरीखी स्त्री, बाल बच्चे, और क्या नहीं? इन सबको छोड़कर क्यों एक शून्य स्थान में जाऊं, जहां इनमें से कुछ भी नहीं। पड़े रहो अकेले। इतना भी तो नहीं कि अपना गम किसी को सुना दूं। अरे रे! मोक्ष कहते हैं इसे। कोरो कैद है। भगवान बचा इस मोक्ष से मुझे। भला खाली बैठे मक्खियां मारना शोभा देता है कहीं मनुष्य को? ना भाई ना! कोई बहुत बड़ा राजपाट भी दक्षिणा में दे और कहे कि किसी प्रकार मोक्ष ले लो, तो भी न लूं।

फिर यह नित्य ही मोक्ष की रटना क्यों? मुझे क्या पता था कि वह मोक्ष इस प्रकार को होगी। मैं तो समझा था कि कोई आकर्षक वस्तु होगो। सारा जगत जिसके गुणगान करता है, सोचता था कि वह कुछ तो होगा हो। परन्तु खोदा पहाड़ और चुहिया भी तो न निकली। भला कौन स्वीकार करेगा जड़ बनकर पड़ा रहना। किसे अच्छा लगता है सौफा सैट को छोड़कर पत्थर की शिला पर पड़े रहना यूं ही अचेत सा। और इसी प्रकार की अनेकों कल्पनायें। भला विचारिये तो सही फिर भी इस मोक्ष की यह रटन क्यों? इसमें सम्प्रदायिकता के अतिरिक्त और है ही क्या? कुछ रूढ़िया व पक्षपात। अनेकों गये हैं वहां। मूर्ख ही हैं सब। जगत में क्या कमी है मूर्खों की? और हंसी आ जाती है आज मोक्ष का नाम सुनकर भी। पुराने जमाने की बात कहां लाये हो निकाल कर, विज्ञान के इस युग में।

५ मोक्ष का स्वरूप शान्ति

मोक्ष के समझे विना कैसे दवा सकेगा इन विकल्पों को । और यह कल्पनायें दवाये विना क्यों करने लगा इतना वड़ा तपश्चरणादि का परिश्रम । जिसमें हित का तो प्रश्न ही नहीं, अहित ही है । अतः भाई मोक्ष तत्त्व को जानना अत्यन्त आवश्यक है । इसको जाने विना या इसकी श्रद्धा किये विना, अब तक की सारी पढ़ाई वेकार है । वास्तव में ऐसा नहीं है । अव तक सारी पढ़ाई एक अलौकिक देन है । उसकी अवहेलना मत कर । मोक्ष का सच्चा स्वरूप जानने का प्रयत्न कर ।

लोक शिखर में स्थित, आकाश के किसी टुकड़े का नाम मोक्ष नहीं । मोक्ष शिला का नाम मोक्ष नहीं । वहां पर विराजे पूर्व आत्माओं के सम्पर्क का नाम मोक्ष नहीं । उस तेज से तेज वत् मिल जाने का नाम मोक्ष नहीं । ज्ञान के अभाव का नाम मोक्ष नहीं । जड़ बन कर पड़े रहना भी मोक्ष नहीं । इतना कुछ प्रयास ऐसे मोक्ष के लिये नहीं किया जाता । ऐसा मोक्ष लेना तो बहुत आसान है । खूब भर कर पाप करो, बस हो गया । मिल जायेगी ऐसी मोक्ष । निगोद का रूप धारण करके पड़े रहोगे सागरों के लिये अचेत-लोक शिखर में उसी पत्थर की शिला पर-उन्हीं पवित्र आत्माओं के सम्पर्क में ।

भाई ! मोक्ष इतनी तुच्छ सी वस्तु नहीं । वहां से दृष्टि हटा । मोक्ष को वाहर में मत खोज । अपने अन्दर में देख । उसी प्रकार जैसे कि अब तक आस्रव वंध संवर निर्जरा आदि को देखता आया है । मोक्ष किसी क्षेत्र का नाम नहीं है । बल्कि तेरी अपनी ही किसी दशा विशेष का नाम है । जिसमें न संकल्प है, न विकल्प, न राग है, न द्वेष, न इच्छायें हैं न चिन्तायें, न वाह्य पदार्थों का ग्रहण है, न त्याग न उनमें इष्टता है न अनिष्टता । केवल है एक ज्ञायक भाव । जिसमें सर्व प्राणी केवल प्राणी मात्र हैं । न है कोई पुत्र, न है कोई पिता, न है कोई वहन, न है कोई माता, न हैं कोई मित्र, न है कोई शत्रु, न है कोई राजा न है कोई रंक, न है कोई वड़ा न है कोई छोटा, न है कोई ब्राह्मण, न है कोई शूद्र, न है कोई देव न है कोई तिर्यंच । जहां है एक साम्यता व शान्ति । विकल्प उठने को अवकाश भी नहीं है । क्योंकि प्रेरक संस्कारों का आत्यन्तिक विच्छेद पहले ही किया जा चुका है ।

विकल्पों के अभाव में शरीर का निर्माण किस लिये करें । भिन्न-भिन्न रूप क्यों धारें ? क्यों किसी को पुत्र मित्रादि वनायें ? किसके लिये यह सब जंजाल मोल लें ? किसके लिये धन कमायें ? किसको वस्त्र पहनायें ? किसके लिये भोजन वनायें ? किसको पढ़ायें लिखायें ? किसकी रक्षा करें ? तथा किसके लिये भीख मांगें ? जहां विकल्प ही नहीं वहां इच्छा किस वात की ? जहां शरीर ही नहीं वहां महल, सौफा पलंग, स्वादिष्ट पदार्थ, सुन्दर स्त्री आदिक की आवश्यकता ही कैसी ? मित्रों आदि से वात-चीत करने की आवश्यकता ही क्या ? आवश्यकता के विना उनके प्रति का पुरुषार्थ कैसा ? पुरुषार्थ के विना व्यग्रता कैसी ? व्यग्रता के विना दुःख क्या ? और दुःख के विना रहा ही क्या ? केवल एक शान्ति जो तेरा स्वभाव है । तेरा सर्वस्व है । इन विकल्पों के नीचे ही तो दवी पड़ी थी वह ? कहीं भाग तो न गई थी जो कहीं से लानी पड़ती ? ऊपर से यह सब कूड़ा कर्कट फूंक डाला, बस यह देख, यह रही तेरी पवित्रता शान्ति रानी । और क्या चाहिए था तुझे ? इसी को तो लक्ष्य में लेकर चला था, इसी के लिए तो लक्ष्य विन्दु वनाया था । इसी के लिए तो इतना लम्वा प्रयास किया था । बस मिल गई वह । अभीष्ट की प्राप्ति हो गई । जो करना था सो कर लिया । जहां जाना था वहां पहुंच गया । कृतकृत्य हो गया । मार्ग समाप्त हो गया : और क्या चाहिये ? और कुछ चाहिये तो फिर वहीं जाना होगा । विकल्पों में, व्यग्रताओं व चिन्ताओं में जिनको छोड़ कर कि यहां आया है । इस पूर्ण व आत्यन्तिकी तेरी अपनी शान्ति का नाम ही तो मोक्ष है ।

यहां न खोज कर वहां खोजने के लिए गया, तभी तो उस सेठ ने मोक्ष जाना स्वीकार न किया। क्योंकि वहां उसे न दीख सके अपने दश पुत्र और न दीख सके दश कारखाने। क्या करता वहां जाकर ? भाई मोक्ष की सच्ची अभिलाषा है तो अभी से इस बाह्य जंजाल से तथा इन सम्बन्धी अन्तरंग विकल्पों से धीरे धीरे मुक्ति पाना प्रारम्भ कर। जितनी जितनी इससे मुक्ति पायेगा, उतनी उतनी अन्तरंग में शान्ति प्रगट होगी। बस उतनी उतनी ही मोक्ष हुई समझ। मोक्ष एक दम प्राप्त की जा सके ऐसा नहीं। अन्य सर्व प्रक्रियाओं वत् इसकी प्राप्ति भी क्रम पूर्वक धीरे धीरे होती है। आंशिक शांति, आंशिक मोक्ष; पूर्ण शाँति, पूर्ण मोक्ष; आंशिक निर्विकल्पता, आंशिक त्याग, पूर्ण निर्विकल्पता पूर्ण त्याग, आंशिक निरभिलाषता, आँशिक स्वतन्त्रता, पूर्ण निरभिलाषता, पूर्ण स्वतन्त्रता, इस इतने लम्बे मार्ग में प्रति क्षण मोक्ष ही तो प्राप्त करता रहा है। और उसके अतिरिक्त किया ही क्या ? प्रारम्भिक पग से ही मोक्ष होनी प्रारम्भ हो गई थी। अब वह पूर्ण हो गई है। बस इतना ही तो अन्तर है। अतः इस वास्तविक मोक्ष के प्रति बहुमान उत्पन्न कर।

VIII समन्वय

४७

—: शान्ति पथ का एकीकरण :—

दिनांक २८ अक्तूबर १९५९ (सन्ध्या समय)

प्रवचन नं० ७९

१—धर्म व श्रद्धा के लक्षणों का समन्वय, २—श्रद्धा ज्ञान की सप्तात्मकता का एकीकरण, ३—धर्म में दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता, ४—शाब्दिक श्रद्धा व अनुभव का कार्य कारण भाव।

१ धर्म व श्रद्धा के लक्षणों का समन्वय

प्रथम ही धर्म के लक्षण वताते समय (प्रवचन नं० ६ दिनांक ५-७-५९) के अनेक लक्षणों में एक लक्षण श्रद्धा ज्ञान चारित्र कह कर वताया गया था। उनमें से पहला अंग था श्रद्धा। श्रद्धा का सच्चा स्वरूप (प्रवचन नं० ८ दिनांक ७-७-५९ से प्रवचन नं० ९ दिनांक ८-७-५९) तक दर्शाया गया और आगे (प्रवचन नं० १० दिनांक ९-७-५९) में उसके स्वरूप को श्रद्धा के विपय भूत पदार्थ का भी ७ भागों में विभाजन किया गया है। उसके आगे (प्रवचन नं० ११) से कल वाले (प्रवचन नं० ७७) तक वरावर उन्हीं श्रद्धा के विपयभूत सात पदार्थों का स्पष्टीकरण किया गया है। और इस प्रकार धर्म के अंग श्रद्धा का कथन पूरा हो गया।

अव धर्म के दूसरे व तीसरे अंग ज्ञान व चारित्र के सम्वन्ध में कुछ कह कर इन प्रकरण को यहां पूरा कर देना चाहिये। यद्यपि कुछ भी अधिक आवश्यकता अव रह नहीं गई है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ सम्वन्धी विवेचन में इन दोनों अंशों का वरावर समावेश होता चला गया है। और पहले भी श्रद्धा की यथार्थता वताते समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि श्रद्धा वही है जो जीवन में उतर जाये। अर्थात् चारित्र के साथ साथ रहने वाली श्रद्धा ही श्रद्धा है। परन्तु फिर भी इन सर्व प्रकरणों में इन तीनों अंगों का समावेश किस प्रकार हो जाता है यह वताना आवश्यक है।

२ श्रद्धा ज्ञान की सप्तात्मकता का एकीकरण

वास्तव में श्रद्धा व ज्ञान के विषय सम्वन्धी सातों पदार्थों का शाब्दिक परिचय मात्र ही हो सका है। अर्थात् इनका शाब्दिक ज्ञान ही हुआ है। परन्तु इनके रसात्मक रहस्य का अनुभव नहीं हो सका है। यदि हो जाता तो इन सातों पदार्थों में भी भेद देखने में न आता और उपरोक्त धर्म के तीन अंगों में भी भेद दिखाई न देता। इस लिए यह शाब्दिक ज्ञान वास्तविक

महत्ता को प्राप्त हुआ नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी इस शाब्दिक ज्ञान के बिना श्रद्धा किस की करे ? और जीवन में किसे उतारे ? इस दृष्टि से देखने पर इस ज्ञान की भी महिमा अपार हो जाती है। परन्तु यह महिमा उसी के लिए है जो इसे जान कर इसके अनुसार अपने जीवन में कुछ परिवर्तन करने का प्रयास करे। केवल शब्दों के जानने में सन्तोष धार ले, तो ज्ञान हुआ और न हुआ बराबर ही है। उल्टा अभिमान का कारण बन कर और भी अनिष्ट कर सकता है।

यहां तक कथित, सात खण्डों में विभक्त, इस विस्तृत वक्तव्य के अनुसार अपने जीवन को ढालने के लिये, इन सातों में परस्पर क्या मेल है, यह जानना आवश्यक है। क्योंकि भले ही जानने में या बताने में, शब्दों की क्रमिकता के कारण इस अखण्ड एक विषय के सात खण्ड बन गये हों, पर जीवन में यह सात खण्ड रूप से उतारा नहीं जा सकता। जैसे कि पहले ही प्रवचन नं० १० दिनांक ९-७-१९५९ में एक ही श्रद्धा के विषय का प्रयोजन वश विश्लेषण करके सात भागों में विभाजित किया गया, उसी प्रकार अब वह प्रयोजन पूरा हो लेने पर उन सातों खण्डों का एकीकरण करना आवश्यक है। क्योंकि श्रद्धा वास्तव में सात नहीं है, वह तो एक ही है। जैसे रोग का प्रतिकार करने के लिए, वैद्य के द्वारा बताई गई औषधि का जो प्रयोग करने में आता है, उसकी आधार भूत श्रद्धा में भले सात खण्ड पड़े हों पर वह श्रद्धा एक है। इसी प्रकार इस विकल्प रोग के प्रशमनार्थ, जो प्रयास जीवन में किया जाने वाला है, उसकी आधार भूत श्रद्धा में यह सात खण्ड भले पड़े हों पर श्रद्धा एक है। और वह इस प्रकार :—

मैं वास्तव में शान्ति का पिण्ड व चैतन्य व अमूर्तीक पदार्थ हूँ। परन्तु अपने को व अपने अन्दर पड़ी शान्ति को भूल जाने के कारण, मै इन दोनों की खोज शान्ति व अशान्ति विहीन अचेतन व मूर्तीक शरीर तथा धनादि जड़ पदार्थों में करता फिर रहा हूँ। और बिल्कुल उस मृग की भांति, जिसकी नाभि में छिपी है गन्ध, पर उसे बाहर मे खोजता हुआ, उसे कहीं न पाकर व्याकुल हो रहा है, मैं भी व्याकुल बना हूआ हूँ। यह जीव व अजीव तत्व की एकता हुई। उपरोक्त भूल के कारण नित्य ही नये नये विकल्प व इच्छायें धारण कर करके, और इच्छाओं सम्बन्धी दुष्ट संस्कारों को और और पुष्ट करता रहता हूं। और इस प्रकार व्याकुलता में प्रति क्षण वृद्धि करता रहता हूँ। यह मेरा अपराध है। इसी को आस्रव बन्ध तत्व कहते हैं। जीव अजीव तत्व के साथ आस्रव बन्ध का इस प्रकार सम्मेल बैठा लेने पर यह चारों मिल कर एक हो जाते हैं। यदि स्व पर भेद विज्ञान प्रगट करके इस भूल को दूर कर दूं तो अपनी शान्ति को बाहर खोजने की बजाय, अन्दर में खोजने लगूं। और क्योंकि वह वहाँ है ही, इसी लिए अवश्य खोजने में मैं सफल हो जाऊं। बस शान्ति के दर्शन होते ही बाह्य की विकल्पनायें अवश्य समाप्त होती चली जायें। अधिकाधिक उस शान्ति में स्थिरता धरने से, पूर्व के विकल्प उत्पन्न करने वाले संस्कार कटते चले जायें, और इसी प्रकार करते करते एक दिन संस्कारों व विकल्पों से पूर्णतया मुक्त निर्बाध शान्ति का उपभोग करने लगूं। यही है संवर निर्जरा व मोक्ष तत्व की एकता। सात के दो खण्ड हो गये, एक व्याकुलता उत्पन्न करने सम्बन्धी और दूसरा व्याकुलता दूर करने सम्बन्धी। पहला हेय है और दूसरा उपादेय। इन दोनों को मिला देने से पूर्ण मार्ग की रूप रेखा दृष्टि में आ जाती है। अर्थात् व्यकुलता की कारण भूत चार भूलों को छोड़ कर शान्ति को उत्पन्न करने वाले अगले प्रयास में विचरण करूं तो धीरे धीरे पहला खण्ड कम होता जाये और दूसरा खण्ड बढ़ता जाये। एक

दिन पहला खण्ड विनष्ट हो जाये और दूसरा खण्ड पूर्ण हो जाये। बस इस प्रकार इन सातों बातों में हेयोपादेयता का मेल बैठाकर श्रद्धा का एक अखण्ड विषय बनता है।

१ धर्म में दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता

यद्यपि यहां तक इस सप्तात्मक एक अखंड विषय का ज्ञान भी हो गया, और उस ज्ञान के अनुरूप ही शाब्दिक श्रद्धा भी हो गई। परन्तु जीवन का ढलाव भी साथ साथ जब तक उसके अनुरूप न होने लग जाये अर्थात् उसका झुकाव बाह्य द्रव्यों के विकल्पात्मक आश्रय से हटकर अन्तरंग की शान्ति की खोज में न लग जाये, बाह्य द्रव्यों से किंचित उदासीनता न आ जाये, अधिकाधिक समय देव पूजादि क्रियाओं में देने न लग जाये, तब तक वह श्रद्धा श्रद्धा नहीं कही जा सकती। अर्थात् इस सप्तात्मक मार्ग को भली भांति युक्ति द्वारा जान कर, इस पर "ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं" ऐसी दृढ़ श्रद्धा करके अपने जीवन को उसके अनुरूप ढालने या आचरण करने का नाम ही तो शान्ति का मार्ग है। इसमें युगपत ज्ञान श्रद्धा व चारित्र तीनों खंड पड़े हुए हैं। यही है शान्ति मार्ग की, या मोक्ष मार्ग की, या धर्म मार्ग की त्रयात्मकता। जिसमें ज्ञान श्रद्धा व चारित्र तीनों मिलकर एक हो गये हैं।

४ शाब्दिक श्रद्धा व अनुभव का कार्य कारण भाव

परन्तु इसमें इतना विशेष है कि जब तक इस धर्म का वास्तविक फल अर्थात् उस चौथी कोटि की शान्ति का साक्षात् वेदन नहीं हो जाता, तब तक न चारित्र रहस्यात्मक है, न श्रद्धा रहस्यात्मक है, न ज्ञान रहस्यात्मक है। ज्ञान व श्रद्धा का आधार है उपदेश और चारित्र का आधार है शरीर। इसलिये इस स्थिति में रहने वाले यह तीनों ही खंड सच्चे नहीं कहे जा सकते। परन्तु क्योंकि पहली दशा में ऐसा किये बिना उस रहस्य का वेदन होना ही असम्भव है, इसलिये इस प्रकार की झूठी त्रयात्मकता भी कार्यकारी है। प्रारम्भिक भूमिका में इसका बड़ा महत्व है। परन्तु प्रयास कुछ अन्तरंग की प्राप्ति के प्रति होना चाहिये। केवल शारीरिक क्रियाओं में संतोष धारे तो उस त्रयात्मकता का कोई मूल्य नहीं।

धीरे धीरे इस प्रकार जीवन को एक नई दिशा की ओर घुमा कर धैर्य व साहस पूर्वक इस पर आगे बढ़ते जायें, तो एक दिन ऐसा आ जाना सम्भव है जबकि एक क्षण-मात्र के लिये उस लक्ष्य का साक्षात्कार हो जाये। उस समय अन्तरंग में क्या चिन्ह प्रकट होंगे सो पहले ही शान्ति के प्रकरण में बताये जा चुके हैं (देखो प्रवचन नं० ५ दिनांक ४-७-५६) उस समय एक अपूर्व कृतकृत्यता सी उत्पन्न होने लगेगी एक विचित्र संतोष व हल्कापन सा प्रतीत होगा और वह ज्ञान श्रद्धा जो इस समय तक शब्दात्मक थी अब एक नया रूप धारण कर लेगी। "अरे! यह है वह रहस्य। यह हूं मैं साक्षात् रूप से अपने अन्तरंग में विराजमान शान्ति के वेदन से अत्यन्त तृप्त, सर्वाभिलाष से मुक्त। वाह! वाह! कितना सुन्दर है यह। यह तो है बिल्कुल पृथक। यह रहा। वास्तव में कुछ भी सम्बन्ध है नहीं इन दूसरों से इसका। व्यर्थ ही अब तक व्यग्र बना रहता था। व्यर्थ ही इसकी खोज इतनी कठिन समझता था। यह मैं ही तो हूँ। अरे! वाह वाह! कितनी विचित्र बात है? आज तक यूं ही मारा मारा फिरता रहा इसकी खोज में। इस शान्ति को छोड़कर अब कहां जाऊं? कुछ भी प्रयोजनीय नहीं है। बस अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। यह था वह जिसकी मुझे इच्छा थी।" इत्यादि प्रकार के विकल्प व उद्गार उत्पन्न हो जायेंगे।

बस उसी क्षण से वह श्रद्धा अब इस रूप न रह जायेगी कि "गुरु का उपदेश है इसलिये यह ऐसा ही है", बल्कि इस रूप हो जायेगी कि "मैंने स्पष्ट इसका फल चखा है, इसलिये यह ऐसा ही है। अब इसका आधार उपदेश की बजाय अनुभव हो गया है। अब यह श्रद्धा पराश्रित नहीं रही, स्वाश्रित

हो गई है। शब्दात्मक नहीं रही रहस्यात्मक हो गई है। अब यह श्रद्धा तीन कोटियों को उलंघन करके चौथी कोटि में पहुँच चुकी है। इसलिये इसी का नाम वास्तविक व सच्ची श्रद्धा है। जिसके हो जाने पर ज्ञान भी रहस्यात्मक बन जाने के कारण सच्चा हो गया, और चारित्र भी रसास्वादन हो जाने के कारण सच्चा हो गया है। पहले की त्रयात्मकता में शाब्दिक ज्ञान की प्रमुखता थी और इस रहस्यात्मक त्रयात्मकता में रसास्वाद रूप अनुभव सम्बन्धी श्रद्धा की मुख्यता है। इसलिये जहां सच्चे मार्ग या धर्म का निरूपण किया जाता है, यहां ज्ञान को प्रथम स्थान न देकर श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया जाता है। अब इस त्रयात्मकता का रूप ज्ञान श्रद्धा व चारित्र न रह कर, श्रद्धा ज्ञान चारित्र बन जाता है क्योंकि ज्ञान की रहस्यात्मकता का कारण अनुभवात्मक श्रद्धा है और आगे आगे चारित्र में प्रेरक होने वाली भी, बजाय गुरु के उपदेश के वही रहस्यात्मक श्रद्धा है। पहले की भांति अब गुरु के कहने के कारण आगे नहीं बढ़ेगा, बल्कि इस स्वाद का व्यसन पड़ गया है, इसलिये आगे बढ़ेगा। इसी स्वाद की प्रेरणा से पुरुषार्थ आगे आगे अधिकाधिक उत्तेजित होता जायेगा। और एक दिन श्रद्धा ज्ञान व चारित्र मिलकर तीनों एक शान्ति में निमग्न हो जायेंगे। वहाँ न श्रद्धा होगी न ज्ञान न चारित्र। मैं हूंगा और मेरी शान्ति। एक अद्वैत दशा होगी वह।

४८
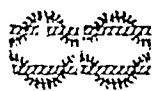
—: सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा के लक्षणों में समन्वय :—

दिनांक २६ अक्तूबर १९५९ सन्ध्या समय

प्रवचन नं० ८०

१—पांच लक्षण, २—पांचों लक्षणों में पृथक पृथक शान्ति का समावेश, ३—पांचों लक्षणों की एकता।

धर्म की त्रयात्मकता का एकीकरण कर देने के पश्चात् अब एक बड़ा प्रश्न और सामने आता है। वह है कि आगम में सम्यक्त्व या शान्ति मार्ग सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा के अनेकों लक्षण दिये गये हैं। परन्तु यहां इतने लम्बे प्रकरण में उनमें से एक भी लक्षण कहा नहीं गया है। केवल एक शांति की रट लगाते चले आये हैं। तो क्या आगम के इन लक्षणों को मिथ्या मान लें ?

नहीं भाई ! ऐसा भूल कर भी न कहना। और उन्हें मिथ्या मानने के लिए अवकाश भी तो नहीं है। तनिक समझ में फेर है ? ध्यान देकर समझ, सभी लक्षणों में एक ही बात दृष्टि गत होती है। भिन्न भिन्न रुचि वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ भले गुरु जनों ने एक ही बात को भिन्न भिन्न रूपों से कहा हो, परन्तु सब में अभिप्राय एक ही है। जिस प्रकार कि मैं बताता हूँ इस प्रकार देख। इन सब में एक शान्ति ही तो नृत्य करती दिखाई दे रही है।

१ पांच लक्षण सम्यक्त्व सम्बन्धी लक्षण आगम में मुख्यतया चार प्रकार से करने में आते है :—

(१) सच्चे देव, सच्चे गुरु व सच्चे शास्त्र या सच्चे धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धान।

(२) सात तत्वों पर दृढ़ श्रद्धान।

(३) स्व पर भेद दृष्टि।

(४) आत्मानुभव।

(५) इनके अतिरिक्त एक लक्षण वह जो कि मैं करता चला आया हूँ। शान्ति के प्रति रुचि व झुकाव।

२ पांचों लक्षणों में पृथक पृथक शांति का समावेश

यद्यपि शब्दों में यह पांचों पृथक पृथक दीख रहे हैं। परन्तु तनिक गौर से देखने पर इन पांचों में कोई भेद नहीं है। देख पहला लक्षण है, सच्चे देव, गुरु व धर्म पर दृढ़ श्रद्धान। इस लक्षण का स्पष्टीकरण करने के लिये मुझे आवश्यकता पड़ेगी यह पूछने की कि तू देव व गुरु किसे समझता है। यदि नग्न शरीर व केश लुंचनादि अन्य शारीरिक लक्षणों मात्र को गुरु, और अद्वितीय तेजः पुञ्ज शरीर धारी व छत्र, चमर आदि सहित को देव मान कर, उन सम्बन्धी दृढ़ श्रद्धा करे तो उसे तो सम्यक्त्व न कहेंगे। क्योंकि उसका नाम देव व गुरु नहीं है? वास्तविक देव व गुरु को जाना ही नहीं है, श्रद्धा किसकी करेगा? कुल परम्परा से नग्न शरीरादि लक्षणों को देख कर देवादि स्वीकार करना तो साम्प्रदायिक श्रद्धा है। अन्ध श्रद्धा है। विना परीक्षा किये कोई बात स्वीकार करना तो श्रद्धा नहीं। क्योंकि साम्प्रदायिक श्रद्धा तो अपने अपने देव व गुरु के प्रति सबको ही है। यदि कहे कि मेरी श्रद्धा सच्चे देव गुरु के प्रति है, इसलिए यह सच्ची है। सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि विना परीक्षा किये सच्चे व झूठे का पता कैसे चला? तेरे पिता ने कहा है कि वह सच्चे हैं, इसका नाम तो परीक्षा नहीं। देव व गुरु की परीक्षा सम्बन्धी प्रकरणों में इस बात का काफी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। (देखो प्रवचन नं० ११ दिनांक २४-७-५६ तथा प्रवचन नं० १३-१८ दिनांक २६-७-५६—३१-७-५६) शान्ति या वीतरागता के आदर्श का नाम देव व गुरु है। शान्ति व वीतरागता सम्बन्धी उपदेश का नाम शास्त्र है। शान्ति व वीतरागता को प्राप्त करने के मार्ग का नाम धर्म है। विना शान्ति की पहिचान के कौन देव, कौन गुरु, कौन धर्म व कौन शास्त्र? इसलिए शान्ति का अनुभव हुए विना देव व गुरु आदिक की श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं कही जा सकती। अतः इस लक्षण में शान्ति के अनुभव की ही मुख्यता है।

दूसरा लक्षण है सात तत्वों पर दृढ़ श्रद्धान। अब तू ही बता कि सात तत्व किसे कहता है, और उनकी श्रद्धा किसे मानता है? यदि सात तत्वों के नाम भेद प्रभेद आदि मात्र को जान कर तत्सम्बन्धी श्रद्धा करने को श्रद्धा कह रहा है तब तो वह सच्ची श्रद्धा नहीं है। ऐसी श्रद्धा तो प्रत्येक जैनी को है, पर सब सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इन सात खण्डों में हेयोपादेय बुद्धि बना कर हेय को त्यागने के प्रति झुकाव हो जावे, और उपादेय को ग्रहण करने के प्रति झुकाव हो जावे, मोक्ष या पूर्ण शान्ति का लक्ष्य बिन्दु बना कर अजीव आस्रव बन्ध तत्वों को हेय जान छोड़े, और जीव संवर निर्जरा को उपादेय मान ग्रहण करे; अजीव आस्रव बन्ध में आकुलता देखे और जीव संवर निर्जरा में शान्ति देखे। ऐसी सात तत्वों की एकत्व रूप श्रद्धा का नाम सच्ची श्रद्धा है। इसका विशेष स्पष्टीकरण कल के प्रवचन में किया जा चुका है। शान्ति के अनुभव के विना तो वास्तविक रीति से हेयोपादेय का भेद भी नहीं किया जा सकता। भले गुरु के उपदेश के आश्रय पर मानता हो, पर वह तो श्रद्धान शब्दात्मक हुआ रहस्यात्मक नहीं। अतः इस लक्षण में भी शान्ति के वेदन की ही मुख्यता है?

तीसरा लक्षण है स्व पर भेद दृष्टि। इस लक्षण में व उपरोक्त सात तत्वों वाले लक्षण में विशेष भेद नहीं है। क्योंकि यहां हेय तत्वों को 'पर' में और उपादेय तत्वों को स्व में समाविष्ट कर दिया गया है। 'स्व' अर्थात् मैं जीव हूँ और संवर निर्जरा के द्वारा प्राप्त शान्ति ही मेरा स्वभाव है। मोक्ष मेरे ही स्वभाव का पूर्ण विकास है। और अजीव 'पर' तत्व है। इसके आश्रय से उत्पन्न होने वाले आस्रव व बन्ध मेरी शान्ति के घातक हैं। अतः अजीव आस्रव बन्ध को 'पर' तत्व समझ कर छोड़ और

जीव संवर निर्जरा तत्व को 'स्व' तत्व समझ कर ग्रहण कर। शान्ति के अनुभव बिना कैसे जाने कि मैं 'जीव' कौन ? जीव को अर्थात् 'स्व' को जाने बिना 'पर' किसे कहेगा ? प्रकाश को जाने बिना अन्धकार किसे कहेगा ? केवल शरीर ही जीव रूप से दिखाई देगा। उसे तो छुड़ाना ही अभीष्ट है। भले जीव का नाम बदल कर, "मैं आत्मा हूँ, शरीर से पृथक हूं", ऐसा कहदे पर अनुभव के विना वह आत्मा क्या, यह तो पता नहीं। शब्दों में आगम के आधार पर भले लक्षण कर दे पर अनुभव के बिना तेरे वे लक्षण अन्धे के तीर वत् ही तो हैं। इसलिए 'स्व पर भेद दृष्टि' में भी शान्ति का अनुभव ही प्रधान है,

चौथा लक्षण है आत्मानुभव। सो तो स्पष्ट अनुभव रूप करने में ही आ रहा है। पर आत्मा का अनुभव क्या ? वह भी तो शान्ति का वेदन ही है। अनुभव तो स्वाद का हुआ करता है, सुख व दुःख का हुआ करता है। जैसे सूई चुभने का अनुभव, सूई के ज्ञान से कुछ पृथक जाति का है। इसी प्रकार निज का अनुभव निज के ज्ञान से कुछ पृथक जाति का है। ज्ञान में तो वस्तु के आकारादि गुणों की प्रधानता होती है। उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होना तो अल्पज्ञ को सम्भव नहीं है। परन्तु सुख व दुःख का प्रत्यक्ष होना हरेक को सम्भव है। जैसे अन्धे को सूई का ज्ञान होना तो सम्भव नहीं है, पर उसके चुभने का प्रत्यक्ष वेदन होना सम्भव है। इसीलिए आत्मानुभव का अर्थ ही शान्ति रूप स्वभाव का अनुभव है। और वह तो मैं भी कहता चला आ रहा हूँ।

३ पांचों लक्षणों की एकता

अब बता कि इन पांचों लक्षणों में कहाँ भेद दीखता है ? शान्ति का वेदन हो जाने के पश्चात् ही आत्मानुभव हुआ कहा जा सकता है। उसके होने पर ही अपना स्वभाव अर्थात् 'स्व' तत्व दृष्टि में आता है। इसके होने पर ही 'पर' तत्व का यथार्थ भान होता है। उसके होने पर ही शान्ति व अशान्ति, निराकुलता व व्याकुलता, सुख व दुःख, उपादेय व हेय का ज्ञान होता है। जिसने आज तक शान्ति ही नहीं जानी उसे क्या पता कि अशान्ति किसे कहते हैं ? उसकी दृष्टि में तो मन्द अशान्ति शान्ति हैं, और तीव्र अशान्ति, अशान्ति। उपरोक्त प्रकार हेयोपादेय भेद हो जाने पर ही सात तत्वों का भाव समझ में आता है। शान्ति का वेदन हो जाने पर ही, शान्ति के आदर्श देव व गुरु का, तथा शान्ति के उपदेश रूप शास्त्र का, व शान्ति के पथ रूप धर्म का भान होता है। अतः सर्व लक्षणों में एक शान्ति का ही नृत्य हो रहा है।

जिसने शान्ति को नहीं चखा, वह कैसे जान सकता है कि मैं कौन हूं ? "मैं" के जाने बिना क्या जाने कि जीव या आत्मा किसे कहते हैं। अपने को जाने बिना दूसरे जीवों को कैसे जाने ? जिस प्रकार अपने सम्बन्ध में कल्पनायें करता है, उसी प्रकार दूसरों के सम्बन्ध में करेगा। कैसे जान पावेगा कि जीव तत्व क्या है ? जीव तत्व को जाने बिना अजीव तत्व की क्या पहिचान करेगा ? क्योंकि जीव के सम्बन्ध से यह अजीवादि तत्व बिल्कुल जीव वत् चेतन दिखाई दे रहा है। जीव की पहिचान के बिना उसमें भेद कैसे करेगा ? शान्ति या निर्विकल्पता के अनुभव बिना विकल्पों की पहिचान क्या करेगा ? विकल्पों की पहिचान बिना आस्रव बन्ध किन्हें कहेगा ? तथा निर्विकल्पता व शान्ति के वेदन बिना संवर निर्जरा व मोक्ष किसे कहेगा। कोरी कल्पनायें ही करेगा। और इसके अतिरिक्त कर भी क्या सकता है ? शान्ति का अनुभवात्मक या रसात्मक स्वरूप जाने बिना, किसे शान्ति का आदर्श कहेगा ? किसे देव व गुरु कहेगा ? किसे शान्ति का मार्ग व उपदेश कहेगा ? किसे धर्म व शास्त्र कहेगा। अतः सर्व लक्षणों में शान्ति का वेदन तथा उसके प्रति के झुकाव रूप श्रद्धा ही प्रधान है।

एक ही की प्रधानता होते हुए भी भिन्न भिन्न अभिप्रायों वाले शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ भिन्न भिन्न लक्षण किये गये हैं। शान्ति का नमूना दिखाने के लिये देव गुरु को श्रद्धा कही गई है। क्योंकि मार्ग का श्री गणेश ही यहां से करना है। शान्ति का नमूना देखे बिना उसके प्रति का झुकाव कैसे होगा। और झुकाव हुए बिना पुरुषार्थ क्या करेगा ? झुकाव हो जाने पर भी, यथार्थ उपदेश प्राप्त किये बिना, पुरुषार्थ क्या करेगा ? अत: प्राथमिक शिष्य को देव, गुरु, धर्म व शास्त्र की श्रद्धा वाला लक्षण बहुत हितकारी है। क्योंकि इनके प्रति बाह्य की रुचि व श्रद्धा के आधार पर ही, कदाचित् वह यथार्थ शान्ति को स्पर्श कर सकता है। हेयोपादेय को जाने बिना किसको ग्रहण व त्याग का प्रयास करेगा। अत: सात तत्वों की श्रद्धा भी प्राथमिक शिष्य के लिए बड़ी कार्यकारी है। 'स्व पर' में ऊपरी भेद जाने बिना किस के प्रति उदासीन होगा ? और किस के प्रति झुकाव करेगा ? इसलिये प्राथमिक दशा में ऊपरी 'स्व पर' भेद जानना भी बहुत कार्यकारी है। इस प्रकार देखने पर भी इन तीनों बाह्य लक्षणों में शान्ति का लक्ष्य ही पुकार रहा है।

इस प्रकार पाँचों लक्षणों में शब्दों का भेद होते हुए भी अभिप्राय की एकता है।

४६
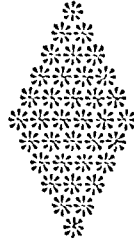
—: सम्यक्त्व के अंग व गुण :—

दिनांक ३० अक्तूबर १९५९ (सन्ध्या समय)

प्रवचन नं० ८१

१—धर्मी के अनेकों स्वाभाविक चिन्ह, २—निःशंकता, ३—निराकांक्षता, ४—निर्विचिकित्सा, ५—अमूढ़ दृष्टि, ६—उपगूहन व उपबृंहण, ७—स्थिति करण, ८—वात्सल्य, ९—प्रभावना, १०—प्रशम, ११—संवेग, १२—अनुकम्पा, १३—आस्तिक्य, १४—मैत्री, १५—प्रमोद, १६—कारुण्य व माध्यस्थता।

१ धर्मी के अनेकों स्वाभाविक चिन्ह

अहो ! अध्यात्मिक प्रकाश की महिमा ! जिसका लक्ष्य शान्ति की ओर गया, उसका जीवन बदल गया। उसकी विचारणाओं की दिशा ही घूम गई। उसको रीत ही अटपटी सी भासने लगी। सामान्य जगत को उसकी बातों पर आश्चर्य होता है। वह जगत को और जगत उसे मूर्ख समझने लगता है। परन्तु साधारण व्यक्ति बेचारे क्या जाने, कि उसके अन्तरंग में क्या बीत रही है ? शान्ति का उपासक पद पद पर शान्ति का स्वाद लेने में मग्न हुआ चला जा रहा है-अन्य सबका तिरस्कार करता हुआ। उसके ढङ्ग ही निराले हैं। उसके जीवन में अनेकों चिन्ह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं, जिनको वह बुद्धि पूर्वक नहीं बनाता। लौकिक जन भी उसकी नकल करके अपने जीवन में ज़बरदस्ती उन लक्षणों को बनाना चाहते हैं, जिससे कि वह भी किसी प्रकार धर्मियों की श्रेणी में गिने जाने लगे। क्या करें बेचारे धर्मी बनने की कोई उत्कण्ठा ही ऐसी है, जो उन्हें वह कृत्रिम स्वांग खेलने को बाध्य करती है। परन्तु उसके द्वारा अपने अन्दर उत्पन्न किये गये वह चिन्ह बिल्कुल पैवन्द सरीखे भासते हैं, उस कौवे वत् जिसने कि मोर के पंख चढ़ा कर अपने को मोर बनाना चाहा। धर्मी जीव के इन लक्षणों को ही सम्यक्त्व के अंग या गुण कहते हैं।

इन लक्षणों पर से धर्मी जीव को या उस जीव को जिसका लक्ष्य शान्ति पर केन्द्रित हो चुका है, भली भांति पहिचाना जा सकता है। अन्य भी उसके जीवन में इन गुणों का साक्षात्कार करके अपने इस विश्वास को दृढ़ बना सकते हैं। और वह धर्मी स्वयं भी इन गुणों पर से अपनी परीक्षा कर सकता है, कि कहीं मार्ग से विचलित तो नहीं हो गया ? इनमें से कुछ इस प्रकार हैं: निःशंकता, निराकांक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़ दृष्टि, उपगूहन या उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना,

निरभिमानता, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यास्थता। आगे इन्हीं का कुछ पृथक पृथक विस्तार करने में आता है।

२ निःशंकित गुण शांति का उपासक दृढ़तया निश्चय कर बैठा है, कि वह चैतन्य है, निराबाध है, अमूर्तीक है, ज्ञान पुन्ज है, शान्ति का स्वामी है, कोई भी उसके इन स्वभावों में बाधा डालने को समर्थ नहीं। इसलिये उसमें कोई निर्भीकता सो उत्पन्न हो जाती है, कोई अलौकिक साहस जागृत हो जाता है। वह इस छोटे से कुछ वर्षों मात्र के जीवन में अपने को सीमित करके नहीं देखता, भूतकाल में अनादि से चले आये और भविष्यत काल में अनन्त काल तक चले जाने वाले, सम्पूर्ण जीवनों व रूपों को फैला कर एक अखंड जीवन के रूप में देखने लगता है। इसलिये मृत्यु उसकी दृष्टि में खेल हो जाती है। एक खिलौना लिया तोड़ दिया, दूसरा लेकर खेलने लगा। बस इसके अतिरिक्त और मृत्यु है भी क्या? इस शरीर के त्याग का नाम वह मृत्यु समझता ही नहीं। केवल पुराने वस्त्र उतार कर नवीन वस्त्र धारण करने वत् समझता है। सराये के एक कमरे को छोड़कर दूसरे कमरे में चला जाना मात्र समझता है, जो सम्भवतः पहले वाले से कुछ अच्छा है। मृत्यु उसकी दृष्टि में रूप परिवर्तन मात्र है, विनाश नहीं। उसमें उसे कोई हानि दिखाई देती नहीं। हानि दिखाई देती है केवल एक ही बात में, और वह है उसकी शान्ति में बाधा। उसे सब कुछ सहन है पर शान्ति का विरह सहन नहीं है। अतः मृत्यु समझता है उन संकल्प विकल्पों को, जो क्षण क्षण में आकर उसे बाधित करने का प्रयत्न करते हैं। उसका जीवन शरीर नहीं शान्ति है।

उसे लोक में किससे भय लगे। लौकिक कोई भी शक्ति शरीर को बाधा पहुँचा सके तो कदाचित किसी अपेक्षा पहुँचा सके, पर उसकी शान्ति को बाधा पहुंचाने में स्वयं उसके अतिरिक्त कोई समर्थ नहीं। इस जीवन में कोई उसके शरीर को बाधा न पहुंचा दे, इस बात का उसे क्या भय? अगले भव में कैसा शरीर आदि का वातावरण मिले, इस बात की क्या चिन्ता? कुछ मिले या न मिले, उसकी शान्ति उसके पास है शरीर का विनाश उसका विनाश नहीं, उसे मृत्यु से क्या डर? शरीर की ही परवाह नहीं तो रोग आने की क्या चिन्ता? उसे किसी अन्य की रक्षा की क्या आवश्यकता? उसकी शान्ति स्वयं उसमें गुप्त रूप से सुरक्षित है। उसे किसी गुप्त स्थान में छिपकर इस शरीर की रक्षा का भाव क्यों आये? "अकस्मात् ही कोई बड़ा कष्ट न आ पड़े, बिजली न गिर पड़े, बम न गिर पड़े", इत्यादि भय को कहां स्थान? इस प्रकार सातों मुख्य भयों से मुक्त निर्भीक वृत्ति वह, सिंह की भांति बराबर अपनी शान्ति की रक्षा करने में तत्पर हुआ, आगे बढ़ता चला जाता है।

लोक कुछ भी कहे पर वह किसी की सुनता नहीं। उसका एक ही लक्ष्य है। "आगे बढ़ो, शान्ति की ओर" मृत्यु आ जाये कोई परवाह नहीं। मृत्यु से पहले जहां तक हो सके बढ़ो। मृत्यु के पश्चात् अगले जीवन में पुनः वही पुरुषार्थ चालू करो, उस स्थान से आगे जहां कि इस जीवन में छोड़ा है। पीछे मुड़कर देखना उसका काम नहीं। लोग बेचारे सहानुभूति करें, दया दर्शायें, पर वह किसी की नहीं सुनता। जानता है कि इन बेचारों को नहीं पता, कि मैं कहां जा रहा हूं? अतः केवल हँस देता है उनकी बातों पर, और चल देता है आगे। वह जानता है कि लोकों की सहानुभूति शरीर के साथ है, उसकी शान्ति के साथ नहीं। अतः उनके कहने पर अपना मार्ग नहीं छोड़ता है। उसके हाथ में है Excelciar की पताका। उसकी लाज बचाना ही उसका कर्तव्य है। ओह! कितनी निर्भीकता? कोई कृत्रिम रूप से अपने में प्रगट करना चाहे तो क्या सम्भव है? ऊपरी प्रवृतियों में, शब्दों में, या शरीरादि की क्रियाओं में

भले प्रगट न होने दे पर अन्तर में पड़े भय को कैसे टाले। हृदय तो कांप ही रहा था। यह निर्भीकता ही है उसका निःशंकित गुण। अर्थात् उसे भय की शंका स्वाभाविक रीति से ही नहीं होती। यह शंका हो सकती है कि ज्ञानी को भी भय होता तो देखा जाता है सो इस प्रश्न का उत्तर आगे निर्विचिकित्सा गुण के अन्तर्गत दिया गया है, वहां से जान लेना।

अथवा "मैं जीव ही हूं। शान्ति का पुञ्ज ही हूं। अन्य कुछ नहीं। अन्य से मुझे कुछ लाभ हानि नहीं। इन क्षणिक विकल्पों के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा शत्रु नहीं। विस्तृत रूप से निर्णय किया गया यह देव दर्शनादि में प्रवृत्ति रूप मार्ग ही मेरा मार्ग है। पूर्ण शान्ति ही मेरा मोक्ष है।" हेयोपादेय तत्वों का इस प्रकार अनुभवात्मक निर्णय हो जाने पर कौन शक्ति है जो उसके इस श्रद्धान में कम्पन करा सके। स्वयं भगवान भी आयें तो वह अपना विश्वास बदलने को तैयार नहीं। उसने अहित को व हित को स्वयं साक्षात् रूप से मुंह दर मुंह खड़ा करके देखा है। कैसे भूले उसे? उसका श्रद्धान पूर्व (प्रवचन नं० ६ दिनांक ८-७-५६) में बताये अनुसार चौथी कोटि की श्रद्धा में प्रवेश पा चुका है। अतः "यह ऐसे है कि ऐसे" इस प्रकार तत्वों में या गुरु वाक्यों में उसे शंका क्यों उपजे? स्वाभाविक रूप से ही उसकी इस प्रकार की सब शंकायें मर चुकी हैं। यह भी उसकी निःशंकता का ही दूसरा लक्षण है।

लौकिक जन उसकी देखम देखी गुरु वाक्यों में जबरदस्ती शंका उत्पन्न न करें। "जिन वच में शंका न धारो" गुरु का ऐसा उपदेश है। यदि तत्वों आदि में शंकायें करूंगा, युक्ति व तर्क करूंगा, संशय करूंगा, तो मेरा सम्यक्त्व घाता जायेगा। अतः चुप ही रहना ठीक है, ऐसा मानकर तत्व समझने के लिये प्रश्न भी करते डरते हैं। अरे प्रभु! सम्यक्त्व है ही नहीं, घाता क्या जायेगा? शान्ति पर लक्ष्य है ही नहीं, विच्छेद किसका होगा। भले शब्दों में न कहे, पर हृदय में उत्पन्न हुई शंकायें कैसे दबायेगा? "यदि ऐसा करूंगा, तो सम्यक्त्व घाता जायेगा" ऐसा भय ही तो शंका है। वह तो उठ ही रही है। भगवन्! यह तेरी शंका तो तुझे जागृत करने आई है। सावधान हो। अपने को झूठ मूठ धर्मी मान बैठा है-केवल बाह्य की कुछ क्रियायें करने के आधार पर, सो तेरी कल्पना झूठी है। ऐसा झूठा सन्तोष त्याग। वस्तु कुछ और ही है। उसे तू आज तक जान ही नहीं पाया है। शास्त्र पढ़े हैं, पर रहस्य नहीं समझा है। अतः उसे समझ, और पूर्व कथित मार्ग पर चल। अपने जीवन को उस मार्ग में ढाल। शान्ति का अनुभव कर। और तब प्रगटेगी तेरी निःशंकता। यूं नकल करने से तुझे क्या लाभ? ज़बरदस्ती शंकाओं को दबाने का नाम निःशंकता नहीं, बल्कि स्वाभाविक रूप से अन्तरंग अनुभवात्मक निर्णय के कारण शंका को अवकाश ही न रहे, इसका नाम ही निःशंकता है। धर्मी को ऐसी ही निःशंकता होती है बनावटी नहीं।

३ निराकांक्षता शान्ति के उपासक को शान्ति के अतिरिक्त किसी बात की अभिलाषा ही नहीं। और शान्ति स्वयं उसके पास है। बाहर कहीं से आनी नहीं। इन्द्रिय भोगों के प्रति उसे बहुमान नहीं। क्या मांगे बाहर के संसर्गों से? "इस लोक में मैं सुखी रहूं, मुझे कोई बाधा न आवे, कुछ धन हो, स्त्री हो, कुटुम्ब हो, ख्याति हो इत्यादि। तथा मृत्यु के पश्चात् भी मुझे कोई अच्छी गतियां मिलें; मैं नरक पशु आदि गतियों में न जाऊं, देव ही बनूं, या राजा आदि पदों की प्राप्ति हो इत्यादि", ऐसी आकांक्षायें उसे होती नहीं। उसके लिये सब योनि समान हैं। सब उसी के एक अखण्ड जीवन के भिन्न भिन्न रूप हैं। (देखो प्रवचन नं० ५६ दिनांक १०-१०-५६) किसके प्रति आकर्षित हो? देव गति में ही क्या विशेष

धर्मी का ऐसा स्वभाव ही है। वह कोई वनावट करके यह वात पैदा नहीं करता है। उसमें अकृत्रिम रूपमें स्वत: ही यह भाव उत्पन्न होता है। किसी की देखम देखी या सुन सुना कर शब्दों में कोई इस साम्यता का गुण गान करने लगे, और घृणा न करे तो वह गुण प्रगट हुआ कहा नहीं जा सकता। क्योंकि अन्तरंग में पड़ी घृणा को कैसे निकालेगा? वनावटी रूप से घृणा न करे तो निर्विचिकित्सा गुण नहीं वनता। अभिप्राय में अन्तर पड़ना चाहिये, जो विना वस्तु स्वभाव समझे नहीं हो सकता। अर्थात् आत्मानुभव हुए विना नहीं हो सकता।

सव साधारण चेतन व अचेतन द्रव्यों में तो उपरोक्त प्रकार घृणा का अभाव हो ही जाता है। परन्तु इसके अतिरिक्त विशेष गुणी जीवों में यही परिणाम कुछ और भी विशेषता धारण कर लेता है। शान्ति के उपासक अन्य जीवों के प्रति उसे इतना प्रेम व आकर्षण हो जाता है, कि यदि कदाचित् ऐसे किसी जीव के शरीर में कोई रोग हो जावे, उसमें से मल आदि वहने लग जावे, उसमें दुर्गन्धि उत्पन्न हो जावे, उसकी ऐसी दशा हो जावे कि किसी का पास खड़ा होना भी कठिन हो जावे, तो वह धर्मी जीव उसकी हर प्रकार से सेवा करने से विल्कुल ग्लानि नहीं करता, वल्कि उसकी सेवा करना अपना सौभाग्य समझता है। उसके मल मूत्र को अपने हाथ पर उठाने में भी उसे संकोच नहीं होता। कफ या नासिका के मल को अपने हाथ में ही धारण कर लेने पर भी ग्लानि नहीं होती। उन पदार्थों के प्रति अल्पावस्था के कारण जो कुछ ग्लानि उसकी प्रवृति में दिखाई देती थी, वह उस पात्र के गुणों के प्रति जो वहुमान उसे उत्पन्न हुआ है, उसमें दव कर रह गई है। यह है उसका निर्विचिकित्सा गुण।

दिनांक ३१ अक्तूवर १९५९ (सन्ध्या समय)

प्रवचन नं० ८२

अहो शान्ति की महिमा! जिसके कारण विना प्रयास के ही इतने गुण स्वत: प्रगट हो जाते हैं। कितना वड़ा कुटुम्व है इस शान्ति का? वात चलती है धर्मी जीव के गुणों अथवा उसके लक्षणों की, जिन पर से कि यह निर्णय किया जा सके कि अमुक व्यक्ति धर्मी है कि अधर्मी, अर्थात् शान्ति का उपासक है कि भोगों का? उसके अनेक गुणों में से तीन गुण नि:शंकता, निराकांक्षता, व निर्विचिकित्सा की वात कल चल चुकी है। आज अगले कुछ गुणों की वात चलती है।

५ अमूढ़ दृष्टि अनुभव के आधार पर शान्ति का व शान्ति के आदर्श का दृढ़तया निर्णय हो जाने के कारण, शान्ति के आस्वाद के प्रति अत्यन्त वहुमान उत्पन्न हो जाने के कारण, तथा शान्ति के अतिरिक्त अन्य सर्व प्रयोजन लुप्त हो जाने के कारण, अव उसका स्वाभाविक वहुमान शान्ति के आदर्श ऐसे देव-गुरु-शास्त्र व शान्ति धर्म के प्रति, अथवा इन देव-गुरु-शास्त्र या धर्म के उपासकों के प्रति ही वहता है, इनके अतिरिक्त अन्य किसी आदर्श रूप देवादि या उनके उपासकों के प्रति नहीं। यह वात कृत्रिम नहीं होती, क्योंकि लोक में भी ऐसा देखने में आता है कि जवारी का वहुमान जवारो के प्रति ही होता है

अन्य के प्रति नहीं। देव गुरु व शास्त्र की परीक्षा करते समय यह बात काफी विस्तार के साथ बता दी गई थी। उसमें उसकी दृष्टि भ्रम को प्राप्त होती नहीं। इसी का नाम अमूढ़ दृष्टि पना है।

इसका यह अर्थ नहीं कि, उनके अतिरिक्त अन्य सर्व से उसे द्वेष हो जाता हो। अपने पुत्र से प्रेम करने का यह अर्थ नहीं कि, दूसरों के पुत्रों से आपको द्वेष हो। राग व द्वेष के अतिरिक्त एक तीसरी बात भी होती है, जिसे माध्यस्थता कहते हैं। आप सब को भी माध्यस्थ परिणाम का भान है, परन्तु यह पकड़ नहीं है, कि माध्यस्थता उसी का नाम है। देखिये आपके घर के आगे से अनेकों व्यक्ति आ रहे हैं और जा रहे हैं। आप अपने बरामदे में खड़े सबको देख रहे हैं। बताइये उनसे आपको प्रेम है कि द्वेष ? न प्रेम है न द्वेष यह आप भली भांति जानते हैं। फिर भी उनको क्यों देखते हैं ? इसी का नाम माध्यस्थता है। इसमें न देखने व बोलने का कोई अभिप्राय है, और न निषेध का। बस इसी प्रकार का माध्यस्थ भाव उन अन्य आदर्शों के प्रति उसे रहता है। न उनके दर्शनादि का कुछ अभिप्राय है और न निषेध का।

इस गुण के सम्बन्ध में ठीक ठीक परिचय न होने के कारण आज साम्प्रदायिक विद्वेष को ही अमूढ़ दृष्टि पना ग्रहण करने में आ रहा है। जिसके कारण आज हम अन्य देवी देवताओं की निंदा व अविनय करने में अपनी महिमा समझते है। उनके प्रति मुख करके खड़ा होना भी आज हमें सहन नहीं। या तो ऐसे स्थानों पर जाते हुए ही हम घबराते हैं, और यदि किसी के दबाव के कारण जाना भी पड़े तो, उनकी तरफ पीठ करके खड़े हो जाते हैं। मानों कि कहीं वह हमें खा ही न जायें। ऐसा करने में हमें इतना भी विचार नहीं रहता है, कि उनके उपासक जो अन्य साधारण जन हैं, उन्हें हमारी इस प्रवृति को देख कर कितना दुःख होगा। साक्षात् हिंसा होते हुए भी हम उसे गुण मान बैठे हैं ? भगवन् ! इसका नाम अमूढ़ दृष्टि पना नहीं हैं, साम्प्रदायिक विद्वेष है। यह गुण नहीं महान दोष है। अमूढ़ दृष्टि नहीं मूढ़ दृष्टि है। उनके प्रति पीठ घुमाने का अर्थ है, कि आप उन्हें देवादि मानते हैं साधारण जन नहीं। यदि साधारण जन माना होता तो अपने घर के सामने से गुजरने वाले व्यक्तियों में तथा उन्हें देखने में क्या अन्तर है ? जैसे उन व्यक्तियों को देखते थे वैसे ही माध्यस्थ भाव से उनको भी देख लेते, क्या बाधा आती थी ? अतः भगवन् ! अब वीतरागी गुरुओं की शरण में आकर इस साम्प्रदायिक विद्वेष को त्याग। सबके प्रति माध्यस्थता धारण कर।

६ उपगूहन व उपबृंहण

शान्ति पथ पर बराबर आगे बढ़ने वाला जीव, उसमें बाधा पहुँचाने वाले अपने अपराधों के प्रति सदा जागृत रहता है। एक क्षण को भी उनसे गाफिल नहीं होता। इसीलिये वह सदा अपने जीवन में दोष ही दोष ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। यद्यपि उनको अनेकों गुण प्राप्त हो चुके हैं। पर उनके प्रति उसकी दृष्टि नहीं जाती। पूर्णता के लक्ष्य में उसे कमी हो दिखाई देती है। इस कमी को जिस किस प्रकार भी दूर करना अपना कर्तव्य समझता है। अपने गुण के प्रति दृष्टि चली जाने से अभिमान उत्पन्न हो जाता है। ओह ! "मैं इन लौकिक रंक जीवों से कितना ऊंचा हो गया हूँ", ऐसा अभिमान उसे ऐसी खाई में ढकेल देगा जहां से वह उठने का नाम भी न ले सकेगा।

इसके विपरीत उसे सर्व अन्य जीवों के जीवनों में गुण ही गुण दिखाई देते हैं। गुणों के प्रति बहुमान जो है उसे। गुणों को अपने जीवन में उत्पन्न जो करना है उसे। गुणों का वह सच्चा ग्राहक है। बाज़ार में जाये तो स्वभावतः आपकी दृष्टि उन पदार्थों पर ही पड़ती है, जिनकी कि आपको

आवश्यकता है, अन्य पर नहीं। उसी प्रकार किसी भी अन्य व्यक्ति के जीवन में उसकी दृष्टि गुणों पर ही पड़ती है दोपों पर नहीं। भले ही उसमें दोप पड़े रहें। उनकी उसे आवश्यकता ही नहीं, क्यों देखे उनकी ओर ?

तात्पर्य यह है कि वह सदा अपने दोषों को देखता है और दूसरे के गुणों को। अपने दोषों को प्रगट करता है और दूसरों के गुणों को। अपने गुणों को छिपाता है और दूसरों के दोषों को। अपनी सदा निन्दा करता है और दूसरों की प्रशंसा। इसलिये अर्थात् दूसरों के दोपों को छिपाने या गोपने के लिए ही उसके इस गुण का नाम उपगूहन है। और साथ साथ अपने गुणों में वृद्धि करते जाने के लिए इस गुण का नाम उपवृंहण है।

आज हमारे जीवन का अधिक भाग बीता जा रहा है, बिल्कुल इससे विपरीत दोप में, अर्थात् अपनी प्रशंसा करते हुए व दूसरों की निन्दा करते हुए। आज दूसरों के अनहुये या तृणवत् दोप भी मुझे बहुत बड़े भासते हैं, और अपने अन्दर पड़े हुये शहतीर जितने बड़े दोप भी दिखाई नहीं देते। अपने अनहुऐ गुण भी प्रगट करते हुए और दूसरों के अनहुए दोपों का भी ढंढोरा पीटते हुये हर्ष मानते हैं। यह प्रवृति बड़ी निकृष्ट है। इसमें अब ब्रेक लगा प्रभु ! अपने हित के लिए दूसरों के लिए नहीं। आत्म प्रशंसा व पर निन्दा करने से दोषों में वृद्धि, और आत्म निन्दा व पर प्रशंसा करने से गुणों में वृद्धि होती है। गुरु देव की शरण में आकर गुणों में वृद्धि कर दोपों में नहीं।

७ स्थिति करण शान्ति के उपासक का लक्ष्य पद पद पर अपनी शान्ति की रक्षा करना है। इसलिये अल्पावस्था में जब जब अपनी शक्ति की हीनता वश वह अपनी शान्ति से च्युत होता है, तब तब ही पुनः उसी में स्थित होने का बराबर प्रयास करता है। ऐसा उसमें स्वाभाविक गुण हैं। और क्यों न हो ? क्या दुकान में हानि हो जाने पर, उसमें लाभ प्रगट करने के लिये, स्वभावतः ही आप अधिकाधिक प्रयास नहीं करते हैं ? यह ही है स्व स्थिति करण।

इतना ही नहीं अपनी शान्ति के आस्वाद से छूट जाने पर उसे जो पीड़ा होती है, वह वही जानता है। चक्रवर्ती के पट् खण्ड का राज्य छूट जाने पर भी उसे इतनी पीड़ा होती नहीं होगी। इस लिये अन्य शान्ति के उपासकों की पीड़ा भी उसके लिये असह्य है। "अरे! इतनी दुर्लभ वस्तु को, अत्यन्त सौभाग्य वश प्राप्त करके भी, यह प्राणी, इन कुछ बाह्य बाधाओं के कारण छोड़ने को तैयार हो गया है। नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता ? मेरे होते हुए यदि वह शान्ति की रक्षा न कर सका, तो मेरा जीवन निरर्थक है।" तथा इसी प्रकार के अन्य अनेकों विचार स्वतः अन्तर में उठ कर उसे बेचैन बना देते हैं। और उसे उस जीव की यथा योग्य रक्षा करने के लिए बाध्य कर देते हैं। चाहे इस प्रयोग में उसे कुछ हानि ही क्यों न उठानी पड़े। यदि आर्थिक परिस्थिति के कारण वह मार्ग से विचलित हो रहा है, तो धन द्वारा या उसके योग्य अन्य कोई काम देने के द्वारा उसे पुनः वहां स्थित करता है। यदि शारीरिक रोग के कारण वह मार्ग से विचलित हो रहा है, तो योग्य औषधि व शारीरिक सेवा के द्वारा उसे पुनः वहां स्थित करता है। यदि किसी के उपदेशादि या कुसंगति के कारण मार्ग से च्युत हो रहा है, तो योग्य उपदेशादि के द्वारा उसे पुनः वहां स्थित करने का प्रयत्न करता है। तथा अन्य भी किन्हीं कारणों वश यदि वह ऐसा कर रहा है तो जिस किस प्रकार यथा योग्य सेवा करने को हर समय उद्यत रहता है। याद होगी आपको वारिषेण ऋषि की कथा। अपने शिष्य पुष्पडाल को मार्ग पर स्थित करने के लिये अयोग्य कार्य करने से भी वह न डरा। यह जानते हुये भी कि इस कार्य से लोक में मेरी निन्दा हो जायेगी, वह उसे अपने महल में ले गया, और अपनी सर्व सुन्दर रानियों को पूरा श्रृङ्गार करके सामने आने की आज्ञा दी। इस सर्व कार्य में उसका अभिप्राय खोटा नहीं था। केवल पुष्पडाल के मन की शल्य निकालना था। बस इस स्वाभाविक गुण का नाम ही स्थिति करण है।

हमारी प्रवृति विल्कुल इसके विपरीत है ? किसी साधक के जीवन पें किंचित् दोष लगा, कि चारों ओर से धुतकारें आनी प्रारम्भ हुई। भगवन्! रोकिये इस प्रवृति को। कषाय की शक्ति विचित्र है। बड़े बड़े नीचे गिरते देखे गये हैं। गिरते को गिराने का प्रयत्न न कीजिये। जिस किस प्रकार भी उसे उठाने का प्रयास कीजिये। उसे धुतकारिये नहीं वल्कि पुचकारिये। विल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि चलना सीखने वाले अपने वालक को आप पुचकारते हैं, जब कि वह चलता २ गिर जाता है।

८ वात्सल्य — शान्ति की उपासना से उसके अन्दर एक यह गुण भी प्रगट हो जाता है, कि जहां भी किसी अन्य अपनी बिरादरी के व्यक्ति को देखा, अर्थात् किसी भी अन्य शान्ति के पथिक को देखा कि उसके हृदय में एक अनौखा सा उल्लास उत्पन्न हुआ। जिसका कारण कि स्वयं वह भी नहीं जानता। क्योंकि ऐसा स्वभाव ही है। किसी दूर देश में आपके नगर का कोई साधारण सा व्यक्ति मिल जाये, तो मिलने व बोलने को जी करता है उससे। आपका यह गुण नगर वात्सल्य है, और इसी प्रकार उसका वह गुण शान्ति पथ वात्सल्य है, जिसके कारण एक प्रमोद उमड़ आता है उसके हृदय में। "इसे मैं सर पर बैठा लूं, या क्या करदूं" ऐसा किंकर्तव्य विमूढ़ सा उसकी ओर आकर्षित हो अन्दर ही अन्दर फूल उठता है। क्यों न फूले ? अपनी शान्ति का स्वाद लेते समय भी तो यही हालत होती है-उसकी। उसके इस स्वाभाविक गुण का नाम है वात्सल्य।

उसकी देखम देखी कृत्रिम रूप से भले कोई वात्सल्य या प्रेम प्रगट करना चाहे, परन्तु जब तक उस जीव में शान्ति के दर्शन होते नहीं, तब तक उसकी कृत्रिमता का भान साक्षात् अन्तरंग में होता रहता है। ऐसे कृत्रिम वात्सल्य का नाम वात्सल्य नहीं है।

९ प्रभावना — शाँति के आस्वादन से प्रभावित होकर, उसका जीवन वरावर उसकी ओर वढ़ता जाता है। किसी ऐसे सांचे में ढलता जाता है, कि जिसे देख कर लोगों को आश्चर्य होता है। कुटुम्बादि व धनादि की तो वात दूर रही, शरीर पर से भी उपेक्षा होती चली जाती है। विरक्तता वढ़ती जाती है। साम्यता व सरलता आती जाती है। द्वेषादि का पता नहीं पाता। सवके प्रति कल्याण की भावना जागृत हो जाती है। ऊपर वताये हुए सात महान गुण तथा इनके अतिरिक्त अनेकों अन्य गुण प्रगट हो जाते हैं। जीवन अलौकिक वन जाता है, ऐसा कि उन्हें देख कर अन्य जीव भी आकर्षित हुये विना न रह सके, प्रभावित हुये विना न रह सके। यह है उसका प्रभावना गुण।

"सर्व जीवों का कल्याण हो। किसी प्रकार शांति के प्रति उन्हें भी वहुमान हो", ऐसी शुभाकाँक्षा को लेकर वह वाहर में भी अनेक प्रकार के उत्सव व शांति के प्रदर्शन करता है। ताकि सर्व साधारण जन उसे देख कर कुछ प्रभावित हों। और हृदय में शांति के लिए कोई जिज्ञासा उत्पन्न करें। उसकी देखा देखी लौकिक जीवों द्वारा उत्सव आदि मनाये जाते हैं। उसका नाम प्रभावना गुण नहीं है। क्योंकि उनकी उन क्रियाओं में से केवल साम्प्रदायिकता झांक रही है शांति नहीं।

१० प्रशम — शांति में स्नान करते रहने के कारण उसके जीवन में इतनी सरलता व साम्यता आ जाती है, कि क्रोधादि की तीव्रता तो दूर रही, लौकिक स्वार्थ का भी अभाव हो जाता है। उसके रोम रोम में शांति खेलने लगती है। सवकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझने लगता है। उसको देख कर दूसरों को भी कुछ शांति प्रतीत होती है। ऐसा उसका प्रशम गुण है।

११ संवेग — वाह्य विषय भोगों में अव उसे रस नहीं आता। शांति के सामने इनका क्या मूल्य ? हलवा मांडा खाने को मिले तो सूखी ज्वार की रोटी कौन खाये ? अत: भोग सामग्री से उसे स्वत: ही अन्तरङ्ग से कुछ उदासीनता सी हो जाती है। कृत्रिम रूप से देखम देखी इस सामग्री का त्याग करने

का नाम सच्ची उदासीनता नहीं है। उनका त्याग न करके भी गृहस्थ में रहते हुये हो, उसे इनमें पूर्व वत् रस आना वन्द हो जाता है ? ऐसा वैराग्य या संवेग उत्पन्न हो जाता है। तथा संसार के इस जंजाल से मानों अव उसे कंपकंपी सी छूटने लगती है। घर में संचित पदार्थों का ढेर देखकर उसका कलेजा हिलने लगता है। जिस कमरे को बड़ी रूचि पूर्वक उसने सजाया था, आज मानों वह उसे खाने को दौड़ रहा है। ऐसा संसार के प्रति उसे कुछ भय सा उत्पन्न हो जाता है। उसे ही निर्वेद गुण कहते हैं।

१२ अनुकम्पा दु:खी जीवों को देख कर स्वत: ही विना किसी स्वार्थ के उसका कलेजा पसीज उठता है। "अरे ! यह भी तो शान्ति का पिण्ड है। उसे भूल कर बेचारा संतप्त है आज। अवश्य ही इसकी पीड़ा का निवारण होना चाहिये" इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प उठ खड़े होते हैं। और अपनी शक्ति अनुसार यथा योग्य रूप में, उसकी पीड़ा की निवृति का उपाय करता है। ऐसा उसका स्वाभाविक करुणा व दया गुण है ?

१३ आस्तिक्य शान्ति का साक्षात् वेदन हो जाने पर, "अरे ! यह रहा मैं तो, अन्तरंग में प्रकाशमान। व्यर्थ ही ढूंडता फिरा इधर उधर", ऐसा भाव प्रगट हो जाता है। उसके सम्बन्ध में अव उसे कोई शंका नहीं होती। चाहे कोई कितना भी कहे, वह दृढ़ रहता है। आँखों देखो वात को कौन अस्वीकार कर सकता है ? वस इसी प्रकार स्वयं अनुभव की हुई अपनी सत्ता के प्रति कौन संशय कर सकता है ? अपनी सत्ता का निर्णय हो जाने पर स्पष्टतया अन्य प्राणियों की सत्ता का निर्णय हो जाना स्वाभाविक ही है। क्योंकि उन सव में उसे अपना जातिपना दिखाई दे रहा है। अपने जातिपने से रहित अन्य जड़ या अचेतन पदार्थ की सत्ता का भी अनुभवात्मक व रहस्यात्मक निर्णय हो जाता है। समस्त विश्व की सत्ता का निर्णय ही उसका आस्तिक्य गुण है। 'अस्ति' शब्द का अर्थ है 'होना'। होने पने के निर्णय को अर्थात् पदार्थों की सत्ता के निर्णय को आस्तिक्य कहते हैं। "जो वेदों को माने सो आस्तिक, जो न माने सो नास्तिक", आस्तिक्य व नास्तिक्य की इस व्याख्या में साम्प्रदायिकता झांक झांक कर देख रही है। यह व्याख्या ठीक नहीं है। वस्तु की सत्ता को स्वीकार करे सो आस्तिक, इसकी सत्ता को स्वीकार न करे सो नास्तिक, ऐसी व्याख्या ही ठीक है।

परन्तु सुन सुना कर "मैं हूं। जीव है। अजीव है। विश्व है" इत्यादि रूप स्वीकृति भी वास्तव में आस्तिक्य नहीं है। क्योंकि अनुभव के विना, "मैं कौन व अन्य कौन ?" यह जान नहीं पड़ता। केवल अन्धों की भांति टटोल कर भले कहता रहूँ, कि यह जीव है, अजीव है इत्यादि।

१४ मैत्री सर्व विश्व के प्राणियों को शान्ति के निवास रूप में देखता है। उनमें अपनी जाति व विरादरी को देखता है। उनके दोष अव्वल तो दीखते नहीं, और यदि दीख भी पावें तो उसे उनका रोग समझता है। इसीलिये वजाये द्वेष के करुणा करता है। सवसे प्रेम करता है। सवके कल्याण की भावना करता है। अपकारी का भी हित ही चाहता है। तथा उसे हित मार्ग पर लगाने का प्रयास भी करता है। छोटे बड़े सर्व जीवों में समानता देखता है। सव में उसे अपना ही रूप अर्थात् एक चैतन्य ही दिखाई देता है। (देखो प्रवचन नं० ६ दिनांक ३-१०-५६ प्रकरण नं० २४) यह है उसका सर्व सत्व के प्रति मैत्री भाव।

१५ प्रमोद व कारुण्य व माध्यस्थता प्रमोद गुण की वात सातवें गुण वात्सल्य के अन्तर्गत आ चुकी है। और कारुण्य की वा ग्यारहवें गुण अनुकम्पा के अन्तर्गत कही जा चुकी है। माध्यस्थता की वात चौथे गुण अमूढ़ दृष्टि के अन्तर्गत कही जा चुकी है।

इन तथा अन्य अनेकों गुणों से विभूपित वह शान्ति का उपासक आज कितना सौम्य हो चुका है ? कोटि जिह्वाओं से भी उसकी महिमा का गान कौन कर सकता है ? "धन्य है, वे महा भाग्य", इसके अतिरिक्त शब्द ही नहीं है मेरे पास।

—:o:—

IX परिशिष्ट

५०

—: भोजन शुद्धि :—

(क) भोजन शुद्धि की सार्थकता—

१—भोजन का मन पर प्रभाव, २—तामसिक, राजसिक व सात्विक भोजन, ३—सात्विक भोजन में भी भक्ष्याभक्ष्य विवेक, ४—पाचन क्रियाओं की सार्थकता ।

(ख) भोजन शुद्धि व वैक्टेरिया विज्ञान—

५—वैक्टेरिया परिचय व उनकी जातियां, ६—पदार्थों में वैक्टेरिया का प्रवेश व उत्पत्ति क्रम, ७—उत्पत्ति मर्यादा काल, ८—वैक्टेरिया प्रवेश के द्वार, ९—वैक्टेरिया दूर करने का उपाय, १०—नवीन उत्पत्ति के प्रति रोक थाम, ११—स्थिति मर्यादा काल ।

(ग) भोजन शुद्धि व चौका विधान—

१२—मन वचन काय व आहार शुद्धि. १३—द्रव्य क्षेत्र काल भाव शुद्धि ।

(घ) भोजन शुद्धि में दूध दही को स्थान—

१४—दूध दही व घी की भक्ष्यता, १५—अण्डे व दूध में महान अन्तर ।

(क) भोजन शुद्धि की सार्थकता

१ भोजन का मन पर प्रभाव

शान्ति अर्थात् आन्तरिक निर्मलता, स्वच्छता व सरलता की प्राप्ति की वात के अन्तर्गत संयम का प्रकरण पहले चल चुका है। जीवन की स्वच्छता का क्योंकि अन्तरंग व वहिरंग संयम से घनिष्ट सम्वन्ध है इसीलिये यह विषय वहुत विस्तार के साथ वताया गया है। संयम ही वास्तव में शान्ति पथ पर चलने का अभ्यास है। इसके विना केवल तत्व चर्चा करने व शास्त्राभ्यास कर लेने से जीवन शान्त होना असम्भव है। जीवन को शाँत करने के लिये उन सर्व व्यापारों से इसे रोकने की आवश्यकता है जो कि अत्यन्त तीव्र अशान्ति जनक विकल्पों की उत्पत्ति में कारण पड़ते हैं। इन्द्रिय संयम में इन्द्रियों को रोकने की अर्थात् उन पर नियंत्रण करने की वात कही। प्राण संयम में अपने आस पास रहने वाले अन्य छोटे व वड़े प्राणियों के प्रति अपना कर्तव्य व अकर्तव्य दर्शा कर विश्व

व्यापी अन्तर प्रेम को जागृत करने का प्रयत्न किया गया। और आज बात चलती है भोजन शुद्धि की। क्योंकि भोजन का हमारी मानसिक शुद्धि व अशुद्धि के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये संयम के अन्तर्गत यह एक प्रमुख विषय है।

अध्यात्म प्रमुखता के कारण वहाँ तो यह विषय लिया न जा सका। परन्तु इसको अत्यन्त आवश्यक समझ कर अब अन्त के इस परिशिष्ट में लेकर संयम के प्रकरण की पूर्णता करना योग्य है। यद्यपि वस्तु स्वतन्त्रता के अन्तर्गत इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया गया है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, परन्तु इस सिद्धान्त के अनुकूल अपनी विचारणाओं को स्थिर करने के लिये तथा दूसरे पदार्थों के आश्रय से इसकी रक्षा करने के लिये, जब तक अत्यन्त उपेक्षित भाव की प्राप्ति होती नहीं, (अर्थात् इस निकृष्ट भूमिका की पर पदार्थों में रमी राग व विकल्पात्मक दशा में), यह अतीव आवश्यक है कि जीवन में किसी भी ऐसे पदार्थ का ग्रहण होने न दिया जाये जिसका कि मन पर खोटा प्रभाव पड़े।

क्योंकि मेरे साथ शरीर का और शरीर के साथ भोजन का घनिष्ट सम्बन्ध है इसलिये भोजन का प्रभाव मन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। भोजन से शरीर व हृदय का निर्माण होता है, इसलिये अशुद्ध आहार से निर्मित शरीर का अंग रूप अशुद्ध हृदय मन में अशुद्ध विचारों का निर्माण न करे यह असम्भव है। लोकोक्ति भी है कि, "जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी बोले बानी।" तथा अनुभव में भी आता है कि मांस मदिरा आदि अत्यन्त हेय वस्तु को आहार रूप से ग्रहण करने वाले, शाकाहारियों की अपेक्षा, अधिक क्रूर व्यभिचारी व विलासी होते हैं।

२ तामसिक राजसिक व सात्विक भोजन

भोजन को विचारों व जीवन पर प्रभाव डालने की अपेक्षा तीन कोटियों में विभाजित किया गया है—तामसिक, राजसिक व सात्विक, या कहिये निकृष्ट, मध्यम, व उत्तम। तामसिक भोजन शांति पथ की दृष्टि से अत्यन्त निकृष्ट है क्योंकि इससे प्रभावित हुआ मन अधिकाधिक निर्विवेक व कर्तव्य शून्य होता चला जाता है। तामसिक वृत्ति वाले व्यक्ति अपने लिये ही नहीं बल्कि अपने पड़ौसियों के लिए भी दु:खों का व भय का कारण बने रहते हैं, क्योंकि उनकी आन्तरिक वृत्ति का झुकाव प्रमुखत: अपराधों, हत्याओं, अन्य जीवों के प्राण शोषण, व व्यभिचार की ओर अधिक रहा करती है। राजसिक भोजन का प्रभाव व्यक्ति को विलासिता के वेग में बहा ले जाता है। इन्द्रियों का पोषण करना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। सात्विक भोजन का प्रभाव ही जीवन में सरलता, सादगी, विवेक, कर्तव्य परायणता व सहिष्णुता उत्पन्न करने में समर्थ है।

तामसिक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जो प्राण पीड़न के विवेक से रहित होकर निरर्गल रूप से बनाया गया हो। जिसमें माँस, मदिरा, शहद, गूलर, फूल गोभी, आदि कुछ ऐसे पदार्थों का ग्रहण करने में आया हो जिनकी उत्पत्ति बड़े या छोटे प्राणियों के प्राणों (देखो प्राण संयम के अन्तर्गत हिंसा के १२६६० विकल्प) का अपहरण किये बिना नहीं होती। हीनाधिक रूप में ऐसे सर्व पदार्थ मन पर तामसिक प्रभाव डालते हैं। अर्थात् मन में अन्धकार उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण से विवेक व कर्तव्य दिखाई ही नहीं देता। शांति प्राप्ति का तो वहां प्रश्न ही नहीं।

राजसिक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जो इन्द्रियों का पोषण और विलासिता अर्थात् स्वाद दृष्टि मात्र से बनाया गया हो। आज के युग में इसका वहुत अधिक प्रचार हो गया है। होटलों व खौंचे वालों की भरमार वास्तव में मानव की इस राजसिक वृत्ति का ही फल है। अधिक चटपटे, घी में तलकर अधिकाधिक स्वाद बना दिये गये, तथा एक ही पदार्थ में अनेक ढङ्गों से अनेकों स्वादों का निर्माण करके ग्रहण किये गये, या यों कहिये कि ३६ प्रकार के व्यञ्जन या भोजन की किस्में (Varieties) अथवा पौष्टिक व रसीले पदार्थ सब राजसिक भोजन में गर्भित हैं। ऐसा भोजन करने से व्यक्ति जिह्वा का दास वने बिना नहीं रह सकता और इसलिये शान्ति पथ के विवेक से वह कोसों दूर चला जाता है।

सात्विक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जिसमें ऐसी ही वस्तुओं का ग्रहण हो जिन की प्राप्ति के लिये स्थूल हिंसा न करनी पड़े। अर्थात् अन्न, दूध, दही, घी, खांड व ऐसी बनस्पतियां जिनमें त्रस जीव अर्थात् उड़ने व चलने फिरने वाले जीव न पाये जाते हों। ऐसा भोजन ग्रहण करने से जीवन में विवेक, सादगी, व दया आदि के परिणाम सुरक्षित रहते हैं।

यहां इतना जानना आवश्यक है कि उपरोक्त सात्विक पदार्थ ही तामसिक या राजसिक की कोटि में चले जाते हैं, यदि इनको ही अधिक मात्रा में प्रयोग किया जावे तो। पूरी भूख से कुछ कम खाने पर अन्न सात्विक है और भूख से अधिक खाने पर तामसिक, क्योंकि तव वही प्रमाद व निद्रा का कारण वन वैठता है। एक सीमा तक घी का प्रयोग सात्विक है पर उससे अधिक प्रयोग तामसिक या राजसिक हो जाता है। एक स्वस्थ व्यक्ति के लिये-आधा पाव घी प्रति दिन युक्त है। पर जिह्वा के स्वाद के लिये अधिक तले हुये पदार्थ जैसे पूड़ी, कचौड़ी, पकौड़ी, शीरा (हल्वा) या अन्य मिष्टान्न आदि राजसिक हो जाते हैं, क्योंकि उनमें घी का प्रयोग सीमा से अधिक होता है, तथा वे जिह्वा इन्द्रिय को स्वाद के प्रति लालायित करते हैं। दूध में घी डाल कर पीना तामसिक हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने से ब्रह्मचर्य में बाधा पड़ती है। तथा अन्य भी यथा योग्य रीति से समझ लेना। यहाँ तो संक्षेप में ही कथन किया जाना सम्भव है।

यद्यपि तात्विक दृष्टि से भोजन से मन में विचार नहीं आना चाहिये, परन्तु अनुभव करने पर वह आता हुआ अवश्य प्रतीत होता है। इसलिये शांति के उपासक को अपने परिणामों की सुरक्षा के लिये भोजन सम्वन्धी विवेक रखते हुये सात्विक ही भोजन करना इष्ट है। तामसिक व राजसिक नहीं।

३ सात्विक भोजन में भी भक्ष्याभक्ष्य विवेक — जैसा कि शान्ति पथ में वृद्धि करने के क्रम में ऊपर ऊपर जाने पर अधिक अधिक उज्ज्वलता प्रगट होती है उसी प्रकार अधिक अधिक भोजन ग्रहण सम्वन्धी विवेक भी होता जाता है। शान्ति पथ की पहली भूमिकाओं में सात्विक का उपरोक्त लक्षण ही संतोष जनक रहता है पर आगे आगे जाने पर उसमें भी अधिक स्वच्छता लाने का विवेक जागृत हो जाता है। अर्थात् उपरोक्त पदार्थों को भी दो भागों में विभाजित कर लिया जाता है, एक वह जिनमें वहुत अधिक अर्थात् असंख्य (Countless) सूक्ष्म जीव राशि पाई जाती है और एक वह कि जिनमें कम अर्थात् संख्यात (Countable) तक ही पाई जाती है। यहां सूक्ष्म जीव से तात्पर्य उन जीवों से है

जो साधारण रूप में नेत्र गोचर नहीं होते पर सूक्ष्म निरीक्षण यंत्र (Microscope) से स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस प्रकार के प्राणी आज की परिभाषा में वैक्टेरिया कहलाते हैं। यह प्रमुखतः स्थावर होते हैं।

यह वैक्टेरिया हर पदार्थ में-वह दूध हो कि दही, घी हो कि मक्खन, फल हो कि फूल पत्ते, यहाँ तक कि जल में भी हीनाधिक रूप में पाये अवश्य जाते हैं। यह जड़ नहीं होते वल्कि प्राण धारी होते हैं। जीव हिंसा की दृष्टि से-अथवा शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से-तथा तामसिक व सात्विक की दृष्टि से असंख्य जीव राशि वाली वनस्पतियाँ या अन्य दूध घी आदि पदार्थ त्याज्य हो जाते हैं और संख्य जीव राशि वाले ग्राह्य। यहां यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि यह संख्य राशि वाले पदार्थ भी तो जीव हिंसा के कारण त्याज्य ही होने चाहिये। क्योंकि यद्यपि पूर्णता की दृष्टि से तो वे अवश्य त्याज्य ही होते हैं, परन्तु फिर भी वर्तमान में उनका सर्वथा त्याग करने पर जगत में कोई भी खाद्य पदार्थ न रह जावेगा। तब शरीर की स्थिति कैसी रहेगी और शरीर की स्थिति के अभाव में शान्ति पथ की साधना भी कैसे सम्भव हो सकेगी। अतः वर्तमान की हीन शक्ति वाली दशा में साधक को सर्व पदार्थों को त्याग करके अपने को मृत्यु के हवाले करना योग्य नहीं है। "जहां सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये वांट" इस लोकोक्ति के अनुसार अयोग्य व हिंसा युक्त होते हुए भी प्रयोजन वश अधिक हिंसा का त्याग करके अल्प हिंसा का ग्रहण कर लेना नीति है। परन्तु अभिप्राय में यह अल्प हिंसा भी त्याज्य ही रहती है। इसी कारण आगे आगे की भूमिकाओं में ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है साधक इनका भी त्याग करता जाता है। यहां तक कि पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात् उसे खाने पीने की ही आवश्यकता नहीं रहती।

यहां उस असंख्य जीव राशि वाले पदार्थों का कुछ परिचय दे देना युक्त है। प्रत्येक वह पदार्थ जो वासी हो जाने के कारण या अधिक पक जाने के कारण या गल सड़ जाने के कारण अपने प्राकृत स्वाद से चलित हो जाता है, उस कोटि में आ जाता है। भले ही पहले वह भक्ष्य हो पर अब अभक्ष्य है। ऐसे पदार्थों में वासी भोजन, अचार, मुरब्बे, खमीरे, चटनी, कांजी बड़े आदि या गली सड़ी वनस्पति तथा अन्य भी अनेकों वस्तुयें सम्मिलित हैं। वनस्पतियों में कुछ ऐसी वनस्पतियां जो पृथ्वी के अन्दर फलित होती हैं जैसे आलू, अरवी, गाजर, मूली आदि, अथवा बहुत कच्ची सब्जी जैसे कोंपल या बहुत छोटे साईज की भिंडी, तोरी, ककड़ी, आदि या पृथ्वी और काठ को फोड़ कर निकलने वाली वनस्पति जैसे खूम्बी, सांप की छत्री आदि तथा अन्य भी अनेकों आगम कथित वस्तुयें इस कोटि में सम्मिलित हैं। शान्ति पथ गामी को इनके प्रति का विशेष परिज्ञान आगम से प्राप्त करके इनका त्याग कर देना योग्य है। यद्यपि पकाने या काटने छांटने से यह भी, अल्प संख्यक जीव राशि वाली वनस्पतियों वत्, प्रासुक हो जाती हैं, परन्तु इनको प्रासुक करने में अधिक हिंसा का प्रसंग आता है। तथा यह अन्तर में कुछ तामसिक वृत्ति की उत्पत्ति का कारण बनती हैं। इसलिये किसी प्रकार भी इनका प्रयोग करना योग्य नहीं है।

४ पाचन क्रियाओं की सार्थकता रहे सहे भक्ष्य सात्विक पदार्थ भी कच्चे रूप में खाये नहीं जाते, इसलिये उनको पकाने की आवश्यकता पड़ती है। दूध में से घी आदि निकालने की आवश्यकता पड़ती है। तथा अन्य भी खाना पकाने सम्बन्धी अनेकों आरम्भ करने पड़ते हैं। इसलिये भोजन शुद्धि के प्रकरण में केवल पदार्थों में भक्ष्याभक्ष्य विवेक उत्पन्न कर लेना ही पर्याप्त नहीं है वल्कि भोजन पकाने के आरम्भ

सम्बन्धी भी कुछ विवेक होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि ऐसा न होने पर सात्विक पदार्थ भी कदाचित् अपने प्रभाव वश राजसिक व तामसिक बन सकते हैं। तथा अल्प संख्यक जीव राशि वाले भक्ष्य पदार्थ भी अभक्ष्य बन सकते हैं।

वास्तव में भोजन शुद्धि का यह प्रकरण खाना बनाने के सम्बन्ध में कुछ विवेक उत्पन्न कराने के लिये ही ग्रहण करने में आया है। शान्ति पथ का यह प्रमुख अंग है। इसलिये इसके सम्बन्ध में ध्यान पूर्वक विज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यद्यपि आप लोगों में से अनेकों ने कुछ व्रतादि या श्रावकाचार रूप-प्रतिमा आदि ग्रहण की हुई हैं, तथा आप में से अनेकों को त्यागी जनों व साधुओं के लिये विशेषत: शुद्ध भोजन बना कर देने का अभ्यास भी है, जिस के आधार पर सम्भवत: आप को यह संतोष हो गया हो कि हम तो शुद्ध भोजन बनाने की विधि से परिचित हैं, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। जब तक उन उन क्रियाओं की सार्थकता वैज्ञानिक रूप से समझ में नहीं वैठ जाती, तब तक भले आप रूढ़ि वश वे सब क्रियायें करते हों जो भोजन शुद्धि के सम्बन्ध में की जानी आवश्यक हैं, तथा अपनी ओर से पूरा पूरा विवेक रख कर भी भोजन बनाते हो, पर फिर भी आप वास्तव में भोजन शुद्ध न बना सकेंगे और वह भ्रम वश शुद्ध समझा जाने वाला भोजन सम्भवत: और अधिक अशुद्ध बन जाये तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

भोजन शुद्धि का ग्रहण रूढ़ि वश अपनाया गया हो ऐसा भी नहीं है, वल्कि इसमें कुछ सार्थकता है। इस विषय में देखी जाने वाली जो व्यक्तिगत छूआ छूत आज दृष्टिगत हो रही है वह भी सार्थक है। इसलिये आप लोगों में से वे व्यक्ति भी जो कि इस सर्व भोजन सम्वन्धी आडम्वर को निस्सार सा समझ कर इससे बिल्कुल उपेक्षित होते जा रहे हैं, इस विषय को सुनकर अपना भ्रम दूर करने का प्रयत्न करें। यह विश्वास दिला सकता हूँ कि युक्ति पूर्वक आधुनिक विज्ञान व डाक्टरों के मतों के आधार पर समझाया जाने वाला यह विषय आप को वहुत रोचक व सार्थक ही प्रतीत होगा।

—(०)—

(ख) भोजन शुद्धि व वैक्टेरिया विज्ञान

५ वैक्टेरिया परिचय व उनकी जातियां

अन्तर शुद्धि की प्रगटता से अन्तर शान्ति में निवास करने वाले हे गुरु देव ! मेरे जीवन में शुद्धि का संचार करें । अन्तर शुद्धि के लिये वाह्य शुद्धि और विशेषत: भोजन शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है । कल के प्रकरण में ग्राह्य और अग्राह्य पदार्थों का निरूपण कर चुकने के पश्चात्, भोजन पकाने में क्या क्या सावधानी रखी जानी योग्य हैं, और क्यों, ऐसा विवेक उत्पन्न कराना भी आवश्यक है । इस प्रकरण को रूढ़ि के रूप में तो आप में से अनेकों जानते व प्रयोग में लाते हैं । आप में से वहुत सी स्त्रियाँ त्यागियों व मुनियों के लिये चौका लगाने में अभ्यस्त हैं पर वास्तविकता से अनभिज्ञ वे सव ही वास्तव में शुद्ध भोजन वना नहीं पातीं । सो कैसे, वही वात मैं आधुनिक सूक्ष्म जन्तु विज्ञान (Microbiology) को आधार वना कर समझाने का प्रयत्न करूंगा, जिससे कि उन लोगों का विभ्रम भी दूर हो जाये जो कि इस भोजन शुद्धि के विषय को केवल रूढ़ि समझ कर इसे उपेक्षित दृष्टि से देखते हैं ।

भोजन शुद्धि का प्रयोजन उन सूक्ष्म जीवों से भोजन की रक्षा करने का है, जिन्हें आज का विज्ञान वैक्टेरिया नाम से पुकारता है । वैक्टेरिया से भोजन की रक्षा करना तीन दृष्टियों से उपयोगी है—

(१) अहिंसा की दृष्टि से ।

(२) शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ।

(३) साधना की दृष्टि से ; अर्थात् अपने परिणामों की रक्षा की दृष्टि से ।

यद्यपि डाक्टर लोग स्वास्थ्य की दृष्टि से ही वैक्टेरिया व उन से वचने का उपाय वताते हैं पर हम उसी सिद्धान्त को साधना की दृष्टि से ग्रहण करते हैं, जिसमें स्वास्थ्य की रक्षा तो स्वत: एव हो जाती है । यही कारण है कि एक सच्चे त्यागी अर्थात् शुद्ध भोजी को रोग या तो आते नहीं और आते हैं तो वहुत कम ।

वैक्टेरिया उस सूक्ष्म प्राणी को कहते हैं जो प्राय: सूक्ष्म निरीक्षण यंत्र से ही देखा जाना सम्भव है आंखों से नहीं । यह कई जाति के होते हैं । इनकी जातियों का निर्णय इनके भिन्न भिन्न कार्य पर से किया जाता है, क्योंकि जो कार्य एक जाति का वैक्टेरिया कर सकता है वह दूसरा नहीं कर सकता ।

कुछ वैक्टेरिया तो ऐसे हैं कि जो यदि दूध में उत्पन्न हो जायें तो दूध की दही वन जाती है । उनको अपनी भाषा में दही के वैक्टेरिया कह लीजिये । इसी प्रकार दही, पनीर, क्रीम, मक्खन, खमीर, मद्य (शराव) आदि पदार्थ विशेषों के भिन्न भिन्न जाति के वैक्टेरिया समझने । वैज्ञानिक लोगों ने इनके भिन्न भिन्न नाम भी रखे हैं पर यहाँ उन नामों से प्रयोजन नहीं है, यह मुख्यत: स्थावर होते हैं ।

कुछ बैक्टेरिया पदार्थ में उत्पन्न होकर उसे खट्टा बना देते हैं, कुछ दुर्गन्धित बना देते हैं, कुछ उसे नीला, हरा, या ब्राउन रंग का बना देते हैं, कुछ उस पर फूई पैदा कर देते हैं, और इसी प्रकार अन्य भी अनेकों बातें जो नित्य ही भोजन सम्बन्धी पदार्थों में देखने को मिलती हैं। इस पर से यह बात समझ लेना चाहिये कि भोज्य पदार्थ में जो कुछ भी रूप गन्ध व रस आदि से चलित पना होता हुआ दिखाई देता है वह सब सूक्ष्म जीवों अर्थात् बैक्टेरिया की उपज का ही प्रताप है। अतः ऐसा चलित प्रत्येक पदार्थ अहिंसा, स्वास्थ्य व साधना तीनों दृष्टियों से अभक्ष्य हो जाता है।

उपरोक्त जातियों में से कुछ बैक्टेरिया तो मानवी स्वार्थ (अर्थात् स्वाद, या प्रयोजन विशेष) वश इष्ट हैं और कुछ अनिष्ट। स्वास्थ्य को हानि प्रद सर्व बैक्टेरिया अनिष्ट गिनने में आते हैं, और दही व पनीर आदि के बैक्टेरिया इष्ट माने जाते हैं, क्योंकि यह पदार्थ में कुछ इष्ट स्वाद व गन्ध विशेष उत्पन्न कर देते हैं और स्वास्थ्य को हानि नहीं पहुँचाते। डाक्टरी दृष्टि से भले ऐसा मान लें पर साधना की दृष्टि से तो बैक्टेरिया मात्र ही जीव हिंसा के भय से अनिष्ट हैं। फिर भी दो चार जाति के बैक्टेरिया तो इस मार्ग में भी इष्ट ही माने जाते हैं, जैसे कि मक्खन व दही के बैक्टेरिया। अनिष्ट भी इन जातियों के बैक्टेरिया को इष्ट मानने का एक प्रयोजन है, और वह है साधना में कुछ सहायता।

प्रयोग करके देखा गया है कि दूध व दही शरीर में चर्बी (Fat) के अंश की पूर्ति करने के लिये शाकाहारी को अत्यन्त आवश्यक हैं। इन पदार्थों का त्याग कुछ सीमित समय के लिये तो किया जा सकता है पर सदा के लिये नहीं। क्योंकि ऐसा करने पर शरीर शिथिल हो जाता है, उसकी स्फुर्ति जाती रहती है। फल स्वरूप मन भारी रहने लगता है, विचारणायें सो जाती हैं और एक जड़त्व से का भान होने लगता है, जिससे कि साधना करना असम्भव हो जाता है। बस इसीलिये अयोग्य भी इन पदार्थों का योगीजनों ने निषेध नहीं किया। फिर भी यदि किसी की शक्ति आज्ञा दे और उसकी साधना बाधित न हो तो यह वस्तुयें त्याज्य ही हैं। "सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये बांट" वाली लोकोक्ति के अनुसार ही इनकी इष्टता का अर्थ समझना, डाक्टरों वत् सर्वथा इष्टता बताने का प्रयोजन नहीं है। साधना की सिद्धि के अर्थ यह मात्र रिश्वत देकर काम निकालने वत् है। अभ्यास बढ़ जाने पर साधक इन का त्याग कर देता है।

६ पदार्थों में बैक्टेरिया का प्रवेश व उत्पत्ति

किसी भी पदार्थ में बैक्टेरिया उस समय तक उत्पन्न नहीं. हो सकता जब तक कि उसमें कोई एक या दो तीन भी बैक्टेरिया बीज रूप में प्रवेश न कर जायें या करा दिये जावें। दही जमाने के लिये दूध में जामन (Adjunct) मिलाना वास्तव में उसमें दही के बैक्टेरिया का बीज रूप से प्रवेश कराना ही है। बस एक बार बीजारोपण हुआ नहीं कि इनकी सन्तान वृद्धि हुई नहीं। बैक्टेरिया सन्तान की उपज पदार्थ में एक से दो और दो से चार के क्रम से (अर्थात् Fiction Methed से) होती है। प्रत्येक कुछ कुछ मिनट के पश्चात् वे बराबर दुगने दुगने होते चले जाते हैं।

वस्तु में प्रवेश पाने के पश्चात् कुछ देर तक अर्थात् लगभग आध या पौन घण्टे तक तो उनकी उपज प्रारम्भ नहीं होती. जितने प्रवेश पा गये हैं उतने ही रहते हैं. परन्तु इस काल पश्चात् बड़े वेग के साथ इनकी उपज बराबर उत्तरोत्तर मिनटों में वृद्धि को पाती हुई लगभग ५ या ६ घण्टों में

ही वृद्धि की चरम सीमा को स्पर्श करने लगती है। यहां पहुंच कर उपज में आगे वृद्धि होनी तो रुक जाती हैं। परन्तु जितनी उपज उत्तरोत्तर मिनटों में यहाँ अब हो रही है उतनी ही रफतार से बराबर आगे के ८ या दस घण्टों या एक दो दिन तक चलती रहती है। इतने काल पश्चात् उपज की रफतार घटने लगती है। और पांच या छः घण्टों तक उपज शून्य पर पहुँच जाती है, अर्थात् आगे उपज होनी अब बिल्कुल बन्द हो जाती है। परन्तु जितने उत्पन्न हो चुके हैं वे अब भी इसमें उस समय तक जीवित रहते हैं जब तक कि या तो इनकी आयु समाप्त न हो जाये और या किन्हीं बाह्य प्राकृतिक अथवा मनुष्य कृत प्रयोगों से यह दूर न कर दिये जायें।

बैक्टेरिया उत्पत्ति रेखा (GROWTH CURVE)
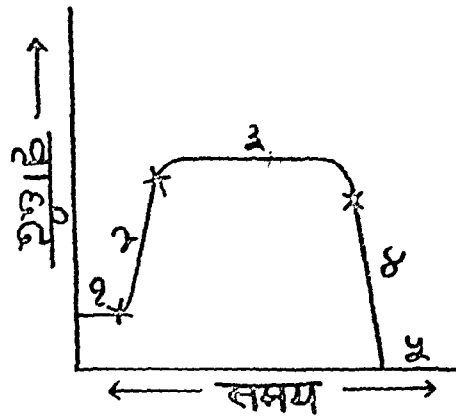
ऊपर दिखाई गई कर्व में नं० १ वह भाग है जिस समय में कि उपज प्रारम्भ ही नहीं हुई है। नं० २ उपज की उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि को, नं० ३ उत्कृष्ट उपज के प्रवाह को, नं० ४ उपज की हानि को और नं० ५ नवीन उपज के अभाव को प्रदर्शित करते हैं।

७ उत्पत्ति मर्यादा काल भोजन शुद्धि के सम्बन्ध में बैक्टेरिया की उत्पत्ति क्रम का यह नं० १ वाला अर्थात् प्रथम आध या पौन घण्टा प्रयोजनीय है। उत्पत्ति क्रम का यह भाग नवीन उत्पत्ति से रहित होने के कारण वस्तुतः शुद्धि की मर्यादा काल (Time Limit) कहा जाता है। आगम में भोज्य पदार्थों की मर्यादा का कथन आता है। उससे तात्पर्य यही पहला कुछ समय है जिसे अन्तर्मुहूर्त या अधिक से अधिक ४८ मिनट स्वीकार किया गया है। हम भी आगे के प्रकरणों में इसे मर्यादा नाम से पुकारेंगे।

मर्यादा में रहते रहते ही वह पदार्थ भक्ष्य हैं। मर्यादा को उलंघन कर जाने पर बैक्टेरिया राशि अधिक उत्पन्न हो जाने के कारण पदार्थ अभक्ष्य की कोटि में चला जाता है। इसलिये इतने समय के अन्दर अन्दर ही किन्हीं भी योग्य बाह्य उपचार विशेषों के द्वारा (अर्थात् गर्म करके, उबाल कर या अन्य रीति से) पदार्थ में से बैक्टेरिया के बीज को यदि दूर कर दिया जावे तो आगे इसमें बैक्टेरिया की उत्पत्ति होनी सम्भव न हो सकेगी और पदार्थ की पवित्रता बनी रहेगी। यद्यपि बीज दूर करने की यह प्रक्रिया हिंसा जनक है तो भी आगे की अधिक हिंसा से बचने के लिये यह अल्प हिंसा ग्राह्य है। ग्राह्य

कहने का तात्पर्य वास्तव में ग्राह्य सिद्ध करना नहीं बल्कि वही "सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये बांट" वाला सिद्धान्त है। खाये बिना साधना सम्भव नहीं, और भोजन की प्राप्ति शत प्रतिशत अहिंसा के आधार पर हो नहीं सकती, इसलिए अधिक हिंसा का त्याग करा कर अल्प हिंसा को ग्राह्य बताया है।

भोजन शुद्धि में मर्यादा पर बहुत ज़ोर दिया जाता है, क्योंकि इससे साधना व स्वास्थ्य की रक्षा होती है। इसीलिये जल व दूध को छान लेने व थनों से निकलने के पश्चात् यथा शक्ति तुरत ही अर्थात् अधिक से अधिक पौन घण्टे के अन्दर अन्दर गर्म करना या उबाल लेना बतलाया है, क्योंकि इतने समय तक तो केवल संख्यात (Countable) ही जीवों की हिंसा होती है, परन्तु इससे आगे जीव राशि बढ़ जाने के कारण उन को गर्म करने या उबालने से असंख्यात (Countless) जीवों के विनाश का प्रसंग आता है। गर्म क्यों किया जाता है इसका कारण आगे के प्रकरणों में आने वाला है जहां यह बताया जायगा कि गर्मी से बैक्टेरिया दूर हो जाता है।

८ बैक्टेरिया प्रवेश के द्वार बनस्पति या दूध आदि किसी भी मूल पदार्थ में पहले ही से बैक्टेरिया विद्यमान हों ऐसा तत्वतः नहीं होता। परन्तु प्रायः पूर्ण पवित्रता सम्भव न होने के कारण तथा वृक्ष, बेल, गाय, आदि के शरीरों में कोई रोग विशेष रहने के कारण उन से प्राप्त मूल पदार्थों में भी अत्यन्त अल्प मात्रा में बैक्टेरिया पहले से विद्यमान होते हैं, जो आगे की सन्तान वृद्धि के लिये बीज का काम कर सकते हैं। परन्तु अत्यन्त अल्प होने के कारण तथा उनसे बचा जाना अशक्य होने के कारण यहां उनका विचार प्रधान नहीं है। उन्हीं का विचार करना कार्यकारी है जिनसे बचने के लिये प्रयत्न किया जाना सम्भव हो। इसलिये यहां यह जानना इष्ट है कि पदार्थों में बैक्टेरिया कहां से व किस प्रकार प्रवेश पाता है।

बैक्टेरिया प्रवेश के प्रमुख द्वार ५ हैं—(१) वायु मण्डल, (२) वह कमरा या घर जहां कि खाद्य पदार्थ रखा है, (३) बर्तन, (४) वस्त्र, (५) शरीर। वायुमण्डल में सर्वत्र प्रायः बैक्टेरिया का निवास है, और गन्दे वायुमण्डल में वह बहुत अधिक रहते हैं। वायुमण्डल के बैक्टेरिया से पदार्थ की रक्षा करने के लिये यथा सम्भव वस्तु को ढक कर ही रखना चाहिये, उघड़ा हुआ नहीं। काटने छांटने से पहले छिलके वाली बनस्पति या सूखा अन्न भले खुला पड़ा रहे पर कांटने छांटनेके पश्चात् नहीं। क्योंकि छिलके वाली बनस्पति या अन्न आदिक प्राकृतिक रूप से छिलके के अन्दर बन्द हैं। कमरे व घर की भूमि व दीवारों व छतों में वह बराबर उत्पन्न होते रहते हैं।

मुख्यतः गन्दी व छिद्र सहित (Porous) दीवारों में वे बहुत अधिक पाये जाते हैं। यहां गन्दे शब्द से तात्पर्य है धूल, धुआं, गोबर व अन्य कोई मल मूत्रादि, तथा कोई भी दुर्गन्धित पदार्थों की सन्निकटता। इनकी सन्निकटता से वायुमण्डल दुर्गन्धित व गन्दा हो जाता है। क्योंकि यह गोबर आदि पदार्थ अनन्त बैक्टेरिया के पुञ्ज हैं। उनमें से निकल निकल कर वे बड़े वेग से वायुमण्डल में तथा दीवारों आदि के छिद्रों या मसामों (Pores) में प्रवेश पाने व पनपने लगते हैं। दीवारें आदि जितनी खुरदरी होंगी उतनी ही अधिक बैक्टेरिया राशि वहां अपने रहने का स्थान ढूंढ लेंगी। और जितनी

चिकनी होंगी उतनी ही कम राशि को स्थान मिल सकेगा। बहुत अधिक चिकनी व चमकदार दीवारों में वैक्टेरिया प्रवेश नहीं पा सकता क्योंकि उसमें छिद्र या मसाम नहीं होते।

वर्तनों में भी यदि कहीं मैल लगा रह जाये या यदि ठीक से न मांझा जाने के कारण उसमें चिकनाहट रह जाये तो वहां वैक्टेरिया की सन्तान वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। जिस वर्तन में खड्डे पड़ गये हों उस वर्तन में तो प्राय: करके वहुत अधिक वैक्टेरिया राशि पाई जाती है क्योंकि उन खड्डों में मैल एकत्रित हुए विना नहीं रह सकता। उस मैल में स्वभावत: ही वैक्टेरिया उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि वह मैल वैक्टेरिया का खाद्य है। चिकने, चमकदार, साफ व विना खड्डों वाले वर्तनों में वैक्टेरिया उत्पन्न नहीं हो सकता। उनको यदि मांझ धो कर गीले रख दिये जायें तो उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु सूखों में विल्कुल उत्पन्न नहीं होते।

वर्तनों को भांति वस्त्र व शरीर में भी समझना। मैले वस्त्र में या मैले शरीर में वह वहुत वेग से पनप उठते हैं, साफ व सूखे वस्त्र में उनकी उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु शरीर को तो पवित्र व साफ रखा जाना असम्भव है क्योंकि इसमें से हर समय पसेव आदि रिसते रहते हैं, जिनमें वरावर वैक्टेरिया जन्म पाते रहते हैं। परन्तु वस्त्र के द्वारा उनकी किञ्चित् रोक थाम हो जाती है। इसलिये किसी भी पदार्थ को विना अच्छी तरह हाथ धोये छूना योग्य नहीं।

इन पांचों पदार्थों के निकट सम्पर्क में आने पर खाद्य पदार्थ में वैक्टेरिया प्रवेश पा जाता है और वहां उसकी सन्तानोत्पत्ति वड़े वेग से वृद्धि पाने लगतो है। इसलिये ऐसे पदार्थो से छूआ हुआ खाद्य पदार्थ अपवित्र माना जाता है। यहाँ तक कि स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ शरीर व स्वच्छ वर्तन भी यदि ऐसे गन्दे पांचों पदार्थों में से किसी से छू जाये तो उनमें भी तुरत वैक्टेरिया प्रवेश पा जाता है। जिसके कारण स्वच्छ भी वे अस्वच्छ व अपवित्र हो जाते हैं।

इसी कारण वश वस्त्र व शरीर शुद्धि में छूआ छूत का वहुत विचार रखा जाना योग्य है। वस्त्र व शरीर को धो लेना ही पर्याप्त नहीं है वल्कि धुलने के पश्चात् उनकी अन्य अपवित्र व गन्दी वस्तुओं तथा अन्य व्यक्तियों के वस्त्रों व शरीरों के स्पर्श से रक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वस्त्र आदि धोने का अर्थ यहाँ पानी में से निकाल कर सुखा देना मात्र नहीं है। वह तो केवल रूढ़ि है। अच्छी तरह से सावुन या सोडे आदि के प्रयोग द्वारा या उसे सोडे सावुन के पानी में पका कर या भाप (Steam) में पका कर उसका मैल निकाल कर उसे विल्कुल सफेद कर लेना योग्य है। जो लोग सावुन आदि से वस्त्र को सफेद नहीं धोते वे वास्तव में शुद्ध भोजन न वना सकते हैं, और न खा सकते हैं। उनके वस्त्र व शरीर स्वयं जीव राशि के निवास स्थान वने रहते हैं, भले वह त्यागी हों कि ब्रह्मचारी। भले ही अपने को वहुत शुद्ध कहते व मानते हों पर सिद्धान्त का आधार किसी व्यक्ति विशेष की मान्यता नहीं, पर वस्तु स्वभाव है। गन्दे वस्त्रों में पवित्रता रहनी सम्भव नहीं।

वस्त्रों की इस छूआ छूत को सम्भवत: हम इतने अंश में न निभा सकें जितना कि विदेशी निभाते हैं। इसलिये इसे रूढ़ि न समझना। इसमें वहुत सार है। इसीलिये डाक्टर लोग आपरेशन रूम में तभी प्रवेश करते हैं जब कि भाप में पका (Sterilised) एक लम्बा कोट पहन लें ताकि सर्व अपवित्र

वस्त्र उसके नीचे छिप जायें और वहां से वैक्टेरिया निकल कर रोगी के घाव में प्रवेश न करने पायें। यहां तक कि मुंह व नाक के आगे भी एक स्वच्छ वस्त्र बाँध लेते हैं। तथा साबुन से अच्छी तरह हाथ धो कर ही औज़ारों को छूते हैं। बिल्कुल इसी प्रकार विदेशों में प्रत्येक उस कारखाने में जहां कि भोज्य सामग्री तैयार की जाती है, जैसे कि डेयरी फार्म या बेकरी (डबल रोटी व बिस्कुट का कारखाना) में यह नियम बहुत दृढ़ता से पाला जाता है। कारखाने का कोई भी कर्मचारी उस कमरे में जहां कि पदार्थ बनता व रखा जाता है, भाप में पका लम्बा कोट पहन कर, मुंह व नाक के सामने वस्त्र बांध कर तथा साबुन से हाथ धो कर ही प्रवेश करता है, अन्यथा नहीं। इस नियम की उपेक्षा करना वहां एक दण्डनीय अपराध है। व्यक्तिगत भोजन शालाओं में भी गृह स्वामिनी या बावरची इसी प्रकार के लम्बे कोट का प्रयोग करते हैं। भाप में पकाने के साधन हम लोगों को उपलब्ध न होने के कारण साबुन से धुले वस्त्रों का प्रयोग करने में ही हमें सन्तोष करना पड़ता है। उत्तम तो भाप में पकाना ही है।

६ वैक्टेरिया दूर करने के उपाय

यदि उपरोक्त पांच बातों के सम्बन्ध में सावधानी वर्ती जाये तो भोजन में वैक्टेरिया का प्रवेश होना रोका जा सकता है। परन्तु पदार्थ में पहले से विद्यमान वैक्टेरिया को दूर करना भी उसकी रक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि नवीन प्रवेश को रोक दिया जाने पर भी यदि ऐसा न करें तो पदार्थ में वैक्टेरिया की सन्तान वृद्धि रोकी नहीं जा सकती। इसलिए वैक्टेरिया को दूर करने का उपाय भी यहां विचारनीय हैं। यद्यपि यह उपाय करना हिंसा में सम्मिलित होता है परन्तु पहले की भांति यहां भी अधिक हिंसा से बचने के लिये यह अल्प हिंसा कथन्चित इष्ट है।

कुछ वैक्टेरिया तो ऐसे हैं जो अल्प मात्र ही गर्मी को सहन कर सकते हैं। और कुछ ऐसे हैं जो बहुत अधिक भी गर्मी को सहन कर सकते हैं। कुछ ऐसे हैं जो बहुत अधिक गर्मी में उत्पन्न होते हैं। इसलिये एक समस्या है कि यदि पदार्थ को थोड़ा गर्म करते हैं तो सर्व वैक्टेरिया दूर नहीं होते। और यदि अधिक गर्म करते हैं तो नं० २ जाति के वैक्टेरिया उत्पन्न हो जाते हैं। इस समस्या को हल करने के लिये दो उपाय विज्ञान बताता है। एक तो यह है कि पदार्थों को कुछ सैकण्डों के लिये बहुत अधिक गर्म कर दिया जावे और एक यह है कि अधिक देर तक थोड़ा गर्म रखा जाये। मुख्यत: जल व दूध आदि तरल पदार्थों को यदि आध घण्टे तक ६३ डिग्री तापमान पर या ३ मिनट तक ८० डिग्री तापमान पर गर्म कर दिया जाये तो उसमें रहे वैक्टेरिया प्राय: दूर हो जाते हैं। इस प्रक्रिया का नाम पास्चुराइजेशन (Pasturisation) है। बड़ी बड़ी डेयरी फार्मों व अन्य कारखानों में तो मशीनों के द्वारा ठीक ठीक तापमान देने के साधन विद्यमान होने के कारण उनके लिये तो वह सम्भव है। पर एक भारतीय साधारण गृहस्थ के लिये यह सम्भव नहीं कि ठीक ठीक ही समय व तापमान दिया जा सके। शक्य कार्य ही किया जाना सम्भव है, इसलिए प्राय: दूध व जल को उबाल लिया जाना चाहिए। पर बराबर घण्टों तक उबलते रहने न दिया जाये, बल्कि दो या तीन उबाल आ चुकने पर अग्नि पर से हटाकर उन्हें ठण्डा करने को रख दिया जाना चाहिए, ताकि गर्मी वाले वैक्टेरिया उसमें उत्पन्न होने न पावें।

कम ताप मान पर उत्पन्न होने वाले नं० १ जाति के वैक्टेरिया से इसकी रक्षा करने के लिये आवश्यक है कि उस उबले हुये पदार्थ को शीघ्रातिशीघ्र ठण्डा कर दिया जाये। यदि रैफ्रीजिरेटर (Refrigerator) उपलब्ध हो तो उसमें रख कर नहीं तो ठण्डे जल में रख कर जितनी जल्दी अधिक से अधिक ठण्डा किया जाना सम्भव हो, कर देना चाहिये। यदि उसे पास्चुराइजेशन के पश्चात् शीत

गृह (Cold Storage) में रख कर वहुत अधिक ठण्डा कर दिया जाये तो वह दूध वैक्टेरिया से सर्वथा मुक्त बना हुआ महीनों तक भी खराब नहीं हो सकता। बड़ी बड़ी डेयरी फार्मों में इसी प्रकार दूध को महीनों तक सुरक्षित रखा जाता है। इतने साधन हमारे पास नहीं हैं और न ही महीनों तक रखने की आवश्यकता है इसलिये उबाल कर शीघ्र यथा शक्ति ठण्डा करना भी पर्याप्त है। यदि ऐसा भी किया जाये तो भी गर्मी के दिनों में २४ घण्टे दूध खट्टा नहीं हो सकता। दही जमाने के लिये भी यदि इस प्रक्रिया को अपनाया जाये तो गर्मी के दिनों में भी दही बहुत मीठी व कड़ी जमती है। वह पानी नहीं छोड़ती तथा फटती नहीं।

परन्तु यह उबालने की क्रिया दुध व जल की प्राप्ति के पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र (अधिक से अधिक पौन घण्टे की पूर्वोक्त मर्यादा काल के अन्दर अन्दर) करनी चाहिये। क्योंकि मर्यादा काल बीत जाने पर उन पदार्थों में वैक्टेरिया की सन्तान में वृद्धि होनी प्रारम्भ हो जाती है। अतः तब उबालने का कार्य करने में अधिक हिंसा का प्रसंग आता है।

१० नवीन उत्पत्ति के प्रति रोक थाम वैक्टेरिया की उत्पत्ति के लिये चार बातों की आवश्यता है। वायु, जल, आहार (Neutrient) व तापमान। यदि इन चारों चीजों में से किसी एक का भी पदार्थ में से अभाव कर दिया जाये तो वैक्टेरिया उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि किसी पदार्थ को पूर्वोक्त प्रकार वैक्टेरिया रहित करके वायु रहित (Air-tight and Air-exhausted) डब्बों में सील बन्द कर दिया जाये (अर्थात् डब्बे का मुंह खाम कर दिया जाये ताकि उसमें वायु प्रवेश न कर सके) तो वैक्टेरिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उपरोक्त चार बातों में से वहाँ हवा नहीं है। इसी कारण डब्बों में बन्द अनेकों विलायती पदार्थ व औषधियां बिना सड़े वर्षों तक ज्यों के त्यों बनी रहती हैं।

यदि किसी पदार्थ को धूप में पूर्णतः सुखा कर किसी ऐसे बन्द डब्बे में या शीशे के जार में रख दिया जाये जिसमें कि नमी प्रवेश न कर सके तो भी वह वस्तु वर्षों तक खराब होनी सम्भव नहीं, क्योंकि वहां चार चीजों में से जल या नमी नहीं है अतः वैक्टेरिया उत्पन्न नहीं हो सकता।

यदि किसी स्थान पर आहार के योग्य कोई पदार्थ न हो तो वहां वैक्टेरिया उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि चारों चीजों में से वहां आहार का अभाव है। इसी कारण मैले बर्तनों में व कपड़ों में ही वैक्टेरिया की उत्पत्ति सम्भव है, स्वच्छ व साफ में नहीं, क्योंकि तनिक सा भी मैल वैक्टेरिया के लिये पर्याप्त आहार है।

यदि किसी पदार्थ को अत्यन्त शीत में रखा जाये तो वैक्टेरिया की उत्पत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि चार चीजों में से वहां योग्य तापमान का अभाव है। इसी कारण रैफ्रीजिरेटर या शीत गृह (Cold Storage) में रखी हुई वनस्पति व अन्य पदार्थ वर्षों विगड़ते नहीं।

बस अपने भोजन की रक्षा करने के लिये भी हम इस सिद्धान्त को काम में ला सकते हैं। भले ही हमारे पास पूर्ण साधन उपलब्ध न होने के कारण हम पदार्थ को पूर्णतः वैक्टेरिया की उपज से

सुरक्षित न रख सके पर यथा शक्ति हीनाधिक रूप में कुछ रक्षा अवश्य कर सकते हैं। उपरोक्त चार चीजों में से वायु, जल, व योग्य तापमान यह तीन चीजें तो सर्वत्र वायुमण्डल में विद्यमान हैं। पर आहार केवल खाद्य पदार्थ में ही है, अन्य पदार्थों में नहीं। इसलिये खाद्य पदार्थों में ही उनकी उत्पत्ति होती है, अन्यत्र नहीं। पर गन्दगी व मैल के कारण भूमि दीवारों व वस्त्रों आदि में भी उनकी उपज होती रहती है। इन पदार्थों में उनकी उपज यथा सम्भव रोकी जा सकती है, यदि स्वच्छता का विचार रखा जाये तो।

११. स्थिति मर्यादा काल

खाद्य पदार्थों में भी गीले खाद्य पदार्थों, जैसे बनस्पति व पके हुए भोजन, में तो चारों चीजों की उपस्थिति होने के कारण उनकी उत्पत्ति सर्वथा रोकी नहीं जा सकती, परन्तु सूखे अन्न, खाण्ड, नमक, घी व तेल आदि में यदि नमी का प्रवेश न होने दिया जाये तो वहां उनकी उत्पत्ति रोकी जा सकती है। अन्नादिक को धूप में सुखा कर तथा घी, तेल आदि को उबाल कर नमी दूर की जा सकती है। परन्तु वायुमण्डल में से मुख्यत: वर्षा ऋतु में यह पदार्थ स्वत: नमी खींच लेते हैं। इसलिये सुखाने के पश्चात् इन्हें लोहे, धातु, या कांच आदि के बन्द बर्तनों में ही रखा जाना योग्य है। बोरी मे या मिट्टी के बर्तनों में रखने से इनमें नमी का प्रवेश रोका नहीं जा सकता। डब्बों के ढकने भी बहुत टाईट होने चाहिये। ढीले ढकनों में से नमी प्रवेश कर जाती है। ढकनों को उघाड़ा हुआ छोड़ना भी इस दिशा में अत्यन्त बाधक है।

पके हुए पदार्थों को यद्यपि बैक्टेरिया की उत्पत्ति से सर्वथा सुरक्षित तो नहीं रखा जा सकता पर यदि बाहर से बैक्टेरिया इसमें प्रवेश न होने दिया जाये तो बीजारोपण के अभाव के कारण इनको कुछ काल तक अवश्य बैक्टेरिया की उपज से रोका जा सकता है। वस्तुत: तो ऊपर कथित सर्व अन्न खाण्ड आदि पदार्थों में भी सर्वथा के लिये उनकी उपज को रोक दिया जावे, यह हमारे लिये शक्य नहीं है, क्योंकि वायु व नमी का सर्वथा अभाव करने या डब्बों से खेंच लेने के साधन हमारे पास नहीं हैं। इसीलिए भोजन शुद्धि को बनाए रखने के लिए गुरुओं को अनुमान से काम लेना पड़ता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में प्राय: कितने काल पश्चात् बैक्टेरिया उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है, यह अनुमान करके गुरुओं ने पदार्थों का मर्यादा काल हमारे लिये सीमित कर दिया है। उस काल के पश्चात् बैक्टेरिया की उपज हो जाने के कारण वे भक्ष्य पदार्थ ही अभक्ष्य की कोटि में चले जाते हैं। इसको मर्यादा काल कहते हैं। जैसे आटे की मर्यादा सर्दी में ७ दिन, गर्मी, में ५ दिन और वर्षा ऋतु में ३ दिन बताई है। इसी प्रकार खाण्ड की मर्यादा सर्दी में एक महीना, गर्मी में १५ दिन, वर्षा ऋतु में एक सप्ताह है। रोटी व पकी हुई दाल की मर्यादा ६ घण्टे, पकी हुई भाजी की मर्यादा १२ घण्टे, तले हुये पदार्थों की मर्यादा २४ घण्टे और इसी प्रकार अन्य सर्व पदार्थों की मर्यादा आगम में बताई है वहां से जान लेना। इतने काल के अन्दर ही यह पदार्थ सावधानी पूर्वक प्रयोग में लाये जाने चाहिये। इतने काल पश्चात् नहीं।

उपरोक्त मर्यादायें वास्तव में उस समय में स्थापित की गई हैं जब कि आज के जैसे साधन नहीं थे। आटा आदि पदार्थ मिट्टी के घड़े मे रखे जाते थे, जिनमें से नमी प्रवेश कर जाती थी। पर आज उनकी अपेक्षा कुछ अच्छे साधन उपलब्ध हैं। इसलिये वस्तुत: वायु शून्य (Airtight) डब्बों व कांच के बर्तनों में सूखे पदार्थों को रख कर और रेफ्रीजेटर में पके हुए गीले भोजन को रख कर

यद्यपि वस्तुओं की उपरोक्त मर्यादा एक सीमा तक वढ़ाई जा सकती है, परन्तु प्रमाद व शिथिलता से अपनी रक्षा करने के लिये आगम कथित मर्यादाओं को स्वीकार किये रखना ही योग्य है। क्योंकि अधिक मर्यादा को तो कम करके ग्रहण करने मे कोई दोप नहीं आता, परन्तु यदि कदाचित् अपने अनुमान से काम लेकर छदमस्थता के कारण यथार्थ मर्यादा से कुछ अधिक ग्रहण कर ली गई तो भोजन शुद्धि वनी न रह सकेगी, और एक महान दोप का प्रसंग आयेगा। अतः उपरोक्त आगम कथित मर्यादायें ही स्वीकारनीय हैं।

(ग) भोजन शुद्धि व चौका विधान

१२ मन वचन काय व आहार शुद्धि

अत्यन्त पवित्र शान्ति का भोज करने के लिए वाह्य में भी शुद्ध ही भोजन का ग्रहण आवश्यक है। भोजन शुद्धि के सम्वन्ध में अनेकों वातें सिद्धान्त रूप से तो पहले प्रकरणों में समझा दी गई। आओ अव उनका प्रयोग अपनी चर्या में करके देखें। किस रूप में वह हमारी चर्या में हमको सहायता दे सकती हैं।

भोजन शुद्धिके सम्वन्धमें चार वातें मुख्यतः विचारनीय हैं। (१) मन शुद्धि, (२) वचन शुद्धि, (३) काय शुद्धि, (४) आहार शुद्धि। इन चार शुद्धियों को मुख से उच्चारण करना तो हम सव जानते हैं और किसी भी त्यागी या सन्यासी को भोजन कराते समय "मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार जल शुद्ध है। ग्रहण कीजिये।" इस प्रकार के मन्त्रोच्चारण करने की रूढ़ि को पूरा करना तो हम कभी भी भूलते नहीं, और वह अतिथि भी आपके यह शव्द सुन कर सन्तुष्ट हो जाता है। पर न तो आप और न वह यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि यह मन्त्र वचनों तक ही समाप्त हो गया है, या चर्या में भी कुछ आया है। प्रभो! कुछ विवेक धारण कीजिये। रूढ़ि मात्र कार्यकारी नहीं। जीवन के कल्याण का प्रश्न है मिट्टी का नहीं। शान्ति का सौदा करने चले हैं। पद पद पर वाधा हैं। सवसे सुरक्षित रहना है। अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यह चारों वातें वचनों तक ही सीमित नहीं रहनी चाहियें, वल्कि जीवन में उतरनी चाहिये। आओ इन चारों का अर्थ वतायें। उसे समझ कर चर्या में लाने का प्रयत्न करना।

<u>मन शुद्धि</u> कहना तभी सार्थक है जव कि आपके मन में उस अतिथि के प्रति भक्ति हो। आप दण्ड समझ कर भोजन न दे रहे हों, वल्कि अपना सौभाग्य समझ कर, अपने को धन्य मान कर दे रहे हों। यदि कदाचित् मन में ऐसा विचार आ जाये कि मैं इसको भोजन दे कर इस पर कोई एहसान कर रहा हूं, या ऐसा विचार आ जाए कि किसी प्रकार यह वला थोड़ा घना खा कर जल्दी से टल जाए तो अच्छा, तो आपका मन शुद्ध नहीं है, अशुद्ध है। आपके मन को यह अशुद्धता वास्तव में भोजन में विप घोल देती है। उससे प्रभावित आपका भोजन शुद्ध नहीं अशुद्ध है। जैसे कि लोकोक्ति है कि "थाली परोसी पर उसमें थूक कर।"

<u>वचन शुद्धि</u> कहना तभी सार्थक है जव कि उस अतिथि के प्रति आपके मुख से अत्यन्त मिष्ट व भक्तिपूर्ण ही शव्द निकलें। आपकी भापा से प्रेम टपकता हो, दण्ड या क्रोध नहीं। अतिथि के

प्रति ही नहीं वल्कि किसी भी अन्य घर वाले के प्रति या चौके में रहने वाले किसी भी व्यक्ति के प्रति भुंझलाहट के या उतावल के शब्द "जल्दी कर, जल्दी परोस, पानी ला" इत्यादि नहीं निकलने चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से सम्भवतः घवरा कर उस व्यक्ति से कोई ऐसा कार्य जल्दी में वन वैठे जिससे कि अतिथि को भोजन छोड़ देना पड़े। धैर्य सन्तोष व शान्ति की अत्यन्त मन्द भाषा ही योग्य है। अन्यथा भोजन अशुद्ध हो जायेगा।

काय शुद्धि कहना भी तभी सार्थक है जव कि आपने शरीर को भली भाँति रगड़, धो व पोंछकर इस पर से मैल उतार कर इसे स्वच्छ व पवित्र कर लिया हो। इसमें कहीं भी किसी प्रकार की ग्लानि का भाव जैसे कोई घाव, फोड़ा, फुन्सी, मैंल, मल, मूत्रादि का स्रवन विद्यमान न हो। इसके अतिरिक्त आपके शरीर पर नीचे के वस्त्र (Under Wear) या ऊपर के वस्त्र सव ही स्वच्छ व पवित्र हों। नीचे के वस्त्र (कच्छा वनियान आदि) तो मैले हों और ऊपर के (धोती आदि) स्वच्छ, ऐसा नहीं करना चाहिए। वस्त्र साबुन से धुले हुए विल्कुल सफेद होने चाहिए। इसके अतिरिक्त चौके में घुसने से पहले पावों को वहुत अच्छी तरह ऐड़ी से पञ्जे तक रगड़ कर काफी पानी में धो लेना चाहिए, ताकि पावों के तलवे पर कुछ भी लगा न रह जाये। पावों का तलवा अत्यन्त निकृष्ट स्थान है यह ध्यान रखना चाहिए। एक आध चुल्लू मात्र पावों के ऊपर डाल कर पावों धोने की रूढ़ि पूरी करना योग्य नहीं। चौके में प्रवेश करते ही पहले हाथों को अच्छी तरह रगड़ कर तीन वार धोना चाहिए। स्नान करने व स्वच्छ वस्त्र पहनने के पश्चात् यह सावधानी रखनी चाहिए कि आपका शरीर या आपका वस्त्र घर के किसी भी अन्य पदार्थ वस्त्र व दीवार व किवाड़ आदि से छूने न पाए। छूआ छूत के इस विवेक का प्रयोजन वास्तव पें व्यक्तिगत घृणा नहीं बल्कि वैक्टेरिया के प्रति सुरक्षा का भाव है। यदि व्यक्तिगत घृणा को अवकाश दिया तो मन शुद्धि वाधित हो जाएगी, यह ध्यान रहे। इस प्रकार सारी वातें चर्या में आने पर हो काय शुद्धि कही जा सकती है, अन्यथा नहीं।

आहार शुद्धि के अन्तर्गत चार वातें आती हैं। आहार शुद्धि कहना तभी सार्थक है जव कि यह चार वातें पूर्ण रीतिया चर्या में आ चुकी हों। वह चार वातें है—(१) द्रव्य शुद्धि (२) क्षेत्र शुद्धि (३) काल शुद्धि (४) भाव शुद्धि। इन चारों की व्याख्या ही अव क्रम से की जाती है। धारणा करने का प्रयत्न करना।

१३ द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव शुद्धि

द्रव्य शुद्धि का अर्थ है प्रत्येक उस पदार्थ की अर्थात् भोज्य पदार्थ की शुद्धि जो कि भोजन वनाने के लिये प्रयोग में आ रहे हों। मुख्यतः निम्न पदार्थों की शुद्धि द्रव्य शुद्धि में सम्मिलित है :—

१—अन्न शुद्धि। २—जल शुद्धि। ३—दुग्ध शुद्धि। ४—घृत व तेल शुद्धि। ५—खाण्ड शुद्धि। ६—वनस्पति शुद्धि। ७—ईंधन शुद्धि।

अन्न शुद्धि में आते हैं गेहूँ, चावल, दाल मसाले व सूखे मेवा आदि। इन सर्व पदार्थों को भली भांति सूर्य प्रकाश में वीन कर इनमें से निकली जीव राशि को सुरक्षित रूप से किसी कोने में क्षेपण करें, मार्ग में नहीं। मार्ग में ही उन्हें छोड़ देना महान अनर्थ है क्योंकि वहां वे वेचारे पावों के

नीचे आकर रौंदे जाते हैं। फिर इनको स्वच्छ जल में धो लें। ताकि इन पर लगा गोवर मल मूत्रादि का अंश अथवा इनके ऊपर विद्यमान वैक्टेरिया को साफ किया जा सके। धोकर इन्हें धूप में सुखा लें। विना धुले अन्न, मसाले आदि का प्रयोग योग्य नहीं है। चावल व दाल को हाथ की हाथ धोकर रांधा जाता है। इसलिये इनको पहले से धोकर सुखाने की आवश्यकता नहीं। गेहूँ आदि को सूख जाने के पश्चात् हाथ की चक्की में पीस लें। पीसने से पहले चच्की को अच्छी तरह झाड़ लें ताकि उसमें कोई क्षुद्र जीव रहने न पावे। चक्की पोंछने के लिए तथा चक्की में से आटा निकालने के लिए जो कपड़े प्रयोग में लाये जावें वे धुले हुए स्वच्छ होने चाहिएं, मैले नहीं। आटा सूर्य के प्रकाश में स्वच्छ वस्त्र पहन कर व हाथों को धो पोंछ कर पीसना चाहिए। पिसा हुआ आटा वन्द डव्वे में, यदि हो सके तो शीशे के जार में रखना चाहिये, ताकि वाहर की नमी को वह खेंचने न पावे। इसी प्रकार मसाले को भी धो सुखा कर सफाई से कूट पीस कर रख लेना चाहिए। नमक को भोजन वनाती समय हाथ की हाथ ही पीसना योग्य है, क्योंकि उसकी मर्यादा वहुत ही अल्प है। मेवा में मुनक्का आदि प्रयोग में लानी हैं तो सावधानी पूर्वक उसके वीज निकाल देने चाहिए, क्योंकि वीज को ग्रहण करने में कुछ दोप आता है। पदार्थ रखने के डव्वे ऐसे होने चाहिए जिसमें चींटी आदि का प्रवेश न हो सके। विना धुले अन्न को भी शोध कर उसमें कोई ऐसा पदार्थ डाल कर रखना चाहिए जिससे कि आगे उसमें जीव राशि उत्पन्न न होने पावे। मिट्टी में पारा मिला कर उसक टिकिया वना लें और प्रत्येक छोटे वड़े डव्वों में यथा योग्य रूप से उन्हें डाल दें तो इस प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है

अव लीजिये जल शुद्धि। जल शुद्धि में दो वातें आती हैं। एक जल को छानना तथा दूसरी जल में से निकले जीवों की रक्षार्थ जिवानी करना। जल छानने में छलने सम्वन्धी विवेक अत्यन्त आवश्यक है। छलना १२ गिरह चौड़ा और १॥ (डेढ़) गज लम्वा होना चाहिये। ताकि दूहरा होकर वह १२ गिरह चौकोर वन जाये। छोटा सा कपड़े का कोई टुकड़ा छलना नहीं कहलाता। रूमाल या पहना हुआ कपड़ा धोती आदि छलने के रूप में प्रयोग नहीं करना चाहिये। छलना केवल जल छानने के काम के लिये अलग ही रखना चाहिये। यह मील के सूत का नहीं होना चाहिए। वल्कि हाथ के कते सूत का ही होना चाहिये। क्योंकि हाथ का कता सूत रूएं वाला होता है, मील का नहीं होता। छलना मोटे खद्दर का होना चाहिये, पतले कपड़े का नहीं। खादी भण्डार से इस प्रकार का हाथ का वुना मोटा खद्दर उपलब्ध हो सकता है। छलना अत्यन्त स्वच्छ होना चाहिये, मैला नहीं और इसीलिये प्रत्येक तीसरे चौथे दिन उसको सावुन सोडे से धोना आवश्यक है। छलने को जल छानने के पश्चात् तुरत ही सुखाना चाहिये। क्योंकि अधिक देर गीला रहने से उसमें वैक्टेरिया की उत्पत्ति हो जाती है। इसीलिए ऐसे गीले पड़े छलने में से छने हुए जल के ऊपर कुछ झाग से तैरते हुए देखे जाते हैं। कोर पान वाला कपड़ा छलने के रूप में या चौके के किसी भी काम में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। क्योंकि मील की कोर पान में चर्वी होने के कारण वह अत्यन्त अशुद्ध है। साधारण रीति से घर पर धोकर सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। धोवी के यहां दो भट्टियों पर जव तक वह न धुल जाए तव तक प्रयोग में लाने योग्य नहीं होता धोवी का धुला प्रत्येक कपड़ा भी विना अपने हाथ से घर पर धोए प्रयोग में लाना नहीं चाहिए। जिवानी करने में भी इतनी सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि जिवानी का पानी भूमि या कुएं की दीवार आदि पर न पड़े, वल्कि सीधा कुएं के पानी में पड़े।

दुग्ध शुद्धि के सम्बन्ध में आवश्यक तो यह है कि पशु को भली प्रकार स्नान करके दुहा जाये ताकि उसके शरीर पर लगी धूल व गोवर आदि से निकलकर वैक्टेरिया दूध में प्रवेश न कर सकें। इसी प्रकार दुहने वाले को भी स्नान करके स्वच्छ वस्त्र पहन लेने चाहिये। वर्तन भी चमकदार व स्वच्छ मंजा हुआ होना चाहिये। दुहने से पहले हाथ व थन अच्छी तरह धो लेने चाहिये, ताकि वर्तन, कपड़े व हाथों से भी बैक्टेरिया का प्रवेश दूध में न हो सके। दूध निकालते ही वर्तन को अच्छी प्रकार ढक देना चाहिये, ताकि वायुमण्डल से भी वैक्टेरिया का प्रवेश न हो सके। यह सब बातें वास्तव में वही निभा सकता है जिसके अपने घर पर पशु हो। पर आज की विकट परिस्थिति में यह सब बातें पूर्णतः निभाई जानी असम्भव हैं। इसलिये जितनी अधिक से अधिक निभानी शक्य हों निभानी चाहियें। कम से कम वर्तन अवश्य अपना ही होना चाहिए क्योंकि बाजार वालों के वर्तन स्वच्छ मंजे हुए नहीं होते। मापने का वर्तन भी अपना ही होना चाहिये। दुहने वाले के हाथ व पशु के थन कम से कम अवश्य अपने छने हुए स्वच्छ पानी से धुलवा दिये जाने चाहियें। घर ला कर उसे अवश्य दूसरे वर्तन में छान लेना चाहिए।

जल व दूध दोनों को जल्दी से जल्दी आग पर रख देना चाहिए, ताकि उनमें रहे थोड़े बहुत वैक्टेरिया भी दूर हो जायें, और उनमें उनकी सन्तान वृद्धि न होने पाए। यदि शाम तक रखना अभीष्ट है तो तीन बार उबाल दे कर दूध को अग्नि पर से उतार लेना चाहिए और जल्दी से जल्दी अधिक से अधिक ठण्डा करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि जल्दी ही प्रयोग में ला कर समाप्त कर देना हो तो ठण्डा करने की कोई आवश्यकता नहीं, आग पर ही रखा रहे तब भी कोई हर्ज नहीं। जल के सम्बन्ध में तीन विकल्प हैं। यदि छः घण्टे के अन्दर अन्दर प्रयोग में लाकर समाप्त कर देना हो तो उसमें छानने के पश्चात् तुरत ही पिसी हुई लौंग हरडे या ज़ीरा आदि अन्य कोई मसाला थोड़ा सा डाल देना चाहिए, ताकि जल का रङ्ग व गन्ध बदल जाए। मात्र २ या ४ साबुत लौंग डाल कर रूढ़ि पूरी करना योग्य नहीं। जल का रङ्ग व गन्ध न बदले तो डालने का कोई लाभ नहीं। यदि १२ घण्टे के अन्दर अन्दर प्रयोग में ले आना हो तो जल को इतना गर्म कर लेना चाहिए जिसमें कि हाथ दिया जा सके। बहुत कम गर्म करके सन्तोष नहीं पाना चाहिए। यदि २४ घण्टे में काम में लाना हो तो उसे भात उबाल गर्म करना चाहिए। पीने का पानी उबाल कर ही प्रयोग में लाना योग्य है, क्योंकि खाना बनाने व भाजी आदि में डाला गया पानी तो खाना बनाने में उबल ही जाता है। पर पीने में कच्चा पानी स्वास्थ्य को कुछ बाधा पहुँचा सकता है। उबले हुए पानी में से सर्व रोग दूर हो जाते हैं। दूध या जल को गर्म करने के लिए ४८ मिनट की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए बल्कि जितनी जल्दी हो सके गर्म करना चाहिए, क्योंकि जितनी भी जल्दी गर्म हो सके उतनी कम हिंसा होती है। अधिक देर हो जाने पर वैक्टेरिया की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। जल को कुएं से लाते ही तुरत ही उपरोक्त तीनों विकल्पों में से कोई न कोई अवश्य पूरा करना चाहिए। उसे खाली छोड़ना योग्य नहीं।

दही जमाने के लिए जामन का व दूध के तापमान का बहुत अधिक विचार रखना चाहिए। आग के निकट रख कर दही जमाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से दही फट जाती है व खट्टी हो जाती है। गर्मी के दिनों में दही वाला वर्तन बराबर ठण्डे पानी में रखना चाहिये। और सर्दी के दिनों में उसे किसी स्वच्छ कपड़े में लपेट कर रखना चाहिये। ठण्डे पानी में रखने

के लिये ऐसा करना चाहिये कि किसी मिट्टी के बड़े मुंह के वर्तन में थोड़ा पानी डाल कर उसके अन्दर दही के वर्तन को उसके किनारे से कुछ नीचे तक डुवा कर रख दें ताकि वह पानी गर्म न होने पावे, ठण्डा ही वना रहे।

जामन के सम्बन्ध में वहुत विवेक की आवश्यकता है। जामन मीठी दही का ही होना चाहिये, खट्टी का नहीं। क्योंकि खट्टे जामन से दही भी खट्टी हो जायेगी। जामन फटा हुआ नहीं होना चाहिये। जामन में से दही का पानी (Whey) नचोड़ कर निकाल देना चाहिए, क्योंकि वह खट्टा होता है। जामन को दो तीन वार स्वच्छ पानी में धो लें तो और भी अच्छा है, क्योंकि ऐसा करने से उसमें से रहा सहा सव खटास निकल जाता है। जामन को धोने के लिये जामन वाले वर्तन में थोड़ा जल डाल कर हिला दें। फिर जल को नितार कर निकाल दें। जामन के प्रयोग का सरल उपाय तो यह है कि कच्चे गोले के ऊपरी छिलके की कटोरी को दही में डाल कर जमा दें। अगले दिन उसे निकाल कर सुखा दें। अव जव भी जामन देना हो दूध में इस कटोरी को डुवा दें। दही प्रयोग करते समय इसे निकाल कर फिर सुखा दें। नया जामन वनाने के लिये आधी छटांक दूध में थोड़ा जीरा डाल दें। ३ या चार घण्टे के पश्चात् वह जम जायगा। इसको जामन के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। टाटरी या अमचूर आदि से जमाना ठीक नहीं क्योंकि उससे दही फट जाती है। गर्मी में जामन थोड़ा दिया जाता है, और सर्दी में अधिक। अनुमान से काम लेना होता है। अधिक देर में जमानी अभीष्ट हो तो थोड़ा जामन दिया जाता है, और थोड़ी देर में जमानी अभीष्ट हो तो अधिक।

घृत शुद्धि के लिये यह विवेक रखना आवश्यक है कि उपरोक्त शुद्ध दही को वलो कर उसमें से निकला मक्खन तुरत ही आग पर रख देना चाहिये। दो तीन दिन तक रखने का तो प्रश्न ही नहीं, १० मिनट की प्रतीक्षा करनी भी योग्य नहीं, क्योंकि इसमें वैक्टेरिया की उत्पत्ति वड़े वेग से होती है। फिर भी अधिक से अधिक पौन घण्टे की मर्यादा के अन्दर अन्दर अवश्य गर्म कर लेना योग्य है इससे अधिक काल वीत जाने पर वह अभक्ष्य की कोटि में चला जाता है। इस प्रकार से वने हुये घी को अष्ट पहरा घी कहते हैं। क्योंकि दूध से घी वनने तक केवल ८ पहर या २४ घण्टे ही लगे हैं। ऐसा अष्ट पहरा घी ही शुद्ध है। इसको भी वरावर प्रति मास उवाल कर पुनः पुनः नितारते रहना चाहिये। ताकि वैक्टेरिया का वीज वहां उत्पन्न न होने पावे। आप देखेंगे कि प्रत्येक वार कुछ न कुछ छाछ अवश्य निकल जाती है।

तेल शुद्धि के लिये सरसों या तिल आदि को अपने घर पर स्वच्छ जल से धो कर सुखा लें। फिर कोल्हू को अपने स्वच्छ जल से अच्छी प्रकार धुलवा कर उसमें पीड़ दें। इस प्रकार प्राप्त किया गया तेल ही शुद्ध है।

खाण्ड शुद्धि के लिये चाहिये तो यह कि गन्ने का रस निकालने से पहले कोल्हू को धोकर साफ कर लें। रस पड़ने वाला व रस पकने वाला दोनों वर्तन वाल्टी या कड़ाह आदि धुले हुये साफ ही होने चाहिये। गन्नों को अच्छी तरह झाड़ व शोध कर कोल्हू में डालें। हाथ अच्छी तरह धोकर काम करना चाहिये। खांड खांची के द्वारा नहीं मशीन के द्वारा निकालनी चाहिये। उसे सफेद करने के लिए हाइड्रो का प्रयोग नहीं करना चाहिये। परन्तु इस प्रकार की खाण्ड वनाना सर्व के लिए सम्भव नहीं। सम्भव ही वात

अपनाई जा सकती है। इसलिये आज की परिस्थिति में बाजार की खाण्ड (Sugar) भी ग्रहण कर ली जा सकती है। परन्तु यह विवेक अवश्य रहना चाहिए कि वह खाण्ड हाइड्रो वाली नहीं होनी चाहिए। बाजार से आई हुई खाण्ड को घर पर पुनः स्वच्छ जल में पका कर उसकी बूरा कूट लेनी चाहिए। ऐसा करने से उसकी पहली सब अशुद्धियां दूर हो जाती हैं। इस शुद्ध खाण्ड को ऐसे डब्बे में रखना चाहिए जिसमें चींटी का प्रवेश न हो सके। शीशे के जार में रखना श्रेयस्कर है।

बनस्पति शुद्धि में यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि कोई भी वनस्पति काटने छांटने से पहले या चौके में प्रवेश करने से पहले अपने स्वच्छ जल से एक बार अच्छी तरह रगड़ रगड़ कर धो लें, ताकि उसके बाहर लगे अशुद्ध जल व अन्य छूआ छूत व बैक्टेरिया सम्बन्धी सर्व दोष दूर हो जायें।

ईंधन शुद्धि में लकड़ी को अच्छी तरह झाड़ कर प्रयोग में लाना चाहिए। बीधी लकड़ी का प्रयोग करना योग्य नहीं। आर्णों का प्रयोग चौके में नहीं होना चाहिए।

अब क्षेत्र शुद्धि सम्बन्धी बात चलती है। क्षेत्र शुद्धि के अन्तर्गत आपकी पाकशाला अत्यन्त स्वच्छ व साफ धुली धुलाई होनी चाहिए। वह स्थान अन्धयारा नहीं होना चाहिए। दीवारें धुएं से काली हो जायें तो चूना करा लेना चाहिए। फर्श चिकनी सीमेन्ट की हो तो अच्छा, नहीं तो गारा से लिपी हुई होनी चाहिए। लीपने में गोबर का प्रयोग करना योग्य नहीं। पाकशाला में जाले आदि लगे नहीं होने चाहिए। छत पर धुला हुआ स्वच्छ चन्दोवा बंधा रहना चाहिए। चन्दोवा इतना बड़ा हो कि चूल्हा, बर्तन व पकाने खाने व परोसने वाला सब उसके भीतर ही रहें, बाहर नहीं। चन्दोवा मैला नहीं होना चाहिए।

बर्तन सूखे मंजे होने चाहिए। खड्डे वाले बर्तनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। बर्तन खूब चमकदार होने चाहिए। उन पर चिकनाई लगी रहनी नहीं चाहिए। बर्तन पोंछने का या हाथ पोंछने का या रोटियां रखने का छलना व कपड़ा आदि साबुन से धुले हुए अत्यन्त स्वच्छ रहने चाहिए। तनिक भी मैले कपड़े का प्रवेश ही चौके में नहीं होना चाहिए। बर्तन का प्रयोग करने से पहले उसे स्वच्छ जल से एक बार धो व पोंछ लेना चाहिए। पटड़े व पंखा आदि जो भी चौके में लाये जायें धो कर ही लाए जायें। इनको चौके से बाहर ही धो लेना योग्य है। बिना धुला पंखा प्रयोग में लाना योग्य नहीं। पंखे को धो कर सुखा लेना चाहिये। गीला का गीला प्रयोग करने से भोजन में उससे उड़ने वाले पानी के छींटे पड़ने का भय है।

शुद्ध द्रव्य व अशुद्ध (उपरोक्त विवेक रहित बनाया गया) साधारण द्रव्य को साथ साथ रखना या पकाना योग्य नहीं। घी मसाले व आटा आदि उतना ही लेना चाहिये जितना कि प्रयोग में आकर बाकी न बचे। घी मसाले आदि के पूरे के पूरे बर्तन या डब्बे भोजन बनाते समय पास में नहीं रखने चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से सम्भवतः उनमें अन्न व नमी का अंश चला जावे, जिससे कि उनमें बैक्टेरिया की शीघ्र उत्पत्ति होने लगे। भोजन बना कर बचा हुआ घी आटा आदि पुनः मूल पदार्थ में नहीं मिलाना चाहिये, क्योंकि याद रहे कि इस बचे हुये पदार्थ में अन्न का अंश आ चुका है जो पदार्थ में पड़ कर सारे पदार्थ को बिगाड़ देगा। पृथक पृथक वस्तुओं को देगची से निकालने के लिये पृथक पृथक चमचे रखने चाहिये। एक का चमचा दूसरे में नहीं देना चाहिये

वने हुये सब पदार्थों के वर्तन किसी चौकी पर या पाटे पर या किसी ऊंचे स्थान पर सजा कर रखने चाहिये, ताकि इधर उधर से आया हुआ पानी उनके नीचे न जा सके। जिस स्थान पर आपका पांव आता हो वहाँ पके हुये पदार्थ का वर्तन नहीं रखना चाहिये। यदि नीचे ही वर्तन रखने पड़ें तो राख विछा कर रखने चाहिये, ताकि उतने उतने स्थान में पावों के आने का भय न रहे। वेलन कभी पावों पर नहीं रखना चाहिये। रोटी वेल कर उसे परात में ही रखना चाहिये। अपना हाथ भूमि से स्पर्श नहीं होने देना चाहिये। यदि हो जाये तो धोना चाहिये। विना धुला हुआ पंखा या पाटा चौके में नहीं आना चाहिये। इत्यादि अन्य भी अनेकों प्रकार से छूआ छूत का विवेक वनाये रखना योग्य है। मक्खियों के प्रवेश के प्रति जितनी भी सावधानी सम्भव हो करनी चाहिये। चिड़िया कबूतर आदि के प्रवेश के प्रति भी यथा सम्भव रोक थाम करनी चाहिये।

काल शुद्धि के अन्तर्गत चौके सम्वन्धी कोई कार्य रात को या अन्धेरे में नहीं करना चाहिये। कम से कम इतना प्राकृतिक प्रकाश अवश्य होना चाहिये कि पदार्थ स्पष्ट दिखाई दे जाये। विजली व दीपक के प्रकाश में काम करना योग्य नहीं, क्योंकि दीपक पर आते हुये या स्वाभाविक रूप से अन्धयारे वायुमण्डल में घूमने वाले छोटे छोटे उड़ने वाले प्राणियों की भोजन में पड़ जाने की सम्भावना है।

भाव शुद्धि के अन्तर्गत आपके चित्त में क्रोधादि कषाय या उतावल के भाव नहीं होने चाहिये। भक्ति व शान्ति, सौभाग्य व उल्लास रखना चाहिये। जल्दी जल्दी काम करने की हावड़ दौड़ में अवश्यमेव कोई ऐसी गड़वड़ वन जाती है कि अतिथि के आहार में वाधा अर्थात् अन्तराय आ जाता है।

उपरोक्त सर्व प्रकार की सावधानियां वड़े विवेक पूर्वक निभानी योग्य हैं। स्थान, वर्तन व वस्त्र की स्वच्छता का विशेष विचार रखना चाहिये।

—:o:—

(घ) भोजन शुद्धि में दूध दही को स्थान

१४ दूध दही की भक्ष्यता

आज दूध व दही के सम्बन्ध में एक संशय की ध्वनि चारों ओर से आती सुनाई दे रही है, जो दूध व दही को या अण्डे के समान बता रही है, या सर्वथा अभक्ष्य। अतः यह विषय भी कुछ विचारनीय है।

जीव हिंसा के सम्बन्ध में विचारने से तो वास्तव में सर्व ही पदार्थ अभक्ष्य हैं। क्योंकि कोई भी पदार्थ बैक्टेरिया रहित नहीं है। इसलिये किसी की शक्ति आज्ञा दे और वह भोजन मात्र का ही त्याग करके जीवन चला सके या साधना कर सके तो अत्यन्त उत्तम है। पर ऐसा सम्भव नहीं है, इसलिये यह विकल्प तो उठाना ही योग्य नहीं।

दूसरा विकल्प यह है कि यदि आहार ग्रहण ही किया जावे तो ऐसा होना चाहिए जिसमें अल्प मात्र ही हिंसा हो, अधिक नहीं। इस प्रयोजन के अर्थ हीनाधिक हिंसा का माप दण्ड स्थापित करना होगा, जिसके लिये खाद्य पदार्थों को कुछ श्रेणियों में विभाजित करके देखना योग्य है—

(१) एक श्रेणी तो उन पदार्थों की है जिसमें चलने फिरने व उड़ने वाले प्राणियों (Animal Life), जिसे हम त्रस जीव कहते हैं का सद्भाव हो, जैसे मांस, अण्डा, शराब, शहद, अन्जीर, गूलर, फूल गोभी आदि।

(२) दूसरी श्रेणी उन पदार्थों की है जिनमें त्रस जीवों का तो नहीं पर बहुत अधिक मात्रा में (असंख्यात या अनन्त (Countless) स्थावर जीवों (Plant Life) या बैक्टेरिया का सद्भाव हो। जैसे आलू, अरवी, गाजर, मूली, अदरक, कच्ची कोंपल, पुष्प आदि।

(३) तीसरी श्रेणी उन पदार्थों की है जिनमें अल्प मात्र ही अर्थात् संख्यात या (Countable) स्थावर जीवों का ही सद्भाव हो-जैसे घिया, तोरी, केला, संतरा आदि वनस्पति व दूध, दही, घी आदि पशुओं से प्राप्त पदार्थ (Organic Material)।

इन तीनों में पहली दो श्रेणियां तो सर्वथा अभक्ष्य हैं क्योंकि उनके प्रयोग में अधिक हिंसा का प्रसंग आता है। नं० ३ की श्रेणी के भी दो भाग हैं। पहला वनस्पति भाग वस्तुतः दूसरे भाग से अधिक शुद्ध है-ग्लानि की अपेक्षा से भी व जीव हिंसा की अपेक्षा से भी। क्योंकि एक तो दूध में वनस्पति से अधिक बैक्टेरिया होते हैं, तथा उत्पन्न हो जाते हैं, दूसरे वह ग्लानि मयी मांस पेशियों में पड़ी नसा जाल में से बह कर आता है। वनस्पति भाग में भी सारी वनस्पतियां समान हों सो नहीं। जीव हिंसा की अपेक्षा उनको भी दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—एक शुष्क रहने वाला अन्न और दूसरा हरित वनस्पति। इस प्रकार कुल भक्ष्य रूप से ग्रहण किये गये पदार्थों के तीन भाग हो जाते हैं।

१—अन्न, २—हरित वनस्पति, ३—दूध दही।

इन तीनों में भी यदि भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया जावे तो नं० ३ बहुत दूषित है, नं० २ उससे कम और नं० १ उससे कम। अब रही ग्राह्य और अग्राह्य की बात। सो व्यक्ति विशेष की शक्ति

पर आधारित है। यह ध्यान रहे कि यहां एक मध्यम मार्ग का विचार हो रहा है जिससे कि जीवन भी बना रहे, साधना में बाधा भी न हो और जीव हिंसा भी कम से कम हो।

यदि कोई व्यक्ति केवल सूखे अन्न पर निर्वाह कर सके और उसकी साधना बाधित न हो तो अत्यन्त उत्तम है। उसको हरित व दुग्ध का त्याग कर देना चाहिए। यदि अन्न व बनस्पति से काम चला सके तो कभी भी दूध ग्रहण करना नहीं चाहिये, पर अनुभव करने पर यह प्रतीति में आता है कि इन दो पदार्थों के अतिरिक्त शरीर को कुछ चिकनाई व अन्य आवश्यक विटामिन की भी आवश्यकता है, जो दूध में मिलते हैं, वनस्पति में नहीं। इसीलिये यदि अधिक काल तक दूध का प्रयोग न किया जावे तो शरीर शिथिल हो जाता है, विचारणायें बाधित हो जाती हैं, बुद्धि सोने लगती है, साधना भङ्ग हो जाती है। यह यद्यपि अपनी ही कमजोरी है पर इसी कमजोर हालत में साधना करना अभीष्ट है। इसलिये तीनों में सबसे निकृष्ट होते हुए भी दूध दही आदि के ग्रहण की आज्ञा गुरुओं ने दी है। यहाँ इतना विवेक अवश्य रखना चाहिये कि यह प्रयोजन वश रिश्वत देकर काम निकालने वत् है। वास्तव में तो यह दूध अग्राह्य ही है। यदि किसी की शक्ति बढ़ जाये तो सबसे पहले उसे दूध का ही त्याग करना चाहिये, वनस्पति के त्याग का नम्बर उससे पीछे आना चाहिये। समाधि मरण के प्रकरण में जो अन्न का त्याग पहले व दूध का पीछे बताया है वह दूसरी अपेक्षा से है। शारीरिक शक्ति बढ़ने की वहां अपेक्षा नहीं है, बल्कि आहार घटाने की अपेक्षा है। अन्न की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने के कारण दूध का त्याग वहाँ पीछे होता है।

१५ अण्डे व दूध में महान अन्तर

यहां एक और प्रश्न होता है कि शक्ति की हीनता वश रिश्वत देने ही की बात है, तो अण्डे व माँस की रिश्वत देना भी योग्य हो जायेगा। ऐसा वास्तव में नहीं है, क्योंकि शरीर के लिये सर्व आवश्यक अङ्ग खाद्य पदार्थों की उस अन्तिम श्रेणी में विद्यमान हैं। आज का विज्ञान उसको सिद्ध करता है। दूध व घी में माँस व अण्डे से अधिक विटामिन मौजूद हैं अतएव शरीर के लिये तो मांसादि की आवश्यकता है नहीं, हां स्वाद के लिये हो तो हो। स्वाद के लिये किया गया ग्रहण रिश्वत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भोग में गर्भित है। दूसरे वे पदार्थ पहले ही अधिक हिंसा के कारण अभक्ष्य बता दिये गये। साधक को भक्ष्य ही पदार्थ ग्रहण होने चाहिये। प्राण जाये तो भी अभक्ष्य का ग्रहण करना योग्य नहीं, क्योंकि उनके ग्रहण से साधना में सहायता मिलने का तो प्रश्न ही नहीं, पर बाधा अवश्य आ जाती है। अर्थात् जैसे कि पहले बता दिया गया वह तामसिक भोजन है सात्विक नहीं। उनका प्रभाव जीवन पर बड़ा विषैला होता है। अतः जीव हिंसा, साधना, व तामसिक पना इन तीनों बातों के कारण माँस व अण्डा, दूध व घी से नहीं मिलाए जा सकते।

एक प्रश्न और है कि भले ही मांस को त्रस जीव (Animal Life) की हिंसा के कारण अभक्ष्य कहलें पर अण्डा तो ऐसा नहीं है क्योंकि अण्डे भी दो प्रकार के होते हैं—एक प्राण सहित और एक प्राण रहित। अर्थात् एक वह जिसमें से कि बच्चा निकल सकता है और एक वह जिसमें से बच्चा नहीं निकलता। प्राण रहित अण्डा तो भक्ष्य मानना ही चाहिए, पर प्राण सहित भी भक्ष्य ही है क्योंकि उसमें भी प्राण बहुत पीछे से आते हैं, पहले से विद्यमान नहीं होते। पहले तो केवल कुछ पीला पीला पानी सा ही होता है।

भाई ! तनिक विवेक से काम लो। जिह्वा के वश में होकर ऐसी अयोग्य बात करनी युक्त

नहीं। आज तो विज्ञान का युग है। आज भी तू ऐसा कह रहा है, आश्चर्य है। सूक्ष्म निरीक्षण यन्त्र (Microscope) में दोनों ही जाति के अण्डों का वह पीला सा पानी क्या देखा है कभी ? यदि नहीं तो एक बार देखने का प्रयत्न कर, या मुझ पर विश्वास कर। वह पीला पीला दीखने वाला पानी वास्तव में त्रस जीवों (Animal Life) के पुञ्ज के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भले ही इन चक्षुओं से दिखाई न दें पर यन्त्र में वह भागते दौड़ते व कृमि कृमि करते स्पष्ट दिखाई देते हैं। वह भी एक दो नहीं होते, असंख्यात (Countless) होते हैं। अण्डे में प्राणी पीछे से आता हो, सो भी बात नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो अण्डा कभी बड़ा न हो पाता। तात्पर्य यह है कि दूध व अण्डे में आकाश पाताल का अन्तर है।

दूध यद्यपि नसों में से आता अवश्य है पर उसमें पाए जाने वाले बैक्टेरिया त्रस नहीं हैं, बनस्पति काय के (Plant Life) हैं। यह मैं अपनी तरफ से कह रहा हूँ ऐसा नहीं है। सूक्ष्म प्राणी विज्ञान (Biology Science) ऐसा कहती है। दूसरे वह भी संख्यात मात्र ही होते हैं, असंख्यात नहीं। इसलिए अण्डा तामसिक है, और दूध सात्विक। दही जमाने के लिए भी यद्यपि जान बूझ कर दूध में जामन के द्वारा कुछ बैक्टेरिया विशेष प्रवेश करा कर उसमें उनकी सन्तान वृद्धि कराई जाती है, पर फिर भी वह भक्ष्य है, क्योंकि उनकी संख्या संख्यात मात्र को उलंघन कर नहीं पाती। फिर भी दूध की अपेक्षा दही में बैक्टेरिया अधिक होते हैं, यह सत्य है। और इसलिए दूध की अपेक्षा दही त्याज्य है। पर घी बनाने के लिए दही जमाना आवश्यक है इसलिए उसका ग्रहण किया गया है।

दूध बछड़े का भाग होने के कारण भी अग्राह्य हो ऐसा नहीं है, या उसमें चोरी का दूषण आता हो सो भी नहीं है। क्योंकि पहली बात तो यह कि सारा का सारा दूध बछड़ा पी नहीं सकता। पीवे तो पेट अफर जावे। दूसरे यह कि जब तक दांत नहीं निकलते तब तक तो अवश्य दूध उसका भाग है पर दांत निकलने के पश्चात् भूसा व अन्न भी साथ साथ उसे दिया जाना चाहिए। दांत प्राकृतिक चिन्ह हैं, इस बात के कि उसे अब भूसे आदि की आवश्यकता पड़ गई है। इसलिए जितना अन्न या भूसा उसे दे रहे हैं उतना दूध आप ले लें तो चोरी का दोष नहीं लग सकेगा। तीसरे आप मुफ्त में दूध लेते हों सो भी बात नहीं। आप गाय व उसकी सन्तान को सुरक्षा देते हैं। उसकी आवश्यकताओं का भार अपने सर पर लेते हैं। इसलिए गाय अपना सर्वस्व आप को स्वयं प्रसन्नता पूर्वक अर्पण कर रही है. तभी तो सन्ध्या को जंगल से स्वयं आपके घर पर लौट आती है. अन्यत्र नहीं जाती। अर्थात् उसने स्वयं आपकी सुरक्षा के बदले में अपना दूध प्रसन्नता पूर्वक आपको देना स्वीकार किया है। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रसन्नता पूर्वक किसी अन्य की कन्या, विवाह के पश्चात्, इस निश्चय के आधार पर कि आप उसकी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे, अपना सर्वस्व आपको अर्पण कर देती है। जिस प्रकार उसके भोगने में चोरी नहीं, इसी प्रकार गाय का दूध लेने में चोरी नहीं। पर इतना विवेक अवश्य रखना चाहिए कि बछड़े को पेट भर भोजन दिया जाए तथा जितनी उसे आवश्यकता है उतना दूध भी। दांत निकलने से पहले आधा और पीछे चौथाई दूध बछड़े को दिया जाना पर्याप्त है।

—(०)—

—: सल्लेखना :—

१—शान्ति के उपासक की गर्जना, २—सल्लेखना आत्म हत्या नहीं, ३—साधक व शरीर का सम्बन्ध
४—अन्तिम समय में शरीर को सम्बोधन, ५—साम्यता, ६—आत्म हत्या व सल्लेखना में अन्तर।

१ शांति के उपासक की गर्जना

अहो शान्ति के उपासक की अलौकिक घोषणा, "जीऊंगा तो शान्ति से और मरूंगा तो भी शान्ति से।" एक अंग्रेज़ी का उपासक कहता है 'कि हंसना हो तो अंग्रेज़ी में और रोना हो तो भी अंग्रेज़ी में।' इसे कहते हैं आदर्श या लक्ष्य विन्दु, ध्रुव संकल्प, आन्तरिक वीर्य। लोक की वड़ी से वड़ी वाधा भी मुझे मेरे आदर्श से विचलित करने में समर्थ नहीं। अव तक स्वामी वन कर जीया हूँ, आगे भी स्वामी वन कर ही जीऊंगा। एक क्षण को भी दासत्व स्वीकार करना मेरे लिये असम्भव है। शरीर जायेगा तो और मिल जायेगा, पर शान्ति गई तो फिर न मिलेगी। और यदि कदाचित् सदा के लिये विदाइगी लेकर जाता है तो इससे अच्छी वात ही क्या ? न रहेगा वांस और न वजेगी वाँसुरी। न शरीर रहेगा और न रहेंगे इसके सम्वन्ध के यह वचे खुचे विकल्प, जो मार्ग में आ आकर मेरी शान्ति में रोड़ा ही अटकाते हैं। और मुझे चाहिये ही क्या ? मैं शान्ति का उपासक वन कर निकला हूं; शरीर का नहीं। शरीर गया तो मैंने कुछ नहीं खोया, पर शान्ति गई तो मैंने सव कुछ खो दिया।"

२ सल्लेखना आत्म हत्या नहीं

लौकिक मानव वेचारा क्या समझे इस गर्जना के मूल्य को। वह ठहरा शरीर का उपासक। उसकी दृष्टि में शान्ति का क्या मूल्य ? शरीर ही तो उसका सर्वस्व है। शरीर गया तो उसका सव कुछ चला गया। वल्कि शरीर भी क्या उसके लिये तो शरीर की अपेक्षा भी धन अधिक प्रिय है। धन गया तो सव कुछ गया। और उसके पीछे खाना नहाना आदि सव कुछ गया, पागल हो गया और अन्त में वही मृत्यु की गोद, जहां जा कर कि सव को विश्राम मिल जाता है। धन के पीछे खाना नहाना छोड़ कर या अरूचि पूर्वक ज़वरदस्ती थोड़ा वहुत खा कर पागलों की भांति वरावर शरीर को कृश करता हुआ एक दिन मृत्यु से आलिंगन कर लेता है, तव तो मानव उसे आत्म हत्या नहीं कहता। परन्तु जव एक शान्ति का उपासक अपनी शान्ति की रक्षा के अर्थ प्रसन्नता पूर्वक शरीर से उपेक्षा धारण करके मृत्यु का सत्कार करने जाता है तो उसे वह आत्म हत्या कह देता है। क्या कारण ? यही न कि उसकी दृष्टि में धूल मिट्टी ही धन है शान्ति नहीं। वस उसी प्रकार शान्ति के उपासक का शान्ति ही धन है, धूल मिट्टी नहीं। जिस प्रकार तेरी धारणा तेरी ही दृष्टि में सत्य है

शान्ति के उपासक की दृष्टि में नहीं, वस उसी प्रकार उसकी धारणा भी उसकी दृष्टि में सत्य है, भले तू उसे सत्य न समझता हो। अपने सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करने का अधिकार जब तू उसे नहीं देता, तो भला विचार तो सही कि अपनी दृष्टि के निर्णय करने का अधिकार वह तुझे क्यों देने लगा। तेरी बात लौकिक है और उसकी अलौकिक। दोनों की दिशायें एक दूसरे के विपरीत हैं। अतः भाई! उसकी इस घोषणा का मूल्य उस ही की दृष्टि से मापने का प्रयत्न कर। इसमें अपनी दृष्टि की टांग न अड़ा। यहाँ सब स्वतन्त्र हैं।

देख एक वीर योद्धा का आदर्श। शत्रु देश पर चढ़ कर आये तो अपना तन मन धन सर्वस्व होम दे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये। जीऊंगा तो स्वामी बन कर, दास बन कर जीना मुझे स्वीकार नहीं, प्राण जायें तो जायें। और कूद पड़ता है जान बूझ कर युद्ध की आग में, इसलिये कि या तो तेजवान बन कर निकलूंगा या भस्म हो जाऊंगा। तब तो उसकी इस साहस पूर्ण क्रिया को आत्म हत्या न कह कर वीरता कहता है। परन्तु एक शान्ति का उपासक योद्धा, अपने शान्ति देश पर शरीर की शिथिलिता के द्वारा किये गये आक्रमण का मुकाबला करने के लिये जब इससे दृढ़ संकल्प पूर्वक युद्ध करने या अपना सर्वस्व अर्पण करने जाता है तब उसे आत्म हत्या की उपाधि प्रदान करता है। क्यों? इसीलिये न कि बाहर का देश तो तुझे दीखता है, उसमें तो तेरा कुछ स्वार्थ है, पर अन्तरङ्ग का शान्ति देश तुझे इष्ट नहीं है। इसी से उस का तेरी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है।

शत्रु देश पर चढ़ आये तब कायर लोग तो भय के मारे छिपने को स्थान ढूंढने लगते हैं। रज़ाई में मुंह छिपा कर अपने को सुरक्षित करने का असफल प्रयास करते हैं। पर वीर जन तो ऐसे अवसरों की मानों प्रतीक्षा ही करते हों, ऐसे अवसर उसके लिये मानों सौभाग्य का सन्देश ले कर आये हों। और इसीलिये उसका मन हर्ष से फूल उठता है, साहस जागृत हो जाता है, भुजायें फड़कने लगती हैं, और बेधड़क हाथ में तलवार लेकर निकल जाता है, घर से बाहर, अपने भाग्य को आजमाने, या यों कहिये कि अपनी वीरता की परीक्षा करने, जो कि उसकी दृष्टि में सर्वस्व है। बस उसी प्रकार शरीर पर किंचित् भी बाधा या मृत्यु आई देख कर कायर व शरीर के दास लौकिक जन तो छिपने को ढूंढने लगते हैं कोई स्थान, लेने लगते हैं डाक्टर की शरण, गिड़गिड़ाने लगते हैं उसके सामने, भिखारियों की भांति, कि किसी प्रकार मृत्यु से उसे बचालें, पर शान्ति का उपासक वह वीर तो मानों पहले से ही तैयार बैठा था, मृत्यु का सत्कार करने के लिये। क्योंकि लौकिक जनों की भांति उसका विश्वास पोल न था। यही तो अन्तर है लौकिक व अलौकिक जनों में। अलौकिक वह शान्ति का पुजारी तो जानता है कि मृत्यु का ग्रास बनना ही इस शरीर का धर्म है, और शान्ति की रक्षा करना मेरा। पर लौकिक जन भले शब्दों में कुछ भी कहें परन्तु अन्तःकरण में यही विचारते रहते हैं, कि मृत्यु भले किसी अन्य को चबीना बना ले पर उसको तो नहीं बना सकती, क्योंकि उसके पास बुद्धि व धन है। भाई! एक क्षण को यह अहंकार छोड़ कर उस अलौकिक दृष्टि को पहचानने का प्रयत्न कर, जिससे कि यह तेरा संशय, जो कि सल्लेखना और समाधिमरण को आज आत्म हत्या बता रहा है, दूर हो जाय।

१ साधक व शरीर का सम्बन्ध — सल्लेखना कहते हैं सत्—लेखना अर्थात् अपने शान्ति स्वभाव को देखना या उसको ही अपना जीवन समझते हुये चलना। शान्ति ही जिसका देश हो, शान्ति ही जिसका शरीर

हो, शान्ति ही जिसका सर्वस्व हो, उसके लिये इस चमड़े के शरीर का क्या मूल्य ? पड़ा है तो पड़ा रहे, जावे तो जाये। पड़ा रहने से विशेष लाभ नहीं, और इसके जाने से कोई हानि नहीं। इसीलिये तो अपने जीवन काल में वह शरीर को दास बना कर रखता है, लौकिक जनों की भांति उसका दास बन कर नहीं रहता। वह शरीर से स्पष्ट कह देता है कि, "देख भाई ! तू आया है तो आ, मैं तेरे आने में कोई रोड़ा नहीं अटकाता, परन्तु एक शर्त है, कि यदि तुझे मेरे साथ रहना है तो जरा सम्भल कर रहना होगा। तेरी वह पुरानी टेव जो लौकिक जनों पर तू आजमाता है यहां न चलेगी। तेरी शक्ति यहां काम न कर सकेगी। और इस अपनी घोषणा की सत्यता का उसे विश्वास दिला देता है तपश्चरणादि अनुष्ठानों के द्वारा। जब शरीर को यह विश्वास हो जाता है कि यह ठीक ही कहता है, तो कुत्ते की भांति दुम हिलाता हुआ उसका दासत्व स्वीकार कर लेता है। उसके कार्य में उसकी सहायता करता हुआ उसके साथ रहने लगता है, जिसके बदले में वह शान्ति का उपासक उसको योग्य आहार आदि के रूप में कुछ वेतन देना स्वीकार कर लेता है। पर यह बात पहले ही स्पष्टतः बता देता है कि देख भाई ! मैं स्पष्टतः तेरे हृदयंगम करा देना चाहता हूँ, कि यह वेतन मैं तुझे उसी समय तक दूंगा जब तक कि तू मेरे काम में अर्थात् मेरी शान्ति की साधना में मेरी कुछ न कुछ थोड़ी या बहुत सहायता करता रहेगा। मैं तेरे स्वभाव से भली भांति परिचित हूं। मैं इस बात को भूला नहीं हूँ कि तू मृत्यु का पुत्र है। तू सब लौकिक प्राणियों को अपने बाहरी प्रपंच में फंसा कर अन्त में उन्हें धोखा दे जाया करता है। भले ही उसने तेरी कितनी सेवायें की हों पर उस समय तू तोते की भांति आंखें फिरा कर मानों सब कुछ भूल जाता है। तेरे सब वादे वेश्या के वादों वत् बन कर रह जाते हैं। और उसको साफ जवाब देकर उसके सर्वस्व अर्थात् शान्ति का अपहरण करके उसे रोता झींकता छोड़ तू अपना रास्ता नापता दिखाई देता है। बस तो समझ ले कि तेरा वह दाव मुझ पर न चलेगा। तुझे वेतन उसी समय तक दूंगा जब तक कि तू मेरा दास बना मेरी कुछ सहायता करता रहेगा। जिस दिन भी तूने जरा आंख दिखाई कि मैं तुझे वेतन देना बन्द कर दूंगा। फिर भले ही रोना कि चीखना या जगत के जीवों की गवाही लेकर मानवी न्यायशालाओं में आत्महत्या की दुहाई देना, मैं एक न सुनूंगा। जो तुझे यह शर्त स्वीकार हो तो रह और नहीं तो अभी से जहां जाना है चला जा। मैं तुझे रोकूंगा नहीं।"

ऐसी निर्भीक गर्जना भला शरीर को सुनने का अभ्यास कहां ? वह तो जानता है केवल दूसरे को दास बनाना। स्वयं दास बनाना उसने सीखा ही कब है ? पर क्या करे, इस योगी के सामने पेश पड़ती न देख दासत्व स्वीकार किये बिना और कोई चारा उसे दिखाई नहीं देता। इसलिये ही जीवन काल में, वह उस योगी की साधना में सदा सहायक रहता है। स्वाध्याय करने में, तत्व चिंतन में, आत्म ध्यान में, शान्ति के वेदन में, गुरुओं के दर्शन करने में, उनका उपदेश सुनने में, अन्य जनों की कल्याण करने की भावनाओं में व अन्य शान्ति के कार्य क्षेत्रों में वह सदा उसका, स्वामी भक्त सेवक की भाँति, साथ निभाता चलता है, ताकि उस योगी को उसके प्रति कोई सन्देह न रह जाये। सम्भवतः वह सोच रहा हो कि योगी के हृदय पर अपनी सेवाओं की छाप जमा कर उसके चित्त को अपनी स्वामी भक्ति के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास दिला दे, और कदाचित् ऐसा हो जाये तो एक दिन उससे उसके इस रूखे वर्ताव का बदला चुका ले। अर्थात् मृत्यु के अन्तिम समय में उसके घर में डाका डाल कर उसका शान्ति धन चुरा कर सदा के लिये उससे विदाई ले जाये।

४ अन्तिम समय में शरीर को सम्बोधन

परन्तु शरीर की यह उपरोक्त धारणा वास्तव में भ्रम पूर्ण है। योगी सदा जागृत रहते हैं। एक क्षण को भी इसके प्रति से असावधान नहीं होते। जहां भी ज़रा बुढ़ापे के चिन्ह इस पर प्रगट हुए, या किसी असाध्य रोग ने इसे आ घेरा, या कुछ अन्य खराबियों के कारण यह साधना में कुछ वाधक वनने लगा, या इस में शिथिलता आती दिखाई देने लगी, स्वाध्याय व ध्यान आदि में पूर्ववत् साथ निभाता प्रतीत न हुआ, कि योगी उसे वह पहले लिया वादा याद दिला कर उसे सम्बोधने लगता है। कि, "देख भाई! परस्पर में हुये उस वादे के अनुसार हमारा और तेरा नाता अब टूटता है। बुरा न मानना। हमें तेरे प्रति कोई द्वेष नहीं है, बल्कि कुछ करुणा ही है। तूने इतने दिन हमारा साथ निभाया उसके लिये धन्यवाद। मैं जानता हूँ कि तेरा दिल अब मुझे छोड़ कर जाने को सम्भवतः न भी हो, पर तू क्या करे, तू तो पराधीन ठहरा। तेरा स्वामी यम का हरकारा तेरे सर पर खड़ा है। तुझे तो उसके साथ जाना ही है, क्योंकि तू उसका भोज्य है। मैं यदि उससे तेरी रक्षा करने को समर्थ होता तो अवश्य करता। पर क्या करूं यह मेरी शक्ति से वाहर है। इसलिये सम्भवतः अब भी मैं तुझे वेतन देता रहता यदि इस प्रकार करने से तेरी रक्षा हो सकती तो। परन्तु यह असम्भव है। इसलिये इस अवसर पर तुझे आहार आदि देना तुझे तो कोई लाभ न पहुँचा सकेगा, पर मुझे हानि अवश्य पहुँचा देगा। क्योंकि यदि आहारादि के विकल्प उत्पन्न कर कर के तेरी सेवा में मैं जुट जाऊं तो मेरी ध्यानाध्ययन आदि शान्ति की साधना वाधित हुए विना न रहे। और तू तो जानता है कि शांति मुझे कितनी प्रिय है। अतः भाई! अब मुझे क्षमा करना। जीवन काल में जो दोष तेरे प्रति मुझ से वने हैं उसके लिये तुम मुझे क्षमा करना, और मैं भी इस अवसर पर तुम्हारे सव दोषों को क्षमा करता हूँ। जाओ भाई जाओ, तुम अपने स्वामी का आश्रय लो। यही तुम्हारा कर्तव्य है। और मैं अपनी निधि की सम्भाल करूं। सवको अपना अपना कर्तव्य निभाना ही योग्य है। अच्छा विदायगी।"

५ साम्यता

और इस प्रकार सरलता, शान्ति व साम्यता पूर्वक शरीर पर से अपना लक्ष्य हटा कर अन्तरध्यान में लीन होने का अधिकाधिक प्रयत्न करता हुआ शान्ति में खो जाता है। उसे इस समय जगत के किसी भी प्राणी के प्रति या किसी भी पदार्थ के प्रति, पीछी कमण्डलादि के प्रति या शास्त्र के प्रति या शरीर के प्रति न कोई राग भाव या प्रेम भाव होता है और न द्वेष भाव। शरीर से या किसी साधु से या शिष्य से या गुरु से या यदि गृहस्थी है तो कुटुम्व से कोई भी वदला लेने आदि की या उन्हें दुःख देने या सताने की भावना हो, ऐसा भी नहीं है। इसीलिये जिस प्रकार शरीर को सम्बोध कर शान्ति पूर्वक उससे विदाई ली उसी प्रकार कुटुम्वादि को सम्बोध कर सव को शान्ति प्रदान कर देता है। उसके उस समय के मधुर सम्भाषण से किसी को भी कोई कष्ट हो यह तो सम्भव ही नहीं है, हां सबको शान्ति ही मिलती है। जिसके अन्दर में शान्ति पड़ी है वह दूसरों को भी शान्ति के अतिरिक्त और क्या दे सकेगा।

सवको इसी प्रकार सम्वोधता है, "भो मेरे साथियो हो! मैं तुम सब का बहुत आभारी हूं। इस जीवन में आपने मेरी वहुत सेवायें की हैं। उनके वदले में आपको देने को तो कुछ नहीं, हां क्षमा चाहता हूँ। भाईयो! तुम्हारे हृदय में यदि मेरे प्रति कोई राग या प्रेम भाव पड़ा है तो उसे निकाल देना, क्योंकि मिलना और बिछुड़ना इस लोक का स्वरूप ही है। सदा के लिये कौन मिल कर रह सकता है। सराय के पथिकों वत् यह सम्मेल था। अब इसे भुला देना। याद रखने का प्रयत्न न करना। हम कहां से आये थे, हमें स्वयं पता नहीं। अब कहां जा रहे हैं, हमें स्वयं पता नहीं। जिनका साथ छोड़

कर यहां आये थे, हमें स्वयं पता नहीं। आपका साथ छोड़ कर अब किनका साथ पकड़ेंगे, यह भी पता नहीं। और आप भी यह सब कुछ नहीं जानते। इसलिये सदा साथ बने रहने की भावना का आप त्याग करो। हम शान्ति की शरण जाते हैं। प्रभु तुम्हें भी शान्ति प्रदान करें। हमारी सबके प्रति क्षमा है। हमें भी सब क्षमा करना।"

६ आत्म हत्या व सल्लेखना में अन्तर

अब तनिक विचार कर देख तो सही कि क्या अन्तर है आत्म हत्या और इस सल्लेखना में। भाई ऊपर की क्रियाओं पर से अनुमान लगाने का प्रयत्न न कर, अन्दर की भावनाओं को टटोल। ऊपर से तो निःसन्देह कुछ आत्म हत्या सरीखा ही लगता है, परन्तु अन्दर में उतर कर देखते हैं तो आकाश पाताल का अन्तर पाते हैं। सल्लेखनागत योगी में है, सब के प्रति साम्यता और आत्म हत्या गत अपराधी में है द्वेष या क्रोध की पूर्ति की भावना। योगी सबको शान्ति प्रदान करके जाता है, और अपराधी सब को दाह उपजा कर जाता है। योगी के अन्दर है शान्ति का सौम्य स्वाद, और अपराधी के अन्दर में है द्वेष की भड़कती ज्वाला, जिसमें वह स्वयं भड़ाभड़ जल रहा है। योगी के मुख मण्डल पर है मुस्कान व आशा, और अपराधी के मुख पर है क्रोध व निराशा। और इसीलिये नियम से योगी के आगे आने वाला जीवन तो होता है शान्ति पूर्ण, और अपराधी का क्रोध व द्वेष पूर्ण। योगी तो आगे भी पुनः शांति की साधना के प्रति ही झुकता है, और अपराधी क्रोध के वश पड़ा अपराधों के प्रति ही झुकता है। योगी के आगे आगे आने वाले जीवनों में बराबर शांति की वृद्धि होती है और अपराधी के आगे आगे के जीवनों में क्रोध की। योगी तो अपने प्रत्येक जीवन में शरीर को सेवक बनाकर अन्त समय में सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ प्रकाश की ओर चला जाता है, और अपराधी अपने प्रत्येक जीवन में उसका दास बनकर अन्धकार की ओर चला जाता है। दो या चार जीवनों के पश्चात् ही योगी की साधना तो पूर्णता को स्पर्श कर लेती है, अर्थात् वह तो पूर्ण शान्त या मुक्त हो जाता है, पर अपराधी कषाय व चिन्ताओं के सागर रूप इस संसार में सदा गोते खाता रहता है। वर्तमान के प्रत्यक्ष दीखने वाले लक्षणों में तथा अगले जीवनों के इन आने वाले लक्षणों में इतना महान अन्तर देख लेने पर भी क्या यह शंका बनी रह सकती है कि सल्लेखना आत्म हत्या है? नहीं यह शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है, एक सच्चे वीर का महान पराक्रम है। इससे पहले कि शरीर उसे जवाब दे, वह स्वयं उसे शान्ति व साम्यता पूर्वक जवाब दे देता है, और अपनी शान्ति की रक्षा में सावधान रहता हुआ उस ही में लय हो जाता है। इसीलिये इसका नाम समाधिमरण भी कहने में आता है। समाधि अर्थात् निज शान्ति स्वभाव के साथ एकमेक होकर उसमें लय हो जाना।

मात्र से सन्तुष्ट न होकर, वक्ता के, उपदेष्टा के, या शास्त्रों के उल्लेख के अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करने लगे। और धर्म की महिमा अवश्य समझ में आ जावे। शब्द सुने जा सकते हैं पर अभिप्राय नहीं। वह वास्तव में रहस्यात्मक होता है परोक्ष होने के कारण। और इसी लिये उन उन वाचक शब्दों का ठीक ठीक वाच्य नहीं बन रहा है। क्योंकि किसी भी शब्द को सुनकर, उसका अभिप्राय आप तभी तो समझ सकते हैं, जबकि उस पदार्थ को, जिसकी ओर कि वह शब्द संकेत कर रहा है, आपने कभी छू कर देखा हो, सूंघ कर देखा हो, आंख से देखा हो, अथवा चख कर देखा हो। आज मैं आप के सामने अफ्रीका में पैदा होने वाले किसी फल का नाम लेने लगूं, तो आप क्या समझेंगे-उसके सम्बन्ध में? शब्द कानों में पड़ जायेगा और कुछ नहीं। इसी प्रकार धर्म का रहस्य बताने वाले शब्दों को सुन कर, क्या समझेंगे आप? जब तक कि पहले उन विषयों को, जिनके प्रति कि वह शब्द संकेत कर रहे हैं, कभी छू कर-सूंघ कर-देख कर व चख कर न जाना हो आपने। इसीलिये उपदेश में कहे जाने वाले, अथवा शास्त्र में लिखे शब्द ठीक ठीक अपने अर्थ का प्रतिपादन करने को वास्तव में असमर्थ हैं। वह केवल संकेत कर देते हैं किसी विशेष शिक्षा की ओर। यह बता सकते हैं कि अमुक स्थान पर पड़ा है-आपका अभीष्ट। यह भी बता सकते हैं, कि वह आप के लिये उपयोगी है कि अनुपयोगी। परन्तु वह पदार्थ आपको किसी भी प्रकार दिखा नहीं सकते। हां, यदि शब्द के उन संकेतों को धारण करके, आप स्वयं चलकर, उस दिशा में जायें, और उस स्थान पर पहुँच कर, स्वयं उसे उपयोगी समझ कर चखें। उसका स्वाद लें, किसी भी प्रकार से, तो उस शब्द के रहस्यार्थ को पकड़ अवश्य सकते हैं।

दिनांक १ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २

३. वक्ता की प्रमाणिकता

धर्म का प्रयोजन व उसकी महिमा क्या है? यह समस्या है। उसको सुलझाने के पांच कारण बतलाये गये थे-कल। पहिला कारण था इस विषय को फोकट का समझना तथा उसको रुचि पूर्वक न सुनना। उसका कथन हो चुका। अब दूसरे कारण का कथन चलता है।

दूसरा कारण है वक्ता की अपनी अप्रमाणिकता। आज तक धर्म की बात कहने वाले अनेकों मिले, पर उनमें से अधिकतर वास्तव में ऐसे थे, कि जिन बेचारों को स्वयम् उसके सम्बन्ध में कुछ खबर न थी। और यदि कुछ जानकार भी मिले तो, उनमें से अधिकतर ऐसे थे जिन्होंने शब्दों में तो यथार्थ धर्म के सम्बन्ध में कुछ पढ़ा था, शब्दों में कुछ जाना भी था, पर स्वयम् उसका स्वाद न चखा था। अव्वल तो कदापि ऐसा मिला ही नहीं, जिसने उसकी महिमा को चखा हो, और यदि सौभाग्य वश मिला भी तो, उसकी कथन पद्धति आगम के आधार पर रही। उन शब्दों के द्वारा व्याख्यान करने लगा, जिनके रहस्यार्थ आप जानते न थे। सुनकर समझते तो क्या समझते?

ज्ञान की अनेकों धारायें हैं। सर्व धाराओं का ज्ञान किसी एक साधारण व्यक्ति को होना असम्भव है। आज लोक में कोई भी व्यक्ति अनधिकृत विषय के सम्बन्ध में कुछ बताने को तैयार नहीं होता। यदि किसी सुनार से पूछें कि यह मेरी नब्ज तो देख लीजिये, क्या रोग है, और क्या औषधि लूं? तो कहेगा कि वैद्य के पास जाइये, मैं वैद्य नहीं हूं। इत्यादि। यदि किसी वैद्य के पास जाकर कहूं कि देखिये तो यह जेवर खोटा है कि खरा? खोटा है तो कितना खोट है? तो अवश्य

यही कहेगा कि सुनार के पास जाओ, मैं सुनार नहीं हूँ, इत्यादि। परन्तु एक विषय इस लोक में ऐसा भी ह, जो आज किसी के लिये भी अनधिकृत नहीं। सव ही मानों जानते हैं-उसे। और वह है धर्म। घर में वैठा, राह चलता, मोटर में बैठा, दुकान पर काम करता, मन्दिर में बैठा या चौपाड़ में झाड़ू लगाता कोई भी व्यक्ति आज भले कुछ और न जानता हो पर धर्म के सम्वन्ध में अवश्य जानता है। किसी से पूछिये, अथवा वैसे ही कदापि चर्चा चल जाये, तो कोई भी ऐसा नहीं है, कि इस फोकट की वस्तु धर्म के सम्बन्ध में कुछ अपनी कल्पना के आधार पर बताने का प्रयत्न न करे। भले स्वयं उसे यह भी पता न हो कि धर्म किस चिड़िया का नाम है। भले इस शब्द से भी चिड़ हो। पर आप को वताने के लिये वह कभी भी टांग अड़ाये बिना न रहेगा। स्वयं उसे अच्छा न समझता हो अथवा स्वयं उसे अपने जीवन में अपनाया न हो, पर आपको उपदेश देने से न चूकेगा कभी। सोचिये तो, कि क्या धर्म ऐसी ही फोकट की वस्तु है? यदि ऐसा ही होता तो सबके सब धर्मी ही दिखाई देते। पाप, अत्याचार, अनर्थ, आदि शब्द व्यर्थ ही जाते।

परन्तु सौभाग्य वश ऐसा नहीं है। फोकट की वस्तु नहीं है। यह अत्यन्त गुप्त व रहस्यात्मक वस्तु है। अत्यन्त महिमाबन्त है। सब कोई इसको नहीं जानते। शास्त्रों के पाठी वड़े वड़े विद्वान भी इसके रहस्य को नहीं पा सकते। कोई विरला अनुभवी ही ऐसा है जो कि इसके पार को पाया है। वस वही हो सकता है प्रमाणिक वक्ता। इसके अन्य किसी के मुख से धर्म का स्वरूप सुनना ही, इस प्राथमिक स्थिति में' आप के लिये योग्य नहीं। क्योंकि अनेकों अभिप्रायों को सुनने से, भ्रम में उलझ कर, झुंझलाये विना न रह सकोगे। क्योंकि जितने मुख उतनी ही बातें। जितने उपदेश उतने ही आलाप। जितने व्यक्ति उतने ही अभिप्राय। सव अपने अपने अभिप्राय का ही पोषण करते हुए, वर्णन कर रहे हैं धर्म का स्वरूप। किस की बात को सच्ची समझोगे? क्योंकि सब बातें होंगी एक दूसरे को झूठा ठहराती। परस्पर विरोधी।

वक्ता की किञ्चित प्रमाणिकता का निर्णय किये विना जिस किसी से धर्म चर्चा करना या उपदेश सुनना योग्य नहीं। परन्तु इस अज्ञान दशा में वक्ता की प्रमाणिकता का निर्णय कैसे करें? ठीक है तुम्हारा प्रश्न। है तो कुछ कठिन काम, पर फिर भी सम्भव है। कुछ बुद्धि का प्रयोग अवश्य माँगता है। और वह तुम्हारे पास है। धेले की वस्तु की परीक्षा करने के लिए तो आप में काफी चतुराई है। क्या जीवन की रक्षक अत्यन्त मूल्यवान इस वस्तु की परीक्षा न कर सकोगे? अवश्य कर सकोगे। पहिचान भी कठिन नहीं। स्थूलतः देखने पर जिसके जीवन में उन वातों की झांकी दिखाई देती हो जोकि वह मुख से कह रहा हो, अर्थात जिसका जीवन सरल-शान्त व दया पूर्ण हो, जिसके शब्दों में माधुर्य हो, करुणा हो और सर्व सत्व का हित हो, साम्यता हो, जिसके वचनों में पक्षपात की बू न आती हो, जो हट्टी न हो, सम्प्रदाय के आधार पर सत्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न न करता हो, वाद विवाद रूप चर्चा करने से डरता हो, आप के प्रश्नों को शान्ति पूर्वक सुनने की जिसमें क्षमता हो, तथा धैर्य से व कोमलता से उसे समझाने का प्रयत्न करता हो, आप की वात सुन कर जिसे क्षोभ न आ जाता हो, जिसके मुख पर मुस्कान खेलती हो, विषय भोगों के प्रति जिसे अन्दर से कुछ उदासी हो, प्राप्त विषयों के भोगने से भी जो घवराता हो, तथा उनका त्याग करने से जिसे सन्तोष होता हो, अपनी प्रशंसा सुन कर कुछ प्रसन्न सा और अपनी निन्दा सुन कर कुछ रुष्ट सा हुआ प्रतीत न होता हो, तथा अन्य भी अनेकों इसी प्रकार के चिन्ह हैं जिनके द्वारा स्थूल रूप से आप वक्ता की परीक्षा कर सकते हैं।

४. विवेचन की अक्रमिकता — तीसरा कारण है विवेचन की अक्रमिकता। अर्थात यदि कोई अनुभवी ज्ञानी भी नित्य और सरल भाषा में समझाना भी चाहा तो भी अभ्यास न होने के कारण या पढ़ाने का ठीक ठीक ढंग न आने के कारण, या पर्याप्ति समय न होने के कारण, क्रम पूर्वक विवेचन कर न पाया।

क्योंकि उस धर्म का स्वरूप बहुत विस्तृत है। जो थोड़े समय में या थोड़े दिनों में ठीक ठीक हृदयाँगत कराया जाना शक्य नहीं है। भले ही वह स्वयं उसे ठीक ठीक समझता पर समझने और समझाने में अन्तर है। समझा एक समय में जा सकता है, और समझाया जा सकता है क्रम पूर्वक काफी लम्बे समय में। समझाने के लिये 'क' से प्रारम्भ करके 'ह' तक क्रम पूर्वक धीरे धीरे चलना होता है-समझाने वाले की पकड़ के अनुसार। यदि जल्दी करेगा तो उसका प्रयास विफल हो जायगा। क्योंकि अनभ्यस्त श्रोता बेचारा इतनी जल्दी पकड़ने में समर्थ न हो सकेगा। इसलिये इतने झंझट से बचने के लिये तथा, श्रोता समझता है या नहीं, इस बात की परवाह किये बिना अधिकतर वक्ता, अपनी रुचि के अनुसार, पूरे विस्तार में से बीच बीच में कुछ विषयों का विवेचन कर जाते हैं, और श्रोताओं के मुख से निकली वाह वाह से तृप्त होकर चले जाते हैं। श्रोता के कल्याण की भावना नहीं है - उन्हें। है केवल इस वाह, वाह की। क्योंकि इस प्रकार सब कुछ सुन लेने पर भी, वह तो रह जाता है कोरा का कोरा। उस बेचारे का दोष भी क्या हो? कहीं कहीं के टूटे हुए वाक्यों या प्रकरणों से अभिप्राय का ग्रहण हो भी कैसे सकता है?

और यदि बुद्धि तीव्र है श्रोता की, तो इस अक्रमिक विवेचन को पकड़ तो लेगा पर वह खण्डित पकड़ उसके किसी काम न आ सकेगी। उल्टा उसमें कुछ पक्षपात उत्पन्न कर देगी-उन प्रकरणों का, जिन्हें कि वह पकड़ पाया है। और वह द्वेश वश काट करने लगेगा-उन प्रकरणों की, जिन्हें कि वह या तो सुनने नही पाया, और यदि सुना भी हो तो-पूर्वोत्तर मेल न बैठने के कारण, एक दूसरे के सहवर्ती पने को न जान पाया। दोनों को पृथक पृथक अवसरों पर लागू करने लगा, और प्रत्येक अवसर पर दूसरे का मेल न बैठने के कारण काट करने लगा उसकी। इस प्रकार कल्याण की बजाय, कर बैठा अकल्याण; हित की बजाय, कर बैठा अहित; प्रेम की बजाय, कर बैठा द्वेष।

५. वक्तव्य का विस्तार — अथवा यदि सौभाग्य वश कोई अनुभवी वक्ता भी मिला और क्रम पूर्वक विवेचन भी करने लगा, तो श्रोता को बाधा हो गई। अधिक समय तक सुनने की क्षमता न होने के कारण, या परिस्थिति वश प्रतिदिन न सुनने के कारण, या अपने किसी पक्षपात के कारण, किसी श्रोता ने सुन लिया उस सम्पूर्ण विवेचन का एक भाग, और किसी ने सुन लिया उसका दूसरा भाग। फल क्या हुआ? वही जो कि अक्रमक विवेचन में बताया गया। अन्तर केवल इतना ही है, कि वहां वक्ता में अक्रमिकता थी, और यहाँ श्रोता में। वहाँ वक्ता का दोष था, और यहाँ श्रोता का। परन्तु फल वही निकला पक्षपात, वाद विवाद व अहित।

६. श्रोता के मुख्य दोष — ऊपर बताये गये दोष के अतिरिक्त श्रोता में और भी कई दोष हैं। जिनके कारण प्रमाणिकता व योग्य वक्ता मिलने पर भी वह उसके समझने में असमर्थ रहता है। उन दोषों में से मुख्य है उसका अपना पक्षपात, जो किसी अप्रमाणिकता अथवा अयोग्य वक्ता का विवेचन सुनने के कारण उसमें उत्पन्न हो गया है। अथवा प्रमाणिक और योग्य वक्ता के विवेचन को अधूरा सुनने के कारण उसमें उत्पन्न हो गया है। अथवा पहले से ही बिना किसी का सिखाया कोई अभिप्राय उसमें पड़ा है। यह पक्षपात वस्तु स्वरूप जानने के मार्ग का सबसे बड़ा शत्रु है।

क्योंकि इस पक्षपात के कारण अव्वल तो अपनी रुचि या अभिप्राय से अन्य कोई बात उसे रुचती ही नहीं और इस लिये ज्ञानी की बात सुनने का प्रयत्न ही नहीं करता -वह। और यदि किसी की प्रेरणा से सुनने भी चला जाये, तो समझने की दृष्टि की बजाय सुनता है वाद विवाद की दृष्टि से, शास्त्रार्थ की दृष्टि से, दोष चुनने की दृष्टि से। जहां अपनी रुचि के विपरीत कोई बात आई, कि पड़

गया उस बेचारे के पीछे-हाथ धोकर । तथा अपने अभिप्राय के पोषक कुछ प्रमारण उसही के वक्तव्य में से छांट कर, पूर्वापर मेल बैठाने का स्वयं प्रयत्न न करता हुआ, बजाय स्वयं समझने के समझाने लगता है वक्ता को । "वहां देखो तुमने या तुम्हारे गुरू ने ऐसी बात कही है या लिखी है । और यहां उससे उल्टी बात कह रहे हो"? और प्रचार करने लगता है लोक में इस अपने पक्ष का, तथा विरोध का । फल निकला है-एक विशाल द्वेष ।

श्रोता का दूसरा दोष है धैर्य हीनता । चाहता है तुरन्त ही कोई सब कुछ बता दे । एक राजा को एक बार कुछ हठ उपजी । कुछ जौहरियों को दरबार में बुला कर उनसे बोला, कि मुझे रत्न की परीक्षा करना सिखा दीजिये, नहीं तो मृत्यु का दण्ड भोगिये । जौहरियों के पांव तले की धरती खिसक गई । असमंजस में पड़े सोचते थे, कि एक बृद्ध जौहरी आगे बढ़ा । बोला कि "मैं सिखाऊंगा, पर एक शर्त पर । वचन दो तो कहूं" । राजा बोला, "स्वीकार है । जो भी शर्त होगी पूरी करूंगा" । बृद्ध बोला, "गुरू दक्षिणा पहले लूंगा" । हां, हां, तैयार हूं । मांगो क्या मांगते हो ? जाओ कोषाध्यक्ष, दे दो सेठ साहब को लाख करोड़ जो भी चाहिये ।" बृद्ध बोला, "कि राजन् ! लाख करोड़ नहीं चाहिये । बल्कि जिज्ञासा है राज्यनीति सीखने की - और वह भी अभी इसी समय । शर्त पूरी कर दीजिये और रत्न परीक्षा की विद्या ले लीजिये" । "परन्तु यह कैसे सम्भव है?" राजा बोला, "राज्यनीति इतनी सी देर में थोड़े ही सिखाई जा सकती है ? वर्षों हमारे मंत्री के पास रहना पड़ेगा"। "बस तो रत्न परीक्षा भी इतनी जल्दी थोड़े ही बताई जा सकती है ? वर्षों रहना पड़ेगा दुकान पर"। और राजा को अक़ल आ गई ।

इसी प्रकार धर्म सम्बन्धि बात भी कोई थोड़ी देर में सुनना या सीखना चाहे यह बात असम्भव है । वर्षों रहना पड़ेगा ज्ञानी के संग में, अथवा वर्षों सुनना पड़ेगा उसके विवेचन को । जब स्थूल-प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर लौकिक बातों में भी यह नियम लागू होता है, तो सूक्ष्म परोक्ष-इन्द्रियअगोचर अलौकिक बात में क्यों लागू न होगा ? इसका सीखना तो और भी कठिन है । अतः ओ जिज्ञासु ! यदि धर्म का प्रयोजन व उसकी महिमा का ज्ञान करना है तो धैर्य पूर्वक वर्षों तक सुनना होगा । शांत भाव से सुनना होगा । और पक्षपात व अपनी पूर्व की धाररणा को दबा कर सुनना होगा ।

दिनांक २ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३

७. पक्षपात व साम्प्रदायिकता का निषेध

धर्म के प्रयोजन व महिमा को जानने या सीखने सम्बन्धी बात चलती है । अर्थात धर्म सम्बन्धि शिक्षरण की बात है । वास्तव में यह जो चलता है । उसे प्रवचन न कह कर, शिक्षरण क्रम नाम देना अधिक उपयुक्त है । किसी भी बात को सीखने या पढ़ने में क्या क्या बाधक काररण होते हैं, उनकी बात है । पांच काररण बताये गये थे । उनमें से चार की व्याख्या हो चुकी जिस पर से यह निर्णय कराया गया कि यदि धर्म का स्वरूप जानना है और उससे कुछ काम लेना है तो १ उसके प्रति बहुमान व उत्साह उत्पन्न कर, २ निर्णय करके यथार्थ वक्ता से उसे सुन, ३ क्रम क्रम न सुन कर 'क' से 'ह' तक क्रम पूर्वक सुन, ४ धैर्य धार कर बिना चूक प्रतिदिन महीनों तक सुन ।

अब पांचवे बाधक काररण की बात चलती है वह है वक्ता व श्रोता का [illegible] ! वास्तव में यह पक्षपात बहुत घातक है । इस मार्ग में साधाररणतः [illegible] हुये [illegible] । काररण पहले बताया जा चुका है । पूरा वक्तव्य क्रम पूर्वक न सुनना ही उस पक्षपात [illegible]

है। थोड़ा जानकर "मैं वहुत कुछ जान गया हूं" ऐसा अभिमान अल्पज्ञ जीवों में स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है। जो आगे जानने की उसे आज्ञा नहीं देता। वह "जो मैंने जाना, सो ठीक है, तथा जो दूसरे ने जाना सो झूठ"। और दूसरा भी "जो मैंने जाना सो ठीक तथा जो आपने जाना सो झूठ" एक इसी अभिप्राय को धार परस्पर लड़ने लगते हैं। शास्त्रार्थ करते हैं। वाद विवाद करते हैं। उस वाद विवाद को सुन कर कुछ उसकी रुचि के अनुकूल व्यक्ति उसके पक्ष का पोषण करने लगते हैं, तथा दूसरे की रुचि के अनुकूल व्यक्ति दूसरे की पक्ष का। उसके अतिरिक्त कुछ साधारण व भोले व्यक्ति भी, जो उसकी वात को सुनते हैं उसके अनुयायी वन जाते हैं, और जो दूसरे की वात को सुनते हैं, वे दूसरे के-विना इस वात को जाने कि इन दोनों में से कौन क्या कह रहा है ? और इस प्रकार निर्माण हो जाता है सम्प्रदायों का। जो वक्ता की मृत्यु के पश्चात भी परस्पर लड़ने में ही अपना गौरव समझते रहते हैं। और हित का मार्ग न स्वयं खोज सकते हैं और न दूसरे को दर्शा सकते हैं। मजे की वात यह है कि यह सव लड़ाई होती है धर्म के नाम पर।

यह दुष्ट पक्षपात कई जाति का होता है। उनमें से मुख्य दो जाति हैं। एक अभिप्राय का पक्षपात तथा दूसरा शव्द का पक्षपात। अभिप्राय का पक्षपात तो स्वयं वक्ता तथा उसके श्रोताओं दोनों के लिये घातक है और शव्द का पक्षपात केवल श्रोताओं के लिये। क्योंकि इस पक्षपात में वक्ता का अपना अभिप्राय तो ठीक रहता है। पर विना शव्दों में प्रगट हुये श्रोता वेचारा कैसे जान सकेगा। अभिप्राय को ? अतः वह अभिप्राय में भी पक्षपात धारण करके, स्वयं वक्ता के अन्दर में पड़े हुए अनुक्त अभिप्राय का भी विरोध करने लगता है। यदि विषय को पूर्ण सुन व समझ लिया जाये तो कोई भी विरोधी अभिप्राय शेष न रह जाने के कारण पक्षपात को अवकाश नहीं मिल सकता। इस पक्षपात का दूसरा कारण है श्रोता की अयोग्यता। उसकी स्मरण शक्ति की हीनता, जिसके कारण कि सारी वात सुन लेने पर भी वीच वीच में कुछ कुछ वात तो याद रह जाती है, और कुछ कुछ भूल जाती है-उसे। और इस प्रकार एक अखण्डित धारा प्रवाही अभिप्राय खण्डित हो जाता है-उसके ज्ञान में। फल वही होता है जो अक्रम रूप से सुनने का। तथा पक्षपात का तीसरा कारण है व्यक्ति विशेष के कुल में परम्परा से चली आई कोई मान्यता या अभिप्राय। इस कारण का तो कोई प्रतिकार ही नहीं है। भाग्य ही कदाचित प्रतिकार वन जाये। तथा अन्य भी अनेकों कारण हैं। जिनका विशेष विस्तार करना यहां ठीक सा नहीं लगता।

८. वैज्ञानिक व फिलास्फर वनकर चलने की प्रेरणा

हमें तो यह जानना है, कि निज कल्याणार्थ धर्म का स्वरूप कैसे समझें ? धर्म का स्वरूप जानने से पहले इस पक्षपात को तिलांजली देकर यह निश्चय करना चाहिये, कि धर्म साम्प्रदाय की चार दीवारी से दूर किसी स्वतन्त्र दृष्टि में उत्पन्न होता है। स्वतन्त्र वातावरण में पलता है। और स्वतन्त्र वातावरण में ही फल देता है। यद्यपि साम्प्रदायों को आज धर्म के नाम से पुकारा जाता है, परन्तु वास्तव में यह भ्रम है। पक्षपात का विषैला फल है। सम्प्रदाय कोई भी क्यों न हो धर्म नहीं हो सकता। सम्प्रदाय पक्षपात को कहते हैं, और धर्म स्वतन्त्र अभिप्राय को जिसे कोई भी जीव, किसी भी सम्प्रदाय में उत्पन्न हुआ-छोटा या वड़ा-गरीव या अमीर यहां तक कि तिर्यञ्च या मनुष्य - सव धारण कर सकते हैं ; जव कि सम्प्रदाय इस में अपनी टांग अड़ा कर, किसी को धर्म पालन का अधिकार देता है और किसी को नहीं देता। आज यह जैन सम्प्रदाय भी वास्तव में धर्म नहीं है, सम्प्रदाय है, एक पक्षपात है। इसके आधीन क्रियाओं में ही कूप मण्डूक वन वर्तने से कोई हित होने वाला नहीं है।

पहले कभी नहीं सुनी होगी ऐसी बात, और इसलिये कुछ क्षोभ भी सम्भवत: आ गया हो। धारणा पर ऐसी सीधी व कड़ी चोट कैसे सहन की जा सकती है ? यह धर्म तो सर्वोच्च धर्म है न जगत का ? परन्तु क्षोभ की बात नहीं है भाई ! शान्त हो । तेरा यह क्षोभ ही तो वह पक्षपात है, साम्प्रदायिक पक्षपात जिसका निषेध कराया जा रहा है । इस क्षोभ से ही तो परीक्षा हो रही है तेरे अभिप्राय की । क्षोभ को दबा । आगे चल कर स्वयं समझ जायेगा, कि कितना सार था तेरे इस क्षोभ में । अब ज़रा विचार कर, कि क्या धर्म भी कहीं ऊंचा या नीचा होता है ? बड़ा और छोटा होता है ?अच्छा या बुरा होता है ? धर्म तो धर्म होता है । उसका क्या ऊंचा नीचा ? उसका क्या जैन पना व अजैन पना ? क्या वैदिक पना क्या मुसलमान पना ? धर्म तो धर्म है । जिसने जीवन में उतारा उसे हितकारक ही है । जैसा कि आगे के प्रकरणों से स्पष्ट हो जायेगा । उस हित को जानने के लिये कुछ शान्त चित्त होकर सुन । पक्षपात को भूल जा-थोड़ी देर के लिये ।

तेरे क्षोभ के निवारणार्थ यहाँ इस विषय पर थोड़ा और प्रकाश डाल देना उचित समझता हूं । किसी मार्ग बिशेष पर श्रद्धान करने का नाम सम्प्रदाय नहीं है । सम्प्रदाय तो अन्तरंग के किसी विशेष अभिप्राय का नाम है, जिसके कारण कि दूसरों की धारणाओं के प्रति कुछ अदेखसका सा भाव प्रगट होने लगता है । इस अभिप्राय को परीक्षा करके पकड़ा जा सकता है। शब्दों में बताया नहीं जा सकता । कल्पना कीजिये कि आज मैं यहाँ इस गद्दी पर कोई ब्रह्माद्वैतवाद का शास्त्र ले बैंठू और उसके आधार पर आप को कुछ सुनाना चाहूं, तो बताइये आपकी अन्तर वृती क्या होगी ? क्या आप उसे भी इसी प्रकार शान्ति व रुची पूर्वक सुनना चाहोगे, जिस प्रकार कि इसे सुन रहे हैं ? सम्भवत; नहीं । यदि मुझसे लड़ने न लगे तो, या तो यहाँ से उठ कर चले जाओगे और या बैठ कर चुपचाप चर्चा करने लगोगे । या ऊंघने लगोगे और या अन्दर ही अन्दर कुछ कुढ़ने लगोगे "सुनने आये थे जिनबाणी, और सुनाने बैठ गये अन्य मत की कथनी ।" बस इसी भाव का नाम है, साम्प्रदायिकता ।

इस भाव का आधार है-गुरू का पक्षपात । अर्थात जिनवाणी की बात ठीक है, क्योंकि मेरे गुरू ने कही है, और यह बात झूठ है क्योंकि अन्य के गुरू ने कही है । यदि जिनवाणी की बात को भी युक्ति व तर्क द्वारा स्वीकार करने का अभ्यास किया होता, तो यहां भी उसी अभ्यास का प्रयोग करते । यदि कुछ बात ठीक बैठ जाती तो स्वीकार कर लेते, नहीं तो नहीं । इसमें क्षोभ की क्या बात थी ? बाज़ार में जायें, अनेकों दूकानदार आपको अपनी ओर बुलायें । आप सब की ही तो सुन लेते हैं । किसी से क्षोभ करने का तो प्रश्न उत्पन्न नहीं होता । किसी से सौदा पटा तो ले लिया, नहीं पटा तो आगे चल दिये । इसी प्रकार यहां क्यों नहीं होता ?

बस इस अदेख सके भाव को टालने की बात कही जा रही है । मार्ग के प्रति जो तेरी श्रद्धा है, उसका निषेध नहीं किया जा रहा है । युक्ति व तर्क पूर्वक समझने का अभ्यास हो तो सब बातों में से तथ्य निकाला जा सकता है । भूल भी कदापि नहीं हो सकती । यदि श्रद्धान सच्चा है तो उसमें बाधा भी नहीं आ सकती, सुनने से डर क्यों लगता है ? परन्तु " क्योंकि मेरे गुरु ने कहा है इसलिये सत्य है" तेरे अपने कल्याणार्थ इस बुद्धि का निषेध किया जा रहा है। वैज्ञानिकों का यह मार्ग नहीं है । वह अपने गुरू की बात को भी बिना युक्ति के स्वीकार नहीं करते । यदि अनुसन्धान या अनुभव में कोई अन्तर पड़ता प्रतीत होता है, तो युक्ति द्वारा ग्रहण की हुई को भी नहीं मानता । बस तत्व की यथार्थता को पकड़ना है तो इसी प्रकार करना होगा । गुरु के पक्षपात से तत्व का निर्णय ही न हो सकेगा । अनुभव तो दूर की बात है । अपनी दही को मीठा बताने का नाम सच्ची श्रद्धा नहीं है। वास्तव में मीठी हो, तथा उसके मिठास को चखा हो, तब उसे मीठी कहना सच्ची श्रद्धा है ।

देख एक दृष्टान्त देता हूं। एक जौहरी था। आयु पूर्ण हो गई। पुत्र था तो पर निखट्टू। पिता की मृत्यु के पश्चात अलमारी खोली, और कुछ जेवर निकाल कर ले गया-अपने चचा के पास। "चचा जी, इन्हें विकवा दीजिये।" चचा भी जौहरी था। सव कुछ समझ गया। कहने लगा वेटा! आज न वेचो इन्हें। वाजार में ग्राहक नहीं हैं। वहुत कम दाम उठेंगे। जाओ जहाँ से लाये हो वहीं रख आओ इन्हें। और मेरी दुकान पर आकर वैठा करो। घर का खर्चा दुकान से उठा लिया करो। वैसा ही किया। और कुछ महीनों के पश्चात पूरा जौहरी वन गया-वह। अव चचा ने कहा, "कि वेटा! जाओ आज ले आओ वह जेवर"। आज ग्राहक हैं-वाजार में। वेटा तुरन्त गया, अलमारी खोली, जेवर के डव्वे उठाने लगा। पर हैं! यह क्या? एक डव्वा उठाया-रख दिया वापिस, दूसरा उठाया रख दिया वापिस, और इसी तरह तीसरा चौथा आदि। सव डव्वे जूं के तूं अलमारी में रख दिये, अलमारी वन्द करी, और चला आया खाली हाथ-दुकान पर-निराशा में गर्दन लटकाये-विकल्प सागर में डूवा वह युवक। "जेवर नहीं लाये वेटा?" चचा ने प्रश्न किया। और एक धीमी सी, लज्जित सी आवाज़ निकली युवक के कण्ठ से "क्षमा करो चचा। भूला था। भ्रम था। वह सव तो कांच है। मैं हीरे समझ वैठा था उन्हें - अज्ञान वश। आज आपसे ज्ञान पाकर आंख खुल गई है मेरी।

वस इसी प्रकार तेरे भ्रम की, पक्षपात की सत्ता उसी समय तक है, जव तक कि धैर्य पूर्वक कुछ महीनों तक वरावर उस विशाल तत्व को सुन व समझ नहीं लेता। उसे सम्पूर्ण को यथार्थ रीत्या समझ लेने के पश्चात तू स्वयं लज्जित हो जायेगा, हंसेगा - अपने ऊपर।

जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायेगा। धर्म का स्वरूप साम्प्रदायिक नहीं वैज्ञानिक है। अन्तर केवल इतना है, कि लोक में प्रचलित विज्ञान भौतिक विज्ञान है और यह आध्यात्मिक विज्ञान। धर्म की खोज तुझे एक वैज्ञानिक वन कर करनी होगी, साम्प्रदायिक वन कर नहीं। स्वानुभव के आधार पर करनी होगी, गुरूओं के आश्रय पर रह कर नहीं। अपने ही अन्दर से तत्सम्वन्धि 'क्या' और 'क्यों उत्पन्न करके तथा अपने ही अन्दर से उसका उत्तर लेकर करनी होगी, किसी से पूछ कर नहीं। गुरू जो संकेत दे रहे हैं-उनको जीवन पर लागू करके करनी होगी, केवल शव्दों में नहीं। तुझे एक फिलास्फर वन कर चलना होगा, कूपमण्डूक वन कर नहीं। स्वतंत्र वातावरण में जाकर विचारना होगा, साम्प्रदायिक वन्धनों में नहीं।

देख एक वैज्ञानिक का ढंग, और सीख कुछ उससे। अपने पूर्व के अनेकों वैज्ञानिकों व फिलास्फरों द्वारा स्वीकार किये गये सर्व ही सिद्धान्तों को स्वीकार करके, उनका प्रयोग करता है-अपनी प्रयोग शाला में, और एक आविष्कार निकाल देता है। कुछ अपने अनुभव भी सिद्धान्त के रूप में लिख जाता है-पीछे आने वाले वैज्ञानिकों के लिये। और वह पीछे वाले भी इसी प्रकार करते हैं। सिद्धान्त में वरावर वृद्धि होती चली जा रही है। परन्तु कोई भी अपने से पूर्व सिद्धान्त को झूठा मान कर उसको मैं नहीं पढ़ूंगा ऐसा अभिप्राय नहीं वनाता। सव ही पीछे पीछे वाले अपने से पूर्व पूर्व वालों के सिद्धान्तों में आश्रय लेकर चलता है। उन पूर्व में किये गये अनुसन्धानों को पुन; नहीं दोहराता। इसी प्रकार तुझे भी अपने पूर्व में हुए प्रत्येक ज्ञानी के, चाहे वह किसी नाम, व ग्राम, व सम्प्रदाय का क्यों न हो-अनुभव और सिद्धान्तों से कुछ न कुछ सीखना चाहिये। कुछ न कुछ शिक्षा लेनी चाहिये। किसी न किसी रूप में उसे अपना कर, अपने जीवन की प्रयोगशाला में उसको अनुभव करना चाहिये। वाहर से ही, केवल इस आधार पर, कि तेरे गुरु ने तुझे अमुक वात, अमुक ही शव्दों में नहीं वताई है, उनके सिद्धान्तों को झूठा मान कर, उनसे लाभ लेने की वजाये उनसे द्वेष करना योग्य नहीं है। वैज्ञानिकों का यह कार्य नहीं है।

जिस प्रकार प्रत्येक वैज्ञानिक जो जो सिद्धान्त बनाता है, उसका आधार कोई कपोल कल्पना मात्र नहीं होती, बल्कि होता है उसका अपना अनुभव, जो वह अपनी प्रयोग शालाओं में प्रयोग विशेष के द्वारा प्राप्त करता है। पहले स्वयं प्रयोग करके उसका अनुभव करता है, और फिर दूसरों के लिये लिख जाता है-अपने अनुभव को। कोई चाहे तो उससे लाभ उठा ले, न चाहे तो न उठाये। परन्तु वह सिद्धान्त स्वयं एक सत्य ही रहता है। एक ध्रुव सत्य।

इसी प्रकार अनेकों ज्ञानियों ने अपने जीवन की प्रयोगशालाओं में प्रयोग किये-उस धर्म सम्बन्धी अभिप्राय की पूर्ति के मार्ग में। कुछ उसे पूर्ण कर पाये और कुछ न कर पाये। बीच में ही मृत्यु की गोद में जाना पड़ा। परन्तु जो कुछ भी उन सब ने अनुभव किया, या जो जो प्रक्रियायें उन्होंने उन उन प्रयोगों में स्वयं अपनाई वह लिख गये हमारे हित के लिये-कि हम इन में से कुछ तथ्य समझ कर अपने प्रयोगों में कुछ सहायता ले सकें। सहायता लेना चाहें तो लें, और न लेना चाहें तो न लें, परन्तु वे सिद्धान्त सत्य हैं। परम सत्य हैं।

इस मार्ग में इतनी बात दुर्भाग्य वश अवश्य रहती है जो कि वैज्ञानिक मार्ग में देखने में नहीं आती। और वह यह है कि यहाँ कुछ स्वार्थी अनुभव विहीन ज्ञानाभिमानी जन, विकृत कर देते हैं उन सिद्धान्तों को-पीछे से कुछ अपनी धारणायें उसमें मिश्रण करके। और वैज्ञानिक मार्ग में ऐसा होने नहीं पाता। पर फिर भी वे विकृतियें दूर की जा सकती हैं-कुछ अपनी बुद्धि से-अपने अनुभव के आधार पर।

ओ जिज्ञासु! तनिक विचार तो सही, कि कितना बड़ा सौभाग्य है तेरा कि उन उन ज्ञानियों ने जो बातें बड़े बलिदानों के पश्चात बड़े परिश्रम से जानीं, बिना किसी मूल्य के दे गये तुझे। अर्थात बड़े परिश्रम से बनाया हुआ अपना भोजन परोस गये तुझे। और आज भूखा होते हुये भी, तथा उनके द्वारा परोसा यह भोजन सामने रखा होते हुये भी, तू खा नहीं रहा है इसे, कुछ संशय के कारण या साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण, जिसका आधार है केवल पक्षपात। तुझ सा मूर्ख कौन होगा? तुझसा अभागा कौन होगा? ओ जिज्ञासु! अब इस विष को उगल दे। और सुन कुछ नई बात, जो आज तक सम्भवत: नहीं सुनी है और सुनी भी हो तो समझी नहीं है। सर्व दर्शनकारों के अनुभव का सार, और स्वयं मेरे अनुभव का सार, जिसमें न कहीं है किसी का खण्डन, और न है निज की बात का पक्षपात। वैसा वैसा स्वयं अपने जीवन में उतार कर उसकी परीक्षा कर। बताये अनुसार ही फल हो तो ग्रहण कर ले। और वैसा फल न हो तो छोड़ दे। पर वाद विवाद किसके लिये और क्यों? बाज़ार का सौदा है। मर्ज़ी में आये ले, मर्ज़ी में आये न ले। यह एक नि:स्वार्थ भावना है, तेरे कल्याण की भावना और कुछ नहीं। कुछ लेना देना नहीं है तुमसे। तेरे अपने कल्याण की बात है। निज हित के लिये एक बार सुन तो सही। तुझे अच्छी लगे बिना न रहेगी। क्यों अच्छी न लगे, तेरी अपनी बात है। घर बैठे बिना परिश्रम के मिल रही है तुझे। इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है? निज हितके लिए अब पक्षपात की दाह में इसकी अवहेलना मत कर।

६. पक्षपात निषेध की पुनः प्रेरणा — परन्तु पक्षपात को छोड़ कर सुनना। नहीं तो पक्षपात का ही स्वाद आता रहेगा, इस बात का स्वाद न चख सकेगा। देख एक दृष्टान्त देता हूं। एक चींटी थी। नमक की खान में रहती थी। कोई उसकी एक सहेली उससे मिलने गई। बोली "बहन, तू कैसे रहती है यहां? इस नमक के खारे स्वाद में। चल मेरे स्थान पर चल। वहां बहुत अच्छा स्वाद मिलेगा तुझे। तू बड़ी प्रसन्न

होगी-वहां जाकर"। कहने सुनने से चली आई-वह उसके साथ-उसके स्थान पर हलवाई की दुकान में। परन्तु मिठाई पर घूमते हुए भी उसको कुछ विशेष प्रसन्नता न हुई। उसकी सहेली ताड़ गई-उसके हृदय की वात, और पूछ वैठी उससे "क्यों वहन आया कुछ स्वाद ?" नहीं कुछ विशेष स्वाद नहीं। वैसा ही सा लगता है मुझे तो, जैसा वहां नमक पर घूमते हुए लगता था।" सोच में पड़ गई उसकी सहेली। यह कैसे सम्भव है ? मीठे में नमक का ही स्वाद कैसे आ सकता है ? कुछ न कुछ गड़वड़ अवश्य है। झुक कर देखा उसके मुख की ओर। "परन्तु वहन ! यह तेरे मुख में क्या है ?" "कुछ नहीं, चलते समय सोचा कि वहां यह पकवान मिले कि न मिले, थोड़ा साथ ले चल। और मुंह में धर लाई छोटी सी नमक की डली। वही है यह"। "अरे ! तो यहां का स्वाद कैसे आवे तुझे ? मुंह में रखी है नमक की डली, मीठे का स्वाद कैसे आयेगा ? निकाल इसे"। डरती हुई ने कुछ कुछ झिझक व आशंका के साथ निकाला उसे। एक ओर रख दिया इसलिये कि थोड़ी देर पश्चात पुनः उठा लेना होगा इसे। अव तो सहेली कहती है। खैर निकाल दो इसके कहने से और उसके निकलते ही पहुंच गई किसी दूसरे लोक में। "उठा ले वहन ! अव इस अपनी डली को" सहेली वोली। लज्जित हो गई वह यह सुन कर, क्योंकि अव उसे कोई आकर्षण नहीं था, उस नमक की डली में।

वस तुम भी जव तक पक्षपात की यह डली मुख में रखे वैठे हो, नहीं चख सकोगे इस मधुर आध्यात्मिक स्वाद को। आता रहेगा केवल द्वेष का कड़वा स्वाद। एक वार मुंह में से निकाल कर चखो इसे। भले फिर उठा लेना-इसी अपने पहले खाजे को। परन्तु इतना विश्वास दिलाता हूं, कि एक वार के ही इस नई वात के आस्वादन से, तुम भूल जाओगे उसके स्वाद को। लज्जित हो जाओगे उस भूल पर। उसी समय पता चलेगा कि यह डली स्वादिष्ट थी कि कड़वी। दूसरा स्वाद चखे विना कैसे जान पाओगे इसके स्वाद को ?

अतः कोई भी नई वात जानने के लिये प्रारम्भ में ही पक्षपात का विष अवश्य उगलने योग्य है। इस वात को सुनकर या किसी भी शास्त्र में पढ़कर, वक्ता या लेखक के अभिप्राय को ही समझने का प्रयत्न करना। जवरदस्ती उसके अर्थ को घुमाने का प्रयत्न न करना। वक्ता या लेखक के अभिप्राय का गला घोंट कर अपनी मान्यता व पक्ष के अनुकूल वनाने का प्रयत्न न करना। तत्व को अनेकों दृष्टियों से समझाया जायेगा। सव दृष्टियों को पृथक पृथक जान कर ज्ञान में उनका सम्मिश्रण कर लेना। किसी दृष्टि का भी निषेध करने का प्रयत्न न करना, अथवा किसी एक ही दृष्टि का आवश्यकता से अधिक पोषण करने के लिये शब्दों में खींचातानी न करना। ऐसा करने से भी अन्य दृष्टियों का निषेध वत ही हो जायेगा। तथा अन्य भी अनेकों वातें हैं जो पक्षपात के आधीन पड़ी हैं उन सव को उगल डालना। समन्वयात्मक दृष्टि वनाना। साम्यता धारण करना। इसी में निहित है तुम्हारा हित और तभी समझा या समझाया जा सकता है-तत्व।

उपरोक्त इन सर्व पाँचों कारणों का अभाव हो जाये तो ऐसा नहीं हो सकता कि तुम धर्म के उस प्रयोजन को व उसकी महिमा को ठीक ठीक जान न पाओ। और जान कर उससे इस जीवन में कुछ नवीन परिवर्तन लाकर, किञ्चित इसके मिष्ट फल की प्राप्ति न करलो, और अपनी प्रथम की ही निष्प्रयोजन धार्मिक क्रियाओं के रहस्य को समझ कर उन्हें सार्थक न वना लो।

※ II धर्म व शान्ति ※

२

—: धर्म का प्रयोजन :—

१—धर्म की आवश्यकता क्यों, २—धर्म का प्रयोजन शान्ति, ३—उपाय जानने का वैज्ञानिक ढंग ४—वर्तमान पुरुषार्थ की असार्थकता, ५—अशान्ति का कारण इच्छायें।

दिनांक ३ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ४

१. धर्म की आवश्यकता क्यों — धर्म सम्बन्धी वास्तविकता को जानने के लिये, वक्ता व श्रोता की आवश्यकतायें व शिक्षण पद्धति क्रम को जानने के पश्चात; तथा धर्म सम्बन्धी वात को जानने के लिये, उत्साह प्रगट हो जाने के पश्चात; अब यह वात जाननी आवश्यक है, कि धर्म कर्म की जीवन में आवश्यकता ही क्या है? जीवन के लिये यह कुछ उपयोगी तो भासता नहीं। यदि विना किसी धार्मिक प्रवृतियों के ही जीवन विताया जाये तो क्या हर्ज है ? फिलास्फर वनने के लिये कहा गया है न मुझे।

प्रश्न बहुत सुन्दर है। और करना भी चाहिए था। अन्दर में उत्पन्न हुए प्रश्न को कहते हुए शर्माना नहीं चाहिए, नहीं तो यह विषय स्पष्ट न होने पायेगा। प्रश्न वेधड़क कर दिया करो। डरना नहीं। वास्तव में ही धर्म की कोई आवश्यकता न होती, यदि मेरे अन्तर की सर्व अभिलाषाओं की पूर्ति साधारणतः हो जाती। कोई भी पुरुषार्थ किसी प्रयोजन वश ही करने में आता है। किसी अभिलाषा विशेष की पूर्ति के लिये ही कोई भी कार्य किया जाता है। ऐसा कोई कार्य नहीं, जो विना किसी अभिलाषा के किया जा रहा हो।

२. धर्म का प्रयोजन शान्ति — अतः उपरोक्त वात का उत्तर पाने के लिए मुझे विश्लेषण करना होगा अपनी अभिलाषाओं का। ऐसा करने से स्पष्टतः कुछ ध्वनि अन्तरंग से आती प्रतीत होगी। इस रूप में "कि मुझे शान्ति चाहिये, मुझे सुख चाहिए, मुझे निराकुलता चाहिये। यह ध्वनि छोटे वड़े सर्व ही प्राणियों की चिर परिचित है। क्योंकि कोई भी ऐसा नहीं है कि इस ध्वनि को वरावर उठते न सुन रहा हो। और यह ध्वनि कृत्रिम भी नहीं है। किसी अन्य से प्रेरित होकर, यह सीख उत्पन्न हुई हो, ऐसी नहीं है। स्वाभाविक है। कृत्रिम वात का आधार तो वैज्ञानिक जन नहीं लिया करते। परन्तु इस स्वाभाविक ध्वनि का कारण तो अवश्य जानना पड़ेगा।

अपने अन्दर की इस ध्वनि से प्रेरित होकर, इस अभिलाषा की पूर्ति के लिये, मैं कोई प्रयत्न न कर रहा हूँ, ऐसा भी नहीं है। मैं वरावर कुछ न कुछ उद्यम कर रहा हूँ। जहाँ भी जाता हूँ कभी खाली नहीं वैठता, और कव से करता आ रहा हूँ यह भी नहीं जानता। परन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि

सब कुछ करते रहते हुये भी, बड़े से बड़ा धनवान या राजा आदि बन जाने पर भी, यह ध्वनि आज तक शान्त होने न पाई है। यदि शान्त हो गई होती, या उसके लिये किया जाने वाला पुरुषार्थ जितनी देर तक चलता रहता है, उतने अन्तराल मात्र के लिये भी कदाचित शान्त होती हुई प्रतीत होती, तो अवश्य ही धर्म आदि की कोई आवश्यकता न होती। उसी पुरुषार्थ के प्रति और अधिक उद्यम करता और कदाचित सफलता प्राप्त कर लेता। वह शान्ति की अभिलाषा ही मुझे बाध्य कर रही है कोई नया आविष्कार करने के लिये, जिसके द्वारा कि मैं इसकी पूर्ति कर पाऊं। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। और इसी कारण से धर्म का आविष्कार ज्ञानी जनों ने अपने जीवन में किया, और उसी का उपदेश सर्व जगत को भी दिया है, तथा दे रहे हैं, किसी स्वार्थ के कारण नहीं, बल्कि प्रेम व करुणा के कारण, कि किसी प्रकार आप भी सफल हो सकें उस अभिलाषा को शान्त करने में।

३. उपाय जानने का वैज्ञानिक ढंग

किस प्रकार किया उन्होंने यह आविष्कार ? कहाँ से सीखा इसका उपाय ? कहीं बाहर से नहीं। अपने अन्दर से। उपाय ढूंढने का जो वैज्ञानिक ढंग है-उसके द्वारा। उपाय ढूंढने का वैज्ञानिक व स्वाभाविक ढंग यद्यपि सबके अनुभव में प्रतिदिन आ रहा है। पर विश्लेषण न करने के कारण सैद्धान्तिक रूप से उसकी धारणा किसी को नहीं है। देखिये उस कबूतर को जिसकी अभिलाषा है कि आपके कमरे में किसी न किसी प्रकार प्रवेश कर पाये अपना घोंसला बनाने के लिये। कमरे में प्रवेश करने का उपाय किससे पूछे। स्वयं अपने अन्दर से ही उपाय निकालता है। अतः प्रयत्न करता है। कभी इस द्वार पर जाता है और बन्द पाकर वापिस लौट जाता है। कुछ देर पश्चात उस खिड़की के निकट जाता है, वहां सरिये लगे पाता है। सरियों के बीच में गर्दन घुसाकर प्रयत्न करता है-घुसने का, परन्तु सरियों में अन्तराल कम होने के कारण उसका शरीर निकल नहीं पाता-उनके बीच में से। फिर लौट आता है। दूसरी दिशा में जाता है। वहाँ भी वैसा ही प्रयत्न। फिर तीसरी में और फिर चौथी दिशा में। कहीं से मार्ग न मिला। सामने वाले मण्डेर पर बैठकर सोच रहा है-अब भी उसी का उपाय। निराश नहीं हुआ है। हैं ! यह क्या है-ऊपर छत के निकट ? चल कर देखूं तो सही। एक रोशनदान। झुक कर देखता है-अन्दर की ओर। कुछ भय के कारण तो नहीं है वहाँ ? नहीं नहीं-कुछ नहीं है। रोशनदान में घुस जाता है। कमरे की कार्नस पर बैठ कर प्रतीक्षा करता है-कुछ देर कमरे के स्वामी के आने की। स्वामी आता है, तो देखता है ग़ौर से उसकी मुखाकृति को। क्रूर तो नहीं है ? नहीं, भला आदमी है। और फिर जाता है और आता है बे रोक टोक। मानो उसके लिये ही बनाया था यह द्वार। इसी प्रकार एक चींटी भी पहुँच जाती है अपने खाद्य पदार्थ पर, और थोड़ी देर इधर उधर घूम कर मार्ग निकाल ही लेती है-डब्बे में प्रवेश पाने का।

विश्लेषण कीजिये-इन छोटे से जन्तुओं की इस प्रक्रिया का। धैर्य और साहस के साथ बार बार प्रयत्न करना। असफल रहने पर भी एक दम निराश न हो जाना। एक द्वार उपयुक्त न दीखे तो दूसरी दिशा में जाकर ढूंढना या दूसरे द्वार पर ट्राई करना और अन्त में सफल हो जाना। यह है क्रम किसी अभीष्ट विषय के उपाय ढूंढने का। इसे वैज्ञानिक जन कहते हैं 'Trial & Error Theory' सफल न होने पर प्रयत्न की दिशा घुमा देने का सिद्धान्त। आप स्वयं भी तो इस सिद्धान्त का प्रयोग कर रहे हैं-अपने जीवन में। कोई रोग हो जाने पर, आते हो वैद्यराज के पास। औषधि लेते हो। तीन चार दिन खा कर देखने के पश्चात कोई लाभ होता प्रतीत नहीं होता। तो वैद्य जी से कहते हो-औषधि बदल देने के लिये। उससे भी यदि काम न चले तो पुनः वही क्रम। और अन्त में तीन बार औषधि बदली जाने पर, मिल ही जाती है- कोई अनुकूल औषधि। इस प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर भी तो उपरोक्त ही फल निकलेगा।

बस यही है वह सिद्धान्त, जो यहाँ शान्ति प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध में भी लागू करना है। किसी अनुभूत व दृष्ट विषय का विश्लेषण करके एक सिद्धान्त बनाना, तथा उसी जाति के किसी अननुभूत व अदृष्ट विषय पर लागू करके अभीष्ट की सिद्धि कर लेना ही तो वैज्ञानिक मार्ग है-किसी नवीन खोज करने का। शान्ति की नवीन खोज करनी है तो उपरोक्त सिद्धान्त को लागू कीजिये। एक प्रयत्न कीजिये, यदि सफल न हो तो उस प्रयत्न की दिशा घुमा कर देखिये, फिर भी सफलता न मिले तो पुन: कोई और प्रयोग कीजिये, और प्रयोगों को बराबर बदलते जाइये जब तक कि सफल न हो जायें।

४. वर्तमान पुरुषार्थ की असार्थकता

अब प्रश्न होता है यह कि क्या आज तक प्रयत्न नहीं किया ? नहीं ऐसी तो बात नहीं है। प्रयत्न तो किया है, और बराबर करता आ रहा है। प्रयत्न करने में कमी नहीं है। धन उपार्जन करने में, जीवन की आवश्यक वस्तुयें जुटाने में, उन की रक्षा करने में, तथा उनको भोगने में अवश्य तू पुरुषार्थ कर रहा है, और खूब कर रहा है। फिर कमी कहाँ है जो आज तक असफल रहा है-उसकी प्राप्ति में ? कमी है प्रयोग को बदल कर न देखने की। प्रयत्न तो अवश्य करता आ रहा है, पर अव्वल तो आज तक भी कभी तुझे यह विचारने का अवसर ही न मिला, कि तुझे सफलता नहीं मिल रही है, और यह यदि प्रतीति भी हुई, तो प्रयोग बदल कर न देखा। वही पुराना प्रयोग चल रहा है-जो पहले चलता था धन कमाने का, भोगों की उपलब्धि व रक्षा का तथा उन्हें भोगने का। कभी विचारा है यह कि अधिक से अधिक भोगों को प्राप्त करके भी यह ध्वनि शान्त नहीं हो रही है,तो अवश्यमेव मेरी धारणा में--मेरे विश्वास में कहीं भूल है। धन या भोग शान्ति की प्राप्ति का उपाय ही नहीं है। यदि ऐसा होता तो अवश्य ही मैं शान्त हो गया होता। आवाज़ का न दबना ही यह बता रहा है कि मेरा उपाय झूठा है। वास्तव में उपाय कुछ और है, जिसे मैं नहीं जानता। अत: या तो किसी जानकार से पूछ कर, या स्वयं पुरुषार्थ की दिशा घुमा कर देखूं तो सही। इस उपरोक्त प्रयोग को यदि अपनाता, तो अवश्य आज तक वह मार्ग पा लिया होता।

अब सुनने पर तथा अपनी धारणा बदल जाने के कारण, कुछ इच्छा भी प्रगट हुई हो-यदि प्रयत्न बदलने की, तो उससे पहले तुझको यह बात जान लेनी आवश्यक है, कि किस चीज का आविष्कार करने जा रहा है तू ? क्योंकि बिना किसी लक्ष्य के हुये किस ओर लगायेगा पुरुषार्थ को। केवल शान्ति व सुख कह देने से काम नहीं चलता। उस शान्ति या सुख की पहिचान भी होनी चाहिये; ताकि आगे जाकर भूल वश पहले की भान्ति उस दु:ख या अशान्ति को सुख या शान्ति न मान बैठे, और तृप्त बत सा हुआ चलता चला जाये-उसी दिशा में-बिल्कुल असफल व असन्तुष्ट।

५. अशान्ति का कारण इच्छायें

शान्ति की पहिचान भी अनुभव के आधार पर करनी है, किसी की गवाही लेकर नहीं और बड़ी सरल है वह। केवल अन्तरंग के परिणामों का या उस अन्तर ध्वनि का विश्लेषण करके देखना है। असन्तोष में डूबी आज की ध्वनि प्रतिक्षण मांग रही है-सुनने, 'कुछ और। "कुछ और चाहिये। अभी तृप्त नहीं हुआ। अभी कुछ और भी चाहिये" बराबर ऐसी ध्वनि सुनने में आ रही है, वास्तव में इस ध्वनि का नाम ही तो है-अभिलाषा, इच्छा या व्याकुलता, क्योंकि इच्छा की पूर्ति का न होना ही व्याकुलता है। क्या कुछ सन्देह है-इसमें भी ? यदि है तो देख, आज तुझे इच्छा है-अपनी युवती कन्या का जल्दी से जल्दी विवाह करने की, पर योग्य वर न मिलने के कारण कर नहीं पा रहा है। तेरी इच्छा पूरी नहीं हो रही है। बस यही तो है तेरे अन्दर की व्याकुलता, व्यग्रता, अशान्ति या दु:ख।

पुरुषार्थ करके अधिकाधिक कमा डाला, पर उस ध्वनि की ओर उपयोग गया तो, आश्चर्य हुआ यह देख कर, कि जूं जूं धन बढ़ा वह 'कुछ और' की ध्वनि और और बलवान ही होती गई जूं जूं भोग भोगे, भोगों के प्रति की अभिलाषा और और बढ़ती ही गई। क्या कारण है-इसका ? जितनी कुछ भी धनराशि की प्राप्ति हुई थी, उतनी तो इस को कम होना चाहिये था या बढ़ना ? बस सिद्धान्त निकल गया कि इच्छाओं का स्वभाव ही ऐसा है, कि ज्यों ज्यों इसकी मांग पूरी करें त्यों त्यों दबने की बजाय और और बढ़े। इच्छा के बढ़ने में भी सम्भवत: हर्ज न होता, यदि यह सम्भव होता, कि एक दिन जाकर इस इच्छा का अन्त आ जायेगा। क्योंकि इच्छा का अन्त आ जाने पर भी मैं पुरुषार्थ करता रहूंगा--और और धन कमाने का। और एक दिन इतना संचय कर लूंगा, कि उसकी पूर्ति हो जाये। परन्तु विचारने पर यह स्पष्ट प्रतीति में आता है, कि इच्छा का कभी अन्त न होगा । इच्छा असीम है, और इसके सामने पड़ी है तीन लोक की सम्पत्ति सीमित। सम्भवत: इतनी मात्र, कि इच्छा के खड्डे में पड़ी हुई इतनी भी दिखाई न दे, जैसा कि कोई परमाणु। इस पर भी इसको बटवाने वाली इतनी बड़ी जीव राशि ? क्योंकि सब ही को तो इच्छा है-उसकी-तेरी भान्ति। बता क्या सम्भव है ऐसी दशा में-इस इच्छा की पूर्ति ? इसका अनन्तवा अंश भी तो सम्भवत: पूर्ण न हो सके ? फिर कैसे मिलेगी-तुझे-शान्ति-धन प्राप्ति के पुरुषार्थ से ? बस बन गया सिद्धान्त। धन व भोगों की प्राप्ति का नाम सुख व शान्ति नहीं। बल्कि उनका अभाव शान्ति है। और इस लिये धनोपार्जन या भोगों सम्बन्धी पुरुषार्थ, इस दिशा का सच्चा पुरुषार्थ नहीं है।

३
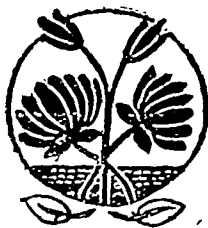
—: शान्ति की पहिचान :—

दिनांक ४ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ५

१—भोगों में शान्ति नहीं अशान्ति है, २—भोग इच्छाओं का मूल, ३—चार कोटि की शान्ति, ४—सच्ची या झूठी शान्ति की पहिचान।

१. भोगों में शान्ति नहीं अशान्ति है

शान्ति की पहिचान की बात चलती है। धनोपार्जन या विषय भोगों में शान्ति नहीं है यह बात कल बताई गई। परन्तु सन्तोष न हुआ-उसे सुनकर। अभी भी अन्तरंग में बैठा कोई अभिप्राय यह कह रहा है, कि भले इच्छा का अन्त न आये, पर भोग आदि के क्षण में तो कुछ सुख प्रतीत होता ही है। फिर सर्वथा उसे दु:ख किस प्रकार कह सकते हैं? ठीक है भाई! प्रश्न सुन्दर है। यह बात ही आज बताई जायेगी, कि वह क्षणिक सुख जो भोग भोगते समय प्रतीत होता है, झूठा है। मेरे कहने मात्र से विश्वास न कर लेना, और किसी के कहने से विश्वास आता भी तो नहीं। हृदय कब मानता है? ले तो इस बात की प्रमाणिकता स्वयं तेरी अन्तरध्वनि से ही सिद्ध करता हूं। सुन।

२. भोग इच्छाओं का मूल

एक बात तो आचुकी, कि ज्यों ज्यों भोगों की प्राप्ति होती है, त्यों त्यों इच्छा बढ़ती है, इसलिये भोगों की प्राप्ति में शान्ति नहीं। दूसरी बात यह है, कि भोग भोगते समय भी तो उसे शान्ति नहीं कह सकते। ज़रा यह तो विचार, कि वह क्षणिक सुखाभास, सुख है कि क्षणिक तीव्र वेदना का प्रतिकार? देख भोग भोगने से पहले ही, उस भोग के प्रति अकस्मात ही कोई तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा तेरी पूर्व वालो इच्छाओं के अतिरिक्त, कोई नवीन ही होती है-किसी तीव्र रोग-वत। भोग द्वारा इस नवीन इच्छा का प्रतिकार मात्र किया गया, जिसके कारण कुछ क्षणों के लिये वह इच्छा दब सी गई। पर यह न विचारा तू ने, कि इसके इस प्रकार दवाने का after effect उत्तर फल क्या हुआ? पूर्व की इच्छा में और वृद्धि। भोग से पहले नवीन तीव्र इच्छा, और भोग के पश्चात पूर्व इच्छा में वृद्धि होते हुये भी, क्या इस भोग को सुख कहा जा सकता है? किसी प्रकार भी इसे सुख कह लिया जा सकता, यदि भोग भोगते समय भी पुरानी इच्छा में कोई क्षणिक कमी आ जाती। उसमें तो उस समय भी कुछ न कुछ वृद्धि ही हुई प्रतीत होती है। भोग भोगते समय जो वह इच्छा प्रतीति में नहीं आती, वह भ्रम है।

देख, कल्पना कर कि तेरे दांतों में दर्द है-बड़ा तीव्र। तड़फ रहा है-तू-उसकी पीड़ा से। इसी हालत में बैठा दिया जाये तुझे - कुछ खड़ी सुइयों पर, तो बता दांत की पीड़ा भासेगी या सुइयों के चुभने की? स्पष्ट है कि उस समय दांत की पीड़ा तेरे उपयोग में ही न आ सकेगी। क्या पीड़ा चली गई? नहीं, ज्यों की त्यों है। अब उठा लिया गया उन सुइयों पर से। तब कुछ सुख सा लगा, या दु:ख? स्पष्ट

है कि कुछ सुख सा महसूस होगा। क्योंकि सुइयों की तीव्र पीड़ा जिसने दांत की पीड़ा को ढक दिया था, अब दूर हो गई है। वता तो सही, कि क्या दान्त की पीड़ा में कुछ कमी पड़ी ? नहीं ज्यों की त्यों है। वल्कि सुइयों पर से उठने के पश्चात, अवशेष रही सुइयां चुभने की कुछ पीड़ा वढ़ गई है-इसमें। और कुछ देर के पश्चात-वही दान्त की पीड़ा, वही तड़पन। साथ साथ सुइयों की थोड़ी सी पीड़ा भी।

वस इसी प्रकार भोग भोगते हुये समझना। भोग की तीव्र अभिलाषा कुछ देर के लिये, पहले की इच्छा पर हावी होकर उसे उपयोग में आने से अवश्य रोक लेती है, पर उसका अभाव नहीं कर देती। भोग भोगते समय इस नवीन तीव्र इच्छा का कुछ प्रतिकार हो जाने के कारण, उपयोग में आई वह इच्छा दवी सी अवश्य प्रतीत होती है। पर पूर्व इच्छा में अव भी कोई कमी नहीं आती, वल्कि इस नवीन इच्छा के प्रतिकार के उत्तर फल रूप से उसमें वृद्धि अवश्य हो जाती है। जैसेकि मियादी बुखार को औषधि के द्वारा दवा देने पर, दिल की कमजोरी आदि कई नवीन रोग उत्पन्न हो जाने पर भी रोगी अपने को अच्छा हुआ मान लेता है। यह उसका भ्रम नहीं तो क्या है ?

३. चार कोटि की शान्ति — लोक में अनुभव की जाने वाली शान्तियें कई प्रकार की होती हैं। उनके कुछ भेदों को दर्शा देना यहाँ आवश्यक है। क्योंकि उनको जाने विना सच्ची व झूठी शान्ति में विवेक न किया जा सकेगा, और उसके अभाव में अपने पुरुषार्थ की दिशा की भी ठीक प्रकार से परीक्षा न की जा सकेगी। क्योंकि वास्तव में मार्ग की परीक्षा का आधार आगम नहीं, वल्कि शान्ति का अनुभव है।

शान्तियों को मुख्यत: चार कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। जो उत्तरोत्तर कुछ अधिक अधिक निर्मलता व सन्तोष लिये हुए है। एक शान्ति तो वही है जो ऊपर दर्शा दी गई है। अर्थात भोग की नवीन तीव्र इच्छा के किञ्चित प्रतिकार से, क्षण भर के लिये प्रतीति में आने वाली, इन्द्रिय भोगों सम्वन्धी। दूसरी शान्ति, जो इससे कुछ ऊंची है, वह प्राय: अपने कर्तव्य की पूर्ति हो जाने पर कदाचित अनुभव करने में आती है भोगों से निर्पेक्ष होने के कारण वह कुछ पहली की अपेक्षा अधिक निर्मल है।

दृष्टांत द्वारा इसका अनुमान किया जा सकता है। कल्पना कीजिये कि आपकी कन्या की शादी है। नाता करने के दिन से ही आपकी चिन्तायें, सामानादि जुटाने के सम्वन्ध में, वरावर वढ़ रही हैं, यहां तक कि उस दिन, जिस दिन कि वारात घर पर आई हुई है आप पागल से वन गये हैं। न आपको चिन्ता नहाने की है न खाने की। आपको यह भी याद नहीं कि आज कमीज ही नहीं है- वदन में। वौखलाये हुए से, सवकी कुछ कुछ वातें सुनने पर भी, किसी को कुछ उत्तर नहीं दे सकते। "मैं कुछ नहीं जानता भई। तुम करलो जो चाहो" वस होता था एक वाक्य, जो कभी कभी निकल जाता था-मुंह से। वारात विदा हुई। डोला आंखों से ओझल हुआ। घर को लौटे, और वैठ गये अपने घर के चवूतरे पर दो मिनट को-एक कुछ सन्तोष की ठण्डी सी साँस लेते। आ हा हा ! अव कुछ वोझ हल्का हुआ। मानो किसी ने मनों की गठड़ी सर से उतार ली हो। भले ही अगले मिनट में अन्य अनेकों चिन्तायें आकर घेर लें, पर उस क्षण में तो कोई हल्कापन सा, कुछ शान्ति सी, अवश्य प्रतीति में आई, जिसका सम्वन्ध न खाने से था, न वन की उपज से। न अन्य किसी भोग विलास से। फिर भी यह शान्ति क्यों ? केवल इसलिये कि गृहस्थि के कर्तव्य का एक भार था, जो आज हल्का हो गया।

तीसरी शान्ति है वह, जो प्राणियों को निःस्वार्थ सेवा से उत्पन्न होती है। यह उसकी अपेक्षा कुछ और ऊंची है। क्योंकि इसमें न है भोग विलास, और न ही गृहस्थ सम्बन्धी कोई कर्तव्य। इस शान्ति का कारण भी यद्यपि कर्तव्य परायणता ही है, पर यहाँ कर्तव्य केवल ५ व्यक्तियों के संकुचित कुटुम्ब सम्बन्धी न होकर, समस्त विश्व के प्रति है। दृष्टि में विशालता है, और अपने कर्तव्य के अतिरिक्त कोई लौकिक आकांक्षा या अभिलाषा नहीं है। अतः यह शान्ति बहुत अधिक निर्मल है। इस अत्यन्त निर्मलता का कारण है, उसकी सर्व प्राणियों पर साम्यता व निराभिलाषता। और चौथी शान्ति है वह जिसके प्रति कि संकेत मात्र किया जा सकता है, परन्तु जो आज तक आपके जीवन में प्रगट नहीं हो पाई है। अतः इसके लिये कोई दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। वह अकथनीय है। केवल अनुभवनीय है। इतना मात्र अवश्य अनुमान कराया जा सकता है इसके सम्बन्ध में कि तीसरी कोटि से भी अनन्त गुणी है इसकी निर्मलता। और उसका कारण भी है उसकी अपेक्षा अनन्त गुणी साम्यता व निरभिलाषता।

४. सच्ची व झूठी शान्ति की पहिचान

तीन प्रकार की शान्तियों पर से विश्लेषण कर लेने पर, हम शान्ति की यथार्थता व निर्मलता सम्बन्धी एक सिद्धान्त बना सकते हैं "शान्ति वहां है जहां अभिलाषा न रहे शान्ति वहां है जहां सर्व के प्रति साम्यता हो, शान्ति वहां जहां दृष्टि में व्यापकता हो, शान्ति वहां है, जहां कोई लौकिक स्वार्थ न हो। इसके अतिरिक्त एक पांचवी बात और भी है, जो इन तीनों में तो नहीं पर उस चौथी शान्ति में पाई जाती है। वही चिन्ह वास्तव में, उसमें और इस तीसरी में भेद दर्शाता है। और वह है, सर्व लोकाभिलाषा का सर्वथा प्रशमन। एक मात्र उसी शान्ति के प्रति का बहुमान। जहाँ अन्तर में उठने वाली, "कुछ और" की ध्वनि सिमट कर-रूप धर ले-'बस यही' का। "बस यही चाहिए मुझे कुछ और नहीं। तीन लोक की सम्पत्ति भी धूल है-इसके सामने।" ऐसा भाव जहां उत्पन्न हो जाये, वह है चौथी शान्ति। इस चिन्ह का न पाया जाना, इस बात का द्योतक है, कि इसमें कहीं न कहीं छिपी पड़ी है-कोई अभिलाषा और जहां अभिलाषा का कण मात्र भी शेष है, वहां निरभिलाषता का लक्षण घटा नहीं कहा जा सकता।

इन चारों में से प्रथम तो बिल्कुल झूठी है, क्योंकि वह तो शान्ति का भ्रम रूप है, जैसा कि दर्शाया जा चुका है। दूसरी भी झूठी है। क्योंकि यद्यपि निरभिलाषता का लक्षण यहां घटित होता है, परन्तु साम्यता, दृष्टि की व्यापकता, निःस्वार्थता, व 'बस यही' की ध्वनि वाले लक्षण यहां घटित नहीं होते। तीसरी शान्ति भी यद्यपि बहुत निर्मल है, परन्तु झूठी है। क्योंकि सर्व लक्षण घटित होते हुये भी "बस यही" का लक्षण यहाँ घटित नहीं होता। चौथी शान्ति से अनभिज्ञ व्यक्ति, यदि बहुत ऊंचे भी बढ़ेगा, तो इस तीसरी शान्ति पर आकर अटक जायेगा, और इसी को सच्ची मान कर, इसके प्रति अपने पुरुषार्थ की सार्थकता समझने लगेगा। चौथी शान्ति का, वह न प्रयत्न करेगा, और न उसे मिलेगी। बस तेरे मार्ग में यह बाधा न उत्पन्न होने पावे, इसलिये सावधान कराया जा रहा है-पहले ही पग में। तीसरी शान्ति में यद्यपि स्थूलतः कोई अभिलाषा देखने में नहीं आ रही है, परन्तू 'बस यही' के लक्षण का अभाव, उसमें सूक्ष्म रूप से छिपी, अपनी शान्ति के अतिरिक्त, किसी अन्य इच्छा को दर्शा रहा है।

बस जिस उपाय से यह चौथी शान्ति प्रगट हो सके, उसे ही धर्म समझे, क्योंकि वही मेरा अभिप्रेत व लक्ष्य है। वही मेरी अन्तरध्वनि की मांग है, जिसकी परीक्षा 'बस यही' वाले लक्षण से की जा सकती है। 'बस यही' के बिना मांग की पूर्ति नहीं कही जा सकती, और इसी कारण तीसरी शान्ति इस मांग को पूरा करने में असमर्थ है।

४

—: धर्म का स्वरूप :—

दिनांक ५ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ६

१—सच्चा धर्म सुनने की प्रेरणा, २—धर्म के अनेकों झूठे व सच्चे लक्षण तथा उनका समन्वय

१ सच्चा धर्म सुनने की प्रेरणा

अहो ! शान्त मूर्ति वीतराग जनों की निःस्वार्थता, कि इतने बड़े उद्यम से, बड़े से बड़े कष्ट सह कर, अपने जीवनों की प्रयोगशालाओं में अनुभव प्राप्त करके, महान वस्तु शान्ति आज बाँट रहे हैं-वह, निःशुल्क, मुफ्त। जो चाहे वे लो। मनुष्यों को ही दे, यह बात नहीं, तिर्यञ्चों को भी। राजा हो चाहे रंक, सत्ताधारी हो चाहे फकीर, स्त्री हो कि पुरुष, वाल हो कि वृद्ध, पतित समझे जाने वाले वह व्यक्ति हों जिनको कि आज शुद्र कहा जा रहा है या हो कोई तिलकधारी ब्राह्मण, सब उनकी दृष्टि में एक हैं। सबको अधिकार है- उसे लेने का। उदारता-महान उदारता। परन्तु खेद है कि फिर भी मैं हाथ खेंच लूं उससे- कुछ बेकार की वस्तु समझ कर ? ऐसा न कर प्रभु ! हाथ बढ़ा। तू भी इन गुरुओं के प्रसाद से वंचित न रह। तेरे ही हित की बात है। बहुत स्वाद लगेगी तुझे। विश्वास कर, कि एक बार चखने के पश्चात, पूरी की पूरी खाकर पेट भरे बिना छोड़ेगा नहीं। तू कृत कृत्य हो जायेगा। भव भव की इच्छा तुझे छोड़ कर भाग जायेंगी। और निरभिलाप स्वयं तू बन जायेगा-पूर्ण शान्त व सन्तुष्ट, पूर्ण प्रभु। एक बार थोड़ी सी अवश्य चख ले, मेरे कहने से चख ले। बहुत स्वाद है यह। मैंने स्वयं इसे चखा है, विश्वास कर। और फिर तुझसे कुछ ले तो नहीं रहे हैं।। कुछ न कुछ दे ही रहे हैं। अच्छा न लगेगा तो छोड़ देना। पर एक बार लेकर देख तो सही।

धर्म बेकार की वस्तु नहीं, बल्कि वह महान वस्तु है, जो मुझे मेरा सबसे बड़ा अभीष्ट-वह जिसके लिए कि मैं, न मालुम कब से, असफल पुरुपार्थ करता आ रहा हूं। अथात शान्ति प्रदान करता है। इच्छाओं को परास्त करता है। वैसे तो पूर्व में कहे अनुसार आज कौन व्यक्ति है, जो धर्म के सम्बन्ध में कुछ न कुछ अपनी टाँग न अड़ाता हो। अपनी रुचि व कल्पनाओं के आधार पर कुछ न कुछ मनघड़न्त व कपोल कल्पित धर्म का स्वरूप न बता रहा हो- बिना इस बात का निश्चय किये, कि मैं क्या कहे जा रहा हुं। परन्तु यहां जो बात इसके सम्बन्ध में बताई जायेगी, वह कपोल कल्पित न होगी। वह, वह होगी-जिसका कि आविष्कार योगीजनों ने किया है-अनुभव के द्वारा-स्वयं अपने जीवन में उतार कर। वह बात वह है, जिसकी एक धीमी सी रेखा का, आज इस निकृष्ट युग में भी, मैं स्वयं साक्षात्कार कर रहा हूं।

वह वात वह है, जिसका आधार कल्पना नहीं, युक्ति है, कल्याण है, जिसका मूल शान्ति है, जिसकी कसौटी शान्ति है, जिसकी परीक्षा का आधार अनुभव है, साम्प्रदायिकता या पक्षपात नहीं।

माना कि आज लोक के कौने कौने से धर्म का वाना पहन कर, वरसाती मैंडकों की भान्ति, निकल पड़ने वाले, वक्ताओं की, अनेकों परस्पर विरोधी वातें, सुन सुन कर, एक झुंझलाहट सी उत्पन्न हो चुकी है-तेरे अन्दर। एक अविश्वास सा उत्पन्न हो चुका है- तेरे अन्दर-धर्म के प्रति। परन्तु एक वार और सही। यह वात अवश्य सुन। सब झुंझलाहट, सव अविश्वास दूर हो जायेगा। समझ में न आये, ऐसी भी वात नहीं है। बड़ी सरल वात है। तेरे अपने जीवन पर से गुजरी हुई। तेरी आप वीती। क्यों समझ में न आयेगी। डर मत ! इधर आ एक वार, केवल एक वार।

२ धर्म के अनेकों सच्चे व झूठे लक्षण व समन्वय

धर्म के अनेकों लक्षण सुनने में आ रहे हैं, पर किसी न किसी प्रकार प्रत्येक में कुछ न कुछ स्वार्थ छिपा पड़ा है-उन वक्ताओं का। अतः परीक्षा करके तू स्वयं पहिचान सकता है-उनकी असत्यार्थता। कोई, जिसे रोटी खाने को नहीं मिलती, कहता है कि भूखों को भोजन बांटना धर्म है। कोई, जिसे ख्याति की भावना है, कह रहा है कि ब्राह्मणों की सेवा करना धर्म है। कोई, जिसे पैसे की भूख लगी है, कह रहा है कि दिवाली पर जुआ खेलना धर्म है। कोई, जिसे माँस की चाट पड़ी है, कह रहा है कि देवता पर वकरे की वली चढ़ाना धर्म है। कोई, जिसे स्वयं धनिकजनों से द्वेष है, कह रहा है कि इनका धन छीन लिया जाना धर्म है। कोई, जिसे भोगों की अभिलाषा है, कह रहा है कि धर्म कर्म कुछ नहीं, खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ, यही धर्म है। कोई, जो उपाय हीन है, कह रहा है कि भगवान को भोग लगाना धर्म है। कोई, जिसमें द्वेष की अग्नि अधिक है, कह रहा है कि शास्त्रार्थ करना धर्म है। कोई, जिसे धन की हाय लगी है, कहता है कि भगवान को रिश्वत देना, अर्थात वोलत कवूलत करना धर्म है। यहां तक कि सन ४७ के हत्याकाण्ड में हिन्दुओं के द्वारा मुसलमानों का और मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं का क्रूरता से रक्त वहाया जाना भी धर्म था। चोरों तक का कोई न कोई धर्म है। फलितार्थ-जितने मुँह उतनी वातें। जितनी जाति की रुचि, उतनी जाति के धर्म। इस जाति के लक्षणों की असत्यार्थता तो स्पष्ट ही है, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि इसमें तो स्वार्थ का ही नग्न नृत्य दिखाई दे रहा है। इन सव लक्षणों में है प्रथम कोटि की शान्ति की अभिलाषा।

इनके अतिरिक्त भी धर्म के अनेकों लक्षण हैं। जो ज्ञानी जनों ने भिन्न-भिन्न अभिप्रायों को दृष्टि में रखते हुये किये हैं। उदाहरण के रूप में, दया धर्म का मूल है ; अहिंसा परम धर्म है ; निःस्वार्थ सेवा धर्म है; परोपकार धर्म है; दान या त्याग धर्म है, श्रद्धा ज्ञान व चारित्र धर्म है; तथा अन्य अनेकों। इन सव तथा अन्य अनेकों लक्षणों पर विशेष दृष्टि डालने से, बहुत से लक्षण, कुछ एकार्थ वाचक से दिखाई देते हैं। जैसे दया, अहिंसा, सेवा व परोपकार एकार्थ वाचक से हैं ? इन सब लक्षणों को यदि संकुचित करके देखे तो मुख्यतः तीन रूप में देख पाते हैं दया (अहिंसा), दान, दमन (त्याग). यह तीनों भी गर्भित किये जा सकते हैं एक चारित्र में, अर्थात जीवन चर्या में। और इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र वाला लक्षण कुछ व्यापक सा दिखाई देने लगता है। इन सब ही लक्षणों का विशेष विस्तार तो आगे आगे के प्रकरणों में आयेगा। यहां तो केवल इनकी सत्यार्थता व असत्यार्थता का विचार करना है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, धर्म का फल चौथी कोटि की शान्ति होना चाहिये। यही कसौटी है; धर्म के किसी भी लक्षण की सत्यार्थता व असत्यार्थता का निर्णय करने की। अतः उपरोक्त तथा अन्य भी, जिन क्रियाओं के करने से, मुझे आँशिक रूप से भी, 'बस यही' वाली शान्ति का, कुछ वेदन अन्तर में होता हुआ प्रतीत होता हो, वह वह सब क्रियायें सत्यार्थ धर्म कहला सकती हैं। उसके अभाव में सब वही क्रियायें असत्यार्थ हैं। क्योंकि यह सभी क्रियायें दो ढंग की होती हैं। एक उस शान्ति के साथ साथ चलने वाली, और एक उस शान्ति से निर्पेक्ष, किसी भावुकता या साम्प्रदायिकता वश चलने वाली। इसीलिये तुझे अभी से इन दोनों सम्बन्धी विवेक जागृत करके, अपने को सावधान कर लेना चाहिये। ताकि आगे आगे के कथन क्रम में आने वाली, अथवा लोक में यत्र तत्र दीखने वाली, उन्हीं, या उस ही जाति की, किन्हीं क्रियाओं में तुझे धर्म सम्बन्धी भ्रम न हो जाये। और तेरा पुरुपार्थ फिर निस्फलता की दिशा में प्रवाहित न होने लग जाये।

इतने ही नहीं, कुछ और भी लक्षण ज्ञानी जनों ने किये हैं, जो बहुत अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। उन में से दो मुख्य हैं।

(१) 'वस्तु का स्वभाव धर्म कहलाता है।'

(२) 'जो जीव को संसार के दुःख से उठा कर उत्तम सुख में धर दे सो धर्म है।' यह दोनों ही लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट हैं। क्योंकि दोनों शान्ति की ओर संकेत कर रहे हैं। पहले लक्षण को यद्यपि जीव के अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर भी लागू किया जा सकता है, जैसे कि जल का स्वभाव शीतल होने से शीतलता जल का धर्म है, और अग्नि का स्वभाव उष्णता होने से उष्णता अग्नि का धर्म है, इत्यादि। परन्तु यहाँ जीव के धर्म का प्रकरण है। अतः लक्षण में कहे गये 'वस्तु' शब्द का अर्थ प्रकरण वश यहाँ जीव ग्रहण करना चाहिये। जीव का स्वभाव चिदानन्द अर्थात ज्ञान व शान्ति होने से, शान्ति पना जीव का धर्म है। दूसरा लक्षण स्पष्टतः ही उत्तम सुख अर्थात शान्ति प्राप्ति के उपाय को धर्म बता रहा है। अल्पज्ञों के लिए धर्म के यह दो लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट और आकर्पक हैं।

ऊपर बताये गये दयादि से इस सुख पर्यन्त के अनेकों लक्षणों को सुन कर, उलझने की आवश्यकता नहीं। इन में से कौन से लक्षण को सत्य मानूं, इस संशय को अवकाश नहीं। क्योंकि जैसा कि दयादि लक्षणों की सत्यार्थता व असत्यार्थता बताते हुये समझा दिया गया है, यदि वे दयादि लक्षण अन्तरंग शान्ति सापेक्ष हैं, तो ये सर्व ही इस एक शान्ति वाले जीव स्वभाव में गर्भित हो जाते हैं। किस प्रकार सो देखिये—

श्रद्धा ज्ञान व आचरण का अर्थ है-शान्ति के प्रति अत्यन्त रुचि-प्रतीति व बहुमान, शान्ति के सच्चे स्वरूप का भान, तथा जीवन में कुछ इस प्रकार के कार्य करना, कि आंशिक रूप से आपको शान्ति का वेदन होता रहे। अहिंसा या इसमें गर्भित होने वाले अन्य दयादि लक्षणों का अर्थ है, अपनी शान्ति के वेदन से प्रगटे, उसके बहुमान वश, दूसरे जीवों को भी शान्त देखने की इच्छा। फल स्वरूप, उनको स्वयं दुखी करने या पीड़ा देने से दूर रहना, अथवा किसी दूसरे से पीड़ित हुआ देख

कर, उनके कष्ट को जिस किस प्रकार भी दूर करके उन्हें पुनः शान्ति प्रदान करना। तथा त्याग या दमन का अर्थ है-प्रत्येक उन वस्तुओं तथा कार्यों का त्याग करना, जिसके द्वारा विकल्पोत्पादक, अशान्ति व व्याकुलता की जननी, अभिलाषा में वृद्धि होने की सम्भावना हो। अतः वे सर्व ही लक्षण एक शान्ति की सिद्धि के लिये हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि पहले दयादि लक्षण चारित्र या पुरुषार्थ को आश्रय करके लिखे गये हैं, स्वभाव लक्षण श्रद्धा व ज्ञान को आश्रय करके लिखा गया है, तथा सुख में धरने वाला लक्षण उपरोक्त क्रियाओं के फल को दृष्टि में रख कर किया गया है।

इस प्रकार धर्म की आवश्यकता तथा सत्यार्थ शान्ति व धर्म की पहिचान जान लेने के पश्चात अब उस धर्म की सीद्धि के उपाय या क्रम की बात चलती है। सो कल से प्रारम्भ होगी।

५

—: धर्म का प्रारम्भिक क्रम :—

दिनांक ६ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ७

१—अन्तरध्वनि व संस्कार मित्र व शत्रु के रूप में

१ अन्तरध्वनि व संस्कार मित्र व शत्रु के रूप में

अनादि काल से आज तक के इतने लम्बे जीवन में पहिला अवसर है, जब कि मैं धर्म प्रारम्भ करने चला हूँ। नव जात शिशु चलना प्रारम्भ करने का प्रयास करता है। आज अत्यन्त सौभाग्य का दिन है। प्रभु की शरण में आना ही शुभ चिन्ह है। इससे उत्तम शुभ मुहूर्त और कौन सा हो सकता है ? मुझे आशीर्वाद दीजिये गुरुवर। वह क्या आधार है, जिस को पकड़ कर मुझे अपने डिगमगाते हुये पग इस धर्म मार्ग पर रखने होंगे ? बच्चे को गडीलना दिया जाता है। मुझे किस का सहारा लेना होगा गुरुवर ! क्या आपका सहारा पर्याप्त है ? नहीं, मेरा सहारा तुझे अधिक लाभ नहीं पहुंचा सकता। मेरा सहारा तो केवल इतना ही है, कि मैं किन्हीं दिशा विशेष की ओर संकेत करके आगे आने वाली ठोकरों से तुझे सावधान कर दूं। पर चलना तो तुझे होगा-अपना सहारा लेकर। अर्थात अन्तरध्वनि का सहारा लेकर। मैं तो केवल उस अन्तरध्वनि को पढ़ने का उपाय तुझे दर्शा सकता हूँ, पर उसे तेरे अन्दर उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः उस अन्तरध्वनि की मेरे कहे अनुसार पहिचान कर। वही तेरे मार्ग का सब से बड़ा साथी होगा। पद पद पर वही तेरी रक्षा करेगा।

देख ! क्या कोई भी बुरा काम करके तेरा अन्तष्करण स्वयं तुझे धिक्कारता हुआ प्रतीत नहीं होता ? तो सुन। कौन शक्ति है, जो उस बालक को, अपने साथी की पुस्तक चुराते हुए, कम्पा देती है ? किसकी प्रेरणा से वह इधर उधर ताकने लगता है ? पुस्तक उठाता और सीधा चल देता घर। वहाँ कौन था, उसे रोकने वाला ? किसी व्यक्ति की चुगली कर देने के पश्चात तू क्यों उस व्यक्ति से आंख नहीं मिला सकता ? कौन शक्ति है, जो तुझे उस व्यक्ति से आंख चुराने के लिये मजबूर करती है ? नदी में डूबते हुए किसी अपरिचित बालक को नदी से निकाल कर, तू क्यों पुलकित सा हो जाता है ? उसको साथ लेकर उसके घर तक जाते हुए, क्यों तुझे कुछ गर्व सा प्रतीत होता है ? भूखा होते हुए भी, किसी दूसरे के हाथ से रोटी क्यों नहीं उठा लेता है तू ? कौन है वह शक्ति जिसकी प्रेरणा से तू शुभ कार्यों को करते हुए हर्षित होता है, और अशुभ कार्यों को करते हुए डरता है ? बाहर में तो कोई भी तुझे रोकता नहीं, या करने के लिये कहता नहीं।

बस इसी तेरे अन्तष्करण की शक्ति विशेष को, यहाँ अन्तरध्वनि शब्द का वाच्य बनाया जा रहा है। सर्व जीवों की यह कोई स्वाभाविक ध्वनि है, जो अन्तर में छिपी, स्वतः एवं, बिना पूछे,

अशुभ कार्य करने का निषेध, व शुभ कार्य करने की प्रेरणा देती रहती है। इसके सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह सर्व परिचित है। इतनी बात अवश्य है, किन्हीं व्यक्तियों में, किन्हीं कार्य विशेषों के लिये यह बड़ी ज़ोर से पुकारा करती है, और किन्हीं व्यक्तियों में, किन्हीं कार्य विशेषों के लिए इसकी आवाज़ बहुत धीमी होती है। सम्भवतः इतनी धीमी कि वह स्वयं भी उसे सुनने न पाये। आज का एक डाकू, चोरी करने का निषेध करती हुई, उस अन्तरध्वनि को सुन नहीं पाता, परन्तु वही उस काम को करने के प्रारम्भिक दिवस में, बहुत ज़ोर से सुन रहा था उसे। इतने पर से यह नहीं कहा जा सकता, कि आज उसकी अन्तरध्वनि सर्वथा मर चुकी है, अचेत हो गई है, यह भले कहो। क्योंकि आज भी अपने सहायक डाकुओं की सम्पत्ति पर हाथ डालने का साहस उसे नहीं है? आज के युग का एक विशेष आविष्कार, उसके हृदय में दबी हुई उस अन्तरध्वनि की उस तेज हीन कणिका के अस्तित्व को दर्शा रहा है? भारत में न सही पर इङ्गलैंड की न्याय शालाओं में यह यंत्र काम में आ रहा है। कितना भी बड़े से बड़ा व सिद्धहस्त दोषी भी, इस यन्त्र पर हाथ रख कर, अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करे, तो इस यंत्र को धोखा नहीं दे सकता। उसकी काँपती हुई सूई यह बता ही देती है, कि अब तक भी इसके हृदय में अपने दोष के प्रति कुछ कम्पन पड़ा हुआ है, जो इसको बराबर धिक्कार रहा है। यह भले उसको सुनने न पावे, पर इस यंत्र को वह स्पष्ट सुनाई दे रही है।

इस वक्तव्य व दृष्टान्त में से एक बहुत बड़ा सिद्धान्त निकल रहा है। प्रत्येक प्राणी के अन्तष्करण में एक स्वाभाविक अन्तरध्वनि प्रति क्षण उठती रहती है। यह ध्वनि सदा उसे दोषों से हटने का उपदेश देती है। दोष हो जाने पर उसे धिक्कारती है। कुछ भले कार्य करने के लिए उसे उत्साहित करती है, और ऐसा कोई कार्य हो जाने पर उसकी प्रशंसा करती है, कमर थपथपाती है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में इसकी आवाज़ ऊंची होती है। पर ज्यों ज्यों उस कार्य विशेष में अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों त्यों वह आवाज़ धीमी पड़ती जाती है, और एक दिन कुछ अचेत सी होकर पड़ रहती है। आवाज़ के दबने का कारण है-उसकी अवहेलना। पुनः पुनः सचेत करती हुई, उस आवाज को सुनते हुए भी, जब मैं उसकी परवाह किये बिना, कुछ अपनी मन मानी ही करता हूँ, तो एक प्रकार से उसकी अवहेलना ही करता हूँ, उसका अपमान करता हूँ, उसको ठुकरा देता हूं, और यदि मैं बराबर ही उसका अपमान करता चला जाऊं, तो कहाँ तक और कब तक दे सकेगी वह मेरा साथ? आखिर धीमी पड़ते २ अचेत हो जायेगी। इतना सौभाग्य अवश्य है कि वह अमर है? अवसर पाने पर पुनः सचेत होकर मुझे झंझोड़ डालती है, और मैं सावधान होकर अपने पहले कृत्य पर पश्चाताप करने लगता हूं। इस अन्तर-ध्वनि को अंग्रेज़ी में 'कान्शस' कहते हैं। यह सदा प्राणी को हित की ओर ले जाने तथा अहित से हटाने का ही प्रयत्न किया करती है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी शक्ति भी है, जिसे मैं संस्कार शब्द से पुकारता हूँ। यह उस उपरोक्त अन्तरध्वनि का शत्रु है। इसकी आवाज़ सदा उसके विरोध में उठा करती है? वह जिधर ले जाना चाहे, यह संस्कार उससे विपरीत दिशा में ही खेंचने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक प्राणी के यह संस्कार, उसके द्वारा ही, स्वयं आगे पीछे बनाये जाते हैं। जिस प्रकार बचपन से धीरे धीरे चोरी का अभ्यास करते हुए, आज वह डाकू बन गया है। जिस चोरी को करते हुए पहले वह डरता था, वही आज उसके लिये खेल है। कम्पन के साथ प्रारम्भ किया जाने वाला वह कार्य, आज उसकी प्रकृति बन चुका है। एक संस्कार बन चुका है। अंग्रेजी में इसी का नाम Instinct 'इन्स्टिंक्ट' है। क्योंकि इसका

प्रारम्भ अन्तरध्वनि की अवहेलना पूर्वक होता है, इसलिये यह उसका शत्रु बन कर ही रहता है। उसकी अवहेलना करने के लिये मुझे उकसाता रहता है। इसकी शक्ति यहां तक बढ़ जाती है, कि फिर मैं अन्तर-ध्वनि को सुनना भी पसन्द नहीं करता।

यह दो शक्तियाँ प्रत्येक प्राणी में पाई जा रही हैं। इनमें से एक शान्ति पथ प्रदर्शक है, और एक इच्छा व चिन्ता पथ प्रदर्शक। एक स्वाभाविक है और दूसरी कृत्रिम। एक अमर है और एक विनाशीक। क्योंकि प्राणियों के यह संस्कार तो बदलते हुये देखे जाते हैं, पर अन्तरध्वनि नहीं। बस यही वह सहायक साथी है, जो सदा तेरा साथ देगा, इसका आश्रय लेकर चलना। आज तक संस्कार का साथ लेता, और अन्तरध्वनि की अवहेलना करता चला आया है? इसी कारण दु:खी व अशान्त बना हुआ है। अब औषधि बदल देनी होगी। क्रम को उल्टा कर देना होगा। अन्तरध्वनि का आश्रय लेकर, व संस्कार की अवहेलना करके चलना होगा, इसके विरुद्ध सत्याग्रह करना होगा। जो यह कहे उसे स्वीकार न करना होगा, चाहे कितने भी कष्ट क्यों न उठाने पड़ें। और इस प्रकार अवहेलना को सहन करने में असमर्थ, यह संस्कार तेरा देश छोड़ कर सदा के लिये विदा ले जायेंगे। रह जायेगी वह अमर अन्तरध्वनि अकेली, जिसके साथ शान्ति पथ पर ही चलता रहेगा-तू। विचलित न होने पायेगा।

परन्तु उस अन्तरध्वनि को सुन कर उसका ठीक ठीक अर्थ लगाना प्रत्येक का काम नहीं। उसके लिये कुछ विवेक चाहिये, जिसके बिना कि अन्तरध्वनि व संस्कार इन दोनों की आवाज़ों व प्रेरणाओं में ठीक ठीक भेद नहीं हो पाता। कभी कभी उनका अर्थ ठीक भी लगा लेता है और कभी कभी गलती भी खा जाता है। अर्थात अन्तरध्वनि की आवाज़ को मान बैठता है संस्कार की, और संस्कार की आवाज़ को मान बैठता है अन्तरध्वनि की। कभी कभी ठीक ठीक जान जाने पर भी संस्कार के प्राबल्य के कारण अन्तरध्वनि का अर्थ जबरदस्ती घुमा डालता है। और इस प्रकार सर्वदा हित से वंचित रहा है। इस विवेक को उत्पन्न करने के लिये, कुछ विशेष सामग्री चाहिये। वह ही बड़े विस्तार के साथ अगले प्रकरणों में चलेगी। ज़रा धीरज धर कर ध्यान पूर्वक सुनना। सम्भवत: कई महीने तक बराबर सुनना पड़े। ऊब कर बीच में न छोड़ देना। नहीं तो इधर के रहोगे न उधर के।
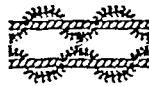
III श्रद्धा

६

-: लक्ष्य बिन्दु :-

दिनांक ७ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ८

१—मार्ग की त्रयात्मकता, २—लक्ष्य बिन्दु की महत्ता व सार्थकता

१ मार्ग की त्रयात्मकता — स्वतंत्र रीति से शान्ति की खोज करने की वात है। सहायता लेनी है अन्तरध्वनि की। बचना है-संस्कार से। इन दोनों विरोधी बातों में, विवेक उत्पन्न करने के लिये, कुछ विशेष बातें चलनी हैं-अब। अर्थात मूल विषय शान्ति पथ या धर्म का स्वरूप।

किसी भी कार्य में प्रवृति करने के क्रम का यदि विश्लेपण करने वैठते है, तो उसे त्रयात्मक पाते हैं। अर्थात तीन मुख्य बातों का एक पिंड रूप ही वह प्रवृति होती है। वे तीन अंश हैं श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र। देखिये डाक्टरी के कार्य में प्रवृति का विश्लेपण करके। 'मुझे डाक्टर बनना है,' ऐसा लक्ष्य बिन्दु, अर्थात "मेरे लिये यही हितकर है और कुछ नहीं", ऐसी दृढ़ श्रद्धा व रुचि, रोग निदान-रोग का कारण-तथा रोग की औषधि सम्बन्धी ज्ञान, तथा दुकान पर वैठ कर रोगियों पर उस ज्ञान का प्रयोग रूप चारित्र। यही तो है डाक्टर की प्रवृति। यदि एक अंग की भी कमी हो, तो विचारिये कि क्या उसका डाक्टरी कर सकना सम्भव है? लक्ष्य बिन्दु यदि फोटोग्राफर बनने का हो, या फोटोग्राफरी को ही अपने लिये हितकर समझता हो, और उसी की रुचि रखता हो, तो क्या सम्भव है कि वह डाक्टरी करे? भले ही डाक्टरी का ज्ञान भी क्यों न हो? और यदि लक्ष्य में तो डाक्टरी करना हो, तथा उसको हितकर मान कर उसमें रुचि रखता हो, पर तत्सम्बन्धी ज्ञान न हो, तो क्या चित्त मसोस कर ही न रह जायेगा? और यदि लक्ष्य व रुचि भी हो, और डाक्टरी का ज्ञान भी हो, पर दुकान पर बैठे नहीं, या बैठ कर रोगियों को देखे नहीं, और पढ़ा करे नाविल, तो क्या डाक्टरी कर सकेगा? इसी प्रकार जौहरी की, बजाज की या किसी और की प्रवृति का भी विश्लेषण करके यही फलितार्थ निकलेगा। प्रत्येक प्रवृति त्रयात्मक ही होगी।

२ लक्ष्य बिन्दु की महत्ता व सार्थकता — बस इसी प्रकार शान्ति पथ पर चलने की प्रवृति भी त्रयात्मक ही है। शान्ति का लक्ष्य बिन्दु, अर्थात इस ही को हितकर मान कर, अन्तरंग से इसकी रुचि व श्रद्धा, शान्ति सम्बन्धी ज्ञान, तथा उन क्रिया विशेषों में प्रवृति, जिनके करने पर कि उस शान्ति का अनुभव हो, ऐसा चारित्र। इन श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र के सच्चे झूठेपने की परीक्षा लक्ष्य बिंदु से होती है। डाक्टरी का लक्ष्य बिंदु रखने वाले के लिये शांति पथ सम्बन्धी श्रद्धा झूठी है। उस लक्ष्य बिंदु की पूर्ति के लिये शान्ति या शान्ति पथ सम्बन्धी ज्ञान या चारित्र झूठा है। और इसी प्रकार शान्ति का लक्ष्य रखने वाले के लिये डाक्टरी सम्बन्धी श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र झूठा है। लक्ष्य बिंदु के अनुसार ही यह

ग्रयात्मकता कार्यकारी है ? इस लिये शांति पथ की जिज्ञासा रखने वाले ग्रो भव्य ! तनिक ग्रपने ग्रन्दर में उतर कर इस जिज्ञासा व रुचि की परीक्षा तो कर। कहीं ऐसा न हो कि लक्ष्य विंदु तो पड़ा रहे, धन कमाने या भोग भोगने का, ग्रौर सीखने या सुनने लगे, शांति पथ सम्बन्धी वातें। यदि ऐसा है, तव तो सुना सुनाया वेकार हो जायेगा। क्योंकि जो वात वताई जायेगी, उससे तेरे लक्ष्य विंदु की सिद्धि न हो सकेगी। यह मार्ग जो कि वताया जाने वाला है, धन कमाने का नहीं। इससे कदाचित धन हानि तो होना सम्भव है, पर धन लाभ नहीं। ग्रतः देखले। दिल कड़ा करना होगा। ग्रौर उसके लिये वदलना होगा-ग्रपना लक्ष्य विंदु।

विना लक्ष्य विंदु वनाये चला किस ग्रोर को, ग्रौर चला जायेगा किस ग्रोर-यह कौन जाने ? लक्ष्य रहित व्यक्ति वनों में भटकने के ग्रतिरिक्त ग्रौर करेगा ही क्या ? यद्यपि पहले भी वता दिया गया है, परन्तु एक विस्तृत विषय चालू करने से पहले उसको-पुनः याद दिला देना ग्रावश्यक है, कि वह विस्तृत कथन केवल वस लक्ष्य विंदु को ग्राधार वना कर चलेगा। पद पद पर, वाक्य वाक्य में उस ही की ग्रोर संकेत कराया जायेगा। एक क्षरण को भी उसे भूलना न होगा, क्योंकि उसे भूल जाने पर कथन का रहस्य समझ में न ग्रा सकेगा। वह सव विस्तार कुछ मनघड़न्त सा, कुछ साम्प्रदायिक सा दिखाई देने लगेगा। वह लक्ष्य विंदु है "शांति।" वह शांति जिसके प्रगट हो जाने पर ग्रन्तर से उठने वाली "ग्रौर चाहिये" की ध्वनि वदल जायेगी "ग्रौर वस यही चाहिये।" इसके ग्रतिरिक्त कुछ नहीं। तीन लोक की सम्पत्ति हीरे मोती ग्रादि, सव थूक देने योग्य हैं, ठुकरा दिये जाने योग्य हैं-इसके सामने," इस रूप में। यह लक्ष्य विंदु दृढ़तयः हृदयंगम कर लेना योग्य हैं। यह तुझे शक्ति प्रदान करेगा। उस विस्तृत कथन को समझने की, तथा उससे कुछ हित उत्पन्न करने की। इस लक्ष्य विंदु का वड़ा महत्व है-प्रत्येक कार्य में। क्योंकि किसी भी दिशा में जाने की, या कोई भी कार्य करने की, उस कार्य में सफलता व ग्रसफलता का निर्णय करने की, कार्य क्रम की सत्यार्थता व ग्रसत्यार्थता वताने की, शक्ति इसी से मिला करती है। उत्तर दिशा में चलता चलता दूर निकल जाने वाला कोई व्यक्ति, यदि उस दिशा में चलना वन्द करके, दक्षिण की ग्रोर मुख करके खड़ा हो जाये-उस ग्रोर चलने का लक्ष्य रख कर, तो क्या उसे दक्षिण देश के निकट हुग्रा न कहेंगे ? भले ग्रभी वहीं खड़ा हो, एक पग भी ग्रागे रखे विना। इसी प्रकार शांति के उपाय को जीवन में घटित किये विना भी, ग्रशांति की ग्रोर जाने वाले ग्रो चेतन ! यदि केवल ग्रशांति के ग्रभिप्राय के कार्यों को छोड़ कर, शांति के ग्रभिप्राय मात्र को धारण करके, तू शान्ति का लक्ष्य विन्दु वना ले, तो ग्रवश्य ग्रपने को शान्ति के निकट ही समझ। परन्तु सच्चा लक्ष्य विंदु उसे कहते हैं, जो ग्रन्तरंग से रुचि पूर्वक उस दिशा में ही चलने के लिये व्यक्ति को उकसाये ग्रौर ग्रन्य दिशा में चलने से रोके। ग्रतः यहां लक्ष्य विंदु का तात्पर्य केवल शाब्दिक शान्ति या मोक्ष की ग्रभिलाषा से नहीं।

ऐसी ग्रभिलाषा या मोक्ष के प्रति का झूठा लक्ष्य विंदु तो ग्राज भी वना हुग्रा है-सवको। सव ही तो कहते हैं कि प्रभु ! किसी प्रकार मुझे शान्ति प्रदान करें। ग्राज के इस लक्ष्य विंदु की ग्रसत्यार्थता का पता चलता है-इस दृष्टान्त से।

एक सेठ जी थे। भगवान के वड़े भक्त। प्रभु के सामने ग्रपने उदगार प्रगट करते, स्तुति करते, तथा ग्रपने दोषों के लिये रोते हुए, कई २ घण्टे मन्दिर में व्यतीत करते। यही थी उनकी एक-पुकार, कि भगवन ! किसी प्रकार मोक्ष प्रदान कीजिये। उनकी भक्ति की परीक्षा का ग्रवसर ग्राया। एक देव ग्राकर कहने लगा, "सेठ जी ! ग्रापकी भक्ति से वड़े प्रसन्न हुये है भगवन। मुझे भेजा है ग्रापकी

इच्छा पूर्ति के लिये।" सेठ जी की बाँछें खिल गईं। ग्राज उन्हें मोक्ष मिलने वाली थी। पर वह स्वयं न जानते थे कि, मोक्ष किसे कहते हैं ? देव बोला "कि 'सेठ जी ! ग्रापके दश पुत्र हैं तथा दश कारखाने। एक पुत्र प्रति दिन मरेगा ग्रौर एक कारखाना रोज़ फैल होगा। दश दिन पीछे तुम पुत्र हीन हो जाग्रोगे ग्रौर कंगाल भी। वस ग्यारहवें दिन मैं ले जाऊंगा तुम्हें ग्राकर।" परन्तु सेठ जी सहम गये-यह वात सुन कर। पुत्रों की मृत्यु भी सम्भवत: ली पड़ती पर कंगाल होना ? नहीं, नहीं। यह तो वड़ी टेढ़ी खीर है। गले से नीचे न उतर सकेगी। देव से वोले "कि भाई ! बड़ा कष्ट किया है, तुमने मेरे लिये। एक कष्ट ग्रौर देता हूं। क्षमा करना। प्रभु से जाकर, मेरी ग्रोर से यह प्रार्थना करना, कि यदि किसी ग्रौर क्वालिटी की, किसी ग्रौर प्रकार की मोक्ष हो, तो प्रदान करने की कृपा करें। परन्तु इस क्वालिटी की मोक्ष तो सम्भवत: मुझे पच न सकेगी।"

वस ऐसा है हमारा भी लक्ष्य विंदु। धन न छूटे, कुटुम्व न छूटे, खूव भोग भोगता रहूं, ग्रौर शान्ति भी चखता रहूँ। ग्रर्थात विष भी पीता रहूँ, ग्रौर ग्रमृत का स्वाद भी लेता रहूँ। ऐसा लक्ष्य वास्तव में लक्ष्य बिंदु कहलाता नहीं। सुनी सुनाई सी कोई वात है जो रट सी गई है। चौथी जाति की सच्ची शान्ति के प्रति, सच्चा लक्ष्य विंदु वनाने के लिये कहा जा रहा है। वह लक्ष्य विंदु कि जिसके कारण लौकिक सर्व बाधायें ग्रा पड़ने पर भी, उसके मार्ग पर से तेरी प्रगति मन्द न पड़ने पावे।

७

—: श्रद्धा :—

दिनांक ८ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ९

१—श्रद्धा की सत्यार्थता व असत्यार्थता

१ श्रद्धा की सत्यार्थता व असत्यार्थता मार्ग की त्रयात्मकता कल बताई गई। उसमें से पहला अंग है श्रद्धा। उसकी बात चलेगी। श्रद्धा का अर्थ है लक्ष्य बिन्दु, रुचि, प्रतीति व अभिप्राय। किसी बात को बिना परीक्षा किये, मुझे स्वीकार नहीं करना है। मैं वैज्ञानिक बन कर चला हूँ साम्प्रदायिक नहीं। श्रद्धा इस मार्ग का सर्व प्रथम व सर्व प्रमुख अंग है। क्योंकि बिना ठीक ठीक लक्ष्य बिन्दु व रुचि के उसका तत्सम्बन्धी ज्ञान व चारित्र अकार्यकारी है। इन अगले दो अंशों की सत्यार्थता का आधार यह श्रद्धा ही है। यद्यपि यह श्रद्धा व लक्ष्य बिन्दु, दोनों एक ही बात हैं। परन्तु फिर भी श्रद्धा के सम्बन्ध में साधारणत: बहुत भ्रम चलता है। लक्ष्य बिन्दु रहित केवल साम्प्रदायिकता श्रद्धा को सच्ची माना जा रहा है। और उसी पर सन्तोष धर कर कुछ क्रियाएं केवल अन्ध विश्वास के आधार पर की जा रही हैं। जिनका कोई फल नहीं। निष्फल उस पुरुषार्थ से ऊब कर आज का जगत, धर्म की जिज्ञासा ही छोड़ बैठा है। और भोग विलास के तीव्र वेग में बहा चला जा रहा है-वे सुध। अत: श्रद्धा की सत्यार्थता व सुन्दरता बता देना आवश्यक है? जिससे कि भ्रमात्मक उस झूठे सन्तोष से पग पग पर सावधान रहा जा सके-उस अभिप्राय के अनुकूल जिस अभिप्राय को रख कर कि उसका स्वरूप दिखाया जा रहा है। जैसाकि आगे आगे के प्रकरणों में दिखलाने में आयेगा-अभिप्राय या श्रद्धा पर ही किसी क्रिया विशेष की सत्यार्थता व असत्यार्थता निर्भर है।

श्रद्धा के सम्बन्ध में कुछ ऐसी धारणा बन रही है, कि मैं तो ठीक ही स्वीकार करता हूँ। अमुक ही प्रकार के देव व गुरु व धर्मादि को स्वीकार करता हूँ। अन्य प्रकार के को नहीं और यही गुरुदेव की आज्ञा है। गुरु वचनों में कभी संशय नहीं करता, भले समझ में आवें या न आवें, हृदय उसे स्वीकार करे या न करे, क्योंकि भ्रम है, इस बात का कि कहीं मेरी श्रद्धा झूठी न पड़ जाये, संशय उत्पन्न करने से। परन्तु भाई! कभी विचारा है यह कि वह श्रद्धा सच्ची है ही कब, जो झूठी पड़ जायेगी? पहले ही से जो झूठी है उसका क्या झूठा पड़ना? भले बाहर से शब्दों में शंका न कर, पर अन्तरंग की शंका को कैसे दबायेगा? और यदि अन्तरंग में शंका नहीं है तो तत्व समझते समय "यह तो बिल्कुल ठीक है परन्तु·········?" यह परन्तु कहां से आ रही है?

इसके अतिरिक्त शास्त्र के आधार पर तत्वों सम्बन्धी कुछ जानकारी सी करके "यह बिल्कुल ठीक है। ऐसा ही है। अन्य मतों के द्वारा प्ररूपित तत्व ठीक नहीं है" इस प्रकार के साम्प्रदायिक अन्ध श्रद्धान को श्रद्धा की सच्ची कोटि में गिना जाता है। परन्तु यदि ऐसा ही होता, तो ऐसी श्रद्धा तो सब को ही है। मुसलमानों द्वारा प्ररूपित तत्व को माने सो मोमिन और न माने तो काफिर। वेद को माने

तो आस्तिक और न माने तो नास्तिक। उनके इस कथन में तथा उपरोक्त कथन में अन्तर ही क्या रहा? यदि अपनी अपनी दही को मीठा बताने का नाम ही सच्ची श्रद्धा है, तो लोक में कोई भी झूठी श्रद्धा नहीं रहेगी। सब शान्ति पथ गामी होंगे। अतः साम्प्रदायिक श्रद्धा का नाम सच्ची श्रद्धा नहीं। यह साम्प्रदायिक नहीं वैज्ञानिक मार्ग है। अन्ध श्रद्धान को यहाँ अवकाश ही नहीं। बिना 'क्या' और 'क्यों' के स्वीकार की गई बात स्वीकृत नहीं कही जा सकती। क्योंकि 'ऐसे ही है' इस श्रद्धा का विषय केवल उस तत्व सम्बन्धी शब्द है। उस तत्व का रहस्यार्थ नहीं। अर्थात ऐसी श्रद्धा केवल शाब्दिक है तात्विक नहीं। जीव अजीव आदि के भेद प्रभेदों को शब्दों में जानते हुए भी वास्तव में वह नहीं जानता कि जीव किस चिड़िया का नाम है, और अजीव आदि के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार के शाब्दिक ज्ञान से विद्वान बन सकता है, तार्किक बन सकता है, वक्ता बन सकता है, पर श्रद्धालु नहीं। कुल परम्परा के आधार पर अन्ध विश्वास करने वाले की तो बात ही नहीं, वह तो है ही कोरा अन्ध श्रद्धालु। परन्तु तत्वों आदि को जानने वाला भी सच्चा श्रद्धालु नहीं। यहाँ तो यह बताया जा रहा है।

किसी भी विषय सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा तो वास्तव में उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक कि उस विषय का अनुभव न हो जाये। अनुभव से पहले की जाने वाली श्रद्धा की पोचता की परीक्षा भी की जा सकती है। दृष्टान्त सुनिये—कल्पना करो-किसी ऐसी परिस्थिति की, जिसमें कि आप स्वयं घिर गये हैं। किसी गाँव को लक्ष्य में रख कर चलते चलते पहुंच गये किसी भयानक वन में जहां से बहुत सी पगडण्डियां फट जाती हैं। असमंजस में पड़े विचारने लगे कि कौन सी पगडण्डी पर चलूं? किसी राहगीर की प्रतीक्षा करते हो। सौभाग्य से एक व्यक्ति दिखाई दिया। शरीर नंगा। केवल घुटनों से ऊंची मैली कुचैली एक धोती थी, उसकी टांगों में-कुछ अस्त व्यस्त सी उलझी हुई। कन्धे पर एक लठ्ठ। हट्टा कट्टा, काला कलूटा सा, एक मानव, जिसे रात को देखे तो भय के मारे सम्भवतः प्राण ही निकल जायें। खैर, साहस करके पूछा भी तो उत्तर मिला इतना कर्कश मानो खाने को ही दौड़ता है। "चला जा अपनी दाईं ओर। मार्ग जानता नहीं, आ गया पथिक बन कर।" आप ही बताइये, कि क्या उसके द्वारा बताई गई दिशा में आप एक भी पग रखने में समर्थ हो सकोगे? भले ही रात वन में बितानी पड़े, पर उसके कहे पर आपको कदापि विश्वास नहीं आयेगा।

परन्तु कुछ ही देर पश्चात दिखाई दिया एक और भला, परन्तु अपरिचित कोई अन्य व्यक्ति, सफेद सादे वस्त्र पहने, मस्तक पर तिलक लगाये, और हाथ में डोरी लोटा लिये। उससे भी पूछा अपना अभीष्ट मार्ग। बड़े मधुर व सहानुभूति पूर्ण शब्दों में उत्तर मिला। करुणा ही टपक रही थी उन शब्दों से। "ठीक मार्ग पर नहीं आये हो पथिक, वन बड़ा भयानक है। भयानक जन्तुओं का वास। यदि रात्रि पड़ गई तो जीवित न बचोगे। खैर अब भी समय है। इस दाहिनी ओर वाली पगडण्डी पर चलो। लगभग डेढ़ मील जाने पर एक नाला मिलेगा, जिस पर पड़ा होगा खजूर का एक तना पुल के रूप में। नाले को पार कर जाओ। एक मील और आगे दिखाई देगा वृक्षों का एक बहुत बड़ा झुण्ड। बड़ा साधु रहता है वहां। वहां पहुंच कर बाईं ओर मुड़ जाना। आध मील ही रह जायेगा वहां से आपका स्थान। विचारिये, क्या अब भी उस दिशा में आपका पग न उठेगा? आपको अवश्य उसके कहने पर विश्वास आ जायेगा और आप प्रसन्न चित चल पड़ोगे उस दिशा में।

भला क्या अन्तर था पहले तथा इस व्यक्ति के संकेत में? मार्ग तो इसने भी वही बताया था जो कि पहले ने। परन्तु पहले में अविश्वास और अब विश्वास का क्या कारण है? कारण है वक्ता

की प्रामाणिकता। इसी प्रकार यहां धर्म सम्बन्ध में वीतरागी गुरुओं ही की बात आपको स्वीकार है, रागी जनों की नहीं। कारण कि आपको दिखती है वहाँ निःस्वार्थता व करुणा। जो बात वे मुख से कहते हैं उस की झाँकी उनके जीवन में स्पष्ट दिखाई देती है। और इन्हीं गुणों के कारण वे आपकी दृष्टि में प्रामाणिक हैं। अन्य वक्ताओं में यह गुण दिखाई नहीं देते हैं, इसलिये वे आपको अप्रामाणिक हैं। श्रद्धा के पथ पर आपका यह पहला पग है, जिसमें क्या कमी है सो आगे दर्शाता हूँ।

चले अवश्य जा रहे हो उसी मार्ग पर परन्तु हृदय में है कुछ कम्पन सा-"यदि यह भी मार्ग ठीक न निकला तो, या आगे जाकर फिर भटक गया तो? बीहड़ वन है कौन जाने-पहुँच भी पाऊंगा या नहीं? खैर चलो भगवान सहायी हैं।" और इस प्रकार के अनेकों विकल्प। तनिक विचारो पक्ष को छोड़ कर। क्या यही अवस्था न होगी आपके हृदय की इस श्रद्धा की प्रथम श्रेणी में? बस स्पष्ट हो गया-इस श्रद्धा का झूठा पना या अन्ध विश्वास पना। अन्तरध्वनि से आने वाली यह "तो" इस बात की साक्षी है, कि स्वीकार करते हुये भी आपका संशय दूर नहीं हुआ है अभी। बस इसी प्रकार यहां धर्म मार्ग में भी, यद्यपि स्वीकार हैं गुरुओं की बातें परन्तु "निश्चय से न सही, पर व्यवहार से तो ठीक है न यह हमारी पहले की धारणा? इस प्रकार जो पोषण करने का प्रयत्न किया जा रहा है-अपने ही अभिप्राय को, यह कहां से निकल रहा है? बस यही है साक्षी इस बात की कि वास्तविक तत्व आपको स्वीकार ही नहीं है। नहीं तो आपकी धारणा बदल जानी चाहिये थी।

आगे चलिये नाला दिखाई दिया और साथ में वह खजूर का पुल भी। विचारिये तो कुछ कमी पड़ेगी उस कम्पन में या नहीं? अवश्य पड़ेगी। "नहीं नहीं, यह मार्ग ठीक ही होगा। वही पहिला चिन्ह जैसे बताया था आ गया। अब कुछ संशय नहीं रहा इसमें। अब तो आ ही जायेगा गाँव।" कुछ ऐसी सी बात प्रगट हो जायेगी। यद्यपि संशय बहुत मन्द पड़ चुका है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सर्वथा अभाव हो गया है। जिसकी साक्षी ऊपर के 'ठीक ही होगा,' "आ ही जायेगा' यह कुछ शब्द दे रहे हैं। दृढ़ श्रद्धान में भविष्यत सूचक शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ करता। और इसी प्रकार इस धर्म क्षेत्र में भी गुरु वाणी से तत्वों को सीख कर यद्यपि कुछ व्रतादि भी धारण कर लिये हैं, परन्तु फिर भी उन तत्वों की श्रद्धा में अन्तर पड़ा हुआ है। जिसकी साक्षी इस अभिप्राय से निकलती है। जो कि कह रहा है कि भले आज न सही पर यह व्रतादि करते करते आगे कभी तो "होगी ही" मोक्ष। यह श्रद्धा की दूसरी कोटि है। यद्यपि पहली से कुछ दृढ़, पर सच्ची नहीं।

आगे चलिये, वृक्षों का झुण्ड आया। हृदय में एक आह्लाद उत्पन्न हुआ। मानो टांगों में शक्ति आ गई हो। और तेजी से कदम उठने लगे। "बस अब तो गांव आ ही गया समझो। बस इस मार्ग में किञ्चित भी संशय नहीं। यह ठीक ही है" इस प्रकार की दृढ़ता, यद्यपि इस श्रद्धा की दृढ़ता को सूचित कर रही है परन्तु नहीं, वास्तव में श्रद्धा अब भी दृढ़ नहीं है। यह बात गले उतरनी कुछ कठिन पड़ती है। परन्तु विचार करने से अवश्य इसकी सत्यता ध्यान में आ जायेगी। कल्पना कीजिये कि कुछ ही दूर झुण्ड से आगे निकल जाने पर, आपका कोई चिरपरिचित मित्र मिल जाता है, और कुछ आश्चर्य में पड़ कर आप से पूछ बैठता है "कहां जा रहे हो मित्र इस मार्ग से? बाल बच्चों का प्रबन्ध कर आये हो या नहीं?" स्वभावतः ही आप घबरा जायेंगे-उसकी इस बात पर, कि क्या कारण है उसके इस आश्चर्य का? और यदि वह बताये, कि तुम्हें गलत मार्ग पर डाला गया है। आगे उसी ठग का गांव पड़ेगा जिसने कि तुम्हें मार्ग बताया था। तो क्या आप कांप न उठोगे? बताइये कहां चली जायेगी

आपकी इस समय तक दृढ़ बनी श्रद्धा ? बस यही बात साक्षी है, कि यह तीसरी कोटि की अत्यन्त दृढ़ दीखने वाली श्रद्धा भी वास्तव में सच्ची नहीं थी। इसी प्रकार इस धर्म क्षेत्र में भी व्रतों आदि या विद्वता आदि के कारण, सम्मान से मिली प्रतिष्ठा से भ्रमित होकर, भले आप यह मान बैठें कि मेरी श्रद्धा बिल्कुल सच्ची है। यही गुरुओं के द्वारा प्रतिपादित मार्ग है। इतने बड़े बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति तथा विद्वान इस मेरी श्रद्धा का पोषण कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में यह श्रद्धा भी सच्ची नहीं है। क्योंकि भले बाहर में आपके मुख से कोई शब्द ऐसा न निकले जिस पर से कोई तार्किक आपके अभिप्राय में भूल निकाल सके। भले ही बाहर में यह कहते सुने जाओ, कि आपको बड़ा आनन्द आ रहा है-इस जीवन में। परन्तु आप स्वयं यह जान नहीं पाते कि यह आनन्द जीवन में से आ रहा है कि प्रतिष्ठा के कारण लोकेषणा में से आ रहा है ? आपके अन्तरंग में तो यह मार्ग कुछ कठिन सा भास रहा है-असि धारा के समान। बस जीवन में इस कठिनाई का वेदन ही इस बात की साक्षी है कि आपकी यह तीसरी कोटि की श्रद्धा भी सच्ची नहीं है। भले दूसरों की अपेक्षा अधिक दृढ़ हो।

और आगे चलिये। वह देखो कलशे सर पर रखे गांव की स्त्रियां कुएं पर से पानी लाती दिखाई दे रही हैं। सामने मन्दिर के शिखर पर लहराती ध्वजा मानो हाथ की झोली दे देकर आपको बुला रही है। और कह रही है कि चले आइये, यही है वह गांव जहां आप जाना चाहते थे। अब विचारिये कि स्वयं वीर प्रभु भी आकर यह कहने लगें कि "किधर जाते हो ? यह मार्ग ठीक नहीं है।" तो क्या उनकी बात स्वीकार करोगे आप ? कदापि नहीं। आपको आंखों के सामने गांव है, इस चक्षु प्रत्यक्ष के सामने आप भगवान की बात को भी स्वीकार करके कोई संशय उत्पन्न करने को तैयार नहीं। बस इसी प्रकार धर्म क्षेत्र में भी साक्षात चौथी कोटि की शान्ति की रूप रेखाओं का जीवन में संवेदन हो जाने पर, लोक की कोई शक्ति आपको आपके शान्ति पथ से विचलित करने में समर्थ न हो सकेगी। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के सामने आपको गुरुजनों के आश्रय की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। यह अनुभवात्मक चौथी कोटि की श्रद्धा ही वास्तव में सच्ची श्रद्धा कही जा सकती है।

यहां शान्ति के इस वैज्ञानिक मार्ग की नयात्मकता में अभिप्रेत श्रद्धा से तात्पर्य इन उपरोक्त चौथी कोटि की श्रद्धा से है। कुल परम्परा के आधार पर हुई, या साम्प्रदायिक पक्षपात के आधार पर हुई, या गुरुओं पर भक्ति आदि की भावुकता वश हुई, या विद्वता वश हुई, या लोक प्रतिष्ठा वश हुई, श्रद्धाओं का नाम यहां श्रद्धा नहीं कहा जा रहा है। श्रद्धा वास्तव में वह होती है जो बिना किसी ग्रन्थ के उकसाये स्वयं रुचि पूर्वक उस व्यापार विशेष के प्रति अन्तरंग में झुकाव उत्पन्न करा देती है। जिसके कारण शीघ्रातिशीघ्र वह अपने जीवन को उस श्रद्धा के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करने लग जाता है। शक्ति को नहीं छिपाता। न ही कोई बहाने तलाश करता है-अपनी श्रद्धा को दूसरों पर सिद्ध करने के लिये। जैसे "क्या करूं, करना बहुत चाहता हूँ पर कर्म करने नहीं देते। अजी गृहस्थी के जंजाल में फंसा हूँ बुरी तरह।" इत्यादि।

उपरोक्त सर्व पर से यह भी ग्रहण न कर लेना चाहिये, कि उत्तरोत्तर वृद्धि को पाती वह तीन कोटि की श्रद्धायें सर्वथा बेकार हैं। नहीं, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो आप इस मार्ग पर पग ही न रखते, इसलिये पहले पहल मार्ग पर अग्रसर कराने के लिये, तथा इस ओर का उत्तरोत्तर अधिकाधिक उल्लास उत्पन्न कराने के लिये ये श्रद्धायें अवश्य अपना महत्व रखती हैं। परन्तु इन मात्र में सन्तोष पा लिया है जिसने, उसका निषेध करने के लिये, तथा वास्तविक सच्ची श्रद्धा का सुन्दर रूप दर्शाने के

लिये अथवा भ्रम मिटाने के लिये ही इतना कथन किया गया है। अन्ध विश्वास भी जिनको नहीं है। ऐसे विलासी जीवों की अपेक्षा तो वह कुछ अच्छा ही है। क्योंकि भले अन्ध विश्वास के आधार पर ही सही, पर शान्ति की खोज करने तो लगा है। शान्ति का अनुभव कर लेने पर, खुल जायेगा इस अन्ध श्रद्धान का रहस्य, और प्रसन्न होगा-यह जान कर, कि उसके द्वारा किया गया वह झूठा श्रद्धान भी सच्चे के अनुरूप ही निकला।

परन्तु अन्ध श्रद्धान आंख मीच कर ही न कर लेना चाहिये। वात वात में परीक्षा करते हुये चलना है, अतः केवल उन्हीं की वात पर श्रद्धा करनी योग्य है, जिनका जीवन स्थूल दृष्टि से भी शान्त दिखाई दे। जिनके उपदेश का लक्षण शान्ति हो, तथा कथन पद्धति भी शान्त हो। स्वार्थी जनों का भोगों के प्रति आकर्षण कराने वाला उपदेश, इस मार्ग का वाधक व अभिलाषावर्धक होने के कारण स्वीकारनीय नहीं है।

८
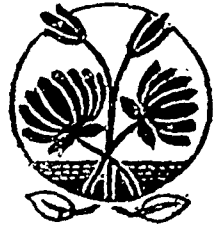
—: श्रद्धा व ज्ञान का विषय :—

दिनांक ६ जुलाई १९५६

प्रवचन नं० १०

१—प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये सात आवश्यक बातें, २—तत्वार्थ शब्द का अर्थ

१ सात आवश्यक बातें

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले श्रद्धा का महत्व दर्शाया जा चुका है, परन्तु श्रद्धा किस बात की, की जाये यह नहीं बताया गया। कोई पदार्थ तैयार करने के लिये एक कारखाना लगाने से पहले स्वाभाविक रीति से हमारे मन में तथा एक वैज्ञानिक के मन में सात प्रश्न उठते हैं। वे सात बातें ही किसी कार्य की सफलता के लिये यर्थाथत: जानने व श्रद्धा करने योग्य हैं। क्योंकि उनके जाने व श्रद्धा किये बिना वह कार्य प्रारम्भ ही नहीं किया जा सकेगा। यदि उन सात बातों में से किसी एक दो बातों मात्र का ज्ञान व श्रद्धान रख कर अन्य बातों की परवाह न करके कार्य प्रारम्भ कर भी दिया जाये, तो अन्धों वत ही इधर उधर हाथ पाँव मारने पड़ेंगे। और फल निकलेगा निष्फल पुरुषार्थ या पूंजी का विनाश। दृष्टान्त पर से यह बात स्पष्ट हो सकेगी।

वे सात बातें निम्न हैं :—

१ मूल पदार्थ (Raw Material) क्या है ?

२ उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य पदार्थ (Impurities) क्या हैं ?

३ मिश्रण का कारण क्या है ?

४ पदार्थ का मिश्रित स्वरूप क्या है ?

५ मिश्रण के प्रति सावधानी का उपाय।

६ मिश्रित अन्य पदार्थ के शोधन का उपाय।] अत: पुन: शुद्ध कैसे हो सकता है ?

७ शुद्ध पदार्थ का स्वरूप क्या है ?

देखिये एक डेयरी फार्म लगाना अभीष्ट है। तो यह सात बातें जाननी पड़ेंगी।

१ मूल पदार्थ दूध क्या है ?

२ इसके साथ रहने वाले 'पानी' 'बैक्टेरिया' आदि क्या हैं ?

३ बैक्टेरिया की उत्पत्ति के कारण क्या हैं ?

४ जल व बैक्टेरिया से मिश्रित दूध का स्वरूप क्या है ?

सम्प्रदाय को अवकाश नहीं इस वैज्ञानिक मार्ग में। इसका साया भी यहाँ पड़ने न पाये, ऐसी सावधानी रखने की आवश्यकता है। अतः इन जीवादि सात बातों का स्वरूप कुछ इस प्रकार से सुनना या विचारना इष्ट है, कि जिस पर विचार करके, तथा अपने जीवन में उस उस उपाय से उस उस विषय को पढ़ने का प्रयत्न करके, उसका किञ्चित अनुभव हो सके। उस अनुभव हो जाने के पश्चात ही शान्ति मार्ग प्रारम्भ होगा। परन्तु उसको अनुभव करने से पहले भी यह आवश्यक है, कि एक बार शब्दों में उसे अवश्य ग्रहण कर लिया जावे, और तर्क व युक्ति से उसकी सत्यार्थता का निर्णय कर लिया जाये। उस अपने निर्णय को वीतराग प्रणीत आगम से भी मिलान करके देख लिया जावे। क्योंकि बिना ऐसे किये अव्वल तो मैं अनुभव करने का प्रयत्न ही किस विषय के प्रति करूंगा? और यदि अन्धों की भांति शब्दों का स्पष्ट रहस्यार्थ समझे बिना करने लगा तो लाभ क्या होगा?

अतः अब आगे के प्रकरणों में इन सात बातों का ही क्रमशः विस्तृत विवेचन चलेगा। लम्बा कथन सुनते सुनते ऊब न जाना। सारा का सारा सुनना। बीच में एक भी प्रकरण के छूट जाने पर आगे के तीन प्रकरणों का रहस्य भी पकड़ में न आ सकेगा। बिना क्रम से और पूरा सुने अभीष्ट की सिद्धि होना असम्भव है।

IV स्व पर तत्व

६

—: जीव तत्व :—

दिनांक १० जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ११

१—'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में, २—'मैं' की खोज अन्तर में, ३—'तू' ही में 'मैं' निहित है।

अहो ! चैतन्य घन का अतुल प्रकाश, जिसने पुनः पुनः प्रेरित करते हुए तथा अन्तरंग में चुटकियां मारते हुए, इस गहन भोग विलास के अन्धकार में भी, मुझे आज यह सौभाग्य प्रदान किया कि किञ्चित मात्र भी अपनी महिमा के दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हो सकूं। धर्म की जिज्ञासा के सार स्वरूप शान्ति, तथा उसकी प्राप्ति के लिये कुछ प्राथमिक आवश्यक सामान्य बातें जान लेने के पश्चात, आज मेरे अन्दर यह जानने की जिज्ञासा जागृत हो उठी है कि मैं कौन हूँ, जिसमें यह शान्ति की पुकार उठ रही है, अर्थात जीव तत्व क्या है ?

१ 'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में

बहुत प्रयत्न किया है-गुरुजनों ने, मुझे मेरी महिमा दर्शाने का, मुझे मेरा स्वरूप बताने का, पर देखिये कितने बड़े आश्चर्य की बात है, कि नित्य ही 'मैं हूँ', 'मैं हूँ' की पुकार करता 'मैं' आज तक 'मैं' को जान न सका। क्या क्या कल्पनायें बनाता रहा अपने सम्बन्ध में। कभी विचारा करता कि, ये मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की जो आकृतियां दीख रही हैं, ये ही 'मैं' हूँ। कभी विचारा करता कि ये पुत्र, स्त्री आदि परिवार दिखाई दे रहा है, अपने चारों ओर, वही 'मैं' हूँ। कभी विचारा करता कि ये जो गृह, स्वर्णादि कुछ आकर्षक से पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वही 'मैं' हूँ, अथवा इन सब में 'मैं', और मुझ में 'यह सब' ओत प्रोत हो रहे हैं-मानो।

देखो कितना बड़ा आश्चर्य है, कि अपने को देखने की इच्छा करते हुए मैं स्वयं कहां कहां खोजता फिरता हूँ इस 'मैं' को। इस महत्त के अर्थात इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त आकाश के एक एक प्रदेश पर इधर से उधर, और उधर से इधर टक्करें मार मार कर मैंने खोज की। कैसी दशा बनी हुई थी, उस समय मेरी, कि बे सुध बुध उस प्रदेश से इस पर और इससे उस पर-फिर रहा था भागा भागा-तृषातुर मृगवत् ! इस प्रदेश पर दिखाई देती है-कुछ मेरी चमक सी-भागा उधर। अरे ! यहां तो कुछ नहीं। नहीं नहीं ! यहां नहीं थी। वह देख कुछ दूरी पर-दिखाई दे रही है-कितनी तेज चमक। आंखें चुन्धियां रही है-जिसे देख कर। भागा वहां, पर यह क्या ! यहां भी कुछ नहीं। और इसी प्रकार, बेचैन बेहोश घूमता था-मारा मारा।

कितनी तीव्र गति थी उस समय मेरी ? कभी पाताल के इस छोर पर और कभी ही

सम्प्रदाय को अवकाश नहीं इस वैज्ञानिक मार्ग में। इसका साया भी यहाँ पड़ने न पाये, ऐसी सावधानी रखने की आवश्यकता है। अतः इन जीवादि सात बातों का स्वरूप कुछ इस प्रकार से सुनना या विचारना इष्ट है, कि जिस पर विचार करके, तथा अपने जीवन में उस उस उपाय से उस उस विषय को पढ़ने का प्रयत्न करके, उसका किञ्चित अनुभव हो सके। उस अनुभव हो जाने के पश्चात ही शान्ति मार्ग प्रारम्भ होगा। परन्तु उसको अनुभव करने से पहले भी यह आवश्यक है, कि एक बार शब्दों में उसे अवश्य ग्रहण कर लिया जावे, और तर्क व युक्ति से उसकी सत्यार्थता का निर्णय कर लिया जाये। उस अपने निर्णय को वीतराग प्रणीत आगम से भी मिलान करके देख लिया जावे। क्योंकि बिना ऐसे किये अव्वल तो मैं अनुभव करने का प्रयत्न ही किस विषय के प्रति करूंगा? और यदि अन्धों की भांति शब्दों का स्पष्ट रहस्यार्थ समझे बिना करने लगा तो लाभ क्या होगा?

अतः अब आगे के प्रकरणों में इन सात बातों का ही क्रमशः विस्तृत विवेचन चलेगा। लम्बा कथन सुनते सुनते ऊब न जाना। सारा का सारा सुनना। बीच में एक भी प्रकरण के छूट जाने पर आगे के तीन प्रकरणों का रहस्य भी पकड़ में न आ सकेगा। बिना क्रम से और पूरा सुने अभीष्ट की सिद्धि होना असम्भव है।

IV स्व पर तत्व

९

—: जीव तत्व :—

दिनांक १० जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ११

१—'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में, २—'मैं' की खोज अन्तर में, ३—'तू' ही मैं 'मैं' निहित है।

अहो ! चैतन्य घन का अतुल प्रकाश, जिसने पुनः पुनः प्रेरित करते हुए तथा अन्तरंग में चुटकियां मारते हुए, इस गहन भोग विलास के अन्धकार में भी, मुझे आज यह सौभाग्य प्रदान किया कि किञ्चित मात्र भी अपनी महिमा के दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हो सकूं। धर्म की जिज्ञासा के सार स्वरूप शान्ति, तथा उसकी प्राप्ति के लिये कुछ प्राथमिक आवश्यक सामान्य बातें जान लेने के पश्चात, आज मेरे अन्दर यह जानने की जिज्ञासा जागृत हो उठी है कि मैं कौन हूँ, जिसमें यह शान्ति की पुकार उठ रही है, अर्थात जीव तत्व क्या है ?

१ 'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में

बहुत प्रयत्न किया है-गुरुजनों ने, मुझे मेरी महिमा दर्शाने का, मुझे मेरा स्वरूप बताने का, पर देखिये कितने बड़े आश्चर्य की बात है, कि नित्य ही 'मैं हूँ', 'मैं हूँ' की पुकार करता 'मैं' आज तक 'मैं' को जान न सका। क्या क्या कल्पनायें बनाता रहा अपने सम्बन्ध में। कभी विचारा करता कि, ये मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की जो आकृतियां दीख रही हैं, वे ही 'मैं' हूँ। कभी विचारा करता कि ये पुत्र, स्त्री आदि परिवार दिखाई दे रहा है, अपने चारों ओर, वही 'मैं' हूँ। कभी विचारा करता कि ये जो गृह, स्वर्णादि कुछ आकर्षक से पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वही 'मैं' हूँ, अथवा इन सब में 'मैं', और मुझ में 'यह सब' ओत प्रोत हो रहे हैं-मानो।

देखो कितना बड़ा आश्चर्य है, कि अपने को देखने की इच्छा करते हुए मैं स्वयं कहां कहां खोजता फिरता हूँ इस 'मैं' को। इस महत्त के अर्थात इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त आकाश के एक एक प्रदेश पर इधर से उधर, और उधर से इधर टक्करें मार मार कर मैंने खोज की। कैसी दशा बनी हुई थी, उस समय मेरी, कि बे सुध बुध उस प्रदेश से इस पर और इससे उस पर-फिर रहा था भागा भागा-तृषातुर मृगवत् ! इस प्रदेश पर दिखाई देती है-कुछ मेरी चमक सी-भागा उधर। अरे ! यहां तो कुछ नहीं। नहीं नहीं ! यहां नहीं थी। वह देख कुछ दूरी पर-दिखाई दे रही है-बिजली तेज चमक ! आंखें चुन्धियां रही हैं-जिसे देख कर। भागा वहां, पर यह क्या ! यहां भी कुछ नहीं। और इसी प्रकार, बेचैन बेहोश घूमता था-मारा मारा।

कितनी तीव्र गति थी उस समय मेरी ! अभी पाताल के इस छोर पर, और अभी ही

क्षण लोक के शिखर पर, बिल्कुल अपने पिता सिद्ध प्रभु के निकट। अभी ऊर्ध्व लोक में देवों के निकट, और अगले ही क्षण अधो लोक में नारकियों के निकट। अभी मध्य लोक की एक पृथ्वी पर, और अभी असंख्यात योजन दूर उस अन्तिम पृथ्वी पर। अभी समुद्र में और अभी वायु मण्डल में। अभी इन चलते फिरते दिखने वाले मनुष्य, पशु व पक्षियों के शरीरों में, और............अगले ही क्षण वनस्पतियों में। कहां तक गिनाऊं ? एक प्रदेश भी तो इस आकाश का खाली नहीं छोड़ा, जहां जाकर मैंने 'मैं' को न खोजा हो। कितना व्यग्र था उस समय-इसकी खोज के पीछे, कि आने और जाने, जीने और मरने के सिवाय, मुझे और कुछ चिन्ता ही नहीं थी। एक एक क्षण में अठारह अठारह बार बदल डाला-मैंने अपना स्थान। पर मृग तृष्णा थी, कोरा बालू का ढेर। कुछ भी न था वहां। जाता-दौड़ता-जन्म लेता और निराश हो जाता। तुरन्त ही आगे कुछ प्रतीत होता। बस मर जाता, वहां जाकर जन्म लेता, और फिर निराश हो जाता। किसी कारण वश रोता रोता, शिशु जिस प्रकार स्वयं भूल जाता है, कि क्यों रोना प्रारम्भ किया था-उसने ? केवल याद रह जाता है रोना-उसे। उसी प्रकार दौड़ते दौड़ते, एक क्षण में अठारह अठारह बार जन्मते मरते, मैं स्वयं भूल गया कि क्यों यह दौड़ धूप या जीना मरना प्रारम्भ किया था-मैंने ? केवल याद रह गया जल्दी जल्दी जीना और मरना मात्र।

खाने की सुध थी न पीने की, न किसी से बोलने की न पूछने की, न कुछ सूंघने की न देखने की, न सुनने की न विचारने की। बेहोश हो गया था। थक कर चूर चूर। छू कर जान तो सकता था-उस समय, पर कहाँ थी होश मुझे छूने की भी ? इधर से उधर दौड़ने अथवा जीने मरने के सिवा फुर्सत ही कहां थी, कुछ और करने की ? कई बार तो पूरी तरह जन्मने भी न पाया कि मर गया। और यदि पूरा जन्मा भी तो कितना छोटा था मेरा शरीर ? जो किसी को दिखाई भी न पड़ सके। माइक्रोस्कोप के भी तो गम्य न हो। पहाड़ व लोह खण्ड में से भी घुस कर आर पार हो सके। निगोद कहा करते थे ज्ञानी लोग उस समय-मुझे। सर्व साधारण जन तो मेरी सत्ता से भी अपरिचित थे। न देख सकने के कारण वे यह भी नहीं जान पाते थे कि मैं कोई हूँ भी या नहीं।

वहां जब कुछ पता न चला, तो पृथ्वी बन कर, जल बन कर, अग्नि बन कर, वायु बन कर पड़ा रहा सदियों। लोगों की ठोकरें खाता, इधर उधर बिखरता या उबाले जाता, पवन के द्वारा ताड़ित किया जाता, पत्थरों की मार सहता पड़ा रहा सदियों-कि कभी तो, कहीं तो स्पर्श कर ही जाऊंगा मैं-'मुझ' को : पर निराश। कुछ न दीखा। वहां से भी भागा, वनस्पति बन गया। कभी जल पर की काई बना, और कभी अचार पर बना फूई। कभी घास बना और कभी बना झाड़ी, कभी बेल तो कभी वृक्ष, कभी पत्ता तो कभी फल, कभी खट्टा बना तो कभी मीठा, कभी सुगन्धित तो कभी दुर्गन्धित। क्या क्या दुख पाये थे उस समय मैंने ? याद कर करके कलेजा कांप उठता है। चीरा जा जाकर और अग्नि में जल जल कर अनेकों कष्ट सहे, इस 'मैं' को स्पर्श करने के लिये। पर निराश। कुछ न देखा वहाँ भी। स्पर्श ही न कर पाया। फिर चखने, सूंघने, देखने, सुनने व विचारने का तो प्रश्न ही क्या ? निराश लौट पड़ा। सर्व साधारण जन मुझे सोचते रहे जड़, केवल अपने भोग की कोई वस्तु परन्तु मैं भले यह न जानता हूँ कि मैं क्या हूँ, पर उस समय भी इतना अवश्य जानता था कि मैं वह नहीं हूँ जो वह समझते थे। चित्त मसोस कर रह जाता था-क्योंकि शक्ति ही न थी बताने की।

इतने मात्र से तो पता न चला। चलो अब चल कर भी देखो सम्भवतः कुछ पता चल जाये। और इस अभिप्राय को लेकर, धारण किये लट व केंचुआ आदि के अनेकों रूप। कभी कुछ

और कभी कुछ। सूंघने, देखने, सुनने व विचारने की चिन्ता किये विना, केवल छू कर व चख कर खोज करनी चाही मैंने अपनी, पर निरर्थक।

निराश दौड़ा, चींटी, कनखजूरा आदि अनेकों रूपों में। जहां छूने व चखने के अतिरिक्त सूंघने की शक्ति का भी प्रयोग किया मैंने। इतना ही नहीं, मक्खी, भंवरा आदि वन कर देखने के यन्त्र को भी प्रयोग में लाया और चिड़िया, गाय, मछली व मनुष्यादि वन वन कर सुनने यहां तक कि विचारने तक के यन्त्रों का निर्माण कर डाला, पर किसी प्रकार भी तो उस रहस्यात्मक 'मैं' का पता न चला। क्या आकाश में, क्या पृथ्वी पर और क्या जल में, कहां नहीं खोजा मैंने इसे।

अत्यन्त दुखः व पीड़ा की भी परवाह न करते हुए, मैं इसकी खोज के लिये नारकी तक वना, पर इसका पता न चला। तात्पर्य यह कि नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवों की चौरासी लाख यौनियों में पृथ्वी, अप, तेज, वायु व वनस्पति भूतों में, भ्रमण करते करते आज तक न मालूम कहां कहां तक घूमा, कितना समय वीत गया, तथा इस काल में क्या क्या दुःख सहे, इसकी खोज के लिये, पर इस 'मैं' का पता न चला। छोटे से छोटा माइक्रोस्कोप से भी न दीखने वाला, तथा वड़े से वड़ा पर्वत सरीखा शरीर वनाया, पर उसका पता न चला।

२ 'मैं' की खोज अन्तर में

चलता भी कैसे ? घर में खोई हुई सुई को सड़क पर खोजने जाऊं तो क्या मिलेगी ? 'मैं' को मैं में न खोज कर, मैंने उसे आकाश में खोजा तथा खोजा ऊपर संकेत किये विभिन्न जाति के चौरासो लाख शरीरों में। कैसे पता चलता उसका ? 'मैं' को मैं में न खोज कर मैंने खोजा स्त्री व पुरुष में, काले गोरे पने में, या धनवान या निर्धन में, प्राकृतिक सुन्दरताओं व विकारों में, तूफानों में व वाढ़ों में, झोंपड़ियों में व महलों में। पर कैसे मिलता वह वहां ? जबकि वहां था ही नहीं। और आज भी इस उन्नत विज्ञान की सहायता से वड़े वड़े आविष्कारों के द्वारा अनुसन्धान शालाओं में, मैं वरावर खोज रहा हूं इसे, पर व्यर्थ।

आज परम सौभाग्य से इन वीतराग गुरु देव की शरण को प्राप्त हो, मानो मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। इतने काल में इसकी खोज के पीछे व्याकुल होकर भटकता हुआ, मैं आज इनकी कृपा से इस रहस्य को पाकर कितना सन्तुष्ट हुआ हूँ-कह नहीं सकता। मानो मेरा वह भ्रम ही मिट गया है : आज उसे जान कर मुझे स्वयं अपने ऊपर हंसी आ रही है। कितनी सरल सी वात थी और कितना भटका इसके पीछे। यह भ्रम की ही कोई अचिन्त्य महिमा थी। जो आज तक मुझे इसके दर्शन नहीं होने देती थी। आज गुरुदेव के प्रसाद से वह भ्रम दूर हो गया और मैं जान पाया, कि वह मेरे अत्यन्त निकट है, जिसे मैं इतनी इतनी दूर खोजने गया।

विचारिये तो सही कि कोई हीरे की अंगूठी आप तिजोरी में रखने को जाते हों। मार्ग में मैं मिल जाऊं और आपको कोई आवश्यक काम वता दूं। आप अंगूठी को अपनी अंगुली में पहन कर काम में जुट जायें। सांझ पड़े घर आयें तो अंगूठी याद आवे। हैं! कहां गई ? तिजोरी में पुनः पुनः देखें, सन्दूक खोलें, रसोई घर में एक वर्तन को उठाकर, और कभी दूसरे को, सम्भवतः उन्हें टोल टोल कर देखने लगें कि कहीं यह वर्तन निगल ही न गये हों उसे। और व्याकुलता में न मालूम क्या क्या करने लगे। पर क्या इस प्रकार वह अंगूठी मिलेगी ? यदि मैं आपसे पूछूं कि क्यों जी, इस अंगूठी का ढूंढना

सरल है कि कठिन, तो क्या कहोगे ? न सरल कहते बनता है न कठिन, जब तक नहीं पाती तब तक कठिन और उंगली पर दृष्टि जाने के पश्चात, क्या सरल और क्या कठिन ? ढूंढ़ने का प्रश्न ही कहां है ? और यह गई ही कहां थी ? इसका ढूंढना तो सरल था न कठिन। मेरे भ्रम का दूर होना ही कठिन सा था।

बस तो इस प्रकार भो चेतन ! तू व्यर्थ ही इधर उधर भटक रहा है। जिसे तू खोजना चाह रहा है वह तो यहां ही है। तेरे अत्यन्त निकट। निकट भी क्या ? तू स्वयं ही तो है-वह। किधर देख रहा है बाहर की ओर ? उधर कुछ नहीं हैं। उधर तो यह चमड़े हड्डी का कुछ ढेर मात्र ही पड़ा है। वह शरीर है, तू नहीं। इधर देख भाई ! इधर देख। अरे ! फिर उधर ही। उधर नहीं, इधर देख। मैं जिस ओर संकेत कर रहा हूँ, उधर देख। अरे ! फिर। उधर ही ? अरे भाई ! देख इस उंगली की बिल्कुल सीध में, उस निशाने पर, जहां से यह 'मैं' की ध्वनि चली आ रही है। जहां से शान्ति की इच्छा प्रगट होती दिखाई दे रही है। जहां सुख दुख का वेदन हो रहा है। जहां विचारनाओं का काम किया जा रहा है। नेत्र इन्द्रिय से देखने का प्रयत्न मत कर भाई ! इन्हें बन्द करके देख कुछ अपने ही अन्दर डुबकी लगा कर। अपने से ही प्रश्न करके उत्तर ले। 'मैं' की ध्वनि स्वरूप अन्तरंग में होने वाली हे विशेष वाणी तू कौन है ? दुख सुख में हाय व वाह वाह करने वाले अन्तरंग में प्रतीति होने वाले-हे परम तत्व ? तू कौन है ? 'मुझे शान्ति चाहिये', 'मुझे शान्ति चाहिये' हर समय इस प्रकार की टेर लगाने वाले, तू कौन है ?

३ तू ही में मैं निहित है अरे ! यह क्या ? तू किसे कह रह है मैं ? यह स्वयं मैं ही तो हूँ। अन्तरंग में प्रकाशमान, स्वानुभव गोचर, अमूर्तीक, इन्द्रियातीत, चैतन्य विलास रूप, शाश्वत, परब्रह्म, यह 'तू' मैं ही तो हूँ। क्योंकि यह देख प्रश्न करने वाला कौन ? 'मैं'। प्रश्न सुनने वाला कौन ? 'मैं'। प्रश्न का उत्तर देने वाला कौन ? 'मैं'। सर्वत्र 'मैं' ही 'मैं' तो हुआ। 'तू' को कहां अवकाश रहा ? कितना बड़ा आश्चर्य, बगल में छोरा और नगर में ढंढोरा। 'दिल में है तस्वीरे यार जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली'। व्यर्थ ही इधर उधर दूर दूर भटकता रहा-ठोकरें खाता रहा, कष्ट सहता रहा। पर जिसे ढूंढता रहा, वह स्वयं 'मैं' ही तो था।

चार ब्राह्मण पुत्र बनारस से पढ़ कर आये। मार्ग में नदी पड़ी। चारों पार हो गए। उस पार पहुंचने पर गिनने लगे। चारों ने गिना पर संख्या तीन ही थी। एक कौन सा डूबा। क्या मैं डूबा ? नहीं मैं तो हैं। क्या यह डूबे ? नहीं ये तो है। पर एक, दो, तीन-चौथा कहां गया ? बस वही हालत थी मेरी अब तक। निगोद से लेकर मनुष्य तक सारे शरीरों को गिन डाला, पर अपने को गिनना सदा ही भूलता रहा। आश्चर्य की बात। अपनी मूर्खता न कहूँगा तो क्या कहूँगा ? चला हूँ शान्ति लेने, पर यह पता नहीं कि शान्ति भोगेगा कौन ? चला हूँ लड्डू खाने, पर यह पता नहीं कि इसे उठा कर मुंह में देने वाला कौन ?

समझ चेतन समझ। तुझे इस 'मैं' का लक्षण दर्शाता हूँ। जिसमें जानने का कार्य हो रहा है, जिसमें कुछ चिन्तायें उत्पन्न हो रही हैं, जिसमें सुख, दुख महसूस किया जा रहा है, जिसमें विचारने का काम चल रहा है, वह एक चैतन्य तत्व है ज्ञानात्मक तत्व। इन्द्रियातीत अमूर्तीक तत्व है। निगोदादि रूपों में एक वही तो प्रकाशमान हो रहा है। वही तो ओत प्रोत हो रहा है। वे सर्व इसी की तो कोई

अवस्थायें हैं। जिनका निर्माण अपनी कल्पनाओं के आधार पर, स्वयं इसने किया है ? जिसके होने से ही ये सब चैतन्य है, जिसके न होने से ही जड़। [देखो आगे अधिकार नं० २६ प्रकरण नं० २४] और इसलिये ईश्वर, परब्रह्म व जगत का सृष्टा यही तो है। परमात्मा व प्रभु इसी का तो नाम है। अचिन्त्य है इसकी महिमा। उसी परम तत्व का नाम 'मैं' है। इसी को आगमकार जीव व आत्मा कहते हैं। कोई इसे 'सोल' कहते हैं। कोई इसे 'रूह' कहते हैं। पर इन सब नामों की अपेक्षा इसका नाम 'मैं' लिया जाना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि 'मैं' शब्द को सुन कर साक्षात रूप से मेरा विकल्प उस परम चैतन्य तत्व की ओर आता है, और जीव या आत्मा सुन कर मैं इसे कहीं अन्यत्र खोजने लगता हूँ। देखिये क्या अनेकों वार मेरे में यह विकल्प उत्पन्न होता नहीं देखा जाता, कि एक दिन मैं भी मरूंगा, लोग मुझे अर्थी पर लाद के ले जायेंगे, और जला देंगे, और यह आत्मा इसमें से निकल कर कहीं अन्यत्र जाकर जन्म धारण कर लेगी। मानो कि वह आत्मा मुझसे पृथक कोई दूसरा पदार्थ ही हो। इसलिये इस सब लम्बे वक्तव्य में मैं जीव शब्द के स्थान पर 'मैं' शब्द का प्रयोग करूंगा। बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि क्राइस्ट ने बाइबल में, और वेद व्यास ने गीता में किया है ?

'मैं' शब्द को सुन कर भ्रम में न पड़ जाना। कहीं सोचने लगो कि बड़ा अहंकारी है-यह तो। सदा अपनी ही अपनी पुकार करता है। नहीं ऐसा तात्पर्य मेरा नहीं है। 'मैं' का अर्थ व्यक्तिगत मैं नहीं, बल्कि वह परम तत्व है जो सर्व में वास करता है। अर्थात सर्व के अन्दर से उठने वाले 'मैं' शब्द का संकेत उनकी दृष्टि में जिस ओर जाता है वहीं 'मैं' शब्द का वाच्य आत्मा है। उस सूक्ष्म तत्व की ओर लक्ष्य खींचने के लिये यह 'मैं' शब्द ही एक मात्र पर्याप्त है, और कोई नहीं।

१०
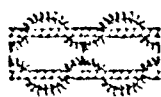
—: शान्ति कहाँ है :—

दिनांक ११ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १२

१—शान्ति मेरा स्वभाव, २—शान्ति की खोज अनेकों रूपों व विषयों में, जल में मीन प्यासी, ४—शान्ति आवास में।

१ शान्ति मेरा स्वभाव

गुरुओं के प्रसाद से निज परम चैतन्य तत्व के दर्शन कर लेने के पश्चात, इससे पहले कि मैं शान्ति में बाधक अन्य पदार्थों के स्वरूप का वर्णन करूं, यह जानना आवश्यक समझता हूँ, कि यह शान्ति क्या है ? और कहां रहती है ? क्योंकि शान्ति का निवास जाने बिना, "मैं इसकी रक्षा कहाँ जाकर करूं" यह शंका बनी रहेगी। पूर्व कथित सात बातों में, इस प्रश्न का अन्तरभाव पहली बात में अर्थात 'मैं क्या हूँ' वाले प्रश्न में हो जाता है। क्योंकि मैं का लक्षण करते हुये उस लक्षण के अंग स्वरूप एक बात यह भी कही गई है कि जिसमें से शान्ति की इच्छा उत्पन्न हो रही है, वही 'मैं' हूँ। शान्ति की यह इच्छा ही शाँति की ओर मेरे झुकाव को सिद्ध करती है। स्वतन्त्र रूपमें जिस ओर वस्तु का झुकाव होता है, उसे स्वभाव कहते हैं, जैसेकि अग्नि के द्वारा गरम, किया गया जल, अग्नि के सम्पर्क से जुदा होकर स्वतन्त्र रूप से शीतलता की ओर ही झुकता है, और यदि देर तक पुन: अग्नि का संयोग प्राप्त न होने पावे, तो वह स्वयं शीतल हो जाता है। इसलिये जल का स्वभाव उष्ण न होकर शीतल है। इसी प्रकार अगले प्रकरणों में बताये जाने वाले, अन्य पदार्थों से सम्पर्क दूर होकर, मैं स्वतन्त्र रूप से शान्ति की ओर ही झुकता हूँ। जैसे कि विरोधी के दूर हो जाने पर, मेरा झुकाव, शान्त होने के प्रति ही होता है। अत: मेरा स्वभाव शान्ति है ? भले अन्य के सम्पर्क में आकर अशान्त हो रहा हूँ। इसलिये 'शान्ति क्या है' और 'शान्ति कहां है' इन दोनों प्रश्नों का अन्तरभाव, 'मैं क्या हूं' इस पहले प्रश्न में ही आ जाता है। अत: इस स्थान पर इसकी व्याख्या कर देना योग्य है। 'शान्ति क्या है ?' इसके सम्बन्ध में (शान्ति पथ दर्शन नं० २) के पाँचवें प्रवचन में साधारणत: चार प्रकार की शान्ति का प्रदर्शन करते हुए काफी प्रकाश डाला जा चुका है। अब 'शान्ति कहाँ है ? यह बात चलती है।

'मुझे सुख चाहिये' 'मुझे सुख चाहिये' हर दम अन्तर में उठने वाली इस प्रकार की पुकार से प्रेरित हुआ मैं आज तक, क्या खाली बैठा रहा ? क्या मैंने आज तक उसे नहीं खोजा ? नहीं ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार आज तक मैं अपने को खोजता फिरा, इसी प्रकार इस शान्ति की खोज भी, कुछ कम न की, और आज भी बराबर कर रहा हूँ।

२ शान्ति की खोज अनेकों रूपों व विषयों में

अनादि काल के इस भव संताप से संतप्त होकर मैंने एक बार विचारा, कि मेरा ज्ञान ही सम्भवत: अशान्ति का कारण है। यदि इसका विनाश हो जाये, तो अशान्ति का वेदन कौन करेगा ? यह विचार कर अपने ज्ञान को मूर्छित कर सदियों पड़ा रहा, मैं अचेत, निगोद अवस्था में, इस बात का अनुभव करने के लिये कि सम्भवत: मुझे शान्ति मिल जाये। परन्तु यद्यपि

अचेत हो जाने के कारण मुझे कुछ वाह्य बाधाओं सम्बन्धी कष्ट प्रतीत न हो सका, और कुछ अशान्ति व व्याकुलता का भी भान न हो सका। तदपि मैं शान्ति का भी अनुभव न कर सका। जैसेकि क्लोरोफार्म सुंघा कर अचेत किये गये रोगी को भले उस समय आपरेशन का कष्ट प्रतीत न हो, पर इस पर से यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुखी है। वल्कि वेहोशी दूर हो जाने पर अवश्यमेव ही उसे वड़े कष्ट का वेदन हो जाने वाला है। इस अपेक्षा से उसे दुखी कहा जा सकता है? इस प्रकार निगोद अवस्था से कभी भी सचेत होने पर मुझे अशान्ति का वेदन ही होगा-इस अपेक्षा, तथा अज्ञान स्वयं दुख है-इस अपेक्षा, मै वहां इस ज्ञान हीन दशा में भी शान्त की वजाय अशान्त ही बना रहा।

'मैं' की खोज के अन्तर्गत बताये गये क्रम से, मैंने पृथ्वी से मनुष्य व देव पर्यन्त अनेकों विचित्र रूप धर कर इसे खोजा, पर सदा अशान्त बना रहा। शान्ति की खोज में जहां भी मैं गया, मेरे विश्वास के विरुद्ध वहां ही अनेकों बाधायें सहनी पड़ीं। पृथ्वी, जल, अग्नि,वायु व वनस्पति के रूपों में रह रह कर खुदालियों की चोट, ऊपर से नीचे गिराये जाने का कष्ट, पंखे से भड़काने की पीड़ा, तथा ताड़ित करना व कुल्हाड़ियों से काटे जाना आदि अनेकों कष्ट सहे। दो इन्द्रियों से पंचेन्द्रिय तक के छोटे रूपों में रहते हुये, कुचले जाना, व अग्नि में जलाये जाना आदि अनेकों कष्ट सहे। पंचेन्द्रिय पशु पक्षियों के रूप में रहते हुये गाड़ीवान के हंटरों तथा डंडों के द्वारा, भूखा रखा जाने के द्वारा, तथा गर्मी सर्दी के द्वारा, प्रत्यक्ष प्रतिदिन देखने में आने वाले कष्ट सहे, जिनको सहस्र जिह्वाओं के द्वारा कहा जाना भी सम्भव नहीं है। मनुष्यों में आया तो परस्पर की लड़ाई, मार पीट, द्वेष आदि के अतिरिक्त धनोपार्जन सम्बंधी वचनातीत चिन्ताओं के द्वारा, आज प्रत्यक्ष दुःख सह रहा हूं। नारकियों के दुखों का तो ठिकाना ही क्या? देवों में जाकर भी मुझे चैन न मिला, अन्य देवों की सम्पत्ति को देखकर उठी हुई अन्तरदाह में जलता रहा। गया शान्ति खोजने, मिली अशान्ति।

मैंने इसे ठण्डे, गर्म व चिकने रूखे पदार्थों में खोजा। खट्टे, मीठे व चरपरे पदार्थों में खोजा, सुगन्धि में खोजा, नृत्यों में खोजा, सिनेमा थियेटरों में खोजा, मधुर गीत वादित्र में खोजा, सुन्दर रूपों में खोजा, वड़े वड़े महलों में खोजा, हीरे पन्ने माणिक में खोजा, स्वर्ण रजत में खोजा, वर्तनों व फर्नीचर में खोजा, स्वादिष्ट पदार्थों में खोजा, क्रीम पाउडर में खोजा, पर फिर भी अशान्त बना हुआ हूं। राजा व चक्रवर्ती वन कर खोजा, दूसरों को दास बनाकर खोजा, एटम बम बनाकर खोजा, चन्द्र, सूर्य तक जा जाकर खोजा और कहां कहां नहीं खोजा? सर्वत्र खोजा पर आज तक अशान्त बना हुआ हूं। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं। मेरा अपना इतिहास है कौन नहीं जानता?

२ जल में मीन प्यासी — बड़ी विचित्र बात है कि पुरुषार्थ करूं शान्ति का, और मिले अशान्ति? भोजन खाऊं और पेट न भरे? परन्तु ऐसा वास्तव में नहीं है। भोजन किया तो सही पर मुंह में [illegible] नहीं, शरीर पर पोत कर। कैसे पेट भरे? पुरुषार्थ किया तो सही, पर जिस दिशा में [illegible] उस दिशा में नहीं। आश्चर्य है इस बात का कि असंतुष्ट रहता हुआ भी आज तक मेरे हृदय में यह शंका उत्पन्न न हुई, कि सम्भवतः कहीं न कहीं मेरी भूल रह रही हो पुरुषार्थ करने में। क्योंकि पुरुषार्थ का फल भले अल्प हो, पर उल्टा नहीं हुआ करता। सफल न होते हुवे भी [illegible] को बदल के [illegible] न देखा। एक द्वार से मार्ग का पता न लगने पर भी दूसरे द्वार की ओर [illegible] न देखा। [illegible] (Trial & Error Theory) सिद्धान्त पर न चला। [illegible]

निरादर से और निकलता ही क्या है ? खोज की, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि को छोड़कर, केवल पूर्व अभ्यास से प्रेरित होकर एक ही दिशा में।

आज महान सौभाग्यवश शान्ति भण्डार वीतरागी गुरु की शरण में आकर भी, क्या इसे न खोज सकूंगा ? नहीं, नहीं, अब इसे अवश्य खोज निकालूंगा। गुरुवर ने वास्तविक वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा उसे खोज निकाला है अपनी जीवन की प्रयोगशाला में बैठ कर। यही मार्ग मुझको बता रहे हैं, कि प्रभु ! इस नई प्रयोगशाला में अर्थात अपने चैतन्य घन स्वरूप में आकर इसे खोज। इन्द्रिय विषय सम्बन्धी भोगों में नहीं। वहाँ इसका साया भी नहीं है। न मालूम क्यों तुझे वहाँ ही अपनी शान्ति के होने का भ्रम हो गया है ? सम्भवत: इस कारण से ही हो कि उनके भोग के समय किंचत शान्ति सी प्रतीत होती है। परन्तु भाई वह सच्ची शान्ति नहीं है। अशान्ति को और भी भड़का देने के लिये दावानल है। चार प्रकार की शान्ति का स्व प दर्शाते हुये पहले ही इस बात को सिद्ध किया जा चुका है।

"जल में मीन प्यासी, मुझे सुन सुन आवे हांसी"। एक बार कोई जिज्ञासु गुरु से जाकर पूछने लगा कि प्रभु। शान्ति दे दीजिये। कहने लगे कि इतनी छोटी सी वस्तु देते हुये क्या मैं अच्छा लगूंगा। जाओ, सामने नदी में एक मगर मच्छ रहता है उससे जाकर कहना, वह देगा तुम्हें-शान्ति। नदी पर गया। मगर को आवाज़ लगाई, और गुरु का आदेश कह सुनाया। मगर बोला, शान्ति अवश्य दे दूंगा, परन्तु कुछ प्यास लगी है। पहले पानी पिला दो पीछे दूंगा। पथिक यह बात सुनकर हंस पड़ा, और एकाएक निकल पड़ा उसके मुख से वही उपरोक्त वाक्य "जल में मीन प्यासी, मुझे सुन सुन आवे हांसी"। मच्छ बोला, जा यही उपदेश है शान्ति की खोज का। शान्ति में वास करने वाले भो जिज्ञासु ! शान्ति सागर में रहते हुये भी शान्ति की खोज करता फिरता है ! बड़े आश्चर्य की बात है।

४ शान्ति आवास मैं तू तो स्वयं शान्ति का मन्दिर है। शान्ति तेरा स्वभाव है। जो पुरुषार्थ तू कर रहा है, वह भले ही तू शान्ति का समझकर कर रहा है वास्तव में शान्ति का नहीं है, अशान्ति का है। भोगों की प्राप्ति के प्रति प्रयत्न करना, इच्छाओं की अग्नि में घी डालना है। क्योंकि भोगों की अधिकाधिक उपलब्धि के द्वारा इच्छाओं में गुणाकार होता देखा जाता है। (देखो प्रवचन नं० ४ दिनांक ३ जुलाई १९५९) अत: इस दिशा से, अर्थात भोग सामग्री या किसी अन्य पदार्थ से अपने उपयोग को हटा करके वहां लगाने से शान्ति की प्राप्ति हो सकती है जहां कि उसका वास है ; अर्थात निज स्वभाव में एकाग्र होना ही शान्ति प्राप्ति के प्रति स्वाभाविक पुरुषार्थ है। उसी का कारण व उपाय आगे के प्रकरणों में दर्शाया जायेगा।

—:o:—

११

—: अजीव तत्व :—

दिनांक १२ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १३

१—मेरी भूल शरीर में 'मैं' का भास, २—जन्म व मृत्यु का रहस्य, ३—पुनर्जन्म की सिद्धि, ४—उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ५—तीन कोटि के पर पदार्थ ।

१ मेरी भूल शरीर में 'मैं' का भास

अहो ! वीतरागी गुरुओं की शरण व उनकी महान करुणा, तथा यह महान अवसर कि जिसके प्रसाद से आज मैं अपनी महिमा जान पाया । स्वयं अपने दर्शन करने को समर्थ हो सका । जिनकी कृपा से आज मेरी भव की इच्छा पूर्ण हुई, संताप मिटा, शान्ति के प्रति सच्चा पुरुषार्थ जागृत हुआ । अतुल प्रकाश मिला, और वह बड़ी भूल भासी, जो अनादि काल से बिना किसी से सीखे बराबर पुष्ट होती चली आ रही थी । अर्थात 'मैं' को 'मैं' में न खोज कर अन्य में खोजना । जो स्वयं विचार करने से 'मैं' रूप भासते भी नहीं हैं । जिनमें 'मैं'-कार अर्थात अहं प्रत्यय का नाम भी नहीं है । जो सुख दुख का स्वयं अनुभव भी नहीं कर रहे हैं । जिनमें स्वयं विचार करने की शक्ति भी नहीं है । जो चैतन्य वत दीखते हैं अवश्य पर वास्तव में अचेतन हैं । जिनके पीछे भ्रमता हुआ आज तक अपनी शान्ति को खोजता हुआ मैं अशान्त ही बना रहा । संतप्त व व्याकुल बना रहा ।

देख तो चेतन ! ज़रा अपनी मूर्खता । स्वयं हंसी आ जायेगी अपने ऊपर । 'मैं' शब्द निकलते ही किस ओर जाना चाहिये था तेरा लक्ष्य, और किस ओर जा रहा है-वह ? उन विचारशील, अन्तरंग में प्रकाशमान सुख व शान्ति के भण्डार परब्रह्म परमेश्वर स्वरूप, 'अहं प्रत्यय' के तथा चैतन्य तत्व के प्रति न जाकर, तू उलझा जाता है शरीर में, इसके पृथ्वी से मनुष्य पर्यन्त तक के अनेक आकारों में, इसकी इन्द्रियों में, इसके स्त्री पुरुष नपुंसक चिन्हों में ? तू खोजने लगता है-अपनी महिमा इसमें ? अपनी शान्ति इसमें ? मान बैठता है इसके जन्म में अपना जन्म, इसकी मृत्यु में अपनी मृत्यु, इसके नाश में अपना नाश, इसके विनाश में अपना विनाश, इसकी बाधा में अपनी बाधा, इसकी रक्षा में अपनी रक्षा, इसकी भूल में अपनी भूल, इसकी नग्नता में अपनी नग्नता, इसके इष्ट में अपना इष्ट, इसके अनिष्ट में अपना अनिष्ट, इसके नातेदारों को अपना नातेदर, इसके सेवक को अपना सेवक, इसके पालक को अपना पालक, इसके माता पिता को अपना माता पिता, इसके निर्मित धनादि पदार्थों को अपने पदार्थ, इसके कार्य को अपना कार्य और न मालूम क्या क्या ?

२ जन्म व मृत्यु का रहस्य

मूर्खता की भी कोई हद होती है ? भाई ! इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है ! युग बीत गये, परन्तु आज तक न सम्भला । घर में पुत्र उत्पन्न हुआ, अहा हा ! कितनी अनोखी बात हुई । कितने हर्ष का स्थान हुआ ? एक नवीन वस्तु जो बना डाली है- मैंने ! मानो कि इसकी सत्ता ही बना डाली हो । इससे पहले वह लोक में ही न हो, एक महान काम जो किया मैंने, अपने ही मैंने

एक नवीन व्यक्ति को सृजन कर । परन्तु अपनी भांति ही मूर्ख । मूर्खों की टोली में एक की वृद्धि जो कर दी है मैंने ? और यह क्या ? अरे काल ! हाय हाय ! नहीं तू तो चला जा यहां से । देख देख ! ज़रा दूर रह । यहाँ मत आ । यह तो मेरा पुत्र है । मेरी सृष्टि है । इस पर तो मेरा अधिकार है । तू कहां ले जाना चाहता है इसे, मेरे बिना पूछे ? व्यापार में कुछ लाभ हुआ । अहा हा ! कितना बड़ा काम किया है मैंने, कितना चतुर हूँ मैं ? इतना धन ले आया हूँ ? मानो कोई नई वस्तु ही बना कर लाया है । इससे पहले यह इस जगत में थी ही नहीं । अरे हैं ! यह क्या ? हानि ? अरे रे ! तुझे किसने बुलाया ? जा जा । जब बुलावें तब आना । बिना बुलाये आना सेवक की मूर्खता है । मानो मेरी ही तो आज्ञा पल रही है विश्व पर । मेरे ही आधीन रहना चाहिये सबको । मैं स्वामी जो हूँ सबका । मूर्खों को सब ही मूर्ख न दिखाई दें तो क्या दिखाई दें ? और इसी प्रकार कभी हंसता और रोता चला आ रहा हूँ न मालूम कब से ?

मेरे अन्दर यह आत्मा बोल रही है । मेरी मृत्यु एक दिन आ जायेगी । मुझे चिता पर रख कर फूंक दिया जायेगा । और यह आत्मा उड़ जायेगी-इसमें से, एक फूंक सी निकल कर । और उसके पश्चात मैं, मैं तो जला जो दिया गया ? एक अन्धकार सा, जिसमें कुछ नहीं भासता, कि मैं रहा या विनश गया । नहीं नहीं, मैं तो विनश ही गया । मृत्यु तो आ गई ? अब कहां दीखूंगा मैं ? किसे दीखूंगा मैं ? किसे पुकारेंगे लोग अमुक नाम लेकर ? जन्म से पहले कब था मैं ? किसे दीखता था मैं ? कौन पुकारता था मुझे अमुक नाम लेकर ? हाँ हाँ, ठीक है, जन्म से पहले मैं था ही नहीं और मृत्यु के पश्चात मैं रहूँगा नहीं । जन्म से मृत्यु तक के लिये, बस इतना ही तो हूं मैं, इतना ही तो है मेरा जीवन ? जितनी मौज उड़ाई जाये उड़ाले, जितनी सम्पत्ति खाई जाये खाले । फिर कौन जानता है कि रहे न रहे । सदा से जी जी कर मरता आ रहा है आज तक इसी प्रकार । सदा से बराबर विनश रहा है तू । सदा से चिता में जलाया जा रहा है तू । पर मजे की बात यह कि 'मैं हूँ' यह कहने वाला आज भी तू अपने होने का पोषण कर रहा है । सदा से भोग रहा है तथा खा रहा है इस लोक की सम्पत्ति को । पर आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है-इस धरातल पर ।

अरे भाई ! यह विचारा है कभी कि वह जिसे तू फूंक सी उड़ जाने वाली आत्मा कह रहा है, जिसे तू अपने अन्दर बोलता हुआ देख रहा है, वही तो तू है चैतन्य ज्योति परम तत्व ? अबाध्य व अकाट्य । जिसे तू जलता हुआ देख रहा है, वही तो है 'अजीव तत्व' चैतन्य शून्य, जड़ । यदि विश्वास नहीं आता तो अपने को, उस फूंक सी को निकाल कर देख ले-इस ढ़ोल की पोल को । कहाँ चली जाती है इसकी ज्योति व तेज ? आंख होते हुये भी क्यों नहीं देख सकता यह ? मुंह होते हुये भी क्यों नहीं बोल सकता यह ? कान होते हुए भी क्यों नहीं सुन सकता यह ? नाक होते हुए भी क्यों नहीं सूंघ सकता यह ? अग्नि पर रख देने पर क्यों पीड़ा नहीं होती इसे ? क्यों चीख पुकार नहीं करता आज यह ? यह तू ही तो था कि जिसके कारण इसमें ज्योति थी, तेज था । यह तू ही तो था कि जिसके कारण यह देखता था । यह तू ही तो था जिसके कारण यह बोलता था । यह तू ही तो था जिसके कारण यह सुनता था । यह तू ही तो था जिसके कारण यह सूंघता था, और यह तू ही तो था कि जिसके कारण अग्नि लगने से यह चीखता था । परन्तु विचार तो कर, अपनी बुद्धि के फेर पर । अपने को तो फूंक वत फोकट की वस्तु मान बैठा है,और इसे "मैं" मान बैठा है । अपनी महत्ता भूल कर इसकी महत्ता गिनता है । अपने को जड़ व इसे चैतन्य मानता है ।

३ पुनर्जन्म की सिद्धि भाई ! तू आज तक कभी मरा ही नहीं। मरता तो आज बैठा 'मैं' कहने वाला तू कहाँ से आता ? यदि विश्वास नहीं आता तो पुनर्जन्म के उन प्रत्यक्ष दृष्टान्तों को देख जो आज के समाचार पत्रों के युग में प्रत्यक्ष पढ़ने, सुनने, देखने व अनुभव करने में आ रहे हैं। अपने को मैं कहने वाला कोई भी व्यक्ति विशेष, पुनर्जन्म के विश्वास न करने वाले वातावरण में उत्पन्न होकर भी, अर्थात मुसलमानों व ईसाइयों में जन्म धारण करके भी क्या आज यह कहता सुना नहीं जाता, कि मैं इससे पहले अमुक देश में, अमुक ग्राम में अमुक माता पिता का पुत्र या पत्नि, अमुक का पिता या माता, अमुक का पति या स्त्री था। अमुक व्यापार करता था। अमुक यह मेरा ही मकान था। यह मेरी ही दुकान थी। अमुक व्यक्ति को इतना पैसा देना था मुझे। अमुक स्थान पर अमुक वस्तु रखी हुई थी मैंने। तथा अन्य भी अनेकों ऐसी बातें जिनकी खोजबीन व परीक्षा कर लेने के पश्चात, उन सर्व बातों की सत्यता प्रकाशित हो जाने के पश्चात, यह कहे बिना न बनेगा कि निःसन्देह अपने को आज 'मैं' कहने वाला यह व्यक्ति वही है जो इस बार जन्मने से पहले इस से पूर्व की अवस्था में भी अपने को 'मैं' ही कहता विद्यमान था। भले ही पहले अन्य विश्वास पर आधारित रही हो यह, पर आज के युग में तो सौभाग्यवश अन्धविश्वास का विषय नहीं रह गया है। हस्तामलक वत आज प्रत्यक्ष हो रहा है-इस परम सत्य का।

दिनांक १३ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १४

४ उत्पाद व्यय ध्रौव्य

अजीव तत्व की बात चलती है। उसके अन्तर्गत दृष्टान्तों के आधार पर पुनर्जन्म की सिद्धि कर दी गई। अर्थात यह बात दर्शा दी गई कि आज जो जन्मा है यह वही है जो पहले कहीं से मरा है। कोई नया नहीं। और यदि ऐसा ही है तो जन्म लेते समय कौन नई वस्तु जन्मी ? और मरण पाते समय कौन पहली वस्तु विनशी ? बिल्कुल इसी प्रकार जिस प्रकार कि विचार करने पर यह बात ध्यान में आ जाती है कि धन लाभ होते कौन नई वस्तु आ गई, और धन हानि होते कौन पूर्व वस्तु विनश गई, यहां ही थी, यहां ही रही। न कुछ आई न कुछ गई। इसी प्रकार तू भी यहीं था यहीं रहा, न कुछ जन्मा न कुछ मरा। तेरे इस जन्म से या धन लाभ से लोक में न कुछ लाभ हुआ न वृद्धि हुई, और तेरी इस मृत्यु से या धन हानि से लोक में न कुछ हानि आई। 'मैं' कहने वाले जितने व्यक्ति थे अब भी उतने ही रहे। जितनी सम्पत्ति थी अब भी उतनी ही रही। केवल 'मैं' के शरीरों की कुछ आकृति या स्थान मात्र बदले गये। और इसी प्रकार सम्पत्ति के भी रूप व स्थान मात्र बदले।

पहले कलकत्ते के एक ब्राह्मण कुल में था और आज इस [illegible] के एक वैश्य कुल में। पहले कभी पशु के शरीर में था अब मनुष्य के शरीर में। पहले कभी चींटी के रूप में अब मनुष्य के रूप में और इसी प्रकार सर्व रूपों में सर्व शरीरों में, बराबर क्रम से परिवर्तन करता, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता रहता, आज भी अपने अस्तित्व को तेरा यह 'मैं' प्रत्यक्ष प्रकाशित कर रहा है। और इसी प्रकार यह सम्पत्ति भी, पहले विष्टा रूप थी और आज [illegible] रूप पहले पृथ्वी रूप थी और आज सुवर्ण रूप, पहले पत्थर रूप थी और आज आपकी सुन्दर अंगूठी रूप, पहले किसी के पास थी और अब आपके पास, पहले पशुओं की भोज्य थी और आज आपकी, और इसी प्रकार अनेकों रूपों में परिवर्तन करती एक स्थान से अन्य अन्य स्थान पर जा जा कर परिभ्रमण करती आज भी [illegible] किसी भी रूप में अपने अस्तित्व को सिद्ध कर रही है

और इसी प्रकार यह शरीर भी तो ? पहले विष्टा रूप था, फिर मिट्टी हो गया, अन्न वन वैठा किसी के द्वारा भक्षण किया जाने पर उस ही के शरीर के अंगोपांग रूप से परिवर्तित हो चमड़ा हड्डी वन गया, जल कर राख हो गया, और राख फिर पृथवी वन गई। या उस भोज्य का ही कुछ भाग विष्टा वनकर फिर पीछे मिट्टी वन गया। अथवा तो माता पिता के द्वारा ग्रहण किया गया वह भोजन किसी अन्य वालक के शरीर रूप वन गया। और एक दिन अकस्मात प्रगट होकर आश्चर्य में डाल दिया उसने। वताइये तो क्या जन्मा क्या मरा ? शरीर का पदार्थ भी वो कोई नया उत्पन्न हुआ नहीं और न ही विनशा ? रूप से रूपान्तर में परिवर्तित होता तथा स्थान से स्थानान्तर होता यह वही तो है जो पहले था ? न कुछ विनशा न कुछ उपजा।

यदि कहीं इतनी योग्यता हुई होती कि इस चैतन्य के तथा इस शरीर के अंग स्वरूप इन पृथ्वी जल आदि तत्वों के, प्रत्येक क्षण में होने वाले परिवर्तन का वरावर निरीक्षण कर सकता, तो यह स्पष्ट प्रतिभास हो जाता कि इस पृथ्वी का एक कण कोंपल में आ गया, और अब देखो वही अब अन्न में वैठा हुआ है, और देखो इस शरीर में वैठा हुआ अपने अस्तित्व को वरावर दर्शा रहा है। अथवा यह "मैं" कहने वाला व्यक्ति जो आज कुत्ते के शरीर में वोलता दीख रहा है, देखो यह उड़ा जा रहा है आकाश में पूर्व की दिशा को, यह देखो इस कोंपल में आ वैठा, और ओह ! कितना वड़ा रूप धर कर यह देखो इस वृक्ष में वैठा है। अथवा तो इस माता के गर्भ में प्रवेश पा गया, और यह देखो आज यह इस तेरे शरीर में वैठा अपने को उसी 'मैं' शव्द के द्वारा पुकारता हुआ अपने लम्वे अस्तित्व का परिचय दे रहा है। तव यह भ्रम न रह पाता मुझे, जो आज है।

भले प्रत्यक्ष रूप से न सही पर सौभाग्यवश आज भी परोक्ष रूप से, तर्क व अनुमान के आधार पर ये सव उपरोक्त वातें प्रत्यक्ष वत ही हो रही हैं। और अपनी सत्यता को सिद्ध कर रही हैं। प्रभो ! तुझे वुद्धि मिली है। विचार व अनुभव के आधार पर किसी छिपे हुये रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न कर। यह सर्व तथ्य परोक्ष है। ऐसा भी नहीं है। मेरे गुरुवर तथा योगी जनों को इसका प्रत्यक्ष भी हुआ है। जिसके आधार पर कि मुझे सम्वोधने के लिये तथा मेरी भूल दूर हो जाये इस अभिप्राय से परम करुणा वुद्धि पूर्वक, लिख गये हैं वे-इन शास्त्रों में। और इसी लिये मेरे अनुमान व तर्क की साक्षी देने वाला यह आगम भी उस तथ्य की सत्यता को सिद्ध कर रहा है।

उपरोक्त सर्व कथन पर से सिद्धान्त निकला कि :—

१ लोक में दो जाति के पदार्थ हैं। एक चैतन्य दूसरा अचैतन्य (जड़)। एक विचारने व सुख दुःख वेदन करने की शक्ति रखने वाला, और दूसरा इन शक्तियों से रहित। एक अमूर्तीक तथा दूसरा मूर्तीक। एक इन्द्रियों से देखा जाने व जाना जाने योग्य तथा दूसरा इन्द्रियों से अगोचर। चेतन व अमूर्तीक तत्व का नाम जीव या Soul है और दूसरा जड़ व मूर्तीक तत्व का नाम पुद्गल या Matter।

२ दोनों ही सदा से हैं और सदा ही रहेंगे। न नये पैदा होते हैं और न कभी विनशते या अपनी सत्ता खोते हैं।

३ दोनों ही अपनी अपनी अवस्था में अपने अपने में वरावर वदल रहे हैं। अर्थात उनमें सदा नई नई

अवस्था में उत्पन्न होती रहती हैं, तथा पुरानी अवस्थायें विनशती रहती हैं, अर्थात वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों अंशों का पिण्ड है । वे दोनों ही एक स्थान से अन्य स्थान को प्राप्त होते रहते हैं ।

४ अवस्था बदलते रहते भी जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल सदा पुद्गल ही ।

५ जीव तत्व रूप 'अहं प्रत्यय' के द्वारा सदा सुख दुःख का वेदन होता रहता है, और पुद्गल के द्वारा शरीर का निर्माण ।

६ शरीर और शरीरधारी के सम्बन्ध में जकड़े हुये यह दोनों दूध और पानी वत एकमेक होकर रहते हैं ।

७ एकमेक होकर रहते हुए भी जीव कभी पुद्गल और पुद्गल कभी जीव नहीं बन सकता ।

यह उपरोक्त सिद्धान्त शान्ति पथ का प्राण है । विना इसके समझे शान्ति पा लेना असम्भव है, जैसाकि अगले प्रकरण में सिद्ध किया जायेगा । अतः भो चैतन्य ! अपनी भूल सुधारने के लिये इस रहस्य को सुन । तर्क, अनुमान, अनुभव व आगम के आधार पर उसका निर्णय कर । और अपनी क्षण क्षण की विचारनाओं में उसे अवकाश दे ।

दो प्रकरणों में बताये गये जीव अजीव तत्व को जानने का क्या प्रयोजन है ? एक बात यह भी इस स्थान पर स्पष्ट कर देनी योग्य है । इस बात का प्रयोजन मेरी उस भूल को दर्शाना है कि जिसके कारण मैं बराबर शान्ति का पुरुषार्थ समझते हुए अशान्ति का पुरुषार्थ कर रहा हूँ, क्योंकि जैसा कि पहले दर्शा दिया गया है, मैं शान्ति को स्वयं में न खोज कर अपने से पृथक किसी पदार्थ में खोज रहा हूँ । इसलिये यहां स्वपदार्थ व परपदार्थ का निर्णय कर लेना आवश्यक है ।

१ तीन कोटि के पर पदार्थ

अब दो तत्व बताये गये, जीव व अजीव । इन में से ही कौन स्व तत्व है और कौन पर, यह बात खोजनी है । यह स्पष्ट है स्व का अर्थ 'मैं' है, और मैं चेतन हूँ, इस लिये स्व तत्व जीव ही हो सकता है, अजीव कदापि नहीं । इसलिये समस्त अजीव तत्व पर की कोटि में रखा गया । परन्तु कुछ और विशेषता भी जान ली जाये तो अच्छा है । यह अजीव तत्व दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है । एक वह अजीव जो दूध पानी वत मेरे साथ साथ इस प्रकार मिला हुआ पड़ा है कि, उस मिश्रण में जीव कौन और अजीव कौन यह विवेक भी स्थूल दृष्टि से होना असम्भव है, और वह है यह स्थूल शरीर, तथा एक अन्य सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर- जिसे कार्माण शरीर भी कहते हैं । जिसका कथन आस्रव बन्ध कथन में आ जायेगा । तथा दूसरा वह अजीव जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा सुस्पष्ट व मेरे शरीर से पृथक पड़ा हुआ दीख रहा है जैसे वस्त्र, पैसा, घर आदि ।

अब लीजिये जीव तत्व । जीव तत्व यद्यपि स्व पदार्थ कहा जा सकता है, क्योंकि मैं जीव ही हूँ । परन्तु सर्व जीव स्व पदार्थ कहे जा सकें ऐसा नहीं है । अतः जिस जीव विशेष में चैतन्य के अतिरिक्त इस 'मैं' पने का लक्षण भी घटित हो वह एक जीव स्व पदार्थ है । और शेष सर्व जीव पर पदार्थ । इसमें तो कोई संशय को अवकाश नहीं । परन्तु इसमें से भी एक विशेष अंश पर पदार्थ रूप में यहां दिखाना अभीष्ट है जो अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि करने से दिखाई दे सकता है । स्थूलतः देखने से तो वह अंश स्व पदार्थ रूप ही दिखाई देता है, क्योंकि वह स्वयं मेरी ही अवस्था विशेष है, जो मेरे ही स्व पदार्थ का [illegible]

लेकर उत्पन्न हुई हो। पर है चैतन्य रूप, जड़ रूप नहीं। मेरा संकेत अपनी राग द्वेषादि अन्तरंग प्रवृति की ओर है। जैसाकि पहले से वताया जा रहा है कि मेरा स्वभाव शान्ति है। और स्वभाव उसे कहते हैं जिस ओर कि, पर सम्पर्क से हट जाने पर स्वतंत्रता रूप में स्वयमेव पदार्थ का झुकाव हो जाये। अशान्ति मेरा स्वभाव नहीं। और रागद्वेषादि अशान्ति रूप व अशान्ति जनक हैं, अत: वह मेरे स्वभाव नहीं हो सकते। भले ही कुछ देर के लिये मेरे में उत्पन्न हो गये हों जल की उष्णता वत। जैसे वर्तमान में दिखाई देने वाली जल की उष्णता स्वभाव दृष्टि से जल की नहीं कही जा सकती। उसी प्रकार राग-द्वेष रूप क्रोधादि भाव भी स्वभाव दृष्टि से मेरे नहीं कहे जा सकते। जिस प्रकार यद्यपि जल की उष्णता अग्नि रूप नहीं है, पर अग्नि के संयोग से उत्पन्न हुई होने के कारण अग्नि से आई कही जाती है। इसी प्रकार यह रागादिक भाव भी यद्यपि जड़ शरीर के या कर्मादिक पर पदार्थ के नहीं हैं, पर उनके संयोग से उत्पन्न हुये होने के कारण उनमें से आये कहे जाते हैं ? और इसलिये मेरे होते हुये भी वह भाव धनादिक के आश्रित होने के कारण, धनादिक के न होते हुए भी धनादिक के कहे जायेंगे। स्वभाव रूप से मेरे नहीं। अत: यह भी पर पदार्थ की कोटि में चले जाते हैं। क्योंकि जव तक अपने अन्तर में इन पर दृष्टि रहेगी तव तक शान्ति प्राप्ति असम्भव है।

इस प्रकार स्थूल दृष्टि से दीखने वाले भिन्न क्षेत्र में स्थित जड़ पदार्थ धनादिक व चेतन पदार्थ पुत्रादिक, कुछ सूक्ष्म दृष्टि से दीखने वाले एक क्षेत्र में स्थित जड़ पदार्थ शरीर व कर्मादिक और अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से दीखने वाले अत्यन्त निकट व तन्मय रूप से प्रकाशमान रागादिक विकारी चैतन्य भाव-ये तीनों पर पदार्थ रूप से ग्रहण करने चाहियें।

१२

—: स्व पर भेद विज्ञान :—

दिनांक १४ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १५

१—अन्य की परतन्त्रता में अपनी स्वतन्त्रता का भ्रम, २—षट कारकी पृथकत्व, ३—सांझे की रेती का दृष्टान्त, ४—निमित्त की कथञ्चित सत्यता, ५—निमित्त व उपादान दोनों की कथञ्चित उपादेयता, ६—संकुचित दृष्टि से निमित के ग्रहण का निषेध, ७—भेद विज्ञान का प्रयोजन ज्ञाता दृष्टापना।

१ अन्य की परतन्त्रता में अपनी स्वतन्त्रता का भ्रम

शान्ति पथ की सिद्धि के अर्थ जीव अजीव तत्वों का वर्णन करके, अगले तत्वों का विवेचन करने से भी पहले, यहां स्व व पर में विवेक कराया जा रहा है। क्योंकि स्व व पर का निर्णय किये बिना शान्ति की प्राप्ति मात्र स्वप्न है। क्योंकि मेरी शान्ति स्व में अर्थात मेरे में ही है पर में नहीं। ऊपर तीन कोटि के पर पदार्थ बताये गये जिनमें दो कोटि के पर पदार्थ तो कारण रूप द्रव्य हैं और तीसरी कोटि का पर पदार्थ उनके किसी संयोग का कार्य। उनके संयोग से मुझ में यह राग द्वेषादि रूप कार्य कैसे होता है, यह प्रश्न उपस्थित है? इसी का उत्तर आज चलेगा।

अपने आज के विकल्पात्मक संसार पर दृष्टिपात करके यदि मैं इसका विश्लेषण करूं तो, स्पष्टतय: यह बात ध्यान में आ जाती है कि, क्यों और किस प्रकार मैं आज प्रति क्षण नये नये विचार व विकल्प उठा उठा कर, उनमें स्वयं फंसा हुआ व्याकुल बना रहता हूँ। इन विकल्पों का मूल वास्तव में शरीर है। क्योंकि जितने भी विकल्प हो रहे हैं वे सब इसकी इष्टता के लिये हो रहे हैं। मेरे आज के विकल्पों में मुख्य धनोपार्जन का विकल्प है। धनोपार्जन की इच्छा केवल पंचेन्द्रिय की पुष्टि के लिये है। पंचेन्द्रियों का आधार शरीर है। इसी प्रकार धनोपार्जन कुटुम्ब पालने के अर्थ भी है, और कुटुम्ब पालन भी इसी लिये है कि उनको मैं इस शरीर का रक्षक व वृद्धावस्था में इसका सहायक मानता हूँ। इन विषयों में, कुटुम्ब में, या धनोपार्जन में बाधा पड़ जाने पर मुझे चिन्ता होती है। इस चिन्ता की निवृति के लिये मैं और और विकल्प करता हूँ, और इस प्रकार एक जाल में उलझ जाता हूँ। ज्यों ज्यों इस जाल से निकलने का प्रयत्न करता हूँ, त्यों त्यों मकड़ी के जाले में फंसी मक्खी वत अधिक अधिक उलझता जाता हूँ। इन विकल्पों से निवृति पाने की इच्छा रखते हुवे भी मैं इनसे क्यों नहीं निकल पा रहा हूँ। इसका कारण ही नीचे बताया जाता है।

इसका कारण है स्व पर पदार्थों का मिश्रण। [illegible] से। एक तो Physical अर्थात प्रादेशिक रूप [illegible] से, और दूसरा Mental [illegible] से। यहां पर प्रादेशिक मिश्रण की तो बात छोड़ दीजिये क्योंकि [illegible] Mental [illegible]

मिश्रण की वात विचारणीय है ? क्योंकि प्रादेशिक मिश्रण मेरे लिये विशेप वाधाकारक नहीं है। मानसिक मिश्रण ही मुख्य वाधक है। जोकि मेरी शान्ति को घात रहा है।

इस मानसिक मिश्रण का आधार मेरे अन्दर में पड़ा एक विश्वास है जिसके आधार पर कि मैं सर्व पदार्थों की स्वतंत्रता स्वीकार न करके उन्हें परतंत्र वनाने का प्रयत्न किया करता हूं। उन उन की परतन्त्रता को ही मैं भ्रमवश अपनी स्वतन्त्रता समझता हूँ ! इतने ही पर वस हो जाती तो भी खैर थी, पर अपनी स्वतन्त्रता को भी तो स्वीकार, नहीं करता। इसको परतन्त्र मान वैठता हूँ। मैं व्यक्तिगत रूप में अकेला ही ऐसा कर रहा हूँ ऐसा नहीं है। आप सब तथा सर्व लोक के अनन्तानन्त प्राणी भी उसी विश्वास के आधीन प्रवृति कर रहे हैं। और इस प्रकार मैं कल वताई गई तीन कोटियों में से प्रथम दो कोटि के पर पदार्थों को अपने आधीन तथा अपने को उनके आधीन मान वैठा हूँ। इसी प्रकार से वे पर पदार्थ भी मुझे अपने आधीन तथा अपने को मेरे आधीन मान वैठे हैं अर्थात मेरे किये विना उन पर पदार्थों का कोई भी कार्य नहीं चल सकता, और उनकी सहायता के विना मैं कुछ नहीं कर सकता। मेरी प्रेरणा पाकर ही वह चित्र विचित्र कार्य कर रहे हैं और उनकी प्रेरणा पाकर ही मैं यह विकल्पात्मक रागद्वेपादि कार्य कर रहा हूँ। मेरे पाले विना कुटुम्व का पोपण नहीं हो सकता और कुटुम्व की सहायता के विना मैं जीवित नहीं रह सकता। मेरे हिलाये विना शरीर हिल नहीं सकता, और शरीर की सहायता के विना मैं जान नहीं सकता। और इसी प्रकार अनेकों चिन्तायें विकल्पात्मक पराश्रित धारणायें। स्वतन्त्रता मिले तो कैसे मिले ? और परतन्त्रता में शान्ति कैसे जीवित रहे ? मज़े की वात यह कि इस प्रकार अधिकाधिक परतन्त्रता के पुरुपार्थ को ही शान्ति का पुरुषार्थ समझता हूँ। अधिकाधिक भोगों की प्राप्ति से शान्ति मिलेगी, भोगों की प्राप्ति इस शरीर की क्रिया से होगी, शरीर की क्रिया को मैं करूंगा। और इस प्रकार मैं अपनी शान्ति का वेदन कर लूंगा। अतः मेरा सर्व पुरुपार्थ शान्ति के लिये ही तो है।

२ पटकारकी पृथकत्व

हे शान्ति भण्डार चिदानन्द भगवन ! शान्ति तो स्वतन्त्रता में वसती है परतन्त्रता में नहीं। अव इस परतन्त्रता को छोड़। स्वतन्त्र दृष्टि उत्पन्न कर। जिसमें प्रत्येक पदार्थ, जड़ हो कि चेतन, स्व हो कि पर, स्वतन्त्र दिखाई देने लगे। सुन सुनाकर या पढ़ पढ़ाकर, यह कह देना मात्र पर्याप्त नहीं कि हां हां ! सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का नहीं। मैं पृथक हूँ शरीर पृथक है इत्यादि। इस प्रकार तो सभी कहा करते हैं। दो द्रव्यों की पृथकता का अर्थ इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाता कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर लें। सत्ता त्रयात्मक होती है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप अर्थात वरावर वनी रहते हुये भी वरावर वदलते रहना उसका काम है। यह वात कल के प्रवचन में वता दी गई थी। स्वभाव किसी दूसरे की सहायता नहीं मांगता। जिस प्रकार जल को शीतल वनाने के लिये किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं। सत्ता को स्वतन्त्र माना उसी समय कहा जा सकता है जवकि इसके तीनों अंशों को स्वतन्त्र मान लिया जावे। अर्थात उसका वदलते रहना भी स्वतन्त्र माना जावे। विचारिये तो कि किसी भी पदार्थ को वदलने के लिये किसी सहायक की प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्या ? कि अमुक सहायक आये तो मैं वदलूं, नहीं तो वदलना चाहते हुये भी कैसे वदलूं ? और जव तक योग्य सहायक न मिले तो वदले विना ही पड़ी रहे। नहीं नहीं, ऐसा नहीं है। न ही सिद्धान्तिक रूप से आप ऐसा स्वीकार करते हो। करें भी कैसे ? सव घोटमटाला हो जायेगा। विश्व कूटस्थ हो जायेगा अर्थात सत्ता का ही विनाश हो जायेगा। सव शून्य हो जायेगा।

मिश्रण की वात विचारणीय है ? क्योंकि प्रादेशिक मिश्रण मेरे लिये विशेष वाधाकारक नहीं है। मानसिक मिश्रण ही मुख्य वाधक है। जोकि मेरी शान्ति को घात रहा है।

इस मानसिक मिश्रण का आधार मेरे अन्दर में पड़ा एक विश्वास है जिसके आधार पर कि मैं सर्व पदार्थों की स्वतंत्रता स्वीकार न करके उन्हें परतंत्र वनाने का प्रयत्न किया करता हूं। उन उन की परतन्त्रता को ही मैं भ्रमवश अपनी स्वतन्त्रता समझता हूँ ! इतने ही पर वस हो जाती तो भी खैर थी, पर अपनी स्वतन्त्रता को भी तो स्वीकार, नहीं करता। इसको परतन्त्र मान वैठता हूँ। मैं व्यक्तिगत रूप में अकेला ही ऐसा कर रहा हूँ ऐसा नहीं है। आप सव तथा सर्व लोक के अनन्तानन्त प्राणी भी उसी विश्वास के आधीन प्रवृति कर रहे हैं। और इस प्रकार मैं कल वताई गई तीन कोटियों में से प्रथम दो कोटि के पर पदार्थों को अपने आधीन तथा अपने को उनके आधीन मान वैठा हूँ। इसी प्रकार से वे पर पदार्थ भी मुझे अपने आधीन तथा अपने को मेरे आधीन मान वैठे हैं अर्थात मेरे किये विना उन पर पदार्थों का कोई भी कार्य नहीं चल सकता, और उनकी सहायता के विना मैं कुछ नहीं कर सकता। मेरी प्रेरणा पाकर ही वह चित्र विचित्र कार्य कर रहे हैं और उनकी प्रेरणा पाकर ही मैं यह विकल्पात्मक रागद्वेषादि कार्य कर रहा हूँ। मेरे पाले विना कुटुम्व का पोषण नहीं हो सकता और कुटुम्व की सहायता के विना मैं जीवित नहीं रह सकता। मेरे हिलाये विना शरीर हिल नहीं सकता, और शरीर की सहायता के विना मैं जान नहीं सकता। और इसी प्रकार अनेकों चिन्तायें विकल्पात्मक पराश्रित धारणायें। स्वतन्त्रता मिले तो कैसे मिले ? और परतन्त्रता में शान्ति कैसे जीवित रहे ? मज़े की वात यह कि इस प्रकार अधिकाधिक परतन्त्रता के पुरुषार्थ को ही शान्ति का पुरुषार्थ समझता हूँ। अधिकाधिक भोगों की प्राप्ति से शान्ति मिलेगी, भोगों की प्राप्ति इस शरीर की क्रिया से होगी, शरीर की क्रिया को मैं करूंगा। और इस प्रकार मैं अपनी शान्ति का वेदन कर लूंगा। अतः मेरा सर्व पुरुषार्थ शान्ति के लिये ही तो है।

२ षट्कारकी पृथकत्व

हे शान्ति भण्डार चिदानन्द भगवन ! शान्ति तो स्वतन्त्रता में वसती है परतन्त्रता में नहीं। अव इस परतन्त्रता को छोड़। स्वतन्त्र दृष्टि उत्पन्न कर। जिसमें प्रत्येक पदार्थ, जड़ हो कि चेतन, स्व हो कि पर, स्वतन्त्र दिखाई देने लगे। सुन सुनाकर या पढ़ पढ़ाकर, यह कह देना मात्र पर्याप्त नहीं कि हां हां ! सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का नहीं। मैं पृथक हूँ शरीर पृथक है इत्यादि। इस प्रकार तो सभी कहा करते हैं। दो द्रव्यों की पृथकता का अर्थ इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाता कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर लें। सत्ता त्रयात्मक होती है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप अर्थात वरावर वनी रहते हुये भी वरावर वदलते रहना उसका काम है। यह वात कल के प्रवचन में वता दी गई थी। स्वभाव किसी दूसरे की सहायता नहीं मांगता। जिस प्रकार जल को शीतल वनाने के लिये किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं। सत्ता को स्वतन्त्र माना उसी समय कहा जा सकता है जवकि इसके तीनों अंशों को स्वतन्त्र मान लिया जावे। अर्थात उसका वदलते रहना भी स्वतन्त्र माना जावे। विचारिये तो कि किसी भी पदार्थ को वदलने के लिये किसी सहायक की प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्या ? कि अमुक सहायक आये तो मैं वदलूं, नहीं तो वदलना चाहते हुये भी कैसे वदलूं ? और जव तक योग्य सहायक न मिले तो वदले विना ही पड़ी रहे। नहीं नहीं, ऐसा नहीं है। न ही सिद्धान्तिक रूप से आप ऐसा स्वीकार करते हो। करें भी कैसे ? सव घोटमटाला हो जायेगा। विश्व कूटस्थ हो जायेगा अर्थात सत्ता का ही विनाश हो जायेगा। सव शून्य हो जायेगा।